भारतीय अर्थशास्त्र

एवं

आर्थिक विकास

लेखक

डा० जगदीश नारायण निगम

एम० ए०, पी एच० डी०, एल एल० बी० (चान्सलर्स गोल्ड मेडलिस्ट)
(Member, Indian Delegation to U S S R)
प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, दयानन्द कालेज, कानपुर

तथा

पद्माकर अष्ठाना, एम० कॉम० (रिसर्च स्कालर)

प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग, दयानन्द कालेज, कानपुर

किताब महल, इलाहाबाद

१६६१

भूमिका

आधुनिक युग आर्थिक विकास का युग है। प्रत्येक राज्य आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के द्वारा अपनी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ एवं समृद्धशाली बनाकर देशवासियों के जीवन में सुधार कर एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर प्रयत्नशील है। इस सम्बन्ध में सबसे जटिल समस्या उन छोटे एवं अविकसित राज्यों के समक्ष उपस्थित है जिन्होंने अभी कुछ समय पूर्व ही अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की है और अनेक कारणों से जिनकी पिछड़ी हुई अर्थ व्यवस्था देशवासियों के लिए अभिशाप बन गई है। भारत एक ऐसा ही राज्य है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की आर्थिक प्रगति का उत्तरदायित्व देशवासियों पर आ गया है। परन्तु हर्ष का विषय है कि एक नवोदित राष्ट्र होते हुए भी, भारत इस उत्तरदायित्व को निभाने तथा इस महान् चुनौती का सामना करने में पूर्ण समर्थ है। स्मरण रहे इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब हम अपनी विभिन्न आर्थिक समस्याओं का विस्तृत, विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन कर उसके निवारण के लिए योजनाओं का निर्माण करें। **'भारतीय अर्थशास्त्र एवं आर्थिक विकास'** का उद्देश्य ही ऐसे अध्ययन में सहायता प्रदान करना है जिसके अन्तर्गत भारत की अनेक वर्तमान, आर्थिक, सामाजिक एवं औद्योगिक समस्याओं का गहन अध्ययन कर भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों का भारत की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में समस्त उपलब्ध सामग्री, सरकारी प्रकाशनों, रिपोर्टों एवं अधिकारपूर्ण कृतियों की सहायता ली गई है, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है।

पुस्तक की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है, जिससे विद्यार्थियों को भाषा की क्लिष्टता के कारण समस्याओं की वास्तविक प्रकृति को समझने में कठिनाई न हो। साथ ही उनकी सहायता के लिए पुस्तक में अनेक रेखाचित्रों, चार्टों तथा मानचित्रों का प्रयोग करके विषय सामग्री को सुग्राह्य बनाया गया है। इन विशेषताओं के कारण पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र में रुचि रखने वाले प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अपरिहार्य है। पुस्तक के सुधार के लिए दिये गये सुझावों का हम स्वागत करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में हमें श्रीमती माधुरी निगम एम० ए०, एल० टी० से विशेष सहायता प्राप्त हुई है। वे हमारे धन्यवाद की विशेष पात्र हैं।

दीपावली, १९६०
दयानन्द कालेज, कानपुर

जगदीश नारायण निगम
पद्माकर अष्ठाना

विषय सूची

खण्ड १—विषय प्रवेश

खंड ४—कृषि एवं उसकी समस्याएँ

खंड ५—सहकारिता

खण्ड 1

विषय-प्रवेश

अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का अर्थ, विषय, क्षेत्र एवं अध्ययन का महत्त्व

(Meaning, Definition, Subject Matter, Scope and Importance of the Study of Indian Economics)

आधुनिक युग आर्थिक विकास का युग है। इस युग में केवल वही राष्ट्र उच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं जिनका पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास हो चुका है। किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता एवं विकास की योजनाओं के सफल निर्माण एवं कार्यान्वय के लिए उस देश की आर्थिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा ही अध्ययन है जिसके अन्तर्गत हम भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं पृष्ठभूमि में उसकी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करते हैं जिनका देश के निवासियों के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

आज भारत स्वतंत्र है। राजनैतिक परतन्त्रता की शृंखलाओं से मुक्त होकर हमारा देश तेजी से उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। स्वतंत्र भारत की सबसे जटिल समस्या उसकी आर्थिक विकास की समस्या है। आर्थिक एवं औद्योगिक विकास द्वारा ही कोई देश अपने उत्पादन में निरन्तर वृद्धि करके एवं उसके उचित वितरण द्वारा देशवासियों के जीवन को सुखी व सम्पन्न बना कर एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की कल्पना के सुखद स्वप्न को साकार रूप दे सकता है। देश की आर्थिक उन्नति एवं विकास केवल देशवासियों के जीवन को उच्च स्तर प्रदान करके उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् देश की स्वतन्त्रता के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। यह स्वतन्त्रता जो वर्षों के कठोर परिश्रम तथा देश के महान् नेताओं के त्याग एवं बलिदान द्वारा प्राप्त की गई है, उसे स्थायी बनाने के लिए और जीवित रखने के लिए भी आर्थिक उन्नति अनिवार्य है। वास्तविकता तो यह है कि राजनैतिक पराधीनता राष्ट्र की उन भावनाओं पर कुठाराघात करती है जो किसी देश के विकास एवं उन्नति के लिए अत्यन्त मूल्यवान है। ऐसे राष्ट्रीय चरित्र का पराधीनता द्वारा विनाश होना स्वाभाविक ही है। (Foreign domination is a curse not

only because it involves political servitude but because it ruins national character) राजनैतिक स्वतन्त्रता उस समय तक कोई अर्थ नहीं रखती जब तक कि उसकी रक्षा एवं उसके पोषण के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त कर ली गई हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम भारत जैसे महान् देश, जो कि अभी कुछ समय पूर्व विदेशी शासन से मुक्त हुआ है, के लिए अनेक आर्थिक समस्याओं का एवं उनके निवारण के लिए योजनाएँ बनानी हैं। हमारे देश में पञ्चवर्षीय का उदय इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है। राष्ट्रीय योजना आयोग ने मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के निर्देशन में इस क्षेत्र में बहुमूल्य कदम उठाये हैं। पञ्चवर्षीय योजना की सफलता के पश्चात् द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना का कार्य हुआ और आशा की जाती है कि थोड़े ही समय में इस योजना के कार्यकाल में ही अनेक निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हो जायगी। इस प्रकार लगातार कई पञ्चवर्षीय योजनाओं की सफलता पर ही आधुनिक भारत की समृद्धि एवं सम्पन्नता निर्भर करती है। कोई भी योजना बनानी हो, चाहे वह देश के आर्थिक विकास की योजना हो अथवा किसी उद्योग की प्रतिस्थापना एवं विकास की योजना हो, प्रारम्भिक आवश्यकता इस बात की होती है कि इस योजना के कार्य से सम्बन्धित प्रश्नों एवं समस्याओं का भली प्रकार अध्ययन कर लिया जाय।

भारत के समक्ष अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं हैं। इन समस्याओं के निवारण पर ही देश की उन्नति निर्भर करती है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इन समस्याओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करें। उनके हर पहलुओं का निरीक्षण एवं जाँच पड़ताल कर लें ताकि निर्धारित योजनाओं की सफलता प्राप्त हो। भारतीय अर्थशास्त्र इसी उद्देश्य की पूर्ति का एक साधन है। यह एक ऐसा अध्ययन है जिसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उन्हें दूर करने के सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के विभिन्न रूप—अर्थशास्त्र एक लोकप्रिय विषय है। इसके अध्ययन के दो विभिन्न रूप हैं। प्रथम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र के सिद्धान्त। दूसरा व्यावहारिक अर्थशास्त्र। इन दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि बिना व्यावहारिक उपयोग के आर्थिक सिद्धान्तों का महत्व सीमित है और साथ ही साथ व्यावहारिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित किसी योजना के निर्माण के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी अत्यन्त आवश्यक हैं। लार्ड कीन्स (Lord J M Keynes) के शब्दों में "The theory of economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to a policy It is a method rather than a doctrine an apparatus of the mind a technique of thinking, which helps its possessor to draw correct conclusions"

अर्थात् अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सुनिश्चित निष्कर्षों के रूप में नहीं होते जिनका किसी नीति के निर्धारण में प्रयोग किया जा सके। यह एक रीति है न कि एक सिद्धान्त, मस्तिष्क का एक यन्त्र, विचार की एक ऐसी विधि जो विचारक को सही निष्कर्ष निकालने में सहायक होती है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र वह है जिसके अन्तर्गत हम अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं और जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसकी अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य की उन समस्त क्रियाओं का अध्ययन करते हैं, जो वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करता है। मनुष्य के अनेक लक्ष्य हैं परन्तु उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जो साधन उसके पास उपलब्ध है, वे सीमित हैं, अतः उसके समक्ष निर्वाचन की समस्या उपस्थित होती है। अर्थात् किस प्रकार वह अपने सीमित साधनों द्वारा अपनी असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करे, जिससे उसको अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो। यही अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र उन समस्त सिद्धान्तों एवं समस्याओं से सम्बन्धित है जिनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों से है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का दूसरा रूप व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) कहलाता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन का यह रूप भी सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की तरह महत्वपूर्ण है। सत्य तो यह है कि अर्थशास्त्र की लोकप्रियता का मुख्य कारण उसका व्यावहारिक समस्याओं के अध्ययन से सम्बन्धित होना है। अर्थशास्त्र ही उन इने गिने सामाजिक शास्त्रों में से एक है जो मनुष्य को उस शास्त्र के आधारभूत एवं मुख्य सिद्धान्तों से अवगत कराने में ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के अध्ययन को भी अपना कर्त्तव्य समझता है जिनके सफल निवारण पर मानवीय हित एवं कल्याण (Human Welfare) निर्भर करता है। अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है, अतः मानव हित एवं कल्याण इसका मुख्य ध्येय है जिसके लिए वह मनुष्य की विभिन्न साधारण एवं दैनिक समस्याओं का अध्ययन करता है। प्रो० मार्शल (Dr Alfred Marshall) के शब्दों में "मनुष्य के दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।" (Economics is a study of mankind in the ordinary business of life) इस दृष्टि से "व्यावहारिक अर्थशास्त्र", "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त" अथवा "सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र" से भिन्न है। जहाँ एक तरफ सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन होता है वहाँ दूसरी ओर व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) में मानवीय जीवन से सम्बन्धित विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन होता है। जैसे उत्पादन में वृद्धि की समस्या, मुद्रा तथा बैंक से

सम्बन्धित समस्याएँ, खेती एवं उद्योग सम्बन्धित समस्याएँ, आर्थिक नियोजन एवं विकास की समस्या। अर्थशास्त्र के व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक पहलू के अन्तर्गत हम किसी देश की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं का अध्ययन करते हैं। इसी दृष्टिकोण से भारतीय आर्थिक समस्याओं एवं स्थिति का विवेकपूर्ण अध्ययन भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

ग्रामीण अर्थशास्त्र एवं कृषि अर्थशास्त्र (Rural Economics and Agricultural Economics)—अर्थशास्त्र जिसके अन्तर्गत मनुष्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, उसका केवल एकमात्र उद्देश्य मानव जीवन को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाना है। सुविधा के लिए अर्थशास्त्र के अध्ययन के विषय को हम कई भागों में विभाजित कर सकते हैं। जैसे ग्रामीण अर्थशास्त्र एवं कृषि अर्थशास्त्र, औद्योगिक अर्थशास्त्र आदि। ग्रामीण अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय वे समस्त ऐं एवं ग्राम्य जीवन सम्बन्धी परिस्थितियाँ हैं जिन पर ग्रामीण-जीवन की एवं समृद्धि निर्भर करती है। भारत जैसे विशाल देश में जिसकी अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है, ग्रामीण अर्थशास्त्र का अध्ययन विशेष महत्व का है। इसके अन्तर्गत हम ग्राम निवासियों के कार्य एवं उनके रहन सहन सम्बन्धी बातों का अध्ययन, उनके जीवन को सुखमय एवं उपयोगी बनाने के उपाय निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत खेती सम्बन्धी कार्यों, कृषकों के समक्ष पैदा होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र के इस भाग में कृषि सम्बन्धी समस्त बातों का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् उन समस्त बातों पर विचार होता है जिनका सम्बन्ध या तो भूमि से है अथवा प्रकृति की विभिन्न स्वतन्त्र देनों (Free Gifts of Nature) से है। इस प्रकार कृषि अर्थशास्त्र वास्तविक रूप से अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का उपयोगी भाग है।

उपरोक्त दो प्रमुख विभाग अर्थशास्त्र के व्यावहारिक अध्ययन में सहायक होते हैं। भारतीय अर्थशास्त्र इन दोनों प्रकार के अध्ययनों से प्रभावित एवं लाभान्वित होता है।

भारतीय अर्थशास्त्र के विभिन्न अर्थ (Various Interpretations of the term "Indian Economics")—"भारतीय अर्थशास्त्र" एक ऐसा शब्द है जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। प्रारम्भ काल से ही भारतीय लेखकों एवं अर्थशास्त्रियों के समक्ष यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। यही कारण है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' के विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। विचार करने से यह ज्ञात होगा कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों के पारस्परिक मतभेद विद्यार्थियों के मन में भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं। साधारण तौर पर भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग हम तीन प्रकार के अर्थों में करते हैं। यह तीन रूप निम्न हैं —

(१) "भारतीय अर्थशास्त्र" भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के रूप में (Indian Economics as a History of Indian Economic Thought)

(२) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक समस्याओं पर आधारित अध्ययन के रूप में (Study of Economic Principles based upon instances from Indian Economic Life)

(३) भारतीय अर्थशास्त्र एक नवीन शास्त्र के रूप में (Indian Economics as a new science or subject of study)

(१) "भारतीय अर्थशास्त्र" भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के रूप में—भारतीय अर्थशास्त्र के इस अर्थ के अन्तर्गत हम भारत में विभिन्न विचारकों की विचारधाराओं एवं उनके द्वारा प्रतिपादित आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जैसे कौटिल्य के आर्थिक सिद्धान्त तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्मित एवं रचित आर्थिक नीति एवं पद्धतियों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत समय समय पर किये जाने वाले प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के अध्ययन के विषय हो सकते हैं। जैसे अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह सूरी और अकबर महान् जैसे मुसलमान शासकों की मालगुजारी एवं वित्त सम्बन्धी नीति अपने राजकोष को पूरा करने के उद्देश्य से कार्यान्वित मुहम्मद तुगलक की सांकेतिक मुद्रा (Token Currency) की नीति। इसके अतिरिक्त आधुनिक भारत की अनेक महान् विभूतियाँ जैसे न्यायाधीश रानाडे, दादाभाई नौरोजी, महात्मा गाधी, जे० सी० कुमारप्पा तथा विनोबा भावे द्वारा समय समय पर देश की आर्थिक समस्याओं के लिए दिये गये सुझावों एवं नीतियों का अध्ययन इसमें किया जाता है। यही नहीं भारत जैसे महान देश में समय समय पर होने वाली क्रान्तियाँ एवं चलाये गये आन्दोलनों का जिनका हमारे देश की आर्थिक परिस्थितियों एवं जीवन पर गहरी छाप पड़ी है, अध्ययन किया जाता है, जैसे श्रमिक संघ आन्दोलन (Trade Union Movement), सहकारिता आन्दोलन (Co operative Movement), भूदान आन्दोलन (Bhoodan Movement)। यद्यपि इन सबका अध्ययन हम भारतीय अर्थशास्त्र में कर सकते हैं फिर भी भारतीय अर्थशास्त्र का यह अर्थ नहीं हो सकता। इसके निम्न कारण हैं —

(१) भारतीय अर्थशास्त्र के उपरोक्त विश्लेषण से इस बात का आभास होता है कि यह केवल एक ऐतिहासिक अध्ययन मात्र है। इस कारण यदि इसको भारतीय अर्थशास्त्र के स्थान पर भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास की संज्ञा दी जाये तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि **भारतीय अर्थशास्त्र केवल भूतकाल की समस्याओं का ही अध्ययन नहीं है। बल्कि यह एक ऐसा व्यापक अध्ययन है जिसका**

उद्देश्य भूत के अनुभवों को दृष्टि में रखते हुए देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में भविष्य के लिए एक सफल योजना का निर्माण करना है।

(२) भारतीय आर्थिक विचारों एवं प्रयोगों की ऐतिहासिक सामग्री इतनी अल्प मात्रा में है जिससे इस विषय के अध्ययन का क्षेत्र अति सीमित हो जाता है।

(३) विभिन्न ग्रन्थों एवं अर्थशास्त्रियों की रचनाओं में इन आर्थिक विचारों के फैले होने के कारण इनका कोई निश्चित क्रमबद्ध विकास नहीं हुआ है जिसके फलस्वरूप इनका विधिवत् अध्ययन करना असम्भव है।

(२) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक समस्याओं पर आधारित अध्ययन के रूप में—अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए केवल अर्थशास्त्र का सैद्धान्तिक अध्ययन ही पर्याप्त एवं उपयोगी नहीं होगा। उसकी सफलता तो इस बात पर निर्भर करती है कि कहाँ तक वह अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को अपने व्यवहार में लाता है। इसी दृष्टि से भारतीय अर्थशास्त्र का एक और अर्थ लगाया जाता है जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक जीवन के साथ निरूपण करना होता है। परन्तु अर्थशास्त्र का यह अर्थ भी भ्रमात्मक है। कारण यह है कि इसके अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक अध्ययन पर ही विशेष बल दिया जाता है।

(३) भारतीय अर्थशास्त्र एक नवीन शास्त्र के रूप में—इस दृष्टिकोण से भारतीय अर्थशास्त्र एक बिल्कुल नया विषय है जिसकी विषय सामग्री पश्चिमी अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों पर निर्भर न होकर पूर्णतया भिन्न है। इस विचारधारा का मूल कारण यह है कि जिन परिस्थितियों ने पश्चिमी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को जन्म दिया है, वे भारत की स्थिति एवं भारत के आर्थिक जीवन से बिल्कुल मेल नहीं खातीं। इसलिए भारतीय आर्थिक समस्याओं के अध्ययन एवं उनके हल के लिए वे बिल्कुल अनुपयोगी सिद्ध होंगे। इसी कारण भारतीय अर्थशास्त्र एक बिल्कुल नवीन सिद्धान्तों का समूह है जिसका विकास भारतीय आर्थिक परिस्थिति एवं वातावरण में हुआ है। परन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्र जैसे सर्वदेशीय विषय को भारतीय अर्थशास्त्र (Indian Economics) की संज्ञा देना ठीक उसी प्रकार अनुचित होगा जैसे कि रूसी भौतिक शास्त्र (Russian Physics), जर्मन अर्थशास्त्र (German Economics), भारतीय गणित शास्त्र (Indian Mathematics) इत्यादि।

भारतीय अर्थशास्त्र का वास्तविक अर्थ (Real Meaning of Indian Economics)—उपरोक्त विवेचन से यह विदित हो गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा विवादग्रस्त शब्द है जिसकी व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस शब्द का वास्तविक अर्थ

समझ लें। यह एक ऐसा विषय है जिसके अन्तर्गत हम भारत की वर्तमान समय की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हैं। ऐसे अध्ययन का केवल यही उद्देश्य होता है कि हम देश की आर्थिक स्थिति से भली प्रकार परिचित हो जायें जिसके आधार पर हम देश की भावी आर्थिक प्रवृत्तियों का सफलतापूर्वक अनुमान लगा सकते हैं। देश की आर्थिक स्थिति का ऐसा वस्तुगत (objective) अध्ययन देश की आर्थिक समृद्धि एवं विकास के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं के हेतु पथप्रदर्शन का कार्य करेगा।

अतः भारतीय अर्थशास्त्र वह शास्त्र है जिसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं और उन समस्याओं के निवारण के लिए सुझाव प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए हम देश की *भौगोलिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं का भी अध्ययन* करना पड़ता है और साथ ही उनका देशवासियों के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है क्योंकि आधुनिक युग में देश की आर्थिक स्थिति इन सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। भारत वासियों को इस सत्य का कटु अनुभव है। यद्यपि भारत आज एक स्वाधीन देश है और जिसे संसार का एक महान् प्रजातन्त्र देश कहलाये जाने का गौरव प्राप्त है फिर भी आज से कुछ वर्ष पूर्व तक यह दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था और इस काल में हमारे देश का जो आर्थिक शोषण (economic exploitation) हुआ है उससे प्रत्येक देशवासी भलीभाँति परिचित है। एक विदेशी शासन के अधीन होने पर देश अपने आर्थिक लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता। स्वतन्त्र होने के पूर्व हमारे देश में अंग्रेजों का शासन था जिन्होंने सर्दैव हमारे देश को अपने आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति का केवल साधन मात्र ही समझा। परिणामस्वरूप हमारे देश का इतना आर्थिक पतन हो गया कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने के लगभग १३ वर्ष पश्चात् भी देश की आर्थिक स्थिति गम्भीर ही बनी हुई है और आये दिन देशवासियों के सामने अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ बनी ही रहती हैं। देश में अन्न की कमी, आवश्यक वस्तुओं का अपर्याप्त उत्पादन एवं देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी अनेक समस्याएँ राष्ट्र के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के समक्ष यही और ऐसी ही अनेक आर्थिक समस्याएँ हैं जिनका वह भारत की भौगोलिक, सामाजिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि में अध्ययन एवं विश्लेषण करता है जैसे देश की कृषि सम्बन्धी समस्याएँ, औद्योगिक *विकास सम्बन्धी समस्याएँ, यातायात, व्यापार एवं वित्तीय समस्याएँ इत्यादि।*

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Indian Economics)—भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसके अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जैसा कि उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है। भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम भारत की

आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं। यह केवल समस्याओं के विश्लेषणात्मक (analytical) अध्ययन तक ही सीमित नहीं वरन् समस्याओं के हल के सुझाव भी प्रस्तुत करती है। सारांश में भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न बातों का वर्णनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन किया जाता है —

(१) प्राकृतिक दशा (Physical Conditions)—इसके अन्तर्गत हम भारत की प्राकृतिक स्थिति एवं उसकी बनावट तथा जलवायु का उसके आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

(२) प्राकृतिक साधन (Natural Resources)—देश की आर्थिक स्थिति पर प्राकृतिक साधनों का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमें यह भी देखना है कि हमारे देश में उपलब्ध होने वाले प्राकृतिक साधन क्या हैं। उसकी मिट्टी कैसी है? उसकी वनस्पति, खनिज पदार्थ एवं शक्ति के साधन का उसके आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार अधिकतम प्रयोग हो सकता है।

(३) सामाजिक पृष्ठभूमि (Social Background)—इसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक जैसे जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार नियम एवं भारत की जनता, उसकी जनसंख्या, नागरीकरण (urbanisation) की समस्या तथा उसके व्यावसायिक अथवा जीवन निर्वाह की दशाओं का विस्तृत अध्ययन करते हैं।

(४) कृषि एवं औद्योगिक समस्याएँ (Agricultural and Industrial Problems)—इसके अन्तर्गत देश में उत्पन्न होने वाली विभिन्न फसलों, भूमि के पट्टा की प्रणालियाँ (Systems of Land Tenure), सिंचाई, कृषि मजदूर एवं खेती की उन्नति तथा अधिक खाद्य उत्पादन की समस्या, विभिन्न विशाल उद्योग, औद्योगिक वित्त एवं प्रबन्ध तथा देश के औद्योगीकरण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है।

(५) श्रम सम्बन्धी समस्याएँ (Labour Problems)—देश के औद्योगीकरण के साथ-साथ औद्योगिक श्रम का महत्व भी बढ़ जाता है। इस कारण देश के औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता, श्रम कल्याण एवं आवास सम्बन्धी योजना, प्रशिक्षण, सामाजिक सुरक्षा, राष्ट्रीय वेतन नीति (National Wage Policy), औद्योगिक शान्ति (industrial peace) जैसी समस्याओं जिनका देश के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, का भी अध्ययन किया जाता है।

(६) यातायात एवं संवादवाहन सम्बन्धी समस्याएँ (Problems of Transport and Communication)—इसके अन्तर्गत देश में उपलब्ध विभिन्न यातायात के साधन जैसे रेल-परिवहन, सड़कों और जल एवं वायु पथ Waterways and Airways) सम्बन्धी समस्याएँ।

(७) व्यापार तथा वाणिज्य (Trade and Commerce)—अन्तर्देशीय व्यापार, विदेशी व्यापार, व्यापार सतुलन (Balance of Trade), शोधन शेष (Balance of Payment) सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन मे सम्मिलित है।

(८) मुद्रा तथा वित्तीय समस्याएँ (Currency and Financial Problems)—इसके अन्तर्गत देश की बैङ्किङ्ग व्यवस्था, वस्तुओं का मूल्य स्तर (Price Structure), सार्वजनिक वित्त (Public Finance) जैसी समस्याएँ आती हैं।

(९) राष्ट्रीय आय एव आर्थिक नियोजन (National Income and Economic Planning)—स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की आर्थिक समृद्धि के लिए राष्ट्रीय आयोजना आयोग (National Planning Commissior) द्वारा निर्मित प्रथम, द्वितीय एव आगामी पचवर्षीय योजनाओं का विश्लेषणात्मक एव आलोचनात्मक अध्ययन इसका मुख्य अग है।

(१०) विभिन्न आन्दोलन (Various Movements)—देश मे समय समय पर होने वाले विभिन्न आन्दोलनों का अध्ययन, जिनका हमारे आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ा है अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है, जैसे सहकारिता आन्दोलन (Co operative Movement), श्रमिक सघ आन्दोलन (Trade Union Movement), भूदान आदोलन (Bhoodan Movement) इत्यादि।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व (Importance of the Study of Indian Economics)—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है तथा अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इससे क्या लाभ हो सकता है यह बात उपरोक्त विवेचन से स्वत स्पष्ट है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा महत्वपूर्ण विषय है जिसके अध्ययन से हम देश की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान तथा देश की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह शास्त्र हमारे समस्त देश के भूत, वर्तमान तथा भावी आर्थिक एव सामाजिक विकास का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय अर्थशास्त्र का महत्व केवल सैद्धान्तिक ही है वरन् यह एक ऐसा शास्त्र है जिसका अध्ययन व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व मुख्यतया निम्न बातों पर निर्भर है —

(१) व्यावहारिक महत्व—व्यावहारिक लाभ के कारण भारतीय अर्थशास्त्र अत्यन्त उपयोगी विषय माना जा सकता है। देश की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं जैसे

कृषि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में लगे व्यक्तियों के लिए उनके व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का वैज्ञानिक ज्ञान जिसे वह भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा प्राप्त कर सकता है, निःसन्देह उनके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(२) पथ प्रदर्शक के रूप में—देश की आर्थिक स्थिति को भली भाँति समझने के लिए, उसकी वर्तमान स्थिति एवं प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। आर्थिक प्रगति के कठिन मार्ग पर अग्रसर राष्ट्र के लिए इस शास्त्र का अध्ययन का महत्त्व उस पथ प्रदर्शक के समान है जो हमें इस बात की जानकारी कराता है कि वास्तव में हम प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं या किस सीमा तक हम अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर चुके हैं और कौन कौन-सी बाधाएँ हमारे मार्ग में उपलब्ध हैं।

(३) तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से—आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी राष्ट्र एक दूसरे के काफी निकट आ गये हैं जिसके कारण किसी एक देश में होने वाली आर्थिक घटनाएं दूसरे देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकतीं। इसी कारण यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य हमारे देश का क्या स्थान है और किस प्रकार उन राष्ट्रों के अनुभवों से देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सफलता मिल सकती है।

(४) आर्थिक नियोजन के लिए महत्त्व—देश के आर्थिक विकास के लिए बनाई जाने वाली योजनाएं उस समय तक सफल नहीं हो सकतीं जब तक कि देश की आर्थिक स्थिति के पूर्ण ज्ञान पर आधारित न हों। देश के नियोजक (Planner) जिन पर योजना निर्माण का उत्तरदायित्व है उनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे देश की आर्थिक दशाओं एवं समस्याओं से भली भाँति परिचित हों। भारतीय अर्थशास्त्र देश की सही आर्थिक परिस्थिति तथा दशाओं का ज्ञान करा कर आर्थिक योजनाओं के निर्माण में सहायता देता है।

(५) आर्थिक अज्ञानता दूर करने के लिए—किसी राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है उस देश के नागरिक उन योजनाओं को सफल बनाने में सक्रिय भाग लें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब देश से आर्थिक अज्ञानता (economic ignorance) का उन्मूलन हो। प्रत्येक नागरिक देश की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं से भली भाँति परिचित हो तथा उनके समाधान के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं को भली भाँति समझ सके। ऐसा होने पर ही राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक जनमत तैयार हो सकता है। कुछ समय पूर्व तक हम विदेशी शासन के अधीन थे। देश का आर्थिक विकास करना उनका कार्य था। पर अब हम स्वतन्त्र हो गये हैं। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति

के पश्चात् अपने देश की आर्थिक समृद्धि का उत्तरदायित्व हमारे कन्धों पर है। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपनी समस्याओं का भली भाँति अध्ययन करके देश के आर्थिक विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

प्रश्न

1 Clearly explain the meaning of the term 'Indian Economics'. Describe the importance of its study

2 Write a short note on the scope of Indian Economics (*Agra, 1957*)



अध्याय २

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की मूल विशेषताएँ तथा भावी प्रवृत्तियाँ

(Basic Characteristics of Indian Economy and Future Trends)

भारत एक विशाल देश है जिसकी जनसंख्या चीन को छोड़ कर संसार में सबसे अधिक है। यह अवश्य है कि प्राचीन काल में हमारा देश अपने आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास के कारण संसार में अन्य देशों की तुलना में सबसे उच्च स्थान प्राप्त कर चुका था। उस समय हमारा देश सोने की चिड़िया कहलाता था। देश में खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अपार भंडार था, चारों ओर दूध घी की नदियाँ बहा करती थीं और समस्त देशवासी सुख एवं शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु आज हमारा देश वह गौरवपूर्ण स्थान खो चुका है। आज भारत की स्थिति बड़ी दयनीय अवस्था में पहुँच चुकी है। एक लम्बे काल तक विदेशी शासकों के अधीन होने के कारण हमारे देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति न हो सकी। वैसे तो हमारे देश में प्रकृति की विशेष कृपा से प्राकृतिक संसाधनों की कमी नहीं है। देश में विशाल वनस्पति एवं जलशक्ति उपलब्ध है। संसार में सबसे उपजाऊ खेती योग्य भूमि भारत में ही प्राप्त है और भूमि के अन्दर अपार खनिज सम्पत्ति देशवासियों की सहायता के लिए प्राप्य है परन्तु दासता की शृङ्खलाओं में जकड़े होने के कारण भारतवासी प्रकृति की इन अपार देनों का समुचित उपयोग एवं विदोहन कर अपनी आर्थिक उन्नति करने में असमर्थ रहे। यही कारण है आज भारतवासियों का जीवन-स्तर अन्य देशों की तुलना में निम्नतम है। कृषि प्रधान देश होते हुए भी खाद्यान्न की समस्या सदैव बनी रहती है। हम अपने औद्योगिक विकास के लिए दूसरे राष्ट्रों की सहायता लेनी पड़ती है। यदि हम भारत की आर्थिक एवं भौगोलिक स्थिति का भली भाँति अध्ययन करें तो हम उसके आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाले कुछ मूल लक्षणों का ज्ञान होगा।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की निम्न विशेषताएँ जानने योग्य हैं जो इस प्रकार हैं :—

मूल विशेषताएँ

(१) धनी देश की निर्धन जनता (A rich country inhabited by

poor people)—भारतीय अर्थ व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि धनी देश होते हुए भी यहाँ की जनता निर्धन है। देश में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। देश में अपार वन-सम्पत्ति, श्रम शक्ति, जल शक्ति, पशु धन एवं खनिज पदार्थ होते हुए भी भारतवासियों का जीवन स्तर सबसे निम्न है जिसका प्रमुख कारण यह है कि अभी इस अपार प्राकृतिक सम्पदा का आर्थिक विदोहन नहीं हो सका है, जिससे देश सम्पन्न तथा समृद्धिशाली हो सके।

(२) भारत एक अर्द्ध-विकसित राष्ट्र है (India is an under developed country)—देश के साधनों का अपर्याप्त विदोहन तथा समुचित विकास न होने के कारण भारत एक अर्ध विकसित राष्ट्र कहलाता है जो उसकी निर्धनता का मूल कारण है। आधुनिक युग में संसार के सब राष्ट्रों का बराबर आर्थिक विकास नहीं हो रहा है। कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो आर्थिक क्षेत्र में निरन्तर प्रगति के कारण बड़े-बड़े विशाल एवं समृद्धिशाली राष्ट्र बन गये हैं। परन्तु भारत की स्थिति अभी असन्तोषजनक है। एक अर्ध विकसित राष्ट्र के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक आविष्कार तथा ज्ञान का सीमित उपयोग,

(२) उत्पादन जीवन निर्वाह की सीमा तक ही होना,

(३) सङ्कुचित बाजार,

(४) निर्माणकारी उद्योगों का अपेक्षाकृत गौण स्थान,

(५) आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त वातावरण।

इस दृष्टि से देखा जाय तो भारत वास्तव में एक अर्ध विकसित राष्ट्र कहलायेगा जहाँ विभिन्न कारणों से देश की आर्थिक प्रगति नहीं हो सकी है और देशवासियों का जीवन स्तर अब भी काफी नीचा है। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय सरकार के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में उसके आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की अनेक योजनाएँ बनाई जा रही हैं और इस समय भारत में अनेक ऐसे कार्य हो रहे हैं जिनकी सफलता शीघ्र ही देश के लिए प्रयोग की जाने वाली संज्ञा—'अर्ध विकसित राष्ट्र' से मुक्ति प्रदान करायेगी और हमारा देश भी अन्य राष्ट्रों की तरह एक विकसित एवं समृद्धिशाली राष्ट्र बन जायगा।

(३) भारत एक कृषि प्रधान देश है (India is a predominantly agricultural country)—भारत की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि देश की अधिकांश जनता अपने जीविकोपार्जन के लिए खेती पर आश्रित है जिसके कारण देश की अर्थव्यवस्था सन्तुलित नहीं कही जा सकती। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का लगभग ७०% भाग कृषि पर तथा शेष ३० प्रतिशत भाग कृषि से भिन्न व्यवसायों पर निर्भर रहता है। इस कारण भारत के संगठित

उद्योग धन्धों में, व्यापार, उद्योग तथा यातायात में बहुत कम जनसंख्या लगी होने के कारण भारत एक कृषि प्रधान देश कहलाता है। कृषि पर अत्यधिक भार होने के फलस्वरूप खेती भी अनेक समस्याओं से ग्रस्त है जिसके कारण भारतीय कृषि पिछड़ी हुई एवं दयनीय अवस्था में है। कृषि की सफलता तथा देश की आर्थिक दृढ़ता दोनों एक प्रकार से वर्षा पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि मुख्यतया कृषि पर आश्रित अर्थ व्यवस्था उसी समय उन्नतिशील एवं सम्पन्न अवस्था में होगी जिस समय फसल अच्छी होने से कृषि के उत्पादन में वृद्धि हो। सिंचाई के साधनों का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने के फलस्वरूप भारत में कृषि वर्षा पर ही निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त जब अधिक व्यक्ति अपने जीविकोपार्जन के लिए भूमि पर निर्भर करने लगते हैं तो खेतिहर भूमि अनार्थिक जोतों में विभाजित हो जाती है जिससे कृषि उत्पादन कम हो जाता है।

(४) निरन्तर वृद्धिशील जनसंख्या वाला देश (A country with rapidly rising population)—भारत एक ऐसा देश है जहाँ न केवल संसार में चीन को छोड़ कर सबसे अधिक जनसंख्या पाई जाती है बल्कि एक विशेषता यह भी है कि यहाँ की जनसंख्या की निरंतर वृद्धि होती जा रही है। सन् १९०१ ई० में जिस देश में लगभग २३.५५ करोड़ जनसंख्या हो और जिसके सन् १९६१ तक ४१ करोड़* तक पहुँच जाने का अनुमान हो उस देश में जनसंख्या की निरंतर वृद्धि की समस्या एक जटिल समस्या होगी। देश की प्रति व्यक्ति निम्न आय तथा देशवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा होना, अत्यधिक शिशु तथा मातृ मृत्यु दर, जीवन की छोटी अवधि, बढ़ती हुई बेकारी की समस्या, एवं माल्थस द्वारा बताये गये कुछ प्राकृतिक अवरोधों की क्रियाशीलता जैसे बाढ़, अकाल एवं महामारी इत्यादि इस बात के प्रमुख प्रमाण हैं कि भारत एक अति जनसंख्या वाला देश है। इसलिए यदि हम देश की राष्ट्रीय आय बढ़ाना है तो इस निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को सीमित करने के उपाय ढूँढने होंगे और तभी देश की वास्तविक प्रगति भी हो सकेगी।

(५) अतिरेक जनशक्ति का देश (Land of surplus man-power)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारत में तीव्र गति से जनसंख्या के बढ़ने के कारण सब व्यक्तियों के लिए उपयोगी कार्य उपलब्ध नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न कुटीर-उद्योगों के विनाश तथा कृषि भूमि पर निरन्तर बढ़ते भार के कारण भारी संख्या में लोग देश के बड़े-बड़े नगरों एवं विशाल औद्योगिक केन्द्रों में नौकरी की खोज के लिए उमड़े चले आते हैं। परन्तु देश का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने के कारण इन सभी के लिए रोजगार का अवसर प्राप्त होना असम्भव है। इस कारण भारी संख्या में लोग बेकार रहते हैं तथा देश की अधिकांश जन शक्ति का

*पाकिस्तान को छोड़ कर।

उपयोग नहीं हो पाता। एक ओर तो यह स्थिति है और दूसरी ओर देश में कुशल श्रमिकों का अभाव भी है। देश में स्थापित किये जाने वाले नये-नये उद्योग धर्धो के लिए कुशल श्रमशक्ति का अभाव बना रहता है जो बहुत सीमा तक देश की आर्थिक प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

(६) वैज्ञानिक एवं तात्रिक क्षेत्र में पिछड़ा होना (Scientific and Technical Backwardness)—किसी देश की आर्थिक समृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उस देश में वैज्ञानिक अनुसंधान तथा तात्रिक ज्ञान का समुचित प्रयोग हो। तात्रिक विकास में पिछड़े होने के कारण हमारे उत्पादन के साधन एवं यन्त्र अत्यन्त प्राचीन एवं अनुपयुक्त हैं जो बहुत हद तक हमारे आर्थिक विकास में मन्दगति होने के लिए उत्तरदायी हैं। वास्तव में हमारे देश का उस समय तक सम्पूर्ण आर्थिक विकास सम्भव नहीं जब तक कि वैज्ञानिक एवं तात्रिक ज्ञान के विकसित क्षेत्र में अन्य देशों द्वारा किये गये अनुसंधान एवं अनुभवों का भारतीय उद्योगों में समावेश न हो।

(७) निर्धनता एवं अज्ञानता का देश (A Country of Poverty and Ignorance)—भारत के आर्थिक जीवन की एक और विशेषता यह है कि यहां की जनता निर्धनता एवं अज्ञानता की बेड़ियों में जकड़ी हुई है। देश में बेरोजगारी के कारण अधिकांश जनता अपने लिए आवश्यक जीविकोपार्जन में असमर्थ रहती है। एक निर्धन देश में जन शक्ति का अनुपयोगी अवस्था में पड़ा रहना उसकी निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। यही नहीं कि हमारे देशवासी केवल निर्धन हैं वरन् अशिक्षित होने के कारण अधिकांश जनता अज्ञानता के अंधकार में अपना जीवन व्यतीत करती है। देश की ८२.७% जनसंख्या ऐसी है जो भारत के विभिन्न ग्रामों में निवास करती है। खेती में लगे हुए ये सीधे-सादे लोग सारी आयु अंध विश्वास एवं अज्ञानता में समाप्त कर देते हैं। संसार के अनेक राष्ट्र शिक्षा के प्रचार एवं वैज्ञानिक प्रगति के कारण अपने देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने में न जाने कहाँ तक सफल हो चुके हैं। परन्तु भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में जैसे इस नवीन युग का अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। संसार क्या अपने देश के ही विकसित एवं उन्नतिशील नगरों से अलग होने के कारण ग्राम-वासी अज्ञानता का जीवन व्यतीत करते हैं। इस लिए इस बात की महान् आवश्यकता है कि भारत के प्रत्येक गाँव में शिक्षा के प्रसार के हेतु स्कूल स्थापित किये जायें जो अज्ञानता को बाहर निकाल कर देशवासियों का सुखमय जीवन बिताने में सहायक हों।

(८) रीति रिवाज में ग्रसित तथा धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों का देश (A Land of Custom ridden & Religious minded People)—भारत में अति प्राचीन काल से देशवासियों के जीवन पर विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक

संस्थाओं की गहरी छाप पड़ती आई है। देश के आर्थिक जीवन पर इन सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं का इतना अमिट प्रभाव पड़ा है कि वे देश की अर्थ व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन चुकी हैं। इसी धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण का यह प्रभाव है कि भारत आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचने के कारण भौतिक उन्नति को घृणास्पद दृष्टि से देखता आया है। भारत के अनेक प्राचीन एवं धार्मिक ग्रन्थ देशवासियों को सादा जीवन तथा सन्तोष का पाठ पढ़ाते आये हैं। पश्चिमी राष्ट्रों ने आर्थिक क्षेत्र में जो प्रगति की है उसका मूल कारण यह है कि उनके जीवन में ...िक उन्नति को प्रथम स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में कुछ ...ी प्रथाएँ एवं रीति रिवाज हैं जो किसी न किसी प्रकार भारत के आर्थिक जीवन को प्रभावित करते आये हैं। जैसे जाति प्रथा, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, पर्दे की प्रथा, उत्तराधिकार नियम।

(९) विभिन्न अभावों का देश (A Land of Scarcities)—भारत जैसे देश की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर अनेक ऐसी कमियाँ हैं जो उसके आर्थिक विकास में बाधा डालती हैं। जैसा कि सर्व विदित है कि आर्थिक विकास के लिए अनेक ऐसी बातों एवं सुविधाओं की आवश्यकता होती है जिनसे देश के औद्योगिक एवं आर्थिक समृद्धि में सहायता मिलती है जैसे कुशल श्रम शक्ति तथा प्राविधिक-ज्ञान (technical knowledge) की प्राप्ति, पूँजी की उपलब्धि, योग्य तथा निपुण साहसियों तथा समुचित बैंकिंग, बाजार सुविधाओं, यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का उपलब्ध होना। परन्तु दुःख की बात है कि भारत में अभी तक इन सब बातों की कमी है जिसके कारण देश की आर्थिक प्रगति नहीं हो पाती।

(१०) विभिन्न जलवायु वाला देश (A Nation of Diverse Climates)—भारत के आर्थिक जीवन पर उसकी जलवायु का गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत भी उन देशों में से एक है जहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इसी कारण यदि भारत में उसके उत्तरी भाग में समशीतोष्ण जलवायु पाई जाती है तो दक्षिण में उष्ण जलवायु मिलती है। यही नहीं वर्षा का भी भारत में अत्यन्त असमान वितरण होता है जिसके कारण कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर वर्षा अत्यधिक होती है जैसे चेरापूँजी, परन्तु साथ ही कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहाँ वर्षा बहुत कम मात्रा में होती है जैसे राजस्थान, उत्तरी पूर्वी मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी पठार इत्यादि। विभिन्न प्रकार की जलवायु उपलब्ध होने के कारण हमारे देश में अनेक प्रकार की फसलें उत्पन्न की जाती हैं जिनसे देश के लिए आवश्यक ... आत्मनिर्भर होने में बड़ी सहायता मिलती है जिसके कारण भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक धनी देश कहलाता है।

(११) नियोजित आर्थिक प्रगति वाला देश (A Country with Planned Economic Development)—वर्तमान समय में भारतीय अर्थ व्यवस्था का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि यहाँ देश की प्रगति के लिए आर्थिक नियोजन (Economic Planning) की सहायता ली जा रही है। वर्षों की बिगड़ी हुई अर्थ व्यवस्था को सुधारने तथा आर्थिक जीवन में दृढ़ता लाने का आर्थिक नियोजन के अतिरिक्त और कोई उपाय हो ही क्या सकता है। जब देश की अधिकांश जनता निर्धन हो और साधनों का पर्याप्त मात्रा में विदोहन न हो रहा हो तो आर्थिक नियोजन द्वारा ही देश का सर्वाङ्गीण विकास हो सकता है। इसी कारण संसार के प्रायः सभी विचारों के व्यक्ति आज इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी भी देश की निर्धनता की समस्या और आर्थिक विकास की प्रगति को तीव्र करने के लिए किसी न किसी रूप में आर्थिक आयोजन अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। भारत ऐसा ही एक उदाहरण है जहाँ भारी पैमाने पर आर्थिक नियोजन द्वारा देश के आर्थिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है।

देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था की अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अध्ययन देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति समझने के लिए अनिवार्य है। इन मूल लक्षणों के अध्ययन का विशेष महत्व यह है कि इनका देश की राष्ट्रीय आय तथा विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण यहाँ की अधिकांश जनता को कृषि द्वारा जीविका प्राप्त होती है। अति प्राचीन काल से अधिकांश जनता का खेती के व्यवसाय में लगे होने के कारण भारतवासियों में औद्योगिक चरित्र (industrial character) का विकास नहीं हो पाया जो उसकी मंदगति से औद्योगिक विकास होने का मुख्य कारण है। निरंतर बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण देश में जनशक्ति का आधिक्य है जिसके कारण श्रम पूर्ति भी अत्यधिक मात्रा में हो रही है। रोजगार के लिए श्रमिकों में पारस्परिक प्रतियोगिता होने के कारण मजदूरी की दर घटती जाने की प्रवृत्ति है। इसके फलस्वरूप मजदूरों में मोलभाव करने की शक्ति (bargaining power) कम है। इसी प्रकार जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली तथा धार्मिक भावनाओं द्वारा भी भारतवासियों का आर्थिक जीवन बहुत प्रभावित हुआ है। धर्म की प्रधानता होने के कारण भारत में भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक एवं आत्मिक उन्नति को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

भावी प्रवृत्तियाँ (Future Trends)—देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति चाहे जैसी भी हो परन्तु भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल प्रतीत होता है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में आने वाली अनेक बाधाओं को दूर कर भारतवासी अपने निरन्तर तथा अथक

परिश्रम से निश्चय ही भारत को एक समृद्धिशाली तथा सुविकसित राष्ट्र बनाने का सुखद स्वप्न देख रहे हैं। गौरव की बात यह है कि भारतवर्ष कई वर्षों की पराधीनता की शृंखलाओं से अब मुक्त हो गया है तथा राष्ट्रीय सरकार देश के आर्थिक विकास तथा समृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस सम्बन्ध में सबसे हर्ष की बात यह है कि भारतवर्ष जिसे कुछ समय पूर्व तक एक अविकसित राष्ट्र कहा जाता था अब उसे अर्ध विकसित राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। अविकसित आर्थिक अवस्था से अर्ध विकसित अवस्था (from backward economy to under developed economy) तक, वास्तव में, पहुँच कर भारत ने एक लम्बा रास्ता तय किया है। इस कारण भारत जैसे राष्ट्र का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल प्रतीत होता है। इस समय भारत में देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं जिनकी सफलता पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर है।

प्रश्न

1 Describe the basic features of Indian economy and state to what extent these have been responsible for the slow growth of our national economy (*Agra, 1953, 1959*)

2 India has often been described as a rich country inhabited by poor people Do you agree with this view ? Give full resaons for your answer (*Punjab 1954, Rajputana, 1951*)



खण्ड २

प्राकृतिक संसाधन

१ भारत की भौगोलिक परिस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधन

अध्याय ३

भारत की भौगोलिक परिस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधन

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों एवं प्राकृतिक साधनों से तात्पर्य देश के वातावरण, जलवायु, भूमि की रचना, शक्ति के साधन, खनिज पदार्थ, वन-सम्पत्ति, पर्वत, तथा समुद्र तट इत्यादि से है। किसी भी देश का आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास उस देश की भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। प्रकृति ने हमारे देश को प्रचुर उपहार प्रदान करने की महान् कृपा की है। हमारे देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु और मिट्टी पाई जाती है। फलस्वरूप लगभग सभी कृषि पदार्थ भारतवर्ष में उत्पन्न होते हैं। संसार में संयुक्त राज्य अमरिका और सोवियत रूस के पश्चात् भारत ही एक ऐसा देश है जो आत्म निर्भर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता है। प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता एवं अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही भारत को अनादि काल से 'सोने की चिड़िया' तथा 'ब्रिटिश साम्राज्य का सर्व सुन्दर हीरा' जैसे सुन्दर शब्दों की संज्ञा प्रदान की गई है। आज भी भारत का गौरव उपरोक्त दृष्टिकोण से कम नहीं है।

भारतीय आर्थिक विकास का ठीक-ठीक रूप जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस देश के प्राकृतिक साधनों एवं भौगोलिक परिस्थितियों के बारे में थोड़ा-सा ज्ञान कर लें। सर्व प्रथम हम भारत की प्राकृतिक परिस्थिति का अध्ययन करेंगे और तत्पश्चात् भारतीय वन, खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन इत्यादि का विवेचन करेंगे।

अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से भारतीय भौगोलिक परिस्थिति को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) भौगोलिक सीमा और स्थिति,
(२) भूमि की बनावट,
(३) जलवायु, तथा
(४) वनस्पति एवं पशु।

(१) भारत की भौगोलिक सीमा और स्थिति

भारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° अक्षांश से लेकर ३७° अक्षांश तक तथा

६६.२° से ९४° देशान्तर तक फैला हुआ है। देश की सीमा स्पष्ट और निश्चित है। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत है जिसे समस्त संसार में सबसे ऊँचे होने का गौरव प्राप्त है और जो सदैव बर्फ से ढँका रहता है। देश के उत्तर पूर्व तथा उत्तर पश्चिम की ओर विशाल पहाड़ों की श्रेणियाँ शोभायमान हैं। देश का पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी भाग समुद्रों से घिरा हुआ है। पूर्व में बंगाल की खाड़ी है पश्चिम की ओर अरब सागर है, और दक्षिण में हिन्द महासागर है। इस प्रकार भारत हिन्द महासागर के सिरहाने स्थित है।

भारत का क्षेत्रफल इस समय लगभग १२,६६,६४० वर्ग मील है। विभाजन पूर्व समस्त भारत का क्षेत्रफल १५ लाख ८१ हजार वर्ग मील था। उत्तर से दक्षिण भारत की लम्बाई २ हजार मील है और पश्चिम से पूर्व तक १,५०० मील है। इसका सामुद्रिक तट ४,१०० मील लम्बा है। यह अधिक कटा फटा नहीं है, प्रत्युत लगभग पूर्णतया सीधा है। भारतवर्ष के विस्तृत क्षेत्रफल तथा अनुकूल स्थिति के कारण इस देश की गणना संसार के विशालतम देशों के साथ की जाती है। इस देश का क्षेत्रफल रूस को छोड़ कर समस्त यूरोप के क्षेत्रफल से कुछ कम है, और संयुक्त राज्य (U K) का आठ गुना है। भारत के क्षेत्रफल के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका अधिकांश भाग मानव उपयोग के लिए सुलभ है जब कि संसार के बड़े बड़े देशों का अधिकांश भाग अनुपयुक्त पड़ा रहता है। उदाहरणार्थ रूस और कनाडा में विस्तृत क्षेत्र निरन्तर हिमाच्छादित रहते हैं और आस्ट्रेलिया में बड़े बड़े रेगिस्तान हैं जो मानवीय उपयोग के दृष्टिकोण से निरर्थक हैं।

जनसंख्या के दृष्टिकोण से भी भारत का संसार में एक महत्वपूर्ण स्थान है। संसार की जनसंख्या का लगभग ⅙ भाग भारत में पाया जाता है। इसी विशाल क्षेत्र फल और विशाल जनसंख्या को देखकर कुछ लोगों ने भारत को भू महाद्वीप अथवा उप-महाद्वीप (Sub Continent) के नाम से विभूषित किया है।

भारत की भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से भी बहुत अच्छी है। हमारा देश पूर्वी भूमण्डल के ठीक मध्य में स्थित है। इसके एक ओर बर्मा, चीन, हिन्देशिया, जापान तथा दूसरी ओर यूरोप और मध्य पूर्वी देश हैं जिनके साथ सरलतापूर्वक अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। भारत के पास स्वयं अपना जहाजी बेड़ा न होने के कारण भारत अभी तक अपनी भौगोलिक स्थिति का पूरा पूरा लाभ नहीं उठा पाता है। यदि यह अभाव भी दूर हो जाय (जैसी कि आशा की जाती है) तो शीघ्र ही भारत संसार का एक प्रमुख और अग्रगामी व्यापारिक देश बन जावेगा।

भारत के प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक विभाग से तात्पर्य उस भू-भाग से होता

है जिसमें भौतिक परिस्थितियों, जलवायु और प्राकृतिक वनस्पति में समानता होती है। इन तीन समानताओं के फलस्वरूप उस समस्त भू-खण्ड की कृषि-उपज, जीव जन्तु, मनुष्यों की आर्थिक क्रियाएँ, जनसंख्या का घनत्व और रहन सहन लगभग समान होता है। भारत के प्राकृतिक विभागों को निर्धारित करने में देशी और विदेशी दोनों ही विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। सर्वमान्य धारणा डा० स्टॉम्प की मानी जाती है। उन्होंने भौतिक आकृति के आधार पर भारत के तीन मुख्य विभाग किये हैं—

(अ) हिमालय प्रदेश—इसके अन्तर्गत निम्न प्राकृतिक खंड माने गये हैं :—

(१) पूर्वी पहाड़ी प्रदेश,
(२) हिमालय प्रदेश,
(३) उप हिमालय प्रदेश,
(४) तिब्बत का पठार।

(ब) गंगा सतलज का मैदान—इसमें निम्न प्राकृतिक खंड अवस्थित हैं —

(५) पंजाब का मैदान,
(६) गंगा का ऊपरी मैदान,
(७) गंगा का मध्य मैदान,
(८) गंगा का निचला मैदान,
(९) ब्रह्मपुत्र की घाटी।

(स) दक्षिण का पठार—इसमें निम्न खंड सम्मिलित किये गये हैं :—

(१०) कच्छ, सौराष्ट्र प्रदेश,
(११) पश्चिमी तटीय प्रदेश,
(१२) तामिलनाड प्रदेश अथवा कर्नाटक,
(१३) कलिंग प्रदेश,
(१४) दक्षिणी दक्कन,
(१५) दक्षिण का लावा प्रदेश,
(१६) उत्तरी पूर्वी दक्कन,
(१७) थार मरुस्थल,
(१८) मलावा, बुन्देलखण्ड और छोटा नागपुर का पठार,
(१९) राजस्थान का पठार।

डा० रामनाथ दुबे ने भारत को निम्नलिखित चार विभागों में विभाजित किया है —

(१) हिमालय प्रदेश,
(२) गंगा-सतलज का मैदान,

(३) दक्षिणी पठार तथा

(४) तटीय प्रदेश।

(१) हिमालय प्रदेश—विशाल हिमालय पर्वत माला उत्तर में पामीर से प्रारम्भ होती है और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक फैली हुई है। हिमालय पर्वत को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) भीतरी हिमालय जिसमें प्रधान श्रेणी स्थित है (२) बाहरी हिमालय और (३) शिवालिक पहाड़। हिमालय पर्वत संसार का सबसे नवीन पहाड़ है। नवीन होने के कारण ही इसे संसार की उच्चतम चोटी 'एवरेस्ट' प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक उच्चतम चोटियाँ हैं जो संसार में अपना सानी नहीं रखतीं। उदाहरणार्थ एवरेस्ट, २९,१४१ फीट, कंचनजंगा २७,८१५ फीट तथा धौलागिरि २६,८२६ फीट ऊँची हैं। हिमालय के कारण भारतीय क्षेत्र एशिया के अन्य जलवायु क्षेत्रों से भिन्न हो गया है। तिब्बत से ठंडी उत्तरी हवाओं को यहाँ न आने देने के कारण तथा भारत में मानसूनों को रोक रखने के कारण हिमालय एक जलवायु सम्बन्धी अवरोध है। वास्तव में इस पर्वत के कारण हमारे देश की जलवायु हमारे देश में ही बनती है। ऊँचे दर्रों के कारण हिमालय व्यावसायिक तथा सामाजिक अवरोध भी बना रहा है। भारत में जितने भी आक्रमण बाहर से हुए हैं उनमें से कोई भी इन ऊँचे दर्रों से नहीं हुआ।



चित्र १—भारतवर्ष का प्राकृतिक मानचित्र

हिमालय पर्वत से देश को अनेक लाभ हैं जैसे—

(१) अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी से आने वाले मानसून को रोक कर यह पर्वत जल वृष्टि प्रदान करता है जो भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए जीवन-संजीवनी है।

(२) निम्न की ओर से आने वाली ठंडी हवाओं को रोक लेता है जिससे भारत को कोई हानि नहीं होता।

(३) देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण नदियां हिमालय पर्वत से ही निकलती हैं।

(४) हिमालय पर्वत से अनेक जल प्रपातों को जल मिलता है जिससे विद्युत शक्ति का निर्माण होता है।

(५) हिमालय पर्वत के दक्षिण में विशाल जंगल हैं जो हमको प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लाभ पहुँचाते हैं।

(६) हिमालय पर्वत के ही कारण देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है जिससे फलस्वरूप हमारे देश में अनेक प्रकार के खाद्य एवं पेय पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं।

(७) विशाल एवं अभेद्य होने के कारण यह देश को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखता है।

(८) पर्वतों पर अनेक स्वास्थ्यवर्धक स्थान हैं।

(९) पर्वतों पर बहुमूल्य पदार्थ एवं जड़ी बूटियाँ पाई जाती हैं जो विभिन्न असाध्य रोगों के निवारण में सहायक होती हैं।

(१०) इसकी गोद में बहुमूल्य खनिज पदार्थ तथा विशाल चरागाह भी पाये हैं जो हमारे पशु धन को भोजन प्रदान करते हैं।

(२) गंगा-सतलज का मैदान—गंगा, सिंधु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों से घिरा हुआ यह भाग पूर्व-पश्चिम में लगभग १५०० मील लम्बा और उत्तर दक्षिण में १५० मील चौड़ा है। यह विशाल मैदान संसार के सबसे उपजाऊ समतल मैदानों में से है और यहाँ सबसे अधिक जनसंख्या का घनत्व पाया जाता है। सिंचाई सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण यह भाग आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें बहुत से बड़े-बड़े मैदान सम्मिलित हैं जिनसे कई नदियाँ बहती हैं और दोमट मिट्टी लाकर मैदान को उर्वरा बना देती हैं।

गंगा सतलज का मैदान दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत से लेकर उत्तर पर्वत श्रेणियों तक तथा पूर्व के बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम के पाकिस्तान की सीमा तक फैला हुआ है। इस भाग के पश्चिम में व्यास तथा सतलज नदियाँ बहती हैं और अरब सागर में जाकर गिरती हैं। नदियों का एक दूसरा पुंज जिसमें गंगा और यमुना प्रमुख हैं, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से होकर गुजरता है। इन सब में गंगा

फैला हुआ है। यह मैदान उत्तर मे थर और राजस्थान के रेगिस्तानो से मिल जाते हैं। बालू, मिट्टी के विशाल समूह जो कि पुराने नदी मार्गों के सूख जाने के कारण तथा समुद्रों के हट जाने के कारण बन गये हैं, यहाँ की विशेषताएँ हैं। पश्चिमी तट नारियल के पेड़, कपास और मसालो के लिए प्रसिद्ध है। सबसे उत्तम रुई—भड़ौच की रुई—इसी प्रदेश मे पैदा होती है। पूर्वी तट की सबसे महत्वपूर्ण उपज चावल है। यहाँ कपास और गन्ने ही उत्पन्न होते हे।

(२) भूमि की बनावट

प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था मे उस देश की भूमि की बनावट का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक देश का आर्थिक विकास वहाँ की भूमि की बनावट पर निर्भर होता है। हमारा देश कृषि प्रधान होने के कारण और कृषि का मिट्टी पर निर्भर रहने के कारण, भारतीय मिट्टियों का अध्ययन हमारे लिए बहुत आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में अनेक प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं जो काफी अच्छी और उर्वरा भी होती हैं किन्तु यह अधिकतर सूखी होती हैं और पर्याप्त मात्रा में पानी मिलने पर ही यह अच्छी उपज देती हैं।

भारतीय मिट्टी का विभाजन विभिन्न संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार से किया गया है। Indian Agricultural Research Institute, Delhi, ने भारत की मिट्टी को निम्न वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) कछार,
(२) प्राचीन कछार,
(३) परिवर्तित चट्टानों पर की लाल मिट्टी,
(४) लाल कड़ी मिट्टी,
(५) काली मिट्टी,
(६) गहरी काली मिट्टी,
(७) ट्रैप चट्टानों पर की हल्की मिट्टी, तथा
(८) गहरी काली कछार की मिट्टी।

Indian Council of Agricultural Research ने भारतीय मिट्टियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(१) लाल मिट्टी,
(२) लैटेराइट,
(३) कपास की काली मिट्टी,
(४) कछार मिट्टी,
(५) पहाड़ी और वन प्रदेशों की मिट्टी,

(६) क्षारयुक्त मिट्टी, और

(७) दलदली मिट्टी।

भूमि का वर्गीकरण आज का नहीं बहुत पुराना है। ऋग्वेद में भूमि को उसके गुण तथा किस्म के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है—अर्तना (अनुपजाऊ), अपनास्वती (उपजाऊ) तथा उर्वरा (अति उपजाऊ)। इसी प्रकार किसानों को भी उनके हल रखने के अनुसार—अहिली (बिना हल का), सुहली (सुन्दर हल रखने वाला) तथा दुहली (दोषपूर्ण हल)—में विभक्त किया है।

यद्यपि हमारे देश में नाना प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं परन्तु फिर भी उनको अध्ययन की दृष्टि से चार मुख्य भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी या दोमट मिट्टी,

(२) लाल मिट्टी,

(३) काली मिट्टी,

(४) रवादार मिट्टी।

(१) दोमट मिट्टी (Alluvial Soil)—यह मिट्टी अधिकतर नदियों द्वारा लाई जाती है। अतः इसको नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी, कछार, दोमट अथवा डुमट आदि नामों से पुकारा जाता है। इस मिट्टी का भारतीय कृषि-अर्थ व्यवस्था में विशेष महत्व है। भारत में यह सबसे अधिक उपजाऊ मिट्टी है। इसकी बनावट तथा इसके लक्षण भाग बदलते रहते हैं। देश के उत्तरी भागों में यह मिट्टी शुष्क और छददार होती है, बंगाल में यह नम और घनी होती है, दक्षिण भारत में यह बहुत घनी और गीली होती है। वास्तव में यह चिकनी मिट्टी की भांति और रंग में काली होता है। यह मिट्टी रबी और खरीफ दोनों ही फसलों के लिए काफी उपयुक्त है। यह पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल, आसाम और गुजरात तथा मद्रास और दक्षिण प्रायद्वीप के कुछ भागों में भी मिलती है। संक्षेप में इस मिट्टी वाले प्रदेश का क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील है।

(२) लाल मिट्टी (Red or Crystalline Soil)—लाल या पीली मिट्टी उन चट्टानों की विशेषताएँ हैं जिनमें लोहे के अंश प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। साधारण रूप से ऊँचे तापमान की दशाओं में लोहा गल कर सारी मिट्टी में समान रूप से फैल जाता है और मिट्टी को लाल या पीला कर देता है। अतः ये मिट्टियाँ उष्ण कटिबन्ध में आमतौर से पाई जाती हैं। भारत में यह मिट्टी ताप्ती के दक्षिण में विशेष रूप से पाई जाती है। थोड़ी मात्रा में ताप्ती के ऊपर तथा आसाम में भी पाई जाती है। ढालू स्थानों और पहाड़ी प्रदेशों पर पाई जानेवाली लाल मिट्टी हल्की और छिद्रपूर्ण होती है और बहुधा अनुपजाऊ होती है। मैदानों में यह मिट्टी अधिक मोटी और शुष्क होती है। अतः अच्छी फसल उगाने के योग्य होती है।

(३) काली मिट्टी (Black Soil)—धातुओं के अधिक मिश्रित हो जाने के कारण इस मिट्टी का रंग काला हो गया। इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फासफोरिक एसिड की मात्रा कम होती है और पोटास तथा चूने की मात्रा अधिक होती है। यह मिट्टी कपास की खेती के लिए बहुत उपयुक्त होती है। इसलिए इसे 'काली कपास वाली मिट्टी' तथा 'ट्रैप' मिट्टी भी कहते हैं। यह मिट्टी बहुत घनी होती है और चिकनाहट भी बहुत होती है। इसमें वनस्पति को पालने की इतनी अधिक शक्ति है कि हजारों वर्ष से बिना किसी खाद का उपयोग किये इस पर खेती की जा रही है। क्षमिस्रत्व की मात्रा अधिक होने के कारण यह उपजाऊ भी बहुत होती है। कपास की पैदावार के अतिरिक्त इसमें गेहूँ और मोटे अनाज भी पैदा किये जा सकते हैं। साधारणतया इस पर रबी की फसलें सफलतापूर्वक होती हैं।

इस मिट्टी का मुख्य क्षेत्र पश्चिम में बम्बई से पूर्व में अमरकंटक तक, तथा उत्तर में गूना से दक्षिण में बेलगाँव तक फैला है। यह क्षेत्रफल लगभग २ लाख वर्ग मील है।

(४) रवादार मिट्टी (Laterite Soil)—यह मिट्टी प्रायः उन प्रदेशों में मिलती है जो ऊसर हैं। इनकी ऊपरी सतह कँकरीली होती है। यह भौतिक और रसायन तत्वों में एक-सी नहीं होती। इसमें फास्फोरिक एसिड की बहुत कमी होती है। यह एसिड बहुत महत्वपूर्ण खाद है। यह मिट्टी विशेष रूप से दक्खन, मध्यप्रदेश, पूर्वी और पश्चिमी घाटों के पास पाई जाती है। विभिन्न स्थानों पर यह विभिन्न प्रकार की होती है। यह पहाड़ी प्रदेशों में अनुपजाऊ होती है किन्तु मैदानों में जहाँ इसका रंग कुछ भूरा सा होता है, काफी उपजाऊ होती है। औसतन यह मिट्टी खेती के उपयुक्त नहीं होती।

भूमि क्षरण (Soil Erosion)

भूमि क्षरण भारतीय कृषि के लिए बहुत बड़ा अभिशाप है। इसके द्वारा भारत को कितनी हानि हो रही है इस पर पूरा पूरा ध्यान न दिया जाना ही भारतीय कृषि की गम्भीर समस्या है। प्रति वर्ष हजारों टन अच्छी मिट्टी बह कर समुद्र में चली जाती है। भारतीय वर्षा की प्रकृति ही कुछ ऐसी है जिसके कारण छोटी-बड़ी नदियों में बाढ़ आ जाती है और उनके साथ देश के एक भाग की मिट्टी दूसरे भाग में और अन्त में समुद्र में चली जाती है। वर्षा के जल अथवा वायु द्वारा भूमि के महीन कणों के हटाये जाने को ही 'भूमि क्षरण अथवा मिट्टी का कटाव' कहते हैं। भूमि क्षरण से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और भूमि बंजर बन जाती है। हमारे देश की हजारों एकड़ भूमि क्षरण के कारण बेकार हो गई है। बिहार के विशाल भू भाग तथा उत्तर प्रदेश में यमुना और चम्बल नदियों के दोनों ओर बहुत से बड़े बड़े भू भाग खेती के लिए अनुपयुक्त हो गये हैं।

भूमि-क्षरण के प्रकार

भारतवर्ष में भूमि क्षरण तीन प्रकार से होता है—

(१) तल क्षरण अथवा एक-सा कटाव (Sheet Erosion),

(२) अन्त -क्षरण अथवा कछार वाला कटाव (Gully Erosion),

(३) वायु क्षरण अथवा हवा द्वारा कटाव (Wind Erosion)।

(१) **तल क्षरण**—मिट्टी के ऊपरी कण मुलायम, ढीले और उपजाऊ होते हैं, अतः वर्षा का जल इन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। इस प्रकार के कटाव को एक-सा कटाव अथवा तल क्षरण कहते हैं। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और देश को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है।

(२) **अन्त क्षरण**—जब वर्षा मूसलाधार होती है तब वह जल नदी और नाला के रूप में बहने लगता है, जिससे वहाँ मिट्टी को बुरी तरह से काट देता है। इस प्रकार गहरे गड्ढे और रास्ते बन जाते हैं जिन्हें कटाव अथवा बीहड़ कहते हैं। ये कछार खेती के लिए अनुपयोगी होते हैं।

(३) **वायु क्षरण**—जब वायु का वेग बहुत तीव्र होता है तब वह अपने साथ भूमि की ऊपरी सतह के मुलायम और उपजाऊ कणों को अपने साथ बहा ले जाता है। यह प्रायः सूखे प्रदेशों में होता है जैसे राजस्थान और पूर्वी पंजाब।

भूमि-क्षरण के कारण (Causes of Soil Erosion)

भूमि-क्षरण के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) **वनों का विनाश**—प्रायः भूमि-क्षरण वनों के विनाश के कारण होता है। भारत में वनों का विनाश बड़ी क्रूरता के साथ किया गया है। वृक्षों और पौधों तथा घास की जड़ों में जल के प्रभाव को रोकने की शक्ति होती है, जिससे भूमि का कटाव नहीं होता। परन्तु भारतीय लोग इस तथ्य को नहीं समझ पाते हैं।

(२) **वनस्पति का नष्ट करना**—वनस्पति के नष्ट हो जाने से भूमि रेगिस्तानी बन जाती है। हवा का एक झोंका आते ही रेतीली मिट्टी हवा के साथ उड़ने लगती है और शनैः शनैः भूमि की ऊपरी सतह, जो कि अधिक उपजाऊ होती है, उड़ जाती है।

(३) **निरन्तर खेती**—एक ही स्थान पर निरन्तर अनेक वर्षों तक खेती होते रहने के कारण भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। यदि कृत्रिम साधनों जैसे खाद इत्यादि के द्वारा भूमि की उत्पादकता को प्रतिस्थापित नहीं किया जाता है तो भूमि का क्षरण हो जाता है।

(४) **स्थान परिवर्ती खेती**—देश के कुछ प्रदेशों जैसे असम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के आदिवासी एक निश्चित स्थान पर खेती नहीं करते। वे लोग कभी एक स्थान पर, कभी दूसरे स्थान पर और कभी तीसरे स्थान पर खेती करते हैं। इस प्रकार वे

जंगलों को नष्ट करके खेती के लिए स्थान बनाते रहते हैं। जंगलों को जला कर साफ करने की क्रिया को आसाम में 'झूमिंग क्रिया' कहते हैं।

(५) अनियंत्रित चराई—बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पशुओं द्वारा जंगलों की अत्यधिक अनियंत्रित चराई होती है। सरकार के द्वारा इस पर कोई नियंत्रण न होने के कारण स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती जा रही है।

भूमि-क्षरण की हानियाँ

भूमि-क्षरण से होनेवाली प्रमुख हानियाँ निम्नलिखित हैं —

(१) भूमि की उत्पादन शक्ति का ह्रास—भूमि की ऊपरी सतह के उड़ जाने अथवा कट जाने से भूमि की उत्पादन शक्ति कम हो जाती है।

(२) भूमि से पौधों की खुराक एक बड़ी मात्रा में उड़ जाती है—भूमि की ऊपरी सतह के शक्तिहीन हो जाने के कारण, नीचे की सतह वाली भूमि भी कमजोर होने लगती है और वह ठीक से पानी को सोख नहीं पाती।

(३) कुओं एवं जलस्रोतों का जल स्तर नीचा हो जाता है—भूमि में पानी सोखने की शक्ति कम हो जाने के कारण जलाशयों का जल स्तर नीचा हो जाता है।

(४) कछार एवं कगारों का निर्माण हो जाता है—भूमि के निरन्तर कटाव से भूमि कगारी तथा कटावदार हो जाती है जिससे भूमि खेती योग्य नहीं रहती। यह दुखद स्थिति उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में प्रायः दृष्टिगोचर होती है।

(५) बाढ़ आने की सम्भावना रहती है—वनस्पति के समाप्त हो जाने से जल निधि का एक बड़ा भाग न केवल व्यर्थ बह कर नष्ट हो जाता है बल्कि देश में बाढ़ आदि आ जाने की आशंका भी रहती है।

(६) सिंचाई में बाधा पड़ती है—भूमि क्षरण के फलस्वरूप नदियों, नहरों तथा जलाशयों के दोनों ओर बालू (रेती) एक बड़ी मात्रा में इकट्ठा हो जाती है। इससे सिंचाई की व्यवस्था में अड़चन पड़ती है।

(७) नौचालन (Navigation) में बाधा पड़ती है—नदी, नहरों आदि के बीच में मिट्टी (बालू) आदि के जम जाने से जल मार्ग नौचालन के अयोग्य हो जाते हैं। इससे जल यातायात को काफी हानि होती है।

(८) सरकारी व्यय बढ़ जाता है—पानी के निकास के मार्गों (drainage) आदि के साफ करने में सरकार को खर्च एवं कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(९) जंगली जानवर तथा आदिवासी—इनके आश्रय (shelter) तथा भोजन के साधन कम हो जाते हैं और वे नगर के लोगों को परेशान करने लगते हैं।

भूमि क्षरण को रोकने के तरीके

भूमि क्षरण की समस्या आज देश के लिए एक जटिल समस्या है। संयुक्त राज्य अमरीका और रूस ने इस समस्या पर विजय प्राप्त करली है। भारत को भी इस समस्या का कोई न कोई हल निकालना है। भारत में भूमि क्षरण को रोकने के लिए निम्न उपायों को अपनाना होगा —

(१) **उत्तम भूमि प्रयोग कार्यक्रम को अपनाना चाहिए**—इस कार्यक्रम के अंतर्गत उन सब उपायों को अपनाना चाहिए जिससे भूमि का सर्वोत्तम प्रयोग हो सके। उदाहरणार्थ ऐसी भूमि को जो खेती के सर्वथा अयोग्य हो, वहाँ पर घने जंगल लगाने चाहिए। ऐसी भूमि जो ढालू हो और जिस पर घास आदि जम सकती हो वहां स्थायी रूप से घास को उगने दिया जाय। १०% से अधिक ढाल वाली भूमि को जहाँ तक हो सके घास अथवा पेड़ों से आच्छादित रखना चाहिए।

(२) **फसलों का हेर फेर (Rotation) होना चाहिए**—ऐसी भूमि जहाँ कटाव की सम्भावना हो, वहां पर कम पर्यन्त खेती करना चाहिए और विशेषत ऐसे अवसरों पर जब कि वर्षा होने वाली हो।

(३) वनों का यथासम्भव संरक्षण करना चाहिए।

(४) ढालू भूमि पर समोच्च रेखाओं (contours) के समानान्तर जोत कर पट्टीदार खेती (strip cropping) करना चाहिए। इससे पानी रुकता है, और मिट्टी काटने की शक्ति कम होती है। लम्बे ढाल को छोटे छोटे भागों में विभाजित कर भूमि क्षरण कम होता है।

(५) **यान्त्रिक विधियाँ**—भूमि-क्षरण को रोकने के लिए यान्त्रिक (mechanical) विधियों को भी अपनाना होगा। इसमें बांधों (dams), चबूतरों (terraces), अतिरिक्त जल को निकालने वाली नालियों आदि का निर्माण सम्मिलित है। इन सब निर्माणों का उद्देश्य बहते हुए पानी की मात्रा व वेग कम करना है, जिससे मिट्टी का कटाव कम हो।

(६) **खड्ड बन्द करना (Gully Plugging)**—यदि भूमि के कटाव के कारण किसी क्षेत्र में कगारें अथवा खड्ड बहुत हो गये हों तो उन्हें बन्द कर देना अथवा पाट देना चाहिए। खड्ड नियन्त्रण का सबसे सस्ता और विश्वसनीय तरीका यह है कि सम्पूर्ण खड्ड में वनस्पति उगाना चाहिए और उसे प्रकृति के ऊपर छोड़ देना चाहिए। यदि खड्ड बड़े होने के कारण वहाँ सम्पूर्ण खड्ड में वनस्पति को लगाना सम्भव न हो तो कम से कम सिरे तथा बगलों (heads and sides) में तो वनस्पति लगना ही देना चाहिए। अनेक छोटे मोटे बाँधों (dams) को बनाना चाहिए। ये बाँध प्राय बुने हुए तार (woven wire), ब्रश (brush), चलायमान चट्टानों (loose rocks), प्लाट (plants) आदि के बने होते हैं।

(७) किसानों को शिक्षा—भूमि सरक्षण के सम्बन्ध में किसानों की भी सहायता लेनी चाहिए। भूमि कटाव को रोकने के छोटे मोटे तरीके उन्हें मालूम होने चाहिए जिससे वे पहले से ही आवश्यक व्यवस्था करते रहें। सरकार को इस सम्बन्ध में किसानों की पूरी पूरी सहायता करनी चाहिए।

(८) वनों की अनियंत्रित चराई (free grazing) को नियमित करना चाहिए।

योजनाओं के अन्तर्गत भूमि-सरक्षण

प्रथम पंचवर्षीय योजना—इसके अंतर्गत भूमि सरक्षण के कार्य क्रमों पर केन्द्रीय सरकार ने २ करोड़ रुपये व्यय करने का प्राविधान किया था। राज्य सरकारों की योजनाएँ तथा उनके द्वारा किया जाने वाला व्यय इसमें शामिल नहीं है।

योजना के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में निम्न कार्य किये गये हैं—

(१) २५० कृषि व वन अधिकारियों को भूमि-सरक्षण (soil conservation) की विधियों के सम्बन्ध में प्रशिक्षण दिया गया है।

(२) पाँच 'अनुसन्धान व प्रशिक्षण केन्द्र' (Research cum Training Centres) देहरादून, कोटा, वसाड़ (उत्तरी गुजरात), बेलारी और उटकमंड और जोधपुर में स्थापित किये गये हैं।

(३) ११ आदर्श योजना केन्द्र (Pilot Projects) बम्बई, आन्ध्र, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, पंजाब, सौराष्ट्र, त्रिवांकुर कोचीन, अजमेर, कच्छ और मणीपुर में खोले गये हैं। मद्रास और केरल के आदर्श योजना केन्द्रों को 'विकास योजनाओं' (Development Projects) में बदल दिया गया है।

(४) देहरादून में मिट्टी के कटाव सरक्षण से सम्बन्धित समस्याओं पर खोज करने के लिए एक 'वन अनुसन्धान संस्था' (Forest Research Institute) की स्थापना की गई है।

(५) सन् १९५३ ई० में राष्ट्रीय भूमि सरक्षण का कार्यक्रम बनाने के लिए एक 'केन्द्रीय सरक्षण मंडल' (Central Soil Conservation Board) स्थापित किया गया है।

(६) योजना काल में विभिन्न राज्यों में लगभग सात लाख एकड़ भूमि पर उपरोक्त उपायों व कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया गया है। इस क्षेत्रफल (७ लाख एकड़ भूमि) का $\frac{1}{3}$ भाग केवल बम्बई में है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—इसमें भूमि सरक्षण सम्बन्धी कार्यों के लिए करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट वाले में एक करोड़ एकड़ भूमि के पर्यवेक्षण (survey), वर्गीकरण विवरण हेतु ६५ लाख रुपये की व्यवस्था की गई है।

योजना काल में—

(१) ६० लाख एकड़ से भी अधिक भूमि पर विशेष रूप से भू संरक्षण का कार्य किया जावेगा।

(२) लगभग ४,००० से भी अधिक कर्मचारियों को इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण दिया जावेगा।

(३) किसानों को भू-संरक्षण सम्बन्धी ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रदर्शन केन्द्र (Demonstration Centres) स्थापित किये गये हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार भूमि क्षरण की समस्या के निवारणार्थ काफी प्रयत्नशील है। आशा है कि भारतीय किसान तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्ति अपना योग प्रदान करके सरकार की योजनाओं को सफल बनायेंगे।

जलवायु

जलवायु का किसी देश के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। देश में पाये जाने वाले पशु तथा वन सम्पत्ति, देशवासियों की कार्यक्षमता, मानवीय आवश्यकताएँ और उद्योग धन्धों की स्थिति सभी कुछ जलवायु के द्वारा निर्धारित होते हैं। सभ्यता तो जलवायु की उपज कहलाती है। किसी भी अन्य देश में वस्तुओं का उत्पादन जलवायु पर इतना निर्भर नहीं जितना भारतवर्ष में है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ अतएव किसान अपनी खेती की सफलता के लिए आकाश की ओर आशा भरी दृष्टि से निहारते रहते हैं। उपयुक्त और सामयिक जल-वृष्टि ही उनका भाग्य है। जलवायु भारतीय जीवन के कृषि सम्बन्धी नहीं, वरन् अन्यान्य पहलुओं पर भी प्रभाव डालती है। हमारा रहन सहन, कपड़े, घर, सड़कें, रेल, भोजन व स्वास्थ्य, और कार्य शक्ति सभी कुछ जलवायु पर निर्भर रहते हैं।

भारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° से ३७° अक्षांश के अन्तर्गत फैला हुआ है। कर्क रेखा इसको दो भागों में विभाजित करती है—उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत। उत्तरी भाग की जलवायु शीतोष्ण है। दक्षिणी भारत भूमध्य रेखा की पेटी में आता है अतएव यहाँ तापक्रम साल भर ऊँचा रहता है और जाड़ों तथा गर्मियों के तापक्रम में बहुत कम अन्तर रहता है। तटीय प्रदेशों की जलवायु शीतोष्ण होता है। देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाये जाने के कारण विभिन्न प्रकार की खेती, विभिन्न प्रकार के लोग तथा विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धे भी पाये जाते हैं।

वनस्पति एवं पशु

किसी देश की भौगोलिक, भूगर्भिक एवं जलवायु सम्बन्धी अवस्था ही उस देश की वनस्पति एवं पशु सम्पत्ति को निर्धारित करती है। भारतवर्ष में ये दशाएँ इतनी

विभिन्न हैं कि यहाँ पर वनस्पति एवं पशु सम्पत्ति भी विभिन्न प्रकार की होती है। उष्ण प्रदेशीय, शीतोष्ण प्रदेशीय तथा पर्वतीय सभी प्रकार की वनस्पतियाँ इस देश में पाई जाती हैं।

भारत में वन सम्पत्ति (Forest Resources in India)

देश के अधिकांश भाग में उष्ण प्रदेशीय वनस्पति है। यहाँ पर बड़े-बड़े तथा विभिन्न प्रकार के वन पाये जाते हैं, जो कि देश के लिए एक बहुमूल्य निधि है। भारत में वनों का क्षेत्रफल २ ६६ वर्ग मील है। यह क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग २१ ३ प्रतिशत है। सोवियत रूस में प्रति व्यक्ति वन क्षेत्रफल ३ ५ हेक्टर्स, संयुक्त राज्य अमरीका में १ ८ हेक्टर्स तथा भारतवर्ष में केवल ० २ हेक्टर्स है। इससे ज्ञात होता है कि भारत में वनों का क्षेत्रफल अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। यही नहीं यहाँ पर वनों का वितरण भी बहुत असमान है और प्रति वर्ष प्रति एकड़ उत्पादन भी केवल ३ ० घन फीट (c ft) है जो कि अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरणार्थ यह उत्पादन फ्रांस में ५३ ८, जापान में ३७ ० तथा संयुक्त राज्य अमेरीका में १८ ० घन फीट है।* इन तथ्यों को दृष्टिकोण में रखते हुए सन् १९५२ के 'राष्ट्रीय वन नीति प्रस्ताव' के अन्तर्गत यह प्रस्तावित किया गया कि धीरे धीरे वनों का क्षेत्रफल यहाँ पर कुल भूमि के क्षेत्रफल का ३३ ३% तक कर दिया जाय। इस अभिवृद्ध क्षेत्रफल का अनुपात पहाड़ी क्षेत्रों में ६% तथा मैदानों में २०% होगा।

भारतीय वनों की एक विशेषता तथा अभाव यह भी है कि यहाँ पर विभिन्न राज्यों में वनों का वितरण भी बहुत असमान है। उदाहरणार्थ भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में ११% तथा केन्द्रीय क्षेत्र में ४४% है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में विभिन्न राज्यों के वनों के क्षेत्रफल सम्बन्धी जो आकड़े दिये गये हैं उससे उक्त कथन की पुष्टि होती है।†

राज्य	भू क्षेत्र का वनों के अन्तर्गत क्षेत्रफल
उड़ीसा	७ ६
उत्तर प्रदेश	११ २
पंजाब	१२ ३
बिहार	२० १
पश्चिमी बंगाल	२० ६
मद्रास	२२ ५
आसाम	२४ ५
मध्य प्रदेश	३१ ४
अंडमान तथा निकोबार	८५ ८

*India, 1950 p 254

†द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ २६८।

भारतवर्ष में यातायात सम्बन्धी कठिनाइयां तथा कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण वनों का केवल ५५·३% ही व्यापार योग्य है और ४४·७% व्यापारिक दृष्टिकोण से लाभदायक नहीं है।

वनों का महत्व

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था में वन-सम्पत्ति का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में तो नि सदेह इन वनों का बड़ा भारी महत्व है। योजना आयोग ने भी इनकी महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। यदि रूस, संयुक्त राज्य अमेरीका और ब्राज़ील को जहाँ कि प्रचुर मात्रा में वन पाये जाते हैं, छोड़ दें तो भारत में संसार का सबसे अधिक वन क्षेत्र है। उत्पादकता के दृष्टिकोण से भी इनका राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। सन् १९५५-५६ में वनों से प्राप्त कीमती लकड़ी तथा गौण (minor) उपजों का मूल्य क्रमशः २४,४६,२८,००० रुपये तथा ८,०१,७४,००० रुपये था।*

वनों के प्रकार (Kinds of Forests)—भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाये जाने के कारण विभिन्न प्रकार के वन भी पाये जाते हैं। साधारण रूप से वनों को निम्न विभागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) शुष्क वन (Arid Forests)
(२) पतझड़ी वन (Deciduous Forests)
(३) सदाबहार वन (Evergreen Forests)
(४) पर्वतीय वन (Mountain Forests)
(५) डेल्टा वन (Tidal or Mangrove Forests)

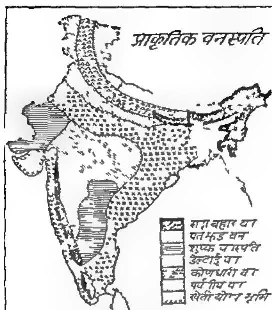
(१) शुष्क वन—ये उन ऐसे शुष्क क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहाँ २० इंच से कम वर्षा होती है। जैसे राजस्थान तथा दक्षिणी पंजाब। इस प्रकार के वनों में केवल थोड़े से वृक्ष पाये जाते हैं जो नदी की बाढ़ के कारण जीवित रहते हैं जैसे बबूल और कीकर के पेड़।

(२) पतझड़ी वन—इनको मानसूनी वन भी कहते हैं। इन वनों में अधिकांश पेड़ वर्ष के किसी भाग में पत्रहीन हो जाते हैं। अधिकतर ग्रीष्म ऋतु से ही पतझड़ प्रारम्भ हो जाता है। ये वन हिमालय की तराई में तथा दक्षिण के पठार के कुछ भागों में फैले हुए हैं। सागौन तथा साल के वृक्ष इन्हीं वनों में पाये जाते हैं।

(३) सदाबहार वन—ये वन उन स्थानों में पाये जाते हैं जहाँ वर्षा अधिक होती है। इन वनों के वृक्ष साल भर तक हरे भरे रहते हैं। ये अधिकतर पूर्वी हिमालय

*India, 1960, p 255

प्रदेश तथा पश्चिमी घाट पर पाये जाते हैं। यहाँ में बाँस तथा बेंत की प्रचुरता होती है।



चित्र २—प्राकृतिक वनस्पति

(४) पर्वतीय वन—ये वन पूर्वी हिमालय और आसाम में पाये जाते हैं। इन वनों में विशेष रूप से ओक, मैग्नोलिया, लारल, देवदार, चीड़, वलूत के वृक्ष होते हैं।

(५) डेल्टा वन—ये वन उष्ण प्रदेशीय सदाबहार वन की भाँति होते हैं। उगने वाले पेड़ों की नीची डालें भूमि में पहुँच कर जड़ें बन जाती हैं और भूमि में समा जाती हैं। ये वन बहुत घने होते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के वन पूर्वी तट पर स्थित डेल्टों में पाये जाते हैं। गंगा के डेल्टे का सुन्दर वन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

वनों का वर्गीकरण (Classification of Forests)

भारतीय वनों का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। चार विभिन्न दृष्टिकोणों से इनका विभाजन इस प्रकार है—

१. प्रशासन के दृष्टिकोण से—

(१) संचित वन (Reserved Forests)

(२) रक्षित वन (Protected Forests)

(३) अविभाजित वन (Unclassified Forests)

सर्वप्रथम सन् १८६५ में वनों के महत्त्व को विदेशी सरकार ने समझा और इसी वर्ष एक वन अधिनियम पास किया। वनों की रक्षा तथा विकास के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय (अब राज्यीय) विभागों की स्थापना की गई। वनों के सम्बन्ध में सन् १८७८ और सन् १९२७ में और अनेक अधिनियम भी पास किये गये। वनों का विभाजन भी उपरोक्त विधि से किया गया।

सुचित (Reserve) वन वे होते हैं, जिनको जलवायु तथा भौतिक कारणों सुरक्षित बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है। इन पर केन्द्रीय सरकार का कठोर नियन्त्रण रहता है। रक्षित (Protected) वन वे होते हैं जिनसे व्यापारिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इन वनों को ठेके पर उठा दिया जाता है। इन वनों पर सरकार का इतना कठोर नियन्त्रण नहीं होता जितना कि सुचित वनों पर। अविभाजित (Unclassified) वन वे होते हैं, जिनसे साधारण मूल्य की लकड़ी तथा चारा आदि प्राप्त होता है। इन वनों में पशु चराने और लकड़ी काटने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। स्पष्टतः सरकार का इन वनों पर उपरोक्त दोनों वनों की अपेक्षा नियन्त्रण बहुत कम होता है।

इस समय इन वनों की स्थिति इस प्रकार है* —

(वर्ग मील)

वन	१९५०-५१	१९५५-५६
सुचित (Reserved)	१,३२,९७५	१,३८,७८१
रक्षित (Protected)	४५,५३२	६४,९११
अविभाजित (Unclassified)	९८,७२५	६४,९९९
योग	२,७७,२३२	२,६८,७०१

२. उत्पादन (Outturn) के सम्बन्ध में

इस दृष्टिकोण से वनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) व्यापारिक (Merchantable) तथा

(२) अप्राप्य (Inaccessible)।

* *India* 1960 p 34

व्यावसायिक वनों से तात्पर्य ऐसे वनों से है, जहाँ सुगमता से पहुँचा जा सकता है और ऐसी वस्तुओं को जो कि व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं उपयोग के स्थानों तक पहुँचाया जा सकता है।

अप्राप्य वनों से तात्पर्य ऐसे वनों से है जो इतने घने व दुर्गम स्थानों पर बसे हैं कि उनको प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। ऐसे वन भयानक जंगली जीव जन्तुओं के निवास के गढ़ होते हैं।

इन वनों की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है* —

(वर्ग मील)

	१९५०-५१	१९५५-५६
१. व्यावसायिक (Merchantable)	२,२५,७१४	२,१५,१३६
२. अप्राप्य (Inaccessible)	५१,५१८	५३,५६२
योग	२,७७,२३२	२,६८,७०१

३. संरचना (Composition) के दृष्टिकोण से

इस दृष्टिकोण से वनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) महीन पत्ती वाले (Coniferous)।

(२) चौड़ी पत्ती वाले (Broad leaved)।

इन वनों की वर्तमान स्थिति निम्न प्रकार है :—**

(वर्ग मील)

	१९५०-५१	१९५५-५६
१. महीन पत्ती वाले वन	१४,१०७	६,७३६
२. चौड़ी पत्ती वाले वन .		
(अ) साल	४०,७४७	४०,४४९
(ब) टीक	१६,७८४	२२,४४५
(स) विविध	२,०५,६८४	१,९६,०७१

* *India*, 1960, p 254

** *Ibid*, 1960, p 254.

४. स्वामित्व के दृष्टिकोण से

इस दृष्टिकोण से वनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

(१) राज्य वन (State Forests),

(२) संस्थाओं (Corporations) के वन, तथा

(३) निजी वन (Private Forests)

सन् १९५२-५३ में इनका क्षेत्रफल क्रमशः २७०, ३ तथा १० हजार वर्ग मील था।

वनों का आर्थिक महत्व

वन सम्पत्ति किसी देश के आर्थिक जीवन में विशेष महत्व रखती है। वनों का आर्थिक महत्व समझने के लिए हमें वनों से होने वाले विभिन्न लाभों की ओर दृष्टि डालनी पड़ेगी। ये लाभ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष लाभ एवं परोक्ष लाभ।

प्रत्यक्ष लाभ (Direct Advantages)

वनों से प्राप्त होने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ एवं सामग्री को हम वनों के 'प्रत्यक्ष लाभ' के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। प्रमुख प्रत्यक्ष लाभ निम्नलिखित हैं —

(१) **सरकारी आय**—वन राजकीय आय का एक प्रमुख स्रोत है। प्रत्येक वर्ष सरकार को देश की वन सम्पत्ति से पर्याप्त आय होती है। औसत रूप में सरकार को वनों से प्रति वर्ष लगभग १२ करोड़ रुपये से अधिक की आय होती है।

(२) **बहुमूल्य लकड़ी**—वनों से बहुमूल्य इमारती लकड़ी के अतिरिक्त ईंधन के उपयुक्त लकड़ी भी प्राप्त होती है। सन् १९५५-५६ में २४,४६,२८,००० रु० के मूल्य की इमारती एवं जलाने वाली लकड़ी प्राप्त हुई।

(३) **कच्चा माल**—भारत के कुछ महत्वपूर्ण उद्योग अपनी कच्चे माल की उपलब्धता के लिए वनों पर ही निर्भर करते हैं। जैसे दियासलाई उद्योग, कागज उद्योग, रबड़ उद्योग, रेशम व रेयन उद्योग इत्यादि।

(४) **विविध**—उपरोक्त लाभों के अतिरिक्त वनों से अन्य प्रकार के उपयोगी पदार्थ भी प्राप्त होते हैं, जैसे जड़ी बूटियाँ, लाख, गोंद, छाल, पत्तियाँ तथा पशुओं के लिए चारा आदि।

अप्रत्यक्ष लाभ (Indirect Advantages)

(१) **वर्षा में सहायता**—वनों से देश में वर्षा होने में बड़ी सहायता मिलती है। उनमें नमी बनाये रखने की शक्ति होने के कारण भाप युक्त हवाएँ उनकी ओर आकृष्ट होती हैं जिससे समीपवर्ती प्रदेशों में वर्षा होती है।

(२) **भूमि क्षरण पर रोक**—देश की भूमि-क्षरण जैसी गम्भीर समस्या को

हल करने म भी वन महत्वपूर्ण योग देते हैं। वनों द्वारा मिट्टी के कटाव पर एक प्रकार की रोक लग जाती है।

(३) बाढ़ पर नियंत्रण—वन बाढ़ को रोकने में सहायक होते हैं क्योंकि बढ़ते हुए पानी के तीव्र वेग को पेड़ पौधे कम कर देते है।

(४) वन रोजगार के साधन—देश की जनसख्या के एक भारी भाग को प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से रोजगार प्राप्त होता है।

(५) वन तूफानी हवाओं को नियन्त्रित करते हैं।

(६) वन वातावरण के तापमान को कम करते हैं।

(७) वन रेगिस्तान के विस्तार पर रोक लगाते हैं।

सरकार की वन-नीति

Importance

देश की अर्थ व्यवस्था में वनों का अत्यधिक महत्व होने के कारण सरकार ने वनो के नियन्त्रण एव विकास के लिए समुचित नीति का निर्माण किया है। सर्व प्रथम सन् १८९४ मे वन सम्बन्धी सरकारी नीति की घोषणा की गई थी, जिसके अन्तर्गत देश के वनों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया था—सुरक्षित, रक्षित एव वर्ग रहित।

इस वन-नीति की प्रमुख बातें सक्षेप में इस प्रकार हैं। विदेशी सरकार की यह नीति अधिक प्रभाव पूर्ण नही रही। वनों के विस्तार और सुरक्षा की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। वनों के योजनात्मक विकास एव सुरक्षा के लिए १२ मई, १९५२ को राष्ट्रीय सरकार ने अपनी नवीन नीति घोषित की। इस नीति की प्रमुख बातें निम्नांकित थीं :—

(१) तटीय क्षेत्रों म समुद्री रेत के आक्रमण तथा राजस्थान के बढ़ते हुए रेगिस्तानी इलाकों को रोकने के लिए तथा भूमि के कटाव को रोकने के लिए वृक्षों का पुनरारोपण करना तथा वृक्षों की निरन्तर निर्दय कटाई को रोकना।

(२) इमारती तथा जलाने वाली लकड़ी की प्राप्ति के लिए तथा पशुओं के लिए चरागाह बनाये रखना।

(३) देश की जलवायु और भौतिक दशाओं म सुधार करने क लिए वृक्षों का पुनरारोपण करना।

(४) निजी वनो पर सरकारी नियमन तथा नियन्त्रण रखना।

(५) सरकार के लिए निरन्तर अधिकतम वार्षिक आय प्राप्त करने में सहायता देना।

(६) ऐसी व्यवस्था करना जिससे राज्य सरकारें राष्ट्रीय वन नीति के आधार पर अपनी वन नीति बना सकें।

योजनाओं के अन्तर्गत वनों का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा ११.७० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी। इसमें से २ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा और ६.७० करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किये जाने थे।

योजना में चार बातों पर विशेष ध्यान दिया गया था—

(१) वनों में सड़कें बनवाई जायें जिससे वन पदार्थों को प्राप्त करने में सुविधा हो।

(२) भूमि कटाव से प्रभावित भागों पर वन लगाये जायें।

(३) ग्रामीण क्षेत्रों में जलाने वाली लकड़ी की व्यवस्था करने के लिए बागान लगाना।

(४) युद्धकाल में विध्वंसित क्षेत्रों का पुनर्निर्माण करना।

योजना काल में राज्य सरकारों ने ७५,००० एकड़ से भी अधिक क्षेत्र में नये वन लगाये। वनों के अन्दर लगभग ३,००० मील लम्बी सड़कों का निर्माण तथा सुधार हुआ। सरकार ने निजी व्यक्तियों के स्वामित्व के दो करोड़ से भी अधिक जंगलों को अपने हाथ में ले लिया। सन् १९५२ में 'वन अनुसंधान संस्था' स्थापित की। इसके अतिरिक्त 'वन्य पशुओं की सुरक्षा' तथा वन सम्बन्धी शिक्षा का प्रबन्ध किया। योजना काल में वन तथा भूमि की सुरक्षा पर १२ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

योजना काल के अन्त में 'खाद्य एवं कृषि संगठन' (F A O) तथा (ECAFE) के सहयोग से देश में लकड़ी सम्बन्धी पर्यवेक्षण किया गया। इस पर्यवेक्षण का उद्देश्य लकड़ी तथा अन्य जंगलात वस्तुओं के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े एकत्रित करना था। इस पर्यवेक्षण (Survey) के फलस्वरूप वन सम्बन्धी वस्तुओं की माँग और पूर्ति की खाई पट जायगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वन विकास के लिए २७ करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया है। केन्द्रीय सरकार वन विकास योजनाओं के सम्बन्ध में खोज (Research), शिक्षा, प्रदर्शन तथा समन्वय करायेगी जबकि राज्य सरकारें इन योजनाओं को कार्य रूप में परिणित करेंगी। 'दि सेन्ट्रल बोर्ड आफ फॉरेस्ट्री' भारतीय वनों सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाता है और यथासम्भव सहायता पहुँचाता है। देश के वन सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए, बाजार का अध्ययन करने के लिए, वन सम्बन्धी निधियों की वास्तविक क्षमता का विकास करने के लिए 'वन आयोग' स्थापित करने का सुझाव दिया गया है।

योजना के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रमों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है —

(१) वन क्षेत्रफल में वृद्धि—नहरों, सड़कों, व बेकार भूमि पर वृक्षों को लगा कर वन क्षेत्रफल में लगभग २,८०,००० एकड़ की वृद्धि की जावेगी।

(२) औद्योगिक एवं व्यापारिक महत्व की मूल्यवान लकड़ियों वाले वृक्षों का आरोपण किया जावेगा।

(३) वन पदार्थों तथा वस्तुओं को प्राप्त करने के साधनों में सुधार एवं विकास किया जावेगा।

(४) वन सम्पत्ति सम्बन्धी उपयुक्त आँकड़े संकलित करवाये जावेंगे।

(५) वन सम्बन्धी अनुसंधान का विस्तार किया जावेगा।

(६) वन सम्बन्धी कार्यों के लिए पर्याप्त संख्या में कर्मचारी नियुक्त किये जावेंगे और उनके आवास की भी व्यवस्था की जावेगी।

वन-सम्पत्ति की रक्षा एवं वन-महोत्सव

जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वन हमारे आर्थिक जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जिसके कारण भारत जैसे कृषि प्रधान देश की प्रगति वर्षा पर निर्भर करती है। परन्तु वर्षा को पर्याप्त एवं नियमित रूप में प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने देश की वन-सम्पत्ति की रक्षा करें तथा उसके उत्तरोत्तर विकास के लिए प्रयास करते जायें। परन्तु खेद का विषय है कि लगभग पिछले ५० से अधिक वर्षों के बीच में हमारे देश की वन-सम्पत्ति को भारी क्षति पहुँची है। प्रथम महायुद्ध, द्वितीय महायुद्ध तत्पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के आर्थिक विकास के लिए बनाई गई प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत भारी मात्रा में इमारती लकड़ी की आवश्यकता पड़ने तथा निरन्तर जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप नई नई बस्तियों के आबाद होने, नये-नये उद्योगों की स्थापना, स्कूल कालेज तथा अन्य इमारतों के निर्माण के कारण देश की वन सम्पत्ति का भारी उपयोग हुआ है। इसलिए यह आवश्यक है कि वनों की रक्षा की जाय। इस उद्देश्य से प्रत्येक वर्ष जुलाई मास के प्रथम सप्ताह में 'वन महोत्सव' मनाया जाता है। इसके अंतर्गत देश के विभिन्न स्थानों में पौधे लगाये जाते हैं। परन्तु केवल नये नये पेड़ों के लगा देने मात्र से ही हमारा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि प्रति वर्ष 'वन महोत्सव' के अन्तर्गत लगाये गये वृक्षों का अधिकांश अपनी वास्तविक आयु तक पहुँचने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उनकी उचित देख रेख रखें।

खनिज सम्पत्ति
(Mineral Resources)

खनिज सम्पत्ति किसी देश की समृद्धि के स्रोत होते हैं। खनिज सम्पत्ति

कारण ही आज इंगलैंड संसार में इतना समृद्धिशाली उद्योग प्रधान देश बन सका है। रूस, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस व अन्य योरोपियन देशों की उन्नति का एकमात्र कारण उनकी धनवान खनिज सम्पत्ति व उसका निदोहन है। हमारे देश में कुछ खनिज पदार्थों जैसे सीसा, जिंक, ताँबा, गंधक तथा पेट्रोलियम को छोड़कर और सभी खनिज पदार्थ बहुतायत से पाये जाते हैं। यह खनिज पदार्थ देश की अर्थ व्यवस्था के लिए आवश्यक होते हैं और इन्होंने उत्पादन तथा यातायात के आधुनिक तरीकों में क्रान्ति दी है।

१९५८ में भारतवर्ष में खनन कार्य में लगभग ६,४७,००० व्यक्ति लगे हुए थे और ३,३०० खानों में काम हो रहा था। अधिक महत्वपूर्ण खनन केन्द्र आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मैसूर तथा राजस्थान में हैं। १९५७ में खानों से १ अरब २६ करोड़ २० लाख रुपये के मूल्य के खनिज पदार्थ निकाले गये। १९५६ में इनका परिमाण सम्बन्धी सूचनांक ११६·५ (आधार वर्ष १९५१ = १००) था। विभिन्न पदार्थों का विस्तार से अध्ययन इस प्रकार है :—

अनुमान लगाया गया है कि भारत में लोहे का भंडार २१ अरब टन का है जो संसार के कुल भंडार का एक चौथाई है। उड़ीसा, बम्बई, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मैसूर में हेमेटाइट लोहा अधिक मात्रा में पाया जाता है। मैग्नेटाइट लोहा उड़ीसा, बिहार, मद्रास, मैसूर तथा हिमाचल प्रदेश में पाया जाता है। पश्चिमी बंगाल में लाइमोनाइट लोहे का काफी बड़ा भंडार है। देश में सभी प्रकार के लोहे का भंडार लगभग ६·७६ अरब टन का है।

कोयला

स्वतंत्र भारत की नींव सुव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था पर खड़ी करने के लिए आजादी के बाद देश में बहुत से विकास कार्य शुरू हुए हैं। देश के औद्योगीकरण के लिए कोयला और इस्पात उद्योगों के विकास को प्रधानता दी गई है। दूसरी योजना के अन्त तक ६ करोड़ टन कोयला निकालने का लक्ष्य रखा गया है।

भारत में २५ हजार वर्ग मील में ६० अरब टन सभी प्रकार के कोयले के भंडार होने का अनुमान है। यह दुनिया भर के कोयले के भंडारों का पाँचवाँ भाग है। भारत का कोयला क्षेत्र ब्रिटेन के कोयला क्षेत्र से तिगुना है।

कोयले की खुदाई का काम हमारे देश के लिए नया नहीं है। प्रकाशित सूचनाओं से पता चलता है कि सन् १७७४ में रानीगंज में कम गहरी खानें थीं। इसके ४० साल बाद कोयले का काम नये सिरे से शुरू हुआ और १९ वीं सदी के मध्य तक रानीगंज में बहुत-सी कोयला खानें खोदी गईं।

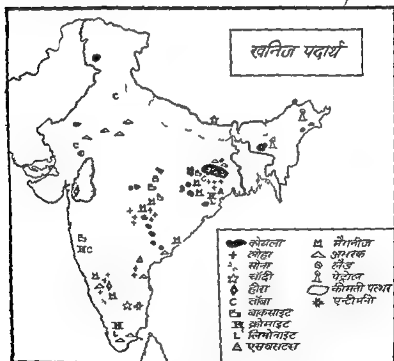
प्रमुख कोयला क्षेत्र रानीगंज, झरिया, गिरीडीह, बोकारो, पेंच, चाँदा घाटी तथा गोंडवाना हैं।

१९५५ में दूसरी योजना के शुरू में देश में ३ करोड़ ८० लाख टन कोयला निकाला जाता था। दूसरी योजना के ६ करोड़ टन कोयले के उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने के लिए कोयले का उत्पादन २ करोड़ २० लाख टन बढ़ाना है।

निजी कोयला खानों के उत्पादन में १ करोड़ टन और सरकारी खानों के उत्पादन में १ करोड़ ३० लाख टन वृद्धि से इस कमी के पूरा होने की आशा है। १९५८ में इन खानों से निजी क्षेत्र में ३ करोड़ ६५ लाख टन और सरकारी क्षेत्र में ४७ लाख टन कोयला निकाला गया। सन् १९५९ में दोनों क्षेत्रों में ४ करोड़ ६४ लाख टन कोयला निकाले जाने का अनुमान है।

कच्चा लोहा (Iron Ore)

लौह उत्पादक देशों में भारत का ९वाँ स्थान है। सन् १९५८ में ६० लाख



चित्र ३—भारत के खनिज पदार्थ

मीट्रिक टन कच्चे लोहे का उत्पादन हुआ और जून १९५९ तक ३७,७१,००० टन लोहा निकाला गया। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में १२५ लाख टन कच्चे लोहे का लक्ष्य रखा गया है। कच्चे लोहे के प्रमुख खनिज क्षेत्र बिहार और उड़ीसा राज्यों में स्थापित

हैं। अनुमान है कि यदि १५ लाख टन लोहा प्रति वर्ष निकाला जाय तब भी कच्चे लोहे का कोष १,००० वर्ष के लिए पर्याप्त होगा।

मैंगनीज (Manganese)

भारत, मैंगनीज पैदा करने वाले संसार के देशों में तीसरा महत्वपूर्ण देश है। यहाँ प्रति वर्ष औसतन १५ लाख टन से अधिक मैंगनीज निकाला जाता है। यह कुल विश्व के उत्पादन का ⅓ है। इसका प्रयोग स्पात, रासायनिक पदार्थ, बिजली तथा शीश की वस्तुएँ बनाने में किया जाता है। इसका उत्पादन अधिकतर मध्य प्रदेश, मद्रास व मैसूर में होता है। कुल उत्पादन का १०% देश के काम में लाया जाता है और शेष भाग ब्रिटेन व संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात कर दिया जाता है।

अनुमान है कि मैंगनीज का भंडार लगभग १५ करोड़ टन है, जिसमें से ६ करोड़ टन बढ़िया किस्म के हैं और शेष घटिया प्रकार के हैं, जिसमें मैंगनीज धातु ४० प्रतिशत या इससे कम होती है। बढ़िया किस्म का मैंगनीज प्रायः १० लाख टन प्रति वर्ष निर्यात किया जाता है या फैरो मैंगनीज के उत्पादन के काम में लाया जाता है और घटिया किस्म का मैंगनीज फेंक दिया जाता है।

२५ ३० वर्ष पहले मैंगनीज धातु का धातुकर्मिक उद्योग में कोई प्रयोग नहीं होता था, क्योंकि धातु की बिल्कुल खालिस आकार बनाना कठिन था।

द्वितीय योजना में कच्चे मैंगनीज के उत्पादन का लक्ष्य २० लाख टन रखा गया है। १९५८ में कच्चे मैंगनीज का उत्पादन १२ लाख ५३ हजार मीट्रिक टन और निर्यात ६ लाख ७६ हजार मीट्रिक टन हुआ। इस प्रकार इस वर्ष निर्यात ५०% घट गया।

अभ्रक (Mica)

भारत में अभ्रक की पैदावार संसार में सबसे अधिक और सबसे बढ़िया किस्म की होती है। हमारा देश संसार का ८०% अभ्रक पैदा करता है। भारत में अभ्रक आन्ध्र प्रदेश (६०० वर्ग मील), बिहार (१,५०० वर्ग मील) तथा राजस्थान (१,२०० वर्ग मील) से प्राप्त होता है। बिहार में सर्वश्रेष्ठ अभ्रक प्राप्त होता है। भारत अपने उत्पादन का अधिकतर ब्रिटेन को निर्यात कर देता है। १९५१ में १२,५२,६७,७०१ रुपये का अभ्रक निर्यात किया गया। इतना निर्यात उसके बाद किसी भी वर्ष में न हो सका, यद्यपि प्रयत्न किये जाते रहे हैं। १९५७ में अभ्रक के निर्यात ८,८७,६६,५५८ रुपये के मूल्य के थे। निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से 'अभ्रक निर्यात सम्वर्द्धन समिति' की स्थापना की गई है। सन् १९५८ में ३,१८,११००० मीट्रिक टन अभ्रक खानों से निकाला गया जिसका मूल्य २,५१,६६००० रुपये था।

तांबा (Copper)

तांबे के उत्पादन में संसार में भारत का १२ वाँ नम्बर है। तांबा बिहार की

एक ८० मील की पट्टी में पाया जाता है। १६५८ में कच्चा तांबा का उत्पादन ४,११, ४७१ मीट्रिक टन हुआ जिसका मूल्य ३,२६,६८००० रुपये था।

सोना (Gold)

भारत में संसार के उत्पादन का केवल दो प्रतिशत सोना प्राप्त होता है। मैसूर राज्य की कोलार सोना खानों में सम्भवतः १२ ६० लाख टन सोने का भण्डार है। भारत के कुल उत्पादन का ६६ प्रतिशत मैसूर की कोलार खानों से निकलता है। १६५८ में ५,२८८ किलोग्राम (१,७०,११२ औंस) सोने का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य ४,६६,८८००० रुपये था।

बॉक्साइट (Bauxite)

बॉक्साइट का प्रयोग अधिकतर अलम्यूनियम के उद्योग में होता है। यह भारत में व्यापक रूप से लगभग सभी स्थानों में मिलता है। जम्मू, बम्बई, बिहार, मद्रास तथा मध्य प्रदेश इसके मुख्य क्षेत्र हैं जहाँ कुल मिला कर इसके लगभग २५ करोड़ टन के भंडार की सम्भावना है। नवीनतम अनुमान के अनुसार भारत में २ ८० करोड़ टन बढ़िया किस्म के बॉक्साइट का भंडार है जिसमें से लगभग एक तिहाई भाग बिहार में है। सन् १६५७ में १,६६,०६८ मीट्रिक टन बाक्साइड का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य १२,८४,००० रुपये था।

क्रोमाइट (Chromite)

क्रोमाइट मुख्यतः उड़ीसा, बिहार तथा मैसूर में मिलता है, भारत में कुल १३ २० लाख टन टन के भंडार का अनुमान लगाया गया है। इसका उपयोग लोहे, इस्पात तथा क्रोमियम लाल आदि उद्योगों में होता है। सन् १६५८ में ६३,६५७ मीट्रिक टन क्रोमाइट का उत्पादन किया गया जिसका मूल्य ३१,८६००० रुपये था।

इलमेनाइट

यह मुख्यतः भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र तटों के किनारे की रेत में पाया जाता है। भारत में इसके ३५ करोड़ टन के भंडार का अनुमान लगाया गया है। सन् १६५८ में ३,१४,१२२ मीट्रिक टन इलमेनाइट का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य १,८३,३६००० रुपये था।

नमक (Salt)

भारत में नमक मुख्यतः समुद्रतट स्थित नमक कारखानों, बम्बई तथा राजस्थान की झीलों और हिमाचल प्रदेश की सेंधा नमक की खानों से पाया जाता है। सन् १६५८ में नमक (सेंधा नमक छोड़कर) का उत्पादन ४२,२७००० मीट्रिक टन का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य ८,४३,३५००० रुपये था।

विविध अलौह खनिज पदार्थ

अलौह खनिज पदार्थों में से जो अणु विखण्डन के लिए प्रयुक्त होते हैं,

'बेरिल' राजस्थान और 'मोनाजाइट' केरल में मिलता है। बिहार मे ऐसे बहुत से स्थान हैं जहाँ यूरेनियम निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त फिटकरी, एपाटाइट (एक प्रकार का नमक), सजिया, ऐसबस्टस, बेरियम सल्फेट, फेल्सपार, रेह, गारनेट (लाल खनिज), काला सीसा, स्फटिक, शोरा तथा स्त्रियाटाइट धातुएँ भी थोड़ी थोड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। जिप्सम (८८१ करोड़ टन का सम्भावित भडार) बम्बई, मद्रास तथा राजस्थान मे पाया जाता है। एपाटाइट के भण्डार मद्रास तथा बिहार में हैं जिनसे २० लाख टन एपाटाइट सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

सन् १९५८ में विभिन्न खनिज पदार्थों का उत्पादन तथा उसका मूल्य इस प्रकार

खनिज पदार्थों का उत्पादन (परिमाण तथा मूल्य) १९५८*

	परिमाण (Quantity) (मीट्रिक टन में)	मूल्य (हजार रुपये) (Value)
धातु खनिज पदार्थ		
लौह		
क्रोमाइट (टन)	६३,६५७	३,१८६
लोहा (टन)	६१,३०,०००	४,८,४६१
मैंगनीज (टन)	१२,५३,०००	११,२,४२६
अलौह		
फॉस्फाइट (टन)	१,३६,०६८	१,२८४
ताँबा (टन)	४,११,४७१	२,२,६६८
सोना (किलोग्राम)	५,२६१	४,६,६८८
इलमेनाइट (टन)	३,१४,१४२	१,८,३३६
सीसा (टन)	५,३४१	१,६३७
चाँदी (किलोग्राम)	३,४१६	५४८
जस्ता (टन)	७,३६१	२,०४६
धातु भिन्न खनिज पदार्थ		
हीरा (कैरेट)	१,५४०	३७०
मरकत (एमरल्ड) (कैरेट)	८०,०००	५०
जिप्सम (टन)	७,६४,३६२	५,२१२
कच्चा अभ्रक (टन)	३१,८११	२,५,१६६
नमक (सेंधा नमक को छोड़कर) (टन)	४२,२७,०००	८,४,३३५

भारतीय खान ब्यूरो

दूसरी पचवर्षीय योजना मे भारी उद्योगों के विकास पर जो अधिक जोर दिया गया है उसे देखते हुए भारतीय खान ब्यूरो का कार्य विशेष महत्व रखता है। खनिज साधनों के विकास और उपयोग के बारे म इस ब्यूरो को जो विधिवत् काम सौंपा गया

*Ind a, 1960, pp. 321 22

है उसके अलावा भी इस ब्यूरो को बहुत सभावित खनिज पदार्थों का पता लगाने और उनकी खुदाई का एक बहुत बड़ा कार्यक्रम पूरा करना है। दूसरी पचवर्षीय योजना म ब्यूरो ने निम्न महत्वपूर्ण (सर्वे) पर्यवेक्षण कार्य किया —

(१) राजस्थान म खेतडी और दरीबो-ताँबा भडारों का पर्यवेक्षण।

(२) पन्ना की हीरा खानो का पर्यवेक्षण।

(३) अमजोर माक्षीक का पर्यवेक्षण।

इनके अलावा ब्यूरो को कोयला भडारों का पता लगाने और खुदाई का काम भी सौंपा गया था। जनवरी, १९५९ के अन्त तक १४६,६०० मीटर तक की खुदाई की जा चुकी थी जिससे ७,८३७ ५ लाख टन कोयले का पता लग चुका था। अक्तूबर, १९५९ के अत तक ८,००० लाख टन का लक्ष्य प्राप्त करना है। ब्यूरो ने अभी हाल में उडीसा के किरीबुरु नामक स्थान में खनिज लोहे का पता लगाने का काम भी हाथ म लिया है।

उडीसा खान निगम—उडीसा खान निगम की स्थापना १५ नवम्बर १९५६ म, सार्वजनिक क्षेत्र म खनिज साधनों का उपयोग करने के बारे में सर्वे करने के लिए की गई थी। इस निगम ने पहली जुलाई १९५७ से लेकर २८ फरवरी, १९५९ तक की अवधि में दो खानों पर काम किया। इन दोनों खानों से ७७,१४६ ६ टन कच्चा लोहा निकाला गया।

राष्ट्रीय खनिज विकास निगम—राष्ट्रीय खनिज विकास निगम १५ करोड रुपये की अधिकृत पूँजी से १५ नवम्बर, १९५८ में स्थापित किया गया था। यह निगम तेल, प्राकृतिक गैस और कोयले को छोड़ कर सार्वजनिक क्षेत्र म खनिज साधनों से लाभ उठाने का सर्वे करेगा। दीर्घकालीन आधार पर जापान की इस्पात मिलों को कच्चा लोहा देने के बारे में भारत सरकार का जापान सरकार से एक समझौता हुआ।

शक्ति ससाधन

(Power Resources)

शक्ति के ससाधनों अथवा स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) **क्षय (Exhaustible) साधन**—ये शक्ति के सचित कोष हैं जैसे कोयला, खनिज तेल तथा प्राकृतिक गैसें, और

(२) **अक्षय (Inexhaustible) साधन**—ये वे साधन हैं जिनकी पूर्ति प्रकृति के द्वारा निरन्तर होती रहती है, जैसे जलप्रपात (Water falls), हवाएँ तथा ज्वार भाटे (Tides)। हवाओं व ज्वार भाटे से शक्ति का उत्पादन एकदम प्रकृति के ऊपर निर्भर है।

किसी भी देश की औद्योगिक एवं आर्थिक प्रगति उसके व्यावसायिक (Commercial) शक्ति के साधनों—कोयला, विद्युत तथा तेल—पर निर्भर होती है। यद्यपि भविष्य में अणु शक्ति (Atomic energy) भी व्यावसायिक स्तर पर प्राप्त हो सकेगी परन्तु उसका प्रभाव भविष्य में अधिक प्रभावपूर्ण होने की सम्भावना नहीं है। कोयला, जिसने औद्योगिक क्रान्ति के समय में अन्य अव्यावसायिक शक्ति के साधनों जैसे लकड़ी आदि को प्रतिस्थापित कर दिया, की महत्ता तेल के सामने २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कम होती जा रही है। सत्य तो यह है कि ऐसा परिवर्तन पिछले तीस वर्षों से हुआ जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—*

संसार में कार्य साधन रीति से प्रयुक्त शक्ति का आधार

(World Pattern of Effectively Utilised Energy)

	कुल का प्रतिशत अंश दान	
	१९२९	१९५५
कोयला तथा लिग्नाइट (Coal and Lignite)	७७	४५
पेट्रोलियम ईंधन तथा प्राकृतिक गैस (Petroleum Fuel and Natural gas)	२०	४९
जल विद्युत (Hydro-Electricity)	३	६
योग	१००	१००

शक्ति के साधनों के लिए योरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका कोयला भंडारों से मध्यपूर्व (Middle east) तथा करीबियन (Caribbean) के तेल क्षेत्रों की ओर निरन्तर बढ़ते रहे हैं। संसार के कुल तेल का उत्पादन भी काफी बढ़ गया है। १९२० में तेल का कुल उत्पादन १०० मिलियन टन था जो कि बढ़कर १९५७ में ८८० मिलियन टन हो गया। जल विद्युत का उत्पादन भी संसार में बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहा है, परन्तु उसका संसार की कुल शक्ति प्रदाय (Supply) में योगदान अब भी अपेक्षाकृत बहुत कम है।

औद्योगिक दृष्टि से अविकसित अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी शक्ति के साधन भिन्न हैं। भारत की कुल शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं की लगभग ८०% पूर्ति इस समय गोबर (Animal dung), लकड़ी, कृषि की बेकार वस्तुओं (Agricultural Waste) इत्यादि, तथा जीवित शक्ति (मानवीय तथा पाशविक) से होती है, तथा शेष २०% शक्ति कोयला, तेल तथा बिजली से प्राप्त होती है। यदि

*Supplement of 'Capital' of 10th July, 1958, P 69

(३) वालटेक्स, विशाखापटनम, और

(४) असम ऑयल कम्पनी, डिगबोई (असम)।

डिगबोई रिफाइनरी (असम) सबसे पुरानी रिफाइनरी है। इसका वार्षिक उत्पादन ६० मिलियन गैलन है जो कि देश की कुल आवश्यकता का ७% पूरा करता है। उपरोक्त चारों रिफाइनरीज की उत्पादन क्षमता ४ मिलियन टन है और देश की वर्तमान माँग ५ मिलियन टन है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष तेल की माग में ८% वृद्धि हो जाता है। इस बढ़ती हुई माग को पूरा करने के लिए दो और रिफाइनरीज सार्वजनिक क्षेत्र में असम और बिहार में खोली जायेंगी। भारत में कच्चा तेल (Crude-oil) आयात किया जायगा और इन रिफाइनरीज में साफ किया जायगा, इस प्रकार १० करोड़ रुपये प्रति वर्ष सालाना की बचत होगी। बिजली का उत्पादन बढ़ने पर इसका आयात कम हो जायगा।

त्रिपुरा राज्य, पथरिया (असम) तथा काँगड़ा (पंजाब) जिलों में तेल क्षेत्र पाये जाने की सम्भावना है, परन्तु फिर भी और अधिक तेल प्राप्त करने की समस्या बनी ही रहेगी। देश के वर्तमान औद्योगिक एव आर्थिक विकास की दर के अनुसार १९६१ में ७.५ मिलियन टन से अधिक और १९७१ तक २० मिलियन टन से अधिक कच्चे तेल (Crude oil) की आवश्यकता होने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार १९६५ तक इन भारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ३५० करोड़ रुपये के विनियोग की और १९७० तक इस विनियोग के दुगुने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार तेल उद्योग में भारी पूँजी निर्माण की आवश्यकता होगी, अन्यथा तेल की पूर्ति के साधन सूख जायेंगे।

प्रथम पचवर्षीय योजना—इसमें पंजाब के काँगड़ा जिले, राजस्थान के जय सलमेर तथा कच्छ के खाम्बे क्षेत्रों में तेल के अनुसन्धान सम्बन्धी पर्यवेक्षण कराने की योजना थी। १९५३ तथा १९५५ में भारत सरकार ने Standard Vacuum Oil Co Ltd, से पश्चिमी बंगाल के बेसिन में संयुक्त रूप से तेल की खोज करने का एक समझौता किया है। योजना की प्रगति की रिपोर्ट के अनुसार ज्ञात हुआ है कि इस समझौते के अनुसार उचित रीति से कार्य चल रहा है।

केन्द्रीय प्राकृतिक साधन एव वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग ने १९५५ में तेल एवं प्राकृतिक गैस विभाग (Oil and Natural Gas Division) तथा १९५५-५६ में जयसलमेर क्षेत्र में विभागीय तेल खोज (Departmental Exploration) (for Oil) प्रारम्भ की। तेल खोज कार्य के सम्बन्ध में कोलम्बो योजना के अन्तर्गत कनाडा से प्राविधिक (Technical) सहायता भी प्राप्त हुई है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—इसमें तेल-देशों के अन्वेषण तथा विकास कार्य में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। जयसलमेर, खाम्बे तथा ज्वालामुखी में

होने वाले कार्यों के लिए ११.५ करोड़ रुपये का प्रावधान था, जो कि बाद में बढ़ा कर २० करोड़ रुपये कर दिया गया।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले खोज कार्यों में काफी प्रगति हुई है। १९५८-५९ में लगभग ८ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। पश्चिमी बंगाल बेसिन में अन्वेषण कार्य जारी है। नाहोरकटिया तेल क्षेत्र के विदोहन के लिए तथा एक पाइप लाइन बनाने एवं चलाने के लिए भारत सरकार और बर्मा आयल कम्पनी की साझेदारी में रूपी कम्पनी का निर्माण हुआ है। इस कच्चे तेल के शोधन के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में दो रिफाइनरीज बनाने का विचार है। पाइप लाइन का निर्माण तथा रिफाइनरीज की स्थापना दो चरणों (Stages) में की जावेगी। प्रथम चरण में नाहोरकटिया से गौहाटी तक एक पाइप लाइन डाली जावेगी जहाँ कि ·७५ मिलियन टन की क्षमता की एक रिफाइनरी बनाई जावेगी। दूसरे चरण में पाइप लाइन बरौनी तक बढ़ा दी जावेगी जहाँ कि दूसरी रिफाइनरी बनाई जावेगी, जिसकी उत्पादन क्षमता १·५ से २·० मिलियन टन की होगी। रूपी कम्पनी तथा गौहाटी में बनने वाली रिफाइनरी में सरकार २४ करोड़ रुपये द्वितीय योजना काल में व्यय करेगी।

सितम्बर १९५८ में बाम्बे में ६,५०० फीट की गहराई पर तेल पाया गया है। भविष्य में और तेल कूपों के पाये जाने की सम्भावना है।

१९५७ में मध्य पूर्वीय देशों (Middle east) से २८,२६,२६,००० रुपये के मूल्य का क्रूड पेट्रोलियम आयात किया गया। १९५८ के प्रथम ८ महीनों में यही आयात ६,६७,०५,००० रुपये के मूल्य का किया गया।

पेट्रोलियम की विकास योजनाएँ

तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन—तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन ने तेल की खोज का काम और भी जोरों से शुरू कर दिया है। पंजाब के ज्वालामुखी क्षेत्र में तेल के लिए प्रारम्भिक खुदाई का काम हो रहा है। वहां गैस होने के भी कुछ संकेत मिले हैं। पंजाब के होशियारपुर क्षेत्र में परीक्षण के तौर पर एक कुआँ भी खोदा गया है। असम के शिवसागर क्षेत्र में भी प्रारम्भिक खुदाई का काम जल्दी ही शुरू किया जायगा। बड़ौदा क्षेत्र में ऊपरी सतह की खुदाई का काम हो रहा है। वहां गैस और तेल होने की सम्भावना का पता चला है।

भारत स्टेन्डर्ड वैकुम पेट्रोलियम परियोजना—इस योजना के अधीन जिसमें सरकार के २५ प्रतिशत हिस्से हैं, स्टैण्डर्ड वैकुम आयल कम्पनी पश्चिमी बंगाल के बेसिन में तेल की खोज का काम कर रही है।

आयल इण्डिया लिमिटेड—बर्मा आयल कम्पनी और असम आयल कम्पनी के साथ एक समझौते के अधीन १८ फरवरी, १९५९ को 'आयल इंडिया

लिमिटेड' के नाम से एक कम्पनी स्थापित की गई। इसमें सरकार के ३३½ प्रतिशत हिस्से हैं। यह कम्पनी आसाम के नाहोरकटिया तेल क्षेत्रों से बिना साफ किया तेल निकालेगी और एक पाइप लाइन के जरिये यह तेल असम और बिहार में स्थापित किये जाने वाले तेल साफ करने के कारखाना तक पहुँचायेगी। पाइप लाइन बनाने का काम दो चरणों में पूरा होगा। तेल साफ करने के इन कारखानों के निर्माण और सचालन के लिए इण्डियन रिफाइनरीज लिमिटेड के नाम से एक सरकारी कम्पनी स्थापित की गई है। असम में खोले जाने वाले तेल साफ करने के पहले कारखाने के लिए मशीनों तथा टेक्निकल सहायता प्राप्त करने के लिए रूमानिया सरकार के साथ एक समझौता कर लिया गया है। बिहार के बरौनी नामक स्थान में खोले जाने वाले दूसरे कारखाने के लिए विदेशों से इसी तरह की सहायता प्राप्त करने के लिए कार्यवाही की जा रही है।

प्राकृतिक गैस—आसाम के नाहोरकटिया क्षेत्र में तेल के साथ साथ प्राकृतिक गैस का काफी बड़ा भडार होने का पता चला है। इस सम्बन्ध में अभी जाँच पड़ताल हो रही है कि इस गैस का उपयोग करने के लिए वहाँ कौन कौन से उद्योग स्थापित किये जायें।

विद्युत शक्ति के स्रोत-(साधन) (Electric Power Resources)

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के मध्य तक विद्युत उत्पादन में बहुत ही कम प्रगति हुई। मार्च, १९५६ में सार्वजनिक उपयोग के विद्युत यन्त्रों (Plants) की प्रस्थापित क्षमता (Installed Capacity) ३५,११,५८६ किलोवाट थी। इसी अवधि में विद्युत-उत्पादन भी बढ़कर १२ अरब ६९ करोड़ ४० लाख किलोवाट हो गया।

भारत का वार्षिक प्रति व्यक्ति विद्युत् उत्पादन केवल २५ किलोवाट घंटे है, जब कि नार्वे, कनाडा, ब्रिटेन, रूस तथा जापान का प्रति व्यक्ति विद्युत् उत्पादन क्रमशः ७,२५०, ५,४५०, २,०००, ९६०, तथा ८५० किलोवाट घंटे है।

पश्चिम की ओर बहने वाली पश्चिमी घाट की नदियों, पूर्व की ओर बहने वाली दक्षिण भारत की नदियों तथा मध्यवर्ती भारतीय पठार की नदियों के सम्बन्ध में केन्द्रीय जल तथा विद्युत आयोग, द्वारा किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि इस आयोग (Commission) की रिपोर्ट में सुझाई गई १९५ बड़ी योजनाओं से लगभग १ ४७ करोड़ किलोवाट विद्युत का उत्पादन किया जा सकता है। इस समय देश में अनुमानतः ४·१० करोड़ किलोवाट से अधिक विद्युत का उत्पादन किया जाता है।

विद्युत विकास सम्बन्धी सगठन

भारत में विद्युत-उत्पादन तथा उसके वितरण की व्यवस्था लम्बे समय तक

१९१० के 'भारतीय विद्युत अधिनियम' के अनुसार होती रही। १९४८ में पारित 'विद्युत (उपलब्धि) अधिनियम' के अनुसार १९५० में 'केन्द्रीय विद्युत प्राधिकारी संगठन'



चित्र ४—शक्ति के साधन

की स्थापना हुई और इसके अन्तर्गत असम, केरल, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बम्बई, बिहार, मद्रास, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा राजस्थान में विद्युत मंडल (बोर्ड) स्थापित किये जा चुके हैं।

स्वामित्व तथा उपभोग

१९२५ तक विद्युत् विकास का कार्य मुख्यतः प्राइवेट कम्पनियों के ही हाथ में था। गत दूसरे दशक में ही कुछ राज्यों में विद्युत्-विकास योजनाओं पर कार्य करना आरम्भ किया गया। मार्च १९५९ में सार्वजनिक उपयोग में आने वाली ३६·८ प्रतिशत विद्युत् पर प्राइवेट कम्पनियों का ही स्वामित्व था।

१९५८-५९ में घरेलू, व्यापारिक, औद्योगिक, सार्वजनिक प्रकाश तथा सिंचाई आदि की सुविधाओं के लिए कुल मिलाकर ३६·१८ लाख उपभोक्ताओं ने विद्युत् का उपभोग किया।

गाँवों में बिजली

कुछ बड़े विद्युत् केन्द्रों में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए भी बिजली पैदा की जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली लगाने के सम्बन्ध में अभी तक केवल आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश केरल, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बम्बई, बिहार, मद्रास तथा मैसूर में ही कुछ प्रगति हुई है। मार्च १६५६ के अन्त में ५,६१,१०८ कस्बों तथा गाँवों में बिजली की व्यवस्था थी।

दोनों योजनाओं की विद्युत योजनाएँ

प्रथम योजना के सार्वजनिक क्षेत्र में १४२ विद्युत् विकास योजनाएँ सम्मिलित थीं। उनमें से बड़े बहु-उद्देश्यीय नदी घाटी योजना कार्य थे—भाखड़ा नंगल, हीराकुड, दामोदर घाटी कारपोरेशन, चम्बल, रिहन्द, कोयना तथा कोसी।

प्रथम योजना काल में जिन मुख्य विद्युत् योजनाओं का कार्य पूरा हो गया तथा जिनमें विद्युत्-उत्पादन आरम्भ हुआ, वे इस प्रकार हैं—

	प्रस्थापित क्षमता (किलोवाट) [Installed Capacity Kwt.]
१. नंगल (पंजाब)	४८,०००
२. बोकारो (बिहार)	१,५०,०००
३. चोल (कल्याण, बम्बई)	५४,०००
४. खापरखेड़ा (मध्य प्रदेश)	३०,०००
५. मोयार (मद्रास)	३६,०००
६. मद्रास नगर संयन्त्र (Plant) विस्तार (मद्रास)	३०,०००
७. मचकुण्ड (आन्ध्र प्रदेश—उड़ीसा)	३४,०००
८. पथरी (उत्तर प्रदेश)	२०,०००
६. शारदा (उत्तर प्रदेश)	४१,४००
१०. पैनगुलम (केरल)	४८,०००
११. जोग (मैसूर)	७२,०००

मार्च १६५१ में विद्युत् उत्पन्न करने वाले संयन्त्रों (Plants) की कुल प्रस्थापित क्षमता (Installed Capacity) २·३ मिलियन किलोवाट थी। प्रथम योजना काल में इस क्षमता १·१ मिलियन किलोवाट की वृद्धि हुई। योजना काल में ३,७०० अतिरिक्त कस्बों तथा गाँवों में बिजली पहुँचाई गई और प्रति व्यक्ति बिजली का उपभोग १६५०-५१ के १४ यूनिट से १६५५-५६ में २५ यूनिट हो गया।

द्वितीय योजना काल में विद्युत संयन्त्रों की क्षमता ३·४ मिलियन किलोवाट से ६·६ मिलियन किलोवाट करने का विचार है। इस अतिरिक्त उत्पादन क्षमता को सरकारी व निजी संयन्त्रों तथा हाइड्रो एवं थर्मल पावर प्लान्ट्स के द्वारा प्राप्त किया जायेगा।

योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में ४२७ करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में ४२ करोड़ रुपये व्यय करने का विचार है।

द्वितीय योजना के अन्त तक १८,००० कस्बों व गावों में बिजली पहुँच जावेगी और बिजली का प्रति व्यक्ति उपभोग १९६० ६१ तक ५० यूनिट हो जावेगा।

द्वितीय योजना काल में कुल मिलाकर ४२ विद्युत्-उत्पादन योजनाएँ आरम्भ की जायेंगी जिनमें से २३ जल विद्युत् योजनाएँ तथा १९ वाष्प शक्ति योजनाएँ होंगी।

तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक बिजली की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर १ करोड़ १८ लाख किलोवाट कर दी जायगी। अणु शक्ति से भी ३ लाख किलोवाट बिजली बनाई जायगी। आशा है कि इस योजना काल में १५,००० गाँव और छोटे कस्बों में बिजली लगाई जायगी, जिससे इनकी कुल संख्या ३४,००० हो जायगी।

मानव-शक्ति

(Human Resources)

किसी देश की जनसंख्या का परिमाण और उसके गुण उस देश की आर्थिक, सामाजिक एवं औद्योगिक स्थिति पर प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण प्रभाव डालती हैं। अनादि काल से अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों तथा देशभक्तों में इस बात को लेकर कि किसी देश में अधिकतम् आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए कितनी जनसंख्या का होना उपयुक्त है, वाद विवाद होता रहा है। सामान्यतः एशियाई देशों की जनसंख्या निरन्तर अबाध गति से बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि से उन देशों की उत्पादन क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा है, और इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि एक प्रमुख आर्थिक-सामाजिक समस्या बन गई है। भारत स्वयं इस श्रेणी में आता है।

भारत की जनसंख्या और उसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन औद्योगिक विकास की किसी भी योजना के लिए सर्वथा आवश्यक है।

संसार की सबसे अधिक जन संख्या वाले देशों में भारत का स्थान दूसरा है। १९५१ की अंतिम जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या ३५,६८,७९,३९४ थी। इसमें सिक्किम की जनसंख्या (१,३७,७२५) तो सम्मिलित थी, परन्तु आसाम के 'ख' भाग के आदिम जातीय क्षेत्रों और जम्मू तथा काश्मीर राज्य की नहीं। १९५८ के मध्य में भारत की कुल जनसंख्या अनुमानतः ३९.७५ करोड़ थी जिनमें जम्मू तथा काश्मीर, पाण्डिचेरी और सिक्किम की जनसंख्या भी सम्मिलित थी।

भारत के राज्यों तथा क्षेत्रीय संघों के क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या निम्न तालिका में दी गई है—

राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या*

	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या
भारत	१२,५६,७९७	३६,११,५१,६६६
राज्य :		
असम	८४,८९९	९०,४३,७०७
आन्ध्र प्रदेश	१,०६,०५२	३,१२,६०,१३३
उड़ीसा	६०,१६२	१,४६,४५,९४६
उत्तर प्रदेश	१,१३,४५२	६,३२,१५,७४२
केरल	१५,००३	१,३५,४९,११८
जम्मू तथा काश्मीर	८६,०२४	४४,१०,०००
पंजाब	४७,०८४	१,६१,३४,८९०
पश्चिमी बंगाल	३३,९२८	२,६३,०२,३८६
बम्बई	१,९०,०३८	४,८२,६५,२२१
बिहार	६७,१९८	३,८७,८३,७७८
मद्रास	५०,१३२	२,९९,७४,९३६
मध्य प्रदेश	१,७१,२१०	२,६०,७१,६३७
मैसूर	७४,१२२	१,९४,०१,१९३
राजस्थान	१,३२,१५०	१,५९,७०,७७४
संघीय क्षेत्र :		
अण्डमन तथा निकोबार द्वीप समूह	३,२१५	३०,९७१
दिल्ली	५७३	१८,४४,०७२
मणिपुर	८,६२८	५,७७,६३५
लक्कादीव, मिनिकॉय तथा अमीनदीवी द्वीप समूह	११	२१,०३५
हिमाचल प्रदेश	१०,८८०	११,०९,४६६
त्रिपुरा	४,०३६	६,३९,०२९

भारतीय जनसंख्या और उसके प्रमुख लक्षण

(१) जन्म दर तथा मृत्यु-दर—अधिकांश जन्म तथा मृत्यु क्योंकि पंजीकृत (Register) नहीं कराई जा पातीं, इसलिए पंजीकरण के आंकड़ों पर आधारित जन्म तथा मृत्यु के आँकड़ों तथा जनगणना के आँकड़ों में भिन्नता मिलती है। १९४१ ५० के दशक में पंजीकृत जन्म दर २८ तथा पंजीकृत मृत्यु दर २० थी। १९५७ में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे जन्म दर ३९·५ तथा मृत्यु दर ११·० थी।

*India, 1960 p 15

१९५१ में १,००० पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियाँ थीं। इस प्रकार कुल जनसंख्या में स्त्रियों की संख्या लगभग ४८.५ प्रतिशत है। जनसंख्या में स्त्रियों की कमी का प्रधान कारण उचित देखभाल न होने के कारण उनकी मृत्यु दर का अधिक होना है।

(२) काम करने वाली आयु के व्यक्तियों का कम अनुपात—जनसंख्या के आँकड़ों से आयु विभाजन का भी विशेष महत्व है, क्योंकि उससे किसी देश की कार्य शक्ति का परिचय मिलता है। अन्य उन्नत देशों की तुलना में हमारे यहाँ बहुत ही थोड़े ऐसे व्यक्ति हैं, जो पचास साल से अधिक जीवित रहते हैं। योरोप में अधिकतर एक व्यक्ति के कार्य करने का समय २० से ६० साल माना जाता है जब कि हमारे यहां यह कार्य काल १३ से ४० साल है। इस प्रकार कुल जनसंख्या में हमारे यहाँ कार्य करने वाली जनता का अनुपात ४२ प्रतिशत बैठता है, जबकि इंगलैंड में वह ६२ प्रतिशत और फ्रांस में ५२ प्रतिशत है। इसका प्रधान कारण हमारे यहाँ अत्यधिक शिशु और बाल मृत्यु-दर है।

(३) *जनता का हीन स्वास्थ्य और कार्यक्षमता*—केवल जीवित लोगों की संख्या से ही हम उनकी कार्यक्षमता का अनुमान नहीं लगा सकते। इसके लिए हमें उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और प्राप्त सुविधाओं की ओर भी दृष्टि डालनी होगी। इस दृष्टि से हमारी जनसंख्या की अवस्था बहुत ही निराशाजनक है। आवश्यक पौष्टिक भोजन, चिकित्सा एवं शिक्षा सुविधाओं के अभाव में उनकी स्वास्थ्य और कार्यक्षमता का गिरा होना स्वाभाविक ही है।

(४) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता—अर्थशास्त्रियों का कहना है कि किसी देश की अधिकांश जनसंख्या का कृषि जैसे प्राथमिक उद्योगों पर निर्भर रहना उसकी निर्धनता का सूचक है। इसके विपरीत उद्योगों, यातायात तथा अन्य व्यावसायिक सेवाओं में जनसंख्या के अधिक अनुपात का लगा होना उसकी समृद्धि का सूचक है।

१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। ३६.१ करोड़ जनसंख्या में से २४.९ करोड़ व्यक्ति कृषि तथा बाकी १०.७ करोड़ अन्य धन्धों पर निर्भर हैं। ८.६५ करोड़ काम करने वालों में से ७.१ करोड़ कृषि, ६० लाख उद्योगों, ६० लाख व्यापार तथा स्वास्थ्य, ३० लाख शिक्षा और शासन सेवाओं में तथा ५ लाख व्यक्ति अन्य घरेलू सेवाओं इत्यादि कार्यों में लगे हुए हैं।

(५) शहरी तथा ग्रामीण जनसंख्या—देश की कुल जनसंख्या में से ६.१६ करोड़ अथवा १७.३ प्रतिशत व्यक्ति नगरों और कस्बों में रहते हैं, जबकि शेष २९.५० करोड़ अथवा ८२.७ प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में। १९४१-१९५१ के दशक में शहरी जनसंख्या में ३.४ प्रतिशत की वृद्धि तथा ग्रामीण जनसंख्या में ३.४ प्रतिशत की कमी हुई। देश में कुल ३,०१८ नगर तथा ५,५८,०८८ गाँव हैं।

(६) परिवार नियोजन—बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए १६५१ की जनगणना रिपोर्ट में परिवार नियोजन का सुझाव दिया गया है। रिपोर्ट के अनुसार स्थिर जनसंख्या ही वर्तमान स्थिति में हमारे लिए उपयुक्त है। इसके लिए जन्म-दर में कमी अनिवार्य है। जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) श्री गोपाल स्वामी के अनुसार एक विवाहित दम्पति के अधिक-से अधिक तीन बच्चे होने चाहिए। जनसंख्या का प्रत्यक्ष नियन्त्रण परिवार नियोजन के द्वारा हो सकता है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में भी परिवार नियोजन के महत्व को स्वीकार किया गया है।

(७) बेरोजगारी—हमारे नवोदित स्वतन्त्र भारत के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं, परन्तु आज सबसे चिन्ताजनक समस्या बेरोजगारी की है। इसके समाधान के ऊपर ही हमारे राष्ट्रीय आयोजन की सफलता और असफलता निर्भर करती है।

१६४१ से १६५१ तक हमारे यहाँ ४.५ करोड़ की वृद्धि हुई है जो फ्रांस की कुल आबादी के बराबर है। प्रति वर्ष हमारे यहाँ ४५ लाख जनसंख्या की वृद्धि होती है, जो डेनमार्क की कुल आबादी है। द्वितीय योजना की अवधि में प्रति वर्ष ७० लाख की वृद्धि हो रही है और यह सम्भावना है कि तृतीय योजना की अवधि में यह जनसंख्या १ करोड़ प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ने लगेगी। ऐसी दशा में बढ़ती हुई जनसंख्या को काम देना एक असम्भव कार्य है, क्योंकि व्यापार, वाणिज्य और उद्योग भारत में उस गति से नहीं बढ़े हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में, ऐसा अनुमान है कि, लगभग ४५ लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाया गया। परन्तु रोजगार की दशा बिगड़ती गई। जनता प्रथम योजना को असफल घोषित करने लगी क्योंकि योजना की प्रगति के साथ बेकारी की भी प्रगति हो रही थी। यह अनुभव किया गया कि औद्योगिक विकास की योजना तभी सफल हो सकती है जब लोगों को रोजगार दिलाना भी उसका एक प्रधान लक्ष्य हो।

इस लक्ष्य को सामने रखकर ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १ करोड़ २० लाख व्यक्तियों को काम दिलाने की प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे शब्दों में द्वितीय योजना का एक प्रधान लक्ष्य रोजगार सुविधाओं का अधिकाधिक विस्तार करना है। परन्तु वर्तमान प्रगति को देखते हुए कहा जा सकता है कि योजना अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में सफल न हो पायगी।

पशु-सम्पत्ति (Livestock Resources)

एशिया में संसार की समस्त पशु सम्पत्ति का ४२ प्रतिशत भाग है, परन्तु प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या एशिया में (०.३३) संसार के प्रत्येक क्षेत्र से कम है। उदाहरणार्थ उत्तरी अमरीका में प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या ०.६८, दक्षिणी अमरीका १.१७, अफ्रीका ०.४६ तथा यूरोप ०.२५ है। भारतवर्ष में पशुओं की संख्या प्रति व्यक्ति

० ४६ है। १९५६ की पशु गणना के अनुसार भारतवर्ष में कुल पशुओं की संख्या ३० करोड़ ६५ लाख थी। इसमें गाय, बैल, भैंस तथा भैंसे, भेड़, बकरे बकरियाँ, घोड़े तथा टट्टू एवं अन्य पशु (खच्चर, गधे, ऊँट तथा सुअर) सम्मिलित हैं। इनकी संख्या १९५६ की पचवर्षीय पशु गणना इस प्रकार थी—*

	१९५६ की पशुगणना
१. गाय बैल	१५,८७,००,०००
२. भैंस तथा भैंसे	४,४६,००,०००
३. भेड़	३,९२,००,०००/
४. बकरे बकरियाँ	५,५४,००,०००
५. घोड़े तथा टट्टू	१५,००,०००
६. अन्य पशु (खच्चर, गधे, ऊँट तथा सुअर)	६८,००,०००
कुल योग	३०,६५,००,०००

भारतवर्ष में संसार की कुल पशु-संख्या का चौथाई हिस्सा है, जो कि हमारे आर्थिक विकास में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। किन्तु हमारे देश में जानवरों को अच्छा खाना नहीं मिलता, फलस्वरूप हमारे जानवर बहुत खराब किस्म के होते हैं। चरागाहों की कमी, गर्भाधान व खुराक के वैज्ञानिक तरीकों का अभाव और बेकार जानवरों का वध करने के विरुद्ध धार्मिक विचार, इन सब बातों ने मिलकर भारतीय पशुओं की किस्म को बहुत खराब कर दिया है।

भारत के किसानों की आय का लगभग ५० प्रतिशत भाग उनके दूध दही के उद्योग से प्राप्त होता है। पर यदि गर्भाधान की विधि को वैज्ञानिक रूप दे दिया जाय और चरागाहों का पर्याप्त प्रबन्ध कर दिया जाय तो इस आय को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है। हमारे देश में प्रति एकड़ जुती हुई भूमि पर पशुओं का घनत्व ६७ है। यह घनत्व संसार में सबसे अधिक है किन्तु साथ ही सबसे कम कार्यकुशल और सबसे कम उत्पादक है।

सरकार की नीति

पशुपालन विकास सम्बन्धी सरकारी नीति का उद्देश्य देश में चुनी हुई नस्लों के पशुओं तथा अन्य पशुओं की किस्मों में सुधार करके उनकी दुग्ध-उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना है। इससे बैलों की किस्मों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ने दिया जायगा। इस उद्देश्य की पूर्ति केन्द्र ग्राम योजना, गोशाला विकास योजना तथा गोसदन योजना द्वारा करने का लक्ष्य रखा गया है।

*भारत १९६०, पृष्ठ २५६

निष्कर्ष

उपर्युक्त विभिन्न साधनों के उचित प्रयोग एवं विदोहन से भारत को भूख, बेकारी, दरिद्रता और बीमारी से मुक्ति दिलाई जा सकती है। भारत सरकार ने आयोजन के द्वारा इन विभिन्न दानवों से मुक्ति दिलाने के लिए जिन प्रयासों का अनुमान लगाया है, वे इस प्रकार हैं—*

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना	पंचम योजना
राष्ट्रीय आय (करोड़ों में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२५०
कुल शुद्ध विनियोग ,,	३,१००	६,२००	९,९००	१४,८००	२०,७००
विनियोग दर (राष्ट्रीय आय का प्रतिशत	७ ३	१० ७	१३ ७	१६ ०	१३०
जनसंख्या (करोड़ों में)	३८ ४	४० ८	४३ ४	४६ ५	५००
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२८१	३११	३६८	४४६	५४६

प्रश्न

1. Describe the natural resources of India and discuss the circumstances in which they could not be properly and adequately exploited. *(Agra 1954)*

2. Give a description of the mineral wealth of India and indicate the policy of the development plan for the future. *(Agra 1960)*

3. In what different ways do forests prove beneficial to the economy of a country? What is the present policy of the state in this connection? *(Agra 1960)*

4. What are the economic consequences of soil erosion? What steps have been taken in the country against this evil? *(Banaras, 1954)*

---

*स्रोत—योजना आयोग द्वारा प्रकाशित 'न्यू इंडिया' से—आधार वर्ष १९५२-५३।

खण्ड ३

सामाजिक वातावरण एवं जनसंख्या

१ भारत में सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ
२. भारत की जनसंख्या—तथ्य, समस्या एवं उपाय

अध्याय ४

भारत में सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ

(Social and Religious Institutions in India)

मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसकी सभी आर्थिक क्रियाएँ समाज में प्रचलित रीति रिवाज, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा प्रभावित होती हैं। सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का देश के आर्थिक विकास पर भी गहन प्रभाव पड़ता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के द्वारा ही देश के उद्योग धंधों, व्यवसायों तथा राष्ट्रीय आय का वितरण निर्धारित होता है। डा० मार्शल के अनुसार "संसार में सबसे बड़ी निर्माणकारी दो संस्थाएँ चली आ रही हैं—धार्मिक तथा आर्थिक।" सम्भवतः भारतवर्ष में सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने हमारे देश के आर्थिक विकास को जितना प्रभावित किया है उतना कदाचित् अन्यत्र नहीं। भारत में प्रत्येक सामाजिक एवं आर्थिक क्रिया के पीछे धार्मिक भावना होती है। प्रत्येक कार्य का श्रीगणेश शुभ मुहूर्त वेला में किया जाता है। यह ज्ञात करने के लिए कि इन संस्थाओं ने हमारे देश के आर्थिक जीवन को कहाँ तक प्रभावित किया है, आवश्यक है कि हम उनके बारे में थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें।

प्रमुख सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ

भारतवर्ष में प्रमुख धार्मिक संस्थाएँ, जिनका हमारे आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ा है, निम्नलिखित हैं :—

(१) जाति प्रथा (Caste System),

(२) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System),

(३) उत्तराधिकार नियम (Laws of Inheritance),

(४) पर्दा प्रथा एवं बाल विवाह,

(५) भारतीय धर्म एवं दर्शन, तथा

(६) ग्राम पंचायतें।

जाति-प्रथा

जाति प्रथा का हमारी धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय समाज की प्राचीनतम रूढ़ियों में से एक है। अनेक सामाजिक एवं

जन धार्मिक, उत्सव सम्बन्धी, राजनैतिक, सैनिक तथा औद्योगिक संगठन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित थे और वास्तव में एक ही वस्तु के विभिन्न रूप थे। लगभग उन सभी राष्ट्रों ने जो संसार की प्रगति में अग्रगामी थे, जाति के लगभग कठोर रूप को अपना लिया था।" श्री जेम्स मिल का विश्वास है कि जाति प्रथा का विकास श्रम विभाजन की आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ। श्री एन० सोमर्ट के सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रथा का विकास समय की परिस्थितियों के अनुसार हुआ।

जाति प्रणाली केवल भारतवर्ष में ही प्रचलित नहीं है बल्कि संसार के अन्य देशों में भी है। अन्य देशों में इसका रूप इतना कठोर एवं जटिल नहीं है जितना भारतवर्ष में। जाति प्रथा ने भारतीय अर्थ व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है जैसा अगले पृष्ठों में दिये गये विवरण से ज्ञात होगा।

जाति प्रथा के लाभ

(१) **सामाजिक शुद्धता**—जाति प्रथा के कारण भारतवर्ष को अपनी सांस्कृतिक वैयक्तिक तथा सामाजिक शुद्धता बनाये रखने में बड़ी सहायता मिली है। एक ही सम्प्रदाय में रहने से, खान पान करने से तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने से आचार विचार और रक्त की शुद्धता बनी रही है।

(२) **श्रम विभाजन**—जाति प्रणाली के नियमानुसार प्रत्येक जाति अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती है। यह एक प्रकार का कार्य अथवा श्रम विभाजन है। इस प्रकार जाति प्रथा के फलस्वरूप श्रम विभाजन के सभी लाभ प्राप्त हैं।

(३) **पैतृक प्रशिक्षण संस्थायें**—प्राचीन काल में जब सरकार की ओर से प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना नहीं की जाती थी, जाति प्रथा के द्वारा व्यक्तियों को ऐसी संस्थाएँ अपने घर पर ही प्राप्त हो जाती थी। किसी भी नवयुवक को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर नहीं जाना पड़ता था। वह अपने पिता से सम्पूर्ण प्रविधियां तथा कारीगरी का उत्तराधिकार पाता था, और फिर अपनी बारी आने पर वह उस उत्तराधिकार को अपनी सन्तान को दे देता था।

(४) **कार्य में निपुणता**—जाति प्रथा प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य उसके जन्मानुसार ही निश्चित कर देती थी। नवयुवक को अपनी जीविका के लिए इधर उधर नहीं भटकना पड़ता था। वह अपना व्यवसाय प्रारम्भ से ही सीखता रहता था और आगे चल कर वह उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता था।

(५) **सहकारिता की भावना**—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के ऊपर अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर रहा करता था। किसी व्यक्ति का काम दूसरे की सहायता के बिना नहीं चलता था। स्वभावतः सभी जाति के लोगों में सहकारिता की भावना जागृत हो जाती थी।

(६) श्रमिक संघ—जाति प्रणाली ने आर्थिक क्षेत्र में श्रमिक संघ के कार्य की भूमिका अदा की है। प्रत्येक जाति अपने प्रत्येक सदस्य के अधिकारों की रक्षा करती थी।

(७) स्वतन्त्र सामाजिक संगठन—सामाजिक क्रियाओं का नियमन करने के लिए प्रत्येक जाति की पंचायत हुआ करती थी। इन पंचायतों का निर्णय सर्वमान्य होता था। पंचायतों ने सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है और उनकी महत्ता को आज हमारी राष्ट्रीय सरकार भी स्वीकार करती है।

(८) वैज्ञानिक समन्वय—जाति प्रथा के समर्थकों ने जाति प्रथा को वैज्ञानिक समाजवाद की संज्ञा भी दी है। सुप्रसिद्ध न्यायशास्त्री श्री भगवानदास के शब्दों में "लोगों ने प्राचीन काल से जाति प्रथा को समय की कसौटी पर कसा उतरा हुआ ऐसा वैज्ञानिक समाजवाद बतलाया है, जिसने व्यावसायिक वर्गों में शक्ति सन्तुलन को सदा बनाये रखा।"

(९) वर्ग संघर्ष का दमन—श्री आर० पी० मुखाना के अनुसार जाति प्रथा ने वर्ग संघर्ष को कम से कम कर दिया था और आर्थिक शक्तियों के नियन्त्रित करों के निरपेक्ष नाम का कार्य किया था। जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की यह धारणा होती है कि उसका जन्म किसी जाति विशेष में उसके प्रारब्ध के कारण हुआ है। अतः वर्ग संघर्ष की भावना रह ही नहीं जाती।

(१०) नैतिक प्रतिबन्ध—प्रत्येक व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से नैतिक दुराचरण नहीं करता है क्योंकि नैतिक दुराचरण करने वालों को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। श्री आर० पी० मुखाना के शब्दों में जाति प्रथा के द्वारा "प्राचीन परम्परा की रक्षा की जाती थी, सामाजिक शांति को सुरक्षित रखा जाता था, नागरिक तथा आर्थिक कल्याण प्राप्त किया जाता था तथा व्यक्तिगत आनन्द और सन्तोष को बढ़ाया जाता था।

जाति प्रथा के दोष

(१) श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी जाति का ही व्यवसाय कर सकता था अन्य जाति का व्यवसाय नहीं कर सकता, चाहे उसमें इस प्रकार के कार्य करने की कितनी ही निपुणता क्यों न हो। इस प्रकार श्रमिकों में व्यावसायिक गतिशीलता नहीं रहती।

(२) पूँजी की गतिशीलता में बाधक—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक जाति अपने धन का विनियोग अपनी जाति वाले व्यवसाय में ही कर सकते थे। एक जाति के लोग दूसरी जाति के व्यवसाय में धन नहीं लगा सकते। इस प्रकार जाति प्रथा

पूँजी की गतिशीलता में बाधक होती है जिसका कुछ प्रभाव औद्योगिक विकास पर भी पड़ता है।

(३) व्यवसाय और व्यक्तिगत रुचि में असामंजस्य—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय ही करना होता था। व्यक्तिगत रुचि एवं दक्षता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अतः व्यावसायिक एवं औद्योगिक निपुणता का नितान्त अभाव रहता था।

(४) श्रम की गरिमा की हानि—जाति प्रथा के कारण श्रम की गरिमा (dignity) को भारी धक्का लगता है। ऊँची जाति के लोग निम्न कोटि के कार्य करने में संकोच करते थे और निम्न जाति के लोग ऊँची जाति के कार्य करने में डरते थे। इससे देश को काफी हानि होती थी। आज यह सर्वमान्य है कि 'श्रम की गरिमा में ही मानव की महिमा है।'

(५) विदेश गमन में संकोच—जाति प्रथा के विचारों के अनुसार लोगों को विदेश जाने की आज्ञा नहीं मिलती थी। यदि वे विदेश जाते थे तो उनका हुक्का पानी बन्द कर दिया जाता था। इस भय से लोग विदेशी व्यापार करने में संकोच करते थे।

(६) राष्ट्रीय एकता में बाधक—जाति प्रथा के अनुसार समाज अनेक छोटे छोटे भागों में विभाजित हो जाता है और अपने हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करता है। साम्प्रदायिकता के बल पर ही देश का विभाजन हुआ और अब विभिन्न राज्य छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो रहे हैं जैसे गुजरात और महाराष्ट्र।

(७) निरर्थक व्यय—जाति प्रथा के नियमानुसार अथवा परम्परानुसार लोगों को विशेष अवसरों अथवा उत्सवों पर हैसियत से अधिक धन व्यय करना पड़ता है जैसे शादी, जन्म, मृत्यु आदि पर। इससे आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(८) आपसी द्वेष भाव—एक जाति दूसरी जाति की प्रगति को ईर्ष्या एवं स्पर्धा की दृष्टि से देखती है जिससे परस्पर घृणा, द्वेष एवं फूट की भावना को बल मिलता है।

(९) सामाजिक दुराचरण—एक ही जाति के अन्तर्गत विवाह इत्यादि होने के कारण कुछ सामाजिक और नैतिक दुराचरण जैसे दहेज, आत्महत्या तथा शिशु हत्या बढ़ जाते हैं। स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात प्रत्येक जाति में समान नहीं होता, अतः उपरोक्त दोषों का होना स्वाभाविक है।

(१०) अन्त में जाति प्रथा 'जीवशास्त्र' के दृष्टिकोण से भी हानिकारक है। जीवशास्त्र हमें बताता है कि यदि एक ही जाति में परस्पर विवाह होते हैं तो सन्तान

मानसिक एवं शारीरिक रूप से अधिक स्वस्थ नहीं होती। यही नहीं इसका प्रभाव स्त्री और पुरुषों के स्वास्थ्य पर भी अच्छा नहीं पड़ता।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अर्थ है कि एक ही परिवार में अनेक से सदस्य जैसे पति पत्नी, माता पिता भाई बहन, चाचा-चाची तथा दादा दादी आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष प्रबन्धक अथवा कर्ता होता है। सभी सदस्य अपने द्वारा कमाये गये धन को कर्ता को सौंप देते हैं और कर्ता उस धन से पूरे परिवार का प्रबन्ध करता है। समाज का मुख्य सिद्धान्त—'प्रत्येक पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार काम करे और आवश्यकतानुसार उपभोग करे।'—इस प्रणाली के अन्तर्गत पूरा होता है।

प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे का केन्द्र होता था। इस प्रथा के अनुसार परिवार के सदस्यों में अनुशासन, त्याग, आज्ञापालन, आदर की भावना जाग्रत होती थी और स्वार्थपरता को हतोत्साहन होता था। कोई व्यक्ति अभाव, रोग अथवा आलस्य का शिकार नहीं होता था। यह परिवार के सदस्यों के लिए एक प्रकार के सामाजिक बीमे का काम करता था। अनाथ, वृद्ध, असहाय तथा निराश्रितों की भली भांति देखभाल की जाती थी। विदेशी प्रभाव के कारण भारत में संयुक्त परिवार प्रथा का अन्त होने लगा। महात्मा गांधी ने कुटीर उद्योगों को सहकारिता के आधार पर चलाने का सुझाव इसीलिए दिया था जिससे संयुक्त परिवार प्रथा का पुनर्गठन हो जाय।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के लाभ

(१) एकता की भावना—संयुक्त परिवार प्रणाली सहयोग एवं निःस्वार्थ सेवा की भावना को प्रोत्साहन करता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण परिवार का ध्येय होता है कि 'एक के लिए सब और 'सब के लिए एक'। इससे परिवार के सदस्यों में एकता की भावना का जागरण होता है।

(२) मितव्ययता—संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों के सम्मिलित रूप में रहने के कारण दैनिक एवं सामयिक व्ययों में काफी मितव्ययता होती है। बहुत-सी मूल्यवान वस्तुओं को सम्मिलित रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को अलग अलग खरीदने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(३) समविभाजन—संयुक्त परिवार होने के कारण परिवार के सदस्य अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्यों को करते हैं जिससे समविभाजन के लाभ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

(४) सामाजिक सुरक्षा—भारतीय संयुक्त परिवार प्रणाली एक प्रकार से सामाजिक सुरक्षा का कार्य करती है यहां पर सब सदस्य अपनी योग्यतानुसार धन कमाते हैं और उस धन को सदस्यों पर उनकी आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है। असहाय, अपंग एवं बेकार सदस्यों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है।

(५) भूमि के विभाजन पर रोक—संयुक्त परिवार में यदि उसका खंडन नहीं होता है तो भूमि तथा अन्य सम्पत्ति अविभक्त रहती है। इस प्रकार इस पद्धति के अनुसार भूमि विभाजन तथा उपखंडन के दोष उत्पन्न नहीं होते।

(६) सदस्यों की मानसिक संतुष्टि—संयुक्त परिवार प्रणाली में सम्पूर्ण सदस्यों का उनकी अवस्थानुसार सम्मान होता है। इससे प्रत्येक सदस्य मानसिक दृष्टि से संतुष्ट रहता है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के दोष

(१) आलस्य एवं अकर्मण्यता में वृद्धि—परिश्रम और प्रतिफल में न्यायोचित सम्बन्ध न होने के कारण परिवार के सदस्यों में आलस्य और अकर्मण्यता आ जाती है। सदस्य भली भाँति समझते हैं कि जो कुछ भी कमायेंगे, उसका एक अंश ही उनको मिल पावेगा। अतः उनको अधिक कमाने की प्रेरणा नहीं मिलती।

(२) पूंजी के निर्माण में बाधा—चूँकि परिवार के सदस्यों को बचत करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिलता, अतः पूँजी का निर्माण भी नहीं हो पाता। पूँजी का निर्माण बचत के द्वारा ही होता है। पूँजी का निर्माण न होने के फलस्वरूप देश का आर्थिक विकास ही रुक जाता है।

(३) निरर्थक व्यय—संयुक्त परिवार पद्धति के अन्तर्गत फिजूलखर्ची को भी बढ़ावा मिलता है। व्यय का भार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होने के कारण फिजूलखर्ची की भावना को तीव्र कर देता है। फलतः विवाह, मुण्डन, जन्म और मृत्यु इत्यादि अवसरों पर सदस्य हस्तमुक्त व्यय करते हैं। बहुधा यह ऋण ग्रस्तता का भी रूप धारण कर लेता है।

(४) परिवार नियोजन की अवहेलना—संयुक्त परिवार में बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने के कारण तथा बच्चों के पालन पोषण का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न होने के कारण सदस्यगण परिवार नियोजन जैसी महत्वपूर्ण युक्ति की अवहेलना करते हैं। इससे परिवार तथा अन्ततोगत्वा देश के रहन सहन का स्तर गिर जाता है।

(५) श्रम गतिशीलता में बाधा—संयुक्त परिवार में रहने के फलस्वरूप सदस्यगण परिवार के सुहावने वातावरण को छोड़ कर बाहर जाना पसंद नहीं करते चाहे उन्हें कितने ही अच्छे सुअवसर क्यों न प्राप्त होते हों। देश के आर्थिक विकास में यह एक बड़ी बाधा है।

(६) **वैमनस्य एवं मनमुटाव**—सुप्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'जहाँ चार बर्तन होते हैं वहाँ खटकते ही हैं।' संयुक्त परिवार में बहुत से व्यक्तियों के एक साथ रहने के कारण छोटी-मोटी घरेलू बातों पर आपस में मनमुटाव हो जाता है। स्त्रियों मे विशेष रूप से स्वभावतः यह भावना अधिक होती है। मनमुटाव धीरे धीरे वैमनस्य का रूप धारण कर लेता है जिससे संयुक्त परिवार का स्वर्गीय जीवन नारकीय बन जाता है।

(७) **मुकदमेबाजी**—धन-सम्पत्ति की वितरण सम्बन्धी तथा पारस्परिक मान-हानि सम्बन्धी झगड़े कभी कभी इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनके निवारणार्थ न्यायालयों तक का मुह देखना पड़ता है। इससे दोनों पक्षों की आर्थिक तथा मानसिक हानि होती है।

उत्तराधिकार के नियम

(Laws of Inheritance)

भारतवर्ष में उत्तराधिकार सम्बन्धी दो प्रमुख नियम हैं :—

(१) मिताक्षर (Mitakshara), तथा

(२) दायभाग (Dayabhag)।

उपरोक्त दोनों नियम भारतीयों के आर्थिक जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं।

मिताक्षर प्रणाली—यह प्रणाली सम्पूर्ण भारत में, बंगाल को छोड़कर प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य संयुक्त रूप से परिवार की सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। पिता के जीवन काल मे ही पिता के साथ-साथ पुत्रों का पारिवारिक सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है। कोई भी पुत्र किसी भी समय सम्पत्ति का बँटवारा करके अपनी सम्पत्ति का भाग प्राप्त कर सकता है। अविभाजित सम्पत्ति पर पिता का अधिकार रहता है और वह परिवार के सदस्यों की ओर से उसका प्रबन्ध करता है। पिता अपने पुत्रों की अनुमति के बिना सम्पत्ति को बेच नहीं सकता। जब तक संयुक्त परिवार का विघटन नहीं होता, तब तक यही क्रम चलता रहता है। केवल विभाजन होने पर ही प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति का भाग प्राप्त होता है।

दायभाग प्रणाली—यह प्रणाली केवल बंगाल क्षेत्र में ही प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत पिता का पारिवारिक सम्पत्ति पर नितान्त अधिकार रहता है। उसे यह भी अधिकार होता है कि वह अपनी इच्छानुसार, पुत्रों की अनुमति लिये बिना भी इस सम्पत्ति को बेच सकता है। पुत्रगण पिता के जीवन काल में इस सम्पत्ति का बँटवारा नहीं करवा सकते। पुत्रों का सम्पत्ति पर अधिकार पिता की मृत्यु के पश्चात् होता है।

सन् १९५६ के पूर्व स्त्रियों को उपरोक्त दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत पारिवारिक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता था। विधवा स्त्रियाँ केवल अपने लिए निर्वाह भत्ता माँग सकती थीं। अविवाहिता लड़की के लिए विवाह न होने तक के लिए कुछ प्राविधान किया जाता था। निस्सन्देह यह एक दोषपूर्ण पद्धति थी। इस दोष के निवारणार्थ १७ जून १९५६ को केन्द्रीय सरकार ने एक महत्वपूर्ण अधिनियम, 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६', पास किया। इस अधिनियम के अनुसार एक व्यक्ति की सम्पत्ति को उसके परिवार के सभी सदस्यों अर्थात् लड़के, लड़कियाँ, विधवा और माता में समान रूप से बाँटा जायगा, यदि वह व्यक्ति अपनी मृत्यु के पूर्व कोई इच्छापत्र (will) न लिख गया हो।

मुसलमानों में उत्तराधिकार

भारतवर्ष में मुसलमानों में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा 'मोहम्मडन लॉ' (Mohammadan Law) के अनुसार नियमित होता है। इस कानून के अनुसार पैतृक सम्पत्ति परिवार के पुरुष एवं स्त्री सभी सदस्यों में विभाजित की जाती है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिकोण से मुसलमानों के पैतृक नियम हिन्दुओं के नियमों से मिलते जुलते ही हैं।

चूँकि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजों में सम्पत्ति का विभाजन किया जाता है अतः इसका प्रभाव देश के आर्थिक विकास पर समान रूप से पड़ता है।

उत्तराधिकार नियमों के गुण

(१) **सम्पत्ति पर अधिकार**—सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति पर कुछ अधिकार होता है जिससे उसे जीवन की दुरूह और लम्बी यात्रा पार करने के लिए प्रारम्भिक आधार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भारतीय उत्तराधिकार नियम समानता और न्याय के सिद्धान्तों के द्योतक हैं।

(२) **समाजवाद**—परिवार के प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति में से कुछ न कुछ भाग मिलने के कारण सम्पत्ति के वितरण में समानता आ जाती है। इस प्रकार पूँजीवाद का स्थान प्राप्त न होकर समाजवाद का श्रीगणेश होता है।

(३) **भ्रातृत्व की भावना**—सम्पत्ति के विभाजन में सबको समान अधिकार प्राप्त होने के कारण आपस में वैमनस्य एवं ईर्ष्या की भावना का सृजन नहीं होता, फलतः परिवार के सभी सदस्यों में भ्रातृत्व एवं सहकारिता की भावना जाग्रत होती है।

(४) **स्वतन्त्र कृषक भू स्वामी वर्ग**—कृषि क्षेत्र में यह नियम स्वतन्त्र कृषक भू स्वामी वर्ग तथा इनके द्वारा निर्मित स्थिर ग्राम्य समाज को जन्म देते हैं।

उत्तराधिकार नियमों के दोष

(१) **भूमि विभाजन एवं उप खण्डन**—भारतीय कृषि का

'भूमि विभाजन एवं उपखण्डन' हमारे भारतीय उत्तराधिकार नियमों की ही देन है। हर पीढ़ी भूमि का विभाजन छोटे छोटे टुकड़ों में होता जाता है यहाँ तक कि वे खेती के लिए बिल्कुल अनार्थिक इकाइयाँ बन जाती हैं।

(२) पूँजी निर्माण में बाधा—उत्तराधिकार नियमों के अनुसार सम्पत्ति अथवा पूँजी का अनेक भागों में विभाजन हो जाने के कारण पूँजी का निर्माण (capital formation) बड़े पैमाने पर नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग अथवा कृषि नहीं चल पाते और देश आर्थिक दृष्टि से अविकसित रह जाता है।

(३) मुकदमेबाजी—सम्पत्ति के बटवारे के सम्बन्ध में प्राय आपस में मन मुटाव हो जाया करता है। यह कभी कभी इतना विकराल रूप धारण कर लेता है कि कुटुम्ब में आपस में कलह झगड़ा तथा फौजदारी भी हो जाती है। अतः कहा जाता है कि 'सम्पत्ति फूट का घर होती है'।

(४) अकर्मण्यता—पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्ति में से बिना प्रयास किये हुए एक अंश मिल जाने के कारण अधिकांश सम्पत्तिधारियों में अकर्मण्यता आ जाती है। वे जीविका कमाने का कोई प्रयास नहीं करते क्योंकि सम्पत्ति की आय से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। अतः वे सन्त मलूकदास के शब्दों 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम' का पालन करते हैं।

पर्दा एवं बाल विवाह

भारतवर्ष में दो अन्य दोषपूर्ण सामाजिक प्रथाएँ भी प्रचलित हैं। ये हैं—बाल विवाह और पर्दा प्रथा। ये प्रथाएँ भी हमारे आर्थिक जीवन को काफी प्रभावित करती हैं।

बाल विवाह भारत में कब से प्रचलित हुआ, यह ठीक ठीक तो नहीं कहा जा सकता परन्तु यह अवश्य है कि मुसलमान शासकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों से बचने के लिए छोटे-छोटे बालकों का विवाह कर दिया जाता था। बालक बालिकाओं को यह भी पता नहीं होता था कि विवाह क्या होता है और उनके क्या उत्तरदायित्व होते हैं। अस्तु, कुछ भी हो उस समय समय का तकाजा था परन्तु अब समय का दूसरा तकाजा है। अधिक सन्तानोत्पत्ति की जगह संतति नियमन, निम्न स्वास्थ्य स्तर की जगह उच्च स्वास्थ्य स्तर तथा अल्पायु की जगह दीर्घायु की आवश्यकता है। इस प्रथा के लाभ तो नाम मात्र के हैं परन्तु हानियाँ अवश्य गम्भीर हैं। ये इस प्रकार हैं

(१) बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के कारण भारत में जन्म दर भी बहुत ऊँची है। देश की जनसंख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। देश की कोई भी योजना चाहे वह कितनी भी अच्छी क्यों न हो उस समय तक सफल नहीं हो

सकती जब तक जनसंख्या सीमित न हो। १६५१ के जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) ने यह सुझाव दिया था कि एक व्यक्ति की संतान तीन से अधिक नहीं होनी चाहिए अन्यथा देश की आर्थिक प्रगति रुक जायगी।

(२) दूसरा दोष यह है कि बाल्यावस्था में जो संतान उत्पन्न होती है वह अस्वस्थ एवं अपंग होती है। हम लोगों की यह एक धार्मिक एवं सामाजिक धारणा है कि संतानहीन व्यक्ति मनहूस एवं पापी होता है। वे इतने अधम समझे जाते हैं कि एक भिखारी उनसे भीख लेना भी उचित नहीं समझता। ऐसी अवस्था में शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकृत होते हुए भी व्यक्ति विवाह कर लेते हैं और संतानोत्पत्ति पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाते। फलतः देश के भावी कर्णधार शारीरिक एवं मानसिक रूप से जन्म से ही अयोग्य होते हैं।

(३) अल्पायु में मातृत्व ग्रहण करने के कारण अधिकांश स्त्रियाँ की प्रसव-काल में ही मृत्यु हो जाती है। दुर्बल बच्चे होने के कारण उनकी भी अधिकांशतः मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार हमारे देश में जन्म और मृत्यु दोनों की दरें अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ऊँची हैं।

(४) चौथी हानि यह है कि शारीरिक एवं मानसिक रूप से अभाव ग्रस्त होने के कारण हमारे नवजवानों की कार्यक्षमता अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इसका आर्थिक परिणाम यह होता है कि देश का आर्थिक विकास कम होता है और रहन-सहन का स्तर नीचा रहता है।

पर्दा प्रथा

बाल-विवाह की तरह पर्दा-प्रथा भी हमारे राष्ट्र के शरीर में एक कोढ़ है। पर्दा-प्रथा का प्रादुर्भाव सम्भवतः मुस्लिम काल से ही होता है। कुछ मुसलमान शासकों के शासन काल में मुसलमानों को इतनी स्वतन्त्रता मिल गई थी कि वे किसी भी हिन्दू नारी के साथ बलात् विवाह कर सकते थे। सुन्दर नारियों का अपहरण एक साधारण-सी बात बन गई थी। ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं जहाँ कुछ अत्याचारी शासकों ने यह घोषित कर दिया था कि कोई भी मुसलमान किसी भी हिन्दू बालिका अथवा नारी से स्वयं ऐच्छिक अथवा बलात् विवाह कर सकता था और असमर्थ होने पर ऐसा करने के लिए राज्य अधिकारियों की सहायता भी ले सकता था। इन अत्याचारों से बचने के लिए तथा अपने धर्म की लाज बचाये रखने के लिए हिन्दू समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित हो गई। उस समय पर्दा-प्रथा के लाभ कुछ भी रहे हों परन्तु अब तो हानि ही हानि है। परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और परिवर्तित परिस्थितियों में पर्दा-प्रथा को भी परिवर्तित कर देना आवश्यक है। क्यों आवश्यक है? इसके कारण ये हैं—

(१) पर्दा प्रथा के कारण हमारी श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा अंश निष्क्रिय पड़ा रहता है। स्त्रियाँ अन्य देशों की भांति जीवन-संग्राम में सक्रिय भाग नहीं ले पातीं। उनकी बुद्धि एवं श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।

(२) पर्दा प्रथा के कारण हमारा स्त्री वर्ग अधिकांशतः अशिक्षित बना रहता है और जीवन अंधकारमय बना रहता है।

(३) पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियाँ स्वच्छ एवं खुले हुए वातावरण में विचरण नहीं कर पातीं जिसका दुष्परिणाम केवल उनके मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य तक ही सीमित न रहकर उनकी संतान पर भी पड़ता है।

(४) पर्दा प्रथा के कारण पुरुष अपनी स्त्रियों को शहरों में, जहां स्थान का अभाव होता है, साथ नहीं रख पाते जिसका फल यह होता है कि वे अनेक अनैतिक दुर्गुणों में फंस जाते हैं। पुरुष लोग भी इस दुर्गुण के शिकार हो जाते हैं।

यद्यपि पर्दा प्रथा का आजकल काफी ह्रास हो रहा है और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव, सामाजिक एवं आर्थिक जागृति तथा प्रगतिशील शिक्षा की वृद्धि के फलस्वरूप पर्दा प्रथा समाप्त हो रही है परन्तु फिर भी देश के अधिकांश भागों में इसका प्रचलन है। आवश्यकता यह है कि इसका शीघ्रातिशीघ्र उन्मूलन किया जाय और स्त्रियां पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आर्थिक विकास में भाग लें जैसा कि विदेशों में हो रहा है। यह भारत के लिए कोई नवीन चीज न होगी क्योंकि प्राचीन भारत में भी स्त्रियों ने पुरुषों का सदैव सहयोग दिया है। ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं कि स्त्रियों ने पुरुषों का नेतृत्व भी किया है।

भारतीय धर्म एवं दर्शन

भारतीय आर्थिक विकास को प्रभावित करने में भारतीय धर्म और दर्शन का भी एक विशेष हाथ रहा है। भारतीय हिन्दू व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पहले उसका शुभ मुहूर्त को खोजता है और ज्योतिषियों एवं पण्डितों से किसी कार्य की सफलता के बारे में पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित समझता है। आर्थिक पक्षों के स्थान पर धार्मिक एवं अंधविश्वास के पक्षों पर अधिक जोर दिया जाता है। यह केवल अशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि बड़े बड़े विद्वान व्यक्तियों के लिए समान रूप में सत्य है। उदाहरणार्थ हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद बिना मुहूर्त विचरवाये विदेश भ्रमण नहीं करते। हमारे प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द अपने भविष्य के बारे में ज्योतिषियों से परामर्श लेते हैं।

धर्म के नाम पर आज हमारे देश में कितने ही लोग निष्क्रिय पड़े हुए हैं। असंख्य धन का अपव्यय किया जा रहा है और कितने ही सामाजिक दुराचरणों का

सहा जा रहा है। धर्म के नाम पर लाखों व्यक्ति भीख मांगते हैं। अहिंसा के नाम पर अनेक हानिकारक कीटाणुओं एवं पशुओं को नष्ट नहीं किया जाता जो हमारी खेती को करोड़ों रुपये की प्रति वर्ष हानि पहुंचाते हैं। इसी विचारधारा के अनुसार बूढ़े और बेकार जानवरों को मारा नहीं जाता जिससे लगभग ६ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की हानि होती है। निःसंदेह भारतवर्ष विशाल जनसंख्या का निर्धन एवं पिछड़ा हुआ देश है परन्तु इसकी निर्धनता तथा पिछड़ेपन के लिए केवल हमारा धर्म और दर्शन ही उत्तरदायी नहीं। हम यह भी मना नहीं कर सकते कि भारतीय धर्म और दर्शन से देश के आर्थिक विकास को कोई हानि नहीं पहुँची। श्रीमती वीरा एन्स्टे के अनुसार "धार्मिक प्रवृत्ति चाहे किसी भी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है और दुरूह रूढ़िवाद व अन्ध विश्वासों को जन्म देती है तथा प्रत्येक नवीनता का चाहे वह कितनी ही जाग्रत व उदार क्यों न हो, तर्कहीन विरोध करती है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए धार्मिक विरोध को नष्ट करना अधिक कठिन है क्योंकि यहां वर्तमान धार्मिक विश्वास तथा उनसे उत्पन्न हुआ विशेष सामाजिक संगठन इस उद्देश्य में बाधक है।"

भारतीय धार्मिक ग्रन्थ जैसे उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, श्री मद्भगवद्गीता तथा श्री रामचरित मानस को विदेशियों द्वारा भारतीय निर्धनता के कारण बताये जाते हैं। इसके प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि विदेशियों ने हमारी धार्मिक पुस्तकों की शिक्षा को या तो बिल्कुल नहीं समझा है और यदि समझा है तो उसे गलत समझा है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे ये शास्त्र हम लोगों को निष्क्रिय एवं उदासीन न बना कर निष्काम कर्म योग की शिक्षा देकर कर्मण्य बनाते हैं। धनोपार्जन का कहीं भी निषेध नहीं है परन्तु यह हमें यह भी नहीं सिखाते कि मानवीय जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भुलाकर केवल धन की ही धुन में पागल हो जाना चाहिए। हमारा धर्म यह बताता है कि धन मनुष्य के कल्याण के लिए है न कि मनुष्य धन के लिए। धन साधन है साध्य नहीं। यही बात प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० मार्शल और उनके अनुयायियों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा में स्पष्ट की है। हमारा सच्चा धर्म हमें एक सुन्दर जीवन बिताने के लिए, परमार्थ के लिए उद्यमी अथवा कर्मठ बनने के लिए प्रेरणा देता है।

आधुनिक युग पुरुष लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे ने धर्म की व्याख्या करते हुए कर्म को ही धर्म की प्रधान शिक्षा बतलाया है। श्री मद्भगवद्गीता जो सब धर्म और दर्शन का सार है एक कर्मयोग शास्त्र है। इसके अनुसार कर्म निष्काम होना चाहिए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि धन की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए। धन साधन के रूप में उपार्जित करना अत्यन्त आवश्यक है। यह धर्म मात्र की प्राप्ति के लिए आवश्यक है अतः धनोपार्जन करना और उसका सदुपयोग

करना हिन्दू धर्म की मूल शिक्षा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी आर्य समाज में कर्म को ही प्रधान बताया है।

अतएव यह निर्भीकता से कहा जा सकता है कि यदि भारत में साधारण शिक्षा के साथ साथ धार्मिक शिक्षा को भी स्थान दिया गया होता और धर्म के सही और मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से बताया गया होता तो निस्सन्देह भारतवर्ष अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी, सम्पन्न एवं समृद्धिशाली होता।

ग्राम पचायत

ग्राम पचायतें भी हमारी सामाजिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं और अन्तत देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं। प्राचीन भारत में पचायतें समाज के सगठन की आधार शिलाएँ थीं। श्री एलफिन्सटन के अनुसार "इन ग्रामों में (बम्बई प्रान्त) छोटे पैमाने पर अपने अन्दर ही एक पूर्ण राज्य के सभी उपकरण हैं और यदि सभी सरकारों को यहा से हटा लिया जाय, तब भी पचायतें ग्रामों की सुरक्षा के लिए पर्याप्त हैं।" इनकी महत्ता को स्वीकार करते हुए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इन पचायतों को पुन प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया है। विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने अपने राज्यों में पचायत राज्य की स्थापना की है। देश में ग्राम पचायतों की पुनर्स्थापना निस्सन्देह एक क्रान्तिकारी कार्य है जो शीघ्र ही ग्रामीण जीवन के स्तर को ऊँचा करने तथा अन्ततोगत्वा देश के आर्थिक विकास को बढ़ाने में सहायक होगा।

प्रश्न

1 In what manner do the important social and religious institutions help or hinder the economic progress of the people in India? Give examples (*Punjab, 1954*)

2 Discuss the economic consequences of the caste system Do you think there is any justification for its continuance in the present conditions? (*Agra 1954*)

3 Write a short note on Joint family system (*Agra 1957*)

अध्याय ५

भारत की जनसंख्या—तथ्य, समस्या तथा उपाय

(The Population of India—Facts, Problems, and Remedies)

किसी देश की अर्थव्यवस्था का अध्ययन उस समय तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक उस देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डालने वाली सभी बातों का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन न कर लिया गया हो। देश की आर्थिक उन्नति के लिए केवल प्राकृतिक साधनों का ही महत्त्व नहीं है क्योंकि प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसकी मानवी शक्ति (human resources) होती है। इस कारण देश की प्रगति एवं आर्थिक समृद्धि प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त उस देश की जनसंख्या की प्रकृति एवं उसकी कार्यक्षमता पर बहुत कुछ निर्भर है।

जनसंख्या के अध्ययन का महत्व

(Significance of the Study of Population)

किसी देश की जनसंख्या का अध्ययन उस देश की अर्थव्यवस्था के अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग है। यह स्पष्ट है कि किसी देश की उन्नति उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा और प्रकृति के अन्य प्राकृतिक उपहारों (other free gifts of nature) पर जितना निर्भर करती है उससे अधिक उसके निवासियों पर। कारण यह है कि एक ओर तो जनसंख्या उत्पत्ति का प्रमुख साधन है अर्थात् देश के प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग राष्ट्र की श्रमशक्ति द्वारा ही होता है, दूसरी ओर देश के समस्त उत्पादन एवं प्रकृति के समस्त साधनों के शोषण का लक्ष्य देश की जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही किया जाता है। अन्य शब्दों में जनशक्ति द्वारा ही उत्पादन सम्भव है और समस्त उत्पादन जनशक्ति के लिए ही किया जाता है। (Population helps production and all production is for population.)

जनसंख्या के अध्ययन के महत्व का दूसरा कारण यह है कि आधुनिक युग में जब प्रत्येक राष्ट्र अपनी आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील है, देश के विकास सम्बन्धी योजना के निर्माण के लिए यह जानना आवश्यक है कि देश की कितनी जनसंख्या है? जनसंख्या की वृद्धि किस गति से हो रही है? देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या के वितरण का क्या रूप है तथा जनसंख्या की रचना किस प्रकार की है? जनसंख्या के ऐसे अध्ययन द्वारा देश की कार्यव्यस्त जनशक्ति का अनुमान हो जायेगा जिससे उस देश

के निवासियों की सम्पूर्ण कार्यशक्ति का आभास हो सकेगा। ऐसी कार्यशक्ति का देश के आर्थिक विकास के लिए उच्चतम उपयोग करना आर्थिक नियोजकों का उत्तरदायित्व है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी देश के लिए आर्थिक योजना का निर्माण करते हैं तो यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उस देश का कितना भाग कार्य करने योग्य है। साधारण तौर पर १५ से ६० वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों को कार्यशील जनसंख्या (working population) में माना जाता है। इस दृष्टि से यदि हम देश की जनसंख्या का विभिन्न आयु-समूह (different age groups) में वर्गीकरण कर लें तो हमें देश की कार्यव्यस्त जनसंख्या का सही अनुमान हो जायेगा, जो आर्थिक योजना एवं रोजगार (economic planning and employment) में अपना विशेष स्थान रखता है।

जनसंख्या और राष्ट्रीय आय
(Population and National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय का उस देश की जनसंख्या से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनसंख्या का जितना अधिक भाग कार्यशील होने के कारण राष्ट्र की विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त होगा उतनी ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि सम्भव होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय देश की जनशक्ति के लिये उपलब्ध रोजगार के साधनों (avenues of employment) पर भी निर्भर करती है। यदि किसी देश की अधिकांश जनता बेकार है या जिनके लिये पर्याप्त कार्य उपलब्ध न हो तो उस देश की राष्ट्रीय आय, निःसन्देह, ऐसे देश की तुलना में कम होगी जहाँ सम्पूर्ण जनशक्ति के लिये पर्याप्त कार्य उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय किसी देश की प्रकृति व गुण (nature and qualities) पर भी निर्भर होती है। अर्थात् घनी आबादी और अधिक कार्यव्यस्त जनसंख्या होने पर भी यदि देशवासियों में राष्ट्र के उत्पादन में वृद्धि की योग्यता एवं इच्छा (ability and willingness) न हो तो उस देश का आर्थिक विकास (economic growth) कदापि सम्भव नहीं। इसी कारण किसी देश की आर्थिक समृद्धि व राष्ट्रीय आय देशवासियों के उन व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर रहती है जो आर्थिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं जैसे भौतिक पदार्थों में रुचि (liking for material things), नये विचारों को ग्रहण करने की तत्परता (responsiveness to new things), नई विधियों को सीखने की इच्छा (desire to learn new techniques), सामान्य योग्यता (general ability), गतिशीलता (mobility), उद्यम और साधन-सम्पन्नता (industry and resourcefulness) इत्यादि।

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जनसंख्या की समस्या
(The Problem of Population in an Underdeveloped Economy)

एक पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की दशाएँ एक अर्धविकसित अर्थव्यवस्था की तुलना में पूर्णतया भिन्न होती हैं। वैसे तो जनसंख्या आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण तत्व है परन्तु एक अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में उसकी विकास समस्याओं के कारण जनसंख्या का विशेष महत्व होता है। स्वीडन के प्रमुख अर्थशास्त्री प्रो० गुन्नार मिरडल (Prof Gunnar Myrdal) के अनुसार अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ एक ओर औसत आय का स्तर (average level of income) बहुत निम्न होता है, वहाँ दूसरी ओर जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जाता है। इसी प्रकार दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्था में विकास सम्बन्धी समस्याएँ उनके आकार की दृष्टि से भी भिन्न होती हैं। आज जो विकसित देश हैं उनकी जनसंख्या प्रारम्भ में बहुत कम थी, उदाहरणार्थ इंगलैण्ड की जनसंख्या उसके पूर्व औद्योगिक काल (pre industrial era) के समय केवल एक करोड़ के लगभग थी। इस कारण ये इने गिने विकसित राष्ट्र अनेक अविकसित राष्ट्रों का शोषण कर अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकने में समर्थ थे। इन्हें उनके आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिये एक साधन समझा जाता था और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के लिये एक विस्तृत बाजार। यही नहीं तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था ने भी उनके आर्थिक विकास में भी बहुत योग दिया, जिसके कारण बड़े-बड़े राष्ट्रों ने अनेक छोटे छोटे अविकसित राष्ट्रों को अपनी दासता की बेड़ियों में जकड़ लिया। अर्धविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिये ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हैं। उनके सामने विशाल एवं दिनोन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के आर्थिक कल्याण और उच्च स्तर प्रदान करने की जटिल एवं भीषण समस्या है।

भारत की जनसंख्या के मूलभूत तथ्य
(Basic Facts about Indian Population)

(१) जनसंख्या का आकार (Size of Population)—भारतवर्ष संसार में सबसे घनी आबादी वाले देशों में से एक है। इसकी जनसंख्या का आकार बहुत विशाल है। चीन को छोड़कर संसार में भारत की जनसंख्या सबसे अधिक है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जम्मू और काश्मीर राज्य तथा असम के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर भारतवर्ष की जनसंख्या ३५,६८,७९,४८५ थी। जम्मू काश्मीर राज्य की जनसंख्या लगभग ४४ लाख है और असम के (Tribal Areas) की ५.७ लाख थी। इस प्रकार भारत की कुल जनसंख्या १९५१ की जनगणना के अनुसार ३६.१८

करोड़ थी। ऐसा अनुमान किया जाता था कि प्रति वर्ष १½ प्रतिशत की औसत वृद्धि होती गई तो १९५८-५९ तक भारत की जनसंख्या लगभग ४० करोड़ हो जायगी।

(२) देश की वर्तमान जन संख्या—भारत की जनसंख्या आजकल कितनी है? इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सांख्यकीय संगठन (Central Statistical Organization) के एक विशेष अध्ययन दल (Special Study Group) का अनुमान जानने योग्य है। इसके अनुसार १ मार्च सन् १९६१ तक भारत की जनसंख्या ४३० ८०* मिलियन हो जायगी और सन् १९६६ तक यह जनसंख्या बढ़ कर ४७९.६ मिलियन तक पहुंच जायगी। देश की आगामी जनगणना १९६१ में होगी और जब तक सन् १९६१ की जनगणना के परिणाम ज्ञात नहीं हो जाते तब तक यही अनुमान आगामी तृतीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के सम्बन्ध में प्रयोग किये जा रहे हैं।

(३) विभिन्न राज्यों की जनसंख्या (Population in Different States) —१ नवम्बर सन् १९५६ को हमारे देश में राज्यों का पुनर्संगठन हुआ। १९५१ की जनगणना के आधार पर भारत की पुर्नसंगठित जनसंख्या निम्न तालिका में उनकी जनसंख्या के क्रम में दी जाती है —

राज्य	जनसंख्या (लाखों में)	केन्द्र शासित क्षेत्र	जनसंख्या (लाखों में)
उत्तर प्रदेश	६३२	दिल्ली	१७
बम्बई	४८३	मणिपुर	६
बिहार	३८८	हिमाचल प्रदेश	११
आन्ध्र प्रदेश	३१३	त्रिपुरा	६
मद्रास	३००	अण्डमान नीकोबार द्वीप	३
पश्चिमी बंगाल	२६३	लकादिव, मिनीकाय	२
मध्य प्रदेश	२६१	एवं अमिनीदिव	
मैसूर	१९४		
पंजाब	१६१		
राजस्थान	१५९		
उड़ीसा	१४६		
केरल	१३५		
आसाम	९०		
जम्मू व काश्मीर	४४		

*उपरोक्त अनुमान से यह स्पष्ट है कि आज भारत की जनसंख्या ४० करोड़ से अधिक ही होगी।

(४) जनसंख्या का वितरण ग्रामों तथा नगरों में (Distribution of Population between Towns and Villages)—उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की जनसंख्या का वितरण विभिन्न राज्यों में किस प्रकार हुआ है। अब हम देखेंगे कि देश में नगरों तथा ग्रामों में देश की जनसंख्या के वितरण का क्या रूप है। जैसा कि सर्वविदित है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहां की अधिकांश जनता खेती पर आश्रित है इस कारण देश का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता है। किसी लेखक ने सच लिखा है 'भारत ग्रामों का निवासी है', (India lives in villages) कुल जनसंख्या का केवल १७.३% अर्थात् ६२ मिलियन शहरों और नगरों में तथा ८२.७% भाग अर्थात् २६५ मिलियन ग्रामों में बसा हुआ है। इस समय भारत में लगभग ३,०१८ नगर और ५,५८,०८८ ग्राम हैं निम्न तालिका से जनसंख्या के आधार पर नगरों और ग्रामों की संख्या का ज्ञान हो सकता है —

शहर और ग्राम जिनकी जनसंख्या	संख्या
५०० से कम	३,८०,०२०
५०० से १,०००	१,०४,२६८
१,००० से २,०००	५१,७६९
२,००० से ५,०००	२०,५०८
५,००० से १०,०००	३,१०१
१०,००० से २०,०००	८५६
२०,००० से ५०,०००	४०१
५०,००० से १,०,०००	१११
१,००,००० से अधिक	७३
कुल योग	५,६१,१०७

(५) जनसंख्या का घनत्व (Density of Population)—किसी देश की 'जनसंख्या के घनत्व' से हमारा आशय इस देश में प्रतिवर्ग मील रहने वाले व्यक्तियों की औसत संख्या से है। अर्थात् एक वर्ग मील में कितने लोग बसे हुए हैं। जनसंख्या का घनत्व सम्पूर्ण देश के लिए निकाला जा सकता है अथवा देश के किसी प्रदेश व भाग का, जिसके निकालने की रीति बड़ी सरल है। किसी देश या प्रदेश की कुल जनसंख्या को देश अथवा प्रदेश के कुल क्षेत्रफल से भाग देकर जनसंख्या का घनत्व निकाला जा सकता है।

जनसंख्या के घनत्व का महत्व (Significance of the Density of Population)—किसी देश की जनसंख्या के घनत्व का ज्ञान उस देश की वास्तविक आर्थिक एवं प्राकृतिक स्थिति को जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनसंख्या के घनत्व से हमें इस बात का पता लगता है कि देश के विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों व राष्ट्र की जनसंख्या अथवा जनशक्ति के वितरण का क्या स्वरूप है। जैसा आगे चलकर हम भारत के विभिन्न भागों में जनसंख्या के घनत्व की जानकारी से स्पष्ट होगा कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में जनसंख्या का घनत्व एक-सा नहीं है। उनमें भीषण विभिन्नता है। उदाहरणार्थ जब एक ओर बंगाल में जनसंख्या का घनत्व ८०६ है तो दूसरी ओर मध्य प्रदेश में केवल १६३ है। इसी प्रकार सबसे अधिक घनत्व देहली का है जो ३,०१७ है तो अन्डमन नीकोबार का सबसे कम है जो १० है। जनसंख्या के घनत्व से किसी स्थान अथवा प्रदेश की जलवायु, वहाँ होने वाली वर्षा तथा उपलब्ध भूमि, सिंचाई के साधन तथा उद्योग धन्धों की स्थिति, एवं रोजगार के उपलब्ध साधनों की वास्तविक दशा का ज्ञान होता है जिसके कारण किसी एक स्थान पर दूसरे स्थान की अपेक्षा अधिक व्यक्ति आकर्षित होते हैं।

भारतवर्ष में जनसंख्या का घनत्व (Density of Population in India)—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष की जनसंख्या का औसत घनत्व ३१२* प्रति वर्गमील था। निम्न तालिका में देश के विभिन्न प्रमुख राज्यों के घनत्व को प्रदर्शित किया गया है। यह तालिका १९५१ के जनगणना के आँकड़ों पर आधारित घनत्व के क्रमानुसार दिये गये हैं —

*Source —*Indian Economic Year Book*, 1959 60, p

राज्य	घनत्व	राज्य	घनत्व
दिल्ली	३,०१७	मैसूर	१०८
ट्रावनकोर कोचीन	१,०१५	मध्य प्रदेश	१६३
पश्चिमी बंगाल	८०६	राजस्थान	११७
बिहार	५७२	आसाम	१०६
उत्तर प्रदेश	५५८	हिमाचल प्रदेश	६४
पंजाब	३३८	कच्छ	३५
बम्बई	३२३	अण्डमन नीकोबार द्वीप	१०

उपरोक्त तालिका से देश की जनसंख्या व घनत्व में प्रादेशिक विभिन्नता स्पष्ट है इस विभिन्नता के अनेक कारण हैं जो निम्न हैं —

जनसंख्या के घनत्व को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्व (Factors governing Density of Population)

(१) जलवायु (Climate)—जनसंख्या के घनत्व पर जलवायु का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी प्रदेश की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है तो उस क्षेत्र में अधिक लोगों का निवास होगा जिससे उस क्षेत्र का घनत्व भी अधिक होगा परन्तु यदि जलवायु ऐसी हो जहा अनेक प्रकार की बीमारियों को प्रोत्साहन मिलता हो जैसे, आसाम की जलवायु में मलेरिया का प्रकोप रहता है, तो ऐसे स्थानों पर जनसंख्या का घनत्व कम होगा, यह स्वाभाविक है।

(२) वर्षा (Rainfall)—भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण जिस क्षेत्र अथवा स्थान पर खेती के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं वहाँ पर जनसंख्या का घनत्व अवश्य ही अधिक होता है। खेती के लिए वर्षा जीवन-संजीवनी है इस कारण जिन क्षेत्रों में वर्षा पर्याप्त मात्रा में तथा उपयुक्त समय पर होती है वहाँ प्रति वर्गमील अधिक आबादी होती है। उदाहरण के लिए हमारे देश में उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, पश्चिमी एवं पूर्वी घाट आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है। इस कारण घनी आबादी वाले प्रदेश भी यही हैं। हाँ यह अवश्य जानने योग्य बात है कि आसाम, जहा सबसे अधिक वर्षा होती है, फिर भी वहाँ आबादी

कम है क्योंकि जनसंख्या के घनत्व का पहला तत्व जलवायु ही है। असम, जहाँ मलेरिया का भीषण प्रकोप रहता है वहाँ की जलवायु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है इसलिए जनसंख्या का घनत्व कम है।

(३) भूमि की उर्वरता (Fertility of Soil)—अच्छी उपज वाले क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होना स्वाभाविक ही है जिसके कारण कृषकों को कम लागत और कम परिश्रम से अधिक प्रति एकड़ उपज प्राप्त होती है।

(४) सिंचाई (Irrigation)—जनसंख्या का घनत्व केवल वर्षा पर ही निर्भर नहीं करता क्योंकि जिन क्षेत्रों में सिंचाई के पर्याप्त साधन उपलब्ध हों वहाँ वर्षा की इस कमी को किसी हद तक पूरा कर लिया गया है और इसी कारण जिन क्षेत्रों में पहले वर्षा न होने से जनसंख्या का घनत्व कम था वहाँ नहरों जैसे सिंचाई के अन्य कृत्रिम साधनों की उपलब्धि के फलस्वरूप प्रति वर्गमील जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती गई है।

(५) सुरक्षा (Security)—जिन क्षेत्रों में जान व माल की सुरक्षा होती है वहाँ अधिक लोग रहने लगते हैं और जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती है। हमारे देश में विभाजन के बाद सीमान्त क्षेत्रों में, जहाँ पाकिस्तानी क्षेत्र से बराबर आतंक व खतरा बना रहता है, जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है।

(६) रोजगार के साधन (Avenues of Employment)—जिन स्थानों में रोजगार एवं जीविकोपार्जन के साधन अधिक उपलब्ध हैं वे स्थान सबसे घनी आबादी वाले क्षेत्र हैं जैसे कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, कानपुर, अहमदाबाद आदि, जहाँ रोजगार के आकर्षण के फलस्वरूप दूर-दूर के स्थानों से लोग आकर बसने लगते हैं और इसके कारण जनसंख्या के घनत्व में निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

संसार के प्रमुख देशों की जनसंख्या के घनत्व का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of the Density of Population of Impotant Countries of the World)

निम्न तालिका में हम संसार के कुछ प्रमुख देशों की जनसंख्या के घनत्व की भारत के औसत घनत्व से तुलना करेंगे —

देश	घनत्व (प्रति वर्ग मील)
भारत	३१३
आस्ट्रेलिया	३
कनाडा	३
फ्रान्स	२५०
इटली	३६४
स्वीजरलैण्ड	३१२
यूनाइटेड किंगडम	५३५
संयुक्त राज्य अमेरिका	५४
सोवियत रूस	२३

जनसंख्या के घनत्व का आर्थिक समृद्धि से सम्बन्ध (Relation between Economic Prosperity and Density of Population)

अब प्रश्न उठता है कि क्या किसी देश की जनसंख्या के घनत्व का उसकी आर्थिक सम्पन्नता से कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में दो विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। एक विचार के अनुसार अधिक घनत्व से देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है क्योंकि किसी स्थान पर भारी संख्या में उद्योगी एवं परिश्रमी जनसंख्या के एकत्रित होने के फलस्वरूप उस क्षेत्र अथवा प्रदेश के प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विकास सम्भव हो सकने के कारण भौतिक एवं आर्थिक समृद्धि अवश्य होगी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि देश की जनसंख्या का घनत्व सदैव आर्थिक समृद्धि का द्योतक है। संसार के प्रमुख देशों की उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित जनसंख्या के घनत्व के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि किसी देश की आर्थिक समृद्धि एवं विकास देश की जनसंख्या के घनत्व से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। उदाहरणार्थ संसार में कुछ ऐसे सुविकसित एवं विशाल राष्ट्र हैं जिनमें जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों की अपेक्षाकृत बहुत कम है परन्तु फिर भी आर्थिक उन्नति की दौड़ में वे सबसे आगे हैं जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, रूस इत्यादि जहाँ जनसंख्या का घनत्व क्रमशः ५४,३ व २३ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि किसी राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि केवल जनसंख्या के घनत्व पर ही निर्भर नहीं करती। देश की जनसंख्या का घनत्व तो केवल मानवी साधनों (Human Resources) अथवा जनशक्ति का द्योतक मात्र है। राष्ट्र की उन्नति के लिए देश में रहने वाले व्यक्तियों के चरित्र, योग्यता, कार्यक्षमता तथा प्राकृतिक साधनों एवं पूँजी के कुशल उपयोग की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

स्त्री-पुरुष अनुपात (Sex-Ratio)

स्त्री पुरुष अनुपात का अर्थ—किसी देश के स्त्री-पुरुष अनुपात

आशय है उस देश म प्रत्येक एक हजार पुरुष अथवा स्त्री के पीछे कितनी स्त्रियाँ अथवा पुरुष हैं।

अध्ययन का महत्व—देश की जनसख्या का अध्ययन उसके स्त्री पुरुष के अनुपात की दृष्टि से मुख्यतया ऐसे देशों के लिए विशेष महत्व रखता है जहाँ सभ्यता का उदय तथा सामाजिक प्रगति मन्द गति से होने के कारण देश की स्त्रियाँ देश की आर्थिक क्रियाओं म सक्रिय भाग नहीं लेतीं। आधुनिक युग में जहाँ एक ओर बड़े बड़े देशों में स्त्रियों ने निरन्तर प्रगति करके पुरुषों के बराबर स्थान प्राप्त कर लिया है और आर्थिक क्रियाओं म व्यस्त रह कर वे भी देश की राष्ट्रीय आय व उत्पादन में अपना सहयोग देती हैं—जैसे सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा सोवियत रूस इत्यादि—वहाँ दूसरी ओर भारत व पाकिस्तान जैसे अन्य पिछड़े देशों में स्त्रियाँ अब भी आर्थिक क्रियाओं से दूर रहती हैं। उनका गृह स्वामिनी का ही कार्य मुख्य कार्य तथा घर की चहारदीवारी ही उनका आदर्श स्थान समझा जाता है।

सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश की कुल जनसख्या ३,५६६ लाख थी जिसम से १,८३२ लाख अर्थात् ५१·४ प्रतिशत पुरुष और १,७३४ लाख अर्थात् ४८·६ प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। भारत में एक हजार पुरुषों के पीछे ६४७ स्त्रियाँ हैं। परन्तु भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ स्त्रियों की सख्या पुरुषों से अधिक है, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट है —

राज्य	स्त्रियों की सख्या (प्रति हजार पुरुष)
केरल	१,००८
मध्य प्रदेश	१,०१७
मणीपुर	१,०३६
उड़ीसा	१,०४०
मद्रास	१,०५४
कच्छ	१,०७६

उपरोक्त तालिका में दिये गये भारत के कुछ इने गिने ही ऐसे प्रदेश हैं जहाँ स्त्रियों की सख्या पुरुषों से अधिक है परन्तु देश की सामान्य स्थिति इससे भिन्न है। साधारणतया हमारे देश म पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की सख्या कम है। इसका मुख्य कारण स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की मृत्यु दर अधिक होना है। यद्यपि बाल्यावस्था म स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों म अधिक मृत्यु होता है फिर भी शिशु उत्पन्न करने वाली आयु (child bearing age) अर्थात् १५ से ४५ वर्ष की आयु में स्त्रियों की अधिक सख्या में मृत्यु होती है। यही कारण है कि हमारे देश म स्त्रियों की जनसख्या में निरन्तर ह्रास होता रहता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अधिक मृत्यु होने के कई

सामाजिक एव आर्थिक कारण भी हैं। हमारे देश की अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है जहाँ अधिकांश स्त्रियाँ व पुरुष अशिक्षित होते हैं। उनका दृष्टिकोण सीमित होता है। पर्दे की प्रथा एव अस्वच्छ वातावरण में अधिक परिश्रम व अपौष्टिक भोजन मिलने के फलस्वरूप स्त्रियाँ अस्वस्थ हो जाती हैं और वे अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहती हैं, जैसे प्रदर, ज्वर, क्षयरोग इत्यादि जिनके कारण स्त्रियों की अधिक मृत्यु होती है।

देश की जनसंख्या में स्त्री पुरुष का अनुपात असन्तुलित होने के परिणामस्वरूप तथा नागरीकरण एव औद्योगीकरण की निरन्तर प्रगति के कारण जब बड़े बड़े नगरों एव शहरों की संख्या म बराबर वृद्धि होती जाती है और अधिक मात्रा में ग्रामीण क्षेत्रों से लोग औद्योगिक केन्द्रों में आकर बसने लगे हैं जिससे एक नई समस्या उत्पन्न हो जाती है। बड़े विशाल नगरों में आवास की पर्याप्त सुविधा न होने के कारण श्रमिक अपने परिवार को ग्रामों ही में छोड़ आते हैं, इससे स्त्री पुरुष अनुपात में अन्तर (dis parity in sexes) उत्पन्न हो जाता है जो अनेक असामाजिक एव अनैतिक क्रियाओं को जन्म देता है, जो देश की जन शक्ति एव जन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिप्रद है।

आयु-वर्ग (Age Structure)

महत्व—किसी देश की जनसंख्या का अनुमान लगाते समय प्रत्येक व्यक्ति की आयु की भी जानकारी कर ली जाती है जिससे सम्पूर्ण जनसंख्या को विभिन्न आयु, समूहों में विभक्त करने म सरलता होती है। देश का आयु वर्ग (age structure) उस देश के आर्थिक जीवन को भली प्रकार समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जनसंख्या के विभिन्न आयु समूहों के विभाजन से हम इस बात का ज्ञान हो जाता है कि देश में कार्यशील जनसंख्या (working population) कितनी है। जिसकी जानकारी राष्ट्र की आर्थिक योजना के निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी होती है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार हम भारत की कुल जनसंख्या को विभिन्न आयु समूहों में इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं —

वर्गीकरण	आयु वर्ग	कुल जनसंख्या का प्रतिशत भाग
शिशु व बालक	०—४	१३ ५
लड़के व लड़कियाँ	५—१४	२४ ८
युवक व युवतियाँ	१५—२४	१७ ४
	२५—३४	१५ ६
प्रौढ़ पुरुष व स्त्रियां	३५—४४	११ ६
	४५—५४	८ ५
वृद्ध पुरुष व स्त्रियाँ	५५—६४	५ १
	६५—७४	२ २
	७५ से ऊपर	१ ०
	कुल योग	१००

जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में १४ वर्ष की आयु तक के बच्चों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का ३८ ३ प्रतिशत है। इस आयु समूह में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या का केवल २७ १ प्रतिशत भाग आता है। इससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि हमारे देश में संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा शिशुओं तथा बालकों की संख्या अधिक है जो इस बात का द्योतक है कि हमारे देश में जन्म दर काफी ऊँची है। उपरोक्त तालिका से हमें यह भी पता चलता है कि हमारे देश की कार्यव्यस्त जनसंख्या क्या है। साधारण तौर पर १५ से ५५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों से अपनी जीविका स्वयं कमाने की आशा की जाती है जिसके अन्तर्गत हमारे देश की जनसंख्या का ५३ ४ भाग आता है। ५५ वर्ष की आयु के पश्चात् वृद्धावस्था प्रारम्भ हो जाती है। अर्थात् इस या इससे अधिक अवस्था वाले लोग भी अपनी जीविका के लिए दूसरों पर ही निर्भर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश की ५३ ४ प्रतिशत जनसंख्या जो कि कार्यशील जनसंख्या कही जा सकती है इसको अपने ऊपर आश्रित देश की कुल जनसंख्या के शेष ४६ ६ प्रतिशत भाग के लिए भी जीविका कमानी पड़ती है। इस प्रकार देश की आर्थिक समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जनसंख्या का अधिक से अधिक भाग आर्थिक कार्य में व्यस्त होने के योग्य हो। देश की कार्यव्यस्त जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। आयु-वर्ग की उपरोक्त तालिका से एक और महत्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान होता है। देश की जनसंख्या का कुल ८ ३ प्रतिशत भाग ऐसा है जिसमें ५५ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति सम्मिलित हैं। यह सर्वविदित है कि आयु के साथ-साथ किसी व्यक्ति में

ज्ञान की वृद्धि होती है। अतः उनके संचित ज्ञान एवं अनुभव से राष्ट्र को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचता है। वास्तव में देश के पथ प्रदर्शन के लिए ऐसे ही अनुभवी तथा बुद्धिमान व्यक्तियों की आवश्यकता है। निम्न तालिका से विदित होगा कि हमारे देश में अन्य देशों की तुलना में ऐसी आयु वाले लोगों की संख्या बहुत कम है :—

राष्ट्रों के नाम	५५ वर्ष से अधिक आयु वाले (कुल जनसंख्या का प्रतिशत भाग)
भारतवर्ष	८·३
जर्मनी	१६·१
यूनाइटेड किंगडम	२१·१
फ्रान्स	२१·४
उत्तरी अमेरिका	१६·६
जापान	११·०
इटली	१२·०

उपरोक्त तालिका से यह बिलकुल स्पष्ट है कि योरोप के कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ ५५ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों की संख्या भारत की तुलना में काफी अधिक है जिसके कारण वहाँ अधिक समय तक अनुभवशील एवं बुद्धिमान व्यक्ति अपने राष्ट्र की सेवा तथा उसके पथ प्रदर्शन में समर्थ होते हैं। भारतवर्ष में इस आयु वर्ग में कुल जनसंख्या का केवल ८·३ प्रतिशत भाग हमारी निर्बलता का द्योतक है।

जीवन की आशा या अवधि (Expectation of Life)—किसी देश में जन्म लेने वाले बच्चों के जीवित रहने की आशा कितने समय तक की जा सकती है इससे हमें उस देश के जन साधारण के स्वास्थ्य का ज्ञान होता है। अन्य देशों की तुलना में हमारे देश में जीवन की अवधि बहुत कम है। सन् १९११ की जनगणना के अनुसार एक भारतवासी की आयु केवल २७ वर्ष थी जो १९३१ से ४१ के बीच घट कर केवल २३ वर्ष थी। १९४१ से ५१ के जीवन की अवधि बढ़कर ३२ वर्ष तक पहुँच गई। निम्नतालिका से विदित होगा कि संसार के अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारतवर्ष की जीवन अवधि बहुत कम है :—

राष्ट्र	औसत आयु (वर्ष)
नार्वे	६९
यूनाइटेड किंगडम	६८
यू० एस० ए० (अमेरिका)	६७
न्यूजीलैंड	६७
भारत	३२

जन्म तथा मृत्यु-दर (Birth and Death Rate)

निम्न तालिका* में भारतवर्ष की जन्म तथा मृत्यु दर का अन्य देशों से तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत जन्म तथा मृत्यु की दृष्टि से संसार के अनेक बड़े देशों से आगे बढ़ा हुआ है।

देश	जन्म दर (प्रति हजार)	मृत्यु दर (प्रति हजार)
भारत	३०.५	११.७
जापान	२०.१	८.२
कनाडा	२८.७	८.२
न्यूजीलैंड	२५.८	९.०
संयुक्त राज्य अमेरिका	२४.६	९.२
यू० क०	१५.६	११.४
फ्रान्स	१८.८	१२.०
इटली	१७.६	९.२

भारत में जन्म-दर अधिक होने के कारण

जैसा कि उपरोक्त तालिका से विदित होगा हमारे देश में अन्य देशों की तुलना में जन्म दर अधिक है जिसके निम्न कारण हैं —

(१) बाल विवाह—भारत में जन्म दर अधिक होने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उसका बाल विवाह जैसी प्राचीन प्रथा पर है जिसके फलस्वरूप छोटी आयु में ही बच्चों का पैदा होना शुरू हो जाता है।

(२) धार्मिक विचार—भारत जैसे धर्म प्रधान देश में बच्चों का जन्म एक धार्मिक महत्त्व रखता है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा की शान्ति देने के लिए उसका क्रिया कर्म पुत्र द्वारा होना आवश्यक है। इसी कारण धार्मिक दृष्टि से बच्चे पैदा करना आवश्यक है।

(३) सामाजिक आवश्यकता—बालक का जन्म सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में उन स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है जो सन्तानरहित होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक दम्पत्ति की इसकी तीव्र इच्छा होती है कि उसके कुछ बच्चे हों जिससे उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाये।

(४) सन्तति निग्रह (Family Planning) के ज्ञान का अभाव—हमारे देश में सन्तति निरोधन का महत्त्व केवल कुछ इने गिने शिक्षित व्यक्तियों में

*United Nation's *Statistical Year Book*, 1956

ही समझा जाता है। देश की अधिकांश जनता जनसंख्या नियमन उपायों से पूर्णतया अनभिज्ञ है इससे भी जन्म-दर अधिक है।

(५) निर्धनता—भारतवासियों की निर्धनता भी देश की उच्च जन्म दर का कारण है।

सुझाव—उपरोक्त कारणों से स्पष्ट है कि यदि हम देश के जन्म-दर को कम करना है तो हम विभिन्न सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक अन्ध विश्वासों को दूर करने का प्रयत्न करना होगा। देश में शिक्षा के प्रसार द्वारा हम देशवासियों का दृष्टि में परिवर्तन कर सकते हैं जिससे जनसंख्या नियमन के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न हो सकता है।

मृत्यु-दर

शिशु मृत्यु दर (Infant Mortality)—जिस प्रकार हमारे देश में जन्म-दर अधिक है उसी प्रकार मृत्यु दर भी अन्य देशों की तुलना में काफी ऊँची है। मृत्यु-दर के सम्बन्ध में हम शिशु मृत्यु दर एवं स्त्री मृत्यु दर का अध्ययन करेंगे। निम्न तालिका में कुछ अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष की शिशु मृत्यु दर प्रति हजार दी गई है —

देश	शिशु मृत्यु दर (प्रति हजार)
भारत	११३
श्रीलंका	७२
जापान	४८.६
कनाडा	३१.८
न्यूजीलैंड	२४.१
संयुक्त राज्य अमेरिका	२६.८
स्विट्जरलैंड	२७.९
यूनाइटेड किंगडम	२६.३

जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है भारत में शिशु मृत्यु दर अन्य देशों की अपेक्षा काफी ऊँची है। अत्यधिक शिशु मृत्यु दर के निम्न मुख्य कारण हैं —

(१) माताओं का अस्वस्थ जीवन—हमारे देश में माताओं का स्वास्थ्य अनेक कारणों से बिगड़ जाता है जैसे अत्यधिक परिश्रम, अस्वस्थ वातावरण में रहना पर्दे की प्रथा एवं उनका अनेक बीमारियों में ग्रस्त होना। माताओं के खराब स्वास्थ्य का होना उनके शिशुओं पर भी बुरा प्रभाव डालता है जिसके कारण बच्चों की मृत्यु अधिक होती है।

(२) माताओं का अस्वास्थ्य वर्धक भोजन—देश की अधिकांश जनता निर्धन है जिसके कारण यह सम्भव नहीं कि माताओं को स्वास्थ्यवर्धक भोजन उपलब्ध हो सके, यहाँ तक कि गर्भिणी होने के समय देश की अधिकांश स्त्रियों को आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक एवं पौष्टिक भोजन दिया जा सके। इससे उनके स्वास्थ्य पर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है साथ ही उनके बच्चे भी दुर्बल एवं कमजोर होते हैं जो विभिन्न बीमारियों का सामना करने में असमर्थ होते हैं।

(३) अस्वच्छता—देश की अधिकांश जनता गन्दे तथा अस्वच्छ वातावरण में अधिकांश जीवन निर्वाह करती है। अपने दैनिक जीवन में भी हमारी ग्रामीण जनता सफाई की ओर ध्यान नहीं देती जिससे अनेक बीमारियों का जन्म होता है और प्राय महामारी एवं अनेक भीषण बीमारियों के कारण हजारों शिशुओं की अकाल मृत्यु हो जाती है।

(४) प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—हमारे देश में ऐसे अस्पतालों की बहुत कमी है जहाँ जन-साधारण को प्रजनन सम्बन्धी विभिन्न सुविधाएँ प्राप्त हो सकें तथा जच्चा-बच्चा की उचित देखभाल हो सके। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजनन के समय प्राय अशिक्षित एवं अकुशल दाइयाँ ही उपलब्ध होती हैं जिसके कारण अत्यधिक शिशु मृत्यु दर होना स्वाभाविक ही है।

(५) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की कमी—देश की अधिकांश जनता ग्रामों में निवास करती है जहाँ बीमारियों के फैलने पर चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं होता और भारी संख्या में बच्चे मौत का शिकार हो जाते हैं।

स्त्री मृत्यु-दर—देश में अत्यधिक स्त्री मृत्यु दर के विभिन्न कारण हैं। इस सम्बन्ध में यह बात जानने योग्य है कि हमारे देश में १५ से ४५ वर्ष की आयु ऐसी है जिस काल में स्त्रियाँ बच्चों को जन्म देती हैं। दुर्भाग्य से यही आयु ऐसी है जिसमें सबसे अधिक स्त्रियाँ मर जाती हैं जो इस बात का संकेत है कि हमारे देश में प्रसूत-काल ही स्त्रियों के लिए सबसे घातक एवं जोखिम का समय होता है। स्त्री मृत्यु-दर के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) छोटी आयु में विवाह हो जाना—जन्म के सम्बन्ध में अपर्याप्त विवाह होने के कारण कानूनन अवैध होने पर भी बाल विवाह की प्रथा भारत में बहुत हद तक प्रचलित है। छोटी उम्र में विवाह होने के फलस्वरूप लड़कियाँ अपरिपक्व अवस्था में ही माता बन जाती हैं और प्रसूत सम्बन्धी कठिनाइयाँ सहन नहीं कर पाती हैं।

(२) जल्दी-जल्दी बच्चे पैदा होना—हमारे देश में अधिकांश स्त्रियों के बच्चे जल्दी-जल्दी पैदा होते हैं। बच्चों के जन्म सम्बन्धी अपर्याप्त अन्तर होने के कारण माताओं का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और अनेक बीमारियों में ग्रस्त हो जाने के कारण शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

(३) प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—जैसा कि ऊपर देख चुके हैं भारत में प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं की कमी भी स्त्री मृत्यु दर अधिक होने का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(४) सामाजिक रीति रिवाज—भारत में विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओं के कारण भी स्त्रियों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है, जैसे स्त्री शिक्षा के प्रति अरुचि, पर्दा प्रथा आदि।

समस्या के हल के हेतु सुझाव—भारत में अत्यधिक शिशु एवं स्त्री मृत्यु दर होने के कारण इस ओर आवश्यक कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इस गम्भीर समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि माताओं को कम से कम उनके गर्भकाल में एवं शिशु जन्म के कुछ समय पश्चात् तक स्वास्थ्यवर्धक एवं पौष्टिक भोजन दिया जावे। प्रसव सम्बन्धी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, चिकित्सा का उचित प्रबन्ध हो तथा बाल विवाह एवं अन्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए उनमें आवश्यक शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण (Occupational Distribution of Population)

महत्व—किसी देश का आर्थिक जीवन उस देश की जनसंख्या के पेशेवर वितरण द्वारा निर्धारित होता है। देश की जनसंख्या के पेशेवर वितरण से इस बात का ज्ञान होता है कि उस देश की कितनी जनसंख्या किन किन आर्थिक क्रियाओं तथा उद्योगों में व्यस्त है। ऐसी जानकारी के फलस्वरूप ही संसार के विभिन्न राष्ट्रों में से कुछ को औद्योगिक राष्ट्र तथा कुछ देशों को कृषि प्रधान देश कहना सम्भव होता है।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में विभिन्न उद्योगों तथा पेशों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या निम्न तालिका में दिखाई गई है —

पेशा	आश्रित जनसंख्या (लाखों में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
कृषि	२४९०	६९ ८
अन्य प्रकार के उद्योगों में (कृषि को छोड़ कर)	३७७	१० ५
व्यापार	२१३	६ ०
यातायात	५६	१ ६
अन्य	४३०	१२ १
कुल योग	३५६६*	१०० ०

*उपरोक्त तालिका में कुल जनसंख्या ३५६९ लाख में केवल ३५६६ लाख

जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण का देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव—उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की जनसंख्या का अधिकांश भाग खेती पर निर्भर है। इसी कारण भारत एक कृषि प्रधान देश है। उद्योग तथा अन्य पेशों में लगे हुए लोगों की संख्या कम होने के कारण हमारी आर्थिक योजनाओं में खेती के विकास पर विशेष महत्व दिया गया है। यही कारण है कि हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) एक कृषि योजना थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की भी सफलता कृषि के विकास पर निर्भर करती है। एक और महत्वपूर्ण बात जो देश की जनसंख्या का पेशेवार वितरण को प्रदर्शित करने वाली उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है वह यह कि हमारा देश औद्योगिक क्षेत्र में काफी पिछड़ा हुआ है तथा भारतीय आर्थिक जीवन बहुत हद तक असन्तुलित अवस्था में है जो उसके मंद गति से आर्थिक विकास का एक मुख्य कारण है अत्यधिक कृषि पर निर्भर होना जिससे देश की राष्ट्रीय आय में भी बराबर परिवर्तन होता रहता है जिससे राष्ट्र की आय निरन्तर घटती बढ़ती रहती है। किसी लेखक ने ठीक ही कहा है कि "भारतीय बजट मानसून में एक जुआ है।" (Indian budget is a gamble in monsoons) कारण यह है कि जिस वर्ष देश में फसल अच्छी होती है उस साल अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो जाती है, कृषकों की अवस्था सुधर जाती है, राजकीय आय में वृद्धि होती है तथा देश के आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं के लिए पर्याप्त आवश्यक धन उपलब्ध हो जाता है परन्तु यदि वर्षा या अन्य किसी प्राकृतिक कारण के फलस्वरूप दुर्भाग्य से यदि किसी वर्ष फसल अच्छी न हो तो देश की समस्त अर्थव्यवस्था बिगड़ जाती है और आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। यही नहीं अत्यधिक जनसंख्या के खेती में लगे होने के कारण भूमि पर अधिक दबाव हो जाता है जो कृषि अर्थव्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न कर देता है, जैसे खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाना जिससे खेती की उपज बहुत कम हो जाती है।

नागरीकरण की समस्या (Problem of Urbanization)—जनसंख्या की वृद्धि के साथ भारतवर्ष में नागरीकरण की समस्या भी जटिल होती जा रही है। जैसा कि बताया जा चुका है सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का केवल ६.१६ करोड़ अर्थात् १७.३ प्रतिशत भाग शहरों तथा नगरों में रहता है और शेष ग्रामों में। संसार के अन्य देशों में स्थिति ऐसी नहीं है। उदाहरण के लिए फ्रान्स में लगभग ५२ प्रतिशत तथा इङ्गलैंड में ८० प्रतिशत भाग तक नागरिक जनसंख्या कही जा सकती है। भारतवर्ष में नगरों तथा ग्रामों में जनसंख्या के वितरण का रूप सदा

के सम्बन्ध में ही पेशेवार वितरण सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त हैं। शेष ३ लाख व्यक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं है।

ऐसा ही नहीं रहा है। कुछ समय पूर्व तक स्थिति पूर्णतया भिन्न थी। परन्तु समय की गति के साथ साथ नागरीकरण में वृद्धि होती गई जिसके प्रमुख कारण ये हैं :—

(१) भूमि पर जनसंख्या के निरन्तर बढ़ते भार के कारण ग्रामीण निवासियों को जीविकोपार्जन के अन्य साधनों की खोज करना आवश्यक हो गया और वे नगरों तथा शहरों में अधिक मात्रा में जा कर बसने लगे।

(२) औद्योगीकरण तथा मशीन के आगमन से नव-युग का प्रारम्भ हुआ और रोजगार के अनेक क्षेत्र नगरों में उपलब्ध होने लगे।

(३) नागरिक जीवन के प्रति अधिक आकर्षण होने का एक और कारण वहाँ अनेक सुख सुविधाओं का उपलब्ध होना है जो प्रायः ग्रामीण जीवन में प्राप्त नहीं हो पाता।

(४) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् बड़े बड़े जमींदार कुटुम्बों का ग्रामों से नगरों तथा कस्बों की ओर बढ़ना स्वाभाविक ही था।

(५) देश के विभाजन ने भी नागरीकरण में योग दिया और व्यापार तथा वाणिज्य में अधिक रुचि होने के कारण विस्थापितों ने अपने जीविकोपार्जन के लिए नगरों में ही रहना उचित समझा।

उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप इधर कुछ वर्षों से देश की नागरिक जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है —

वर्ष	कुल जनसंख्या की	
	ग्रामीण जनसंख्या	नागरिक जनसंख्या
१६२१	८८·७ प्रतिशत	११·२ प्रतिशत
१६३१	८७·६ ,,	१२·१ ,,
१६४१	८६·१ ,,	१३·६ ,,
१६५१	८२·७ ,,	१७·३ ,,

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि पिछले ३० वर्षों में नगरों की जनसंख्या में ६·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यही नहीं, देश में बड़े-बड़े शहरों और नगरों में लोग छोटे छोटे नगरों की अपेक्षा रहना अधिक पसन्द करते हैं जैसा कि अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है :—*

* *Indian Economic Year Book*, p 5.

जनसंख्या	नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत भाग
१,००,००० तथा इससे अधिक जनसंख्या वाले शहरों में	३८.१ प्रतिशत
५०,००० से १,००,००० जनसंख्या वाले	३०.१ ,,
५,००० से ५०,००० जनसंख्या वाले	२८.५ ,,
५०० से कम जनसंख्या वाले	३.३ ,,

नागरीकरण का महत्व—इसके पूर्व कि हम यह देखें कि नागरीकरण का हमारे आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है यह जान लेना अधिक उपयोगी होगा कि नागरीकरण का क्या महत्व है तथा किसी देश की जनसंख्या का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में विभाजन से उस देश के राष्ट्रीय जीवन के किन तथ्यों का आभास होता है।

(१) **नागरीकरण से किसी देश के राष्ट्रीय चरित्र (National Character) का ज्ञान होता है**—नगर तथा ग्राम निवासियों के चरित्र में अन्तर होता है। जहाँ एक ओर ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि में व्यस्त निवासियों की प्रशंसा में प्रसिद्ध विचारक केटो (Cato) ने कहा है, "The agricultural population produces the bravest men, the most valiant soldiers and a class of citizens the least given of all to evil designs" वहाँ उनके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि वे रूढ़िवादी विचारधारा के तथा नवीन एवं उन्नतिशील विचारों के प्रति अरुचि रखने के कारण आर्थिक विकास की दौड़ में वे अपने नागरिक भाइयों की अपेक्षा प्रायः पीछे रह जाते हैं जो इनके विपरीत विशाल दृष्टिकोण, उन्नतिशील विचार तथा आर्थिक साधन सम्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से भारत के सम्बन्ध में जहाँ अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण है, हम यह सरलता से कह सकते हैं कि देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि अभी अपेक्षाकृत निर्बल है।

(२) **नागरीकरण से किसी देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है**—यदि देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामीण है और शहर तथा नगरों में रहने वालों की संख्या बहुत कम है तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर है तथा औद्योगीकरण के क्षेत्र में देश अभी पिछड़ा हुआ है। इसी प्रकार यदि देश की अधिकतर जनसंख्या शहरों तथा नगरों में रहती हो, तो यह समझना चाहिए कि देशवासियों का आधुनिक जीवन का अनेक प्रगतिशील सभाएँ

जैसे रेल, ट्राम, बस, डाक व तार, संचार साधन इत्यादि की आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हैं।

भारत में एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले शहरों की संख्या लगभग ७३ है, जहां पिछले कई वर्षों से निरंतर उल्लेखनीय वृद्धि होती जा रही है। हम नीचे दी गई तालिका में ऐसे दस प्रमुख नगरों की जनसंख्या में पिछले पचास वर्षों में होने वाली प्रगति का चित्र प्रस्तुत करते हैं जिससे इस तथ्य का ज्ञान होगा कि भारत में किस गति से नागरीकरण (urbanisation) हो रहा है।

नगर	जनसंख्या में वृद्धि (लाखों में)		वृद्धि (लाखों में)
	१९०१	१९५१	
कलकत्ता	६ ०	४५ ८	३९ ८
बम्बई	५ ६	२८ ४	२२ ८
मद्रास	५ ६	१४ २	१२ ६
दिल्ली	२ ३	१३ ८	११ ५
हैदराबाद	० २	१० ९	१० ७
अहमदाबाद	१ ३	७ ९	६ ६
बंगलोर	१ ५	७ ८	६ ३
कानपुर	० ४	७ १	६ ७
पूना	० ८	५ ९	५ ०
लखनऊ	० २	५ ०	४ ८

नागरीकरण के प्रभाव (Effects of Urbanisation)—नागरीकरण का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी देश में नागरीकरण के प्रभाव के दो पक्ष होते हैं। अर्थात् एक ओर जहां नागरीकरण द्वारा देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है वहां दूसरी ओर नागरीकरण के अनेक दोष भी होते हैं।

नागरीकरण के लाभदायक प्रभाव (Beneficial Effects of Urbanisation)

(१) आर्थिक एवं औद्योगिक विकास—नागरीकरण देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति में सहायक होता है। बड़े बड़े विशाल उद्योग धंधों के लिए कुशल व परिश्रमी जनशक्ति की उपलब्धि के कारण देश का औद्योगिक विकास सरलता से हो जाता है।

(२) राष्ट्रीय आय में वृद्धि—भूमि पर जनसख्या में वृद्धि से निरन्तर बढ़ते भार के कारण ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त जनशक्ति (surplus man power) को नागरीकरण के फलस्वरूप उपयोगी रोजगार (gainful employment) प्राप्त होता है। इससे बेकार जनशक्ति का आर्थिक उपयोग (economic utilisation) होता है और राष्ट्रीय आय म वृद्धि होती है।

(३) देश की सामाजिक एव राजनैतिक प्रगति होती है—नगरों में जन सख्या म वृद्धि से प्रगतिशील विचारों के प्रचार मे सहायता होती है शिक्षित एव विकसित दृष्टिकोण वाले व्यक्ति जब ग्रामों मे जाते हैं तो वहाँ वे एक नई चेतना व जागृति में सहायक होते हैं। अपने राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों एव कर्तव्यों से सुपरिचित व्यक्ति देश की प्रगति में सहायक होते हैं और अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों एव परम्पराओं के उन्मूलन में सफलता होती है जैसे जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता आदि।

नागरीकरण के हानिकारक प्रभाव (Adverse Effects of Urbanisation)

(१) देश का असन्तुलित विकास—नागरीकरण के कारण नगरों व शहरों म बड़े बड़े विशाल उद्योगों की स्थापना होती है। जहाँ अनेक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है, जहाँ एक ओर शहरों व नगरों की आर्थिक प्रगति होती जाती है वहाँ ग्रामीण क्षेत्र उसी पिछड़ी अवस्था में पड़े रहते हैं जिससे देश के विभिन्न भागों का असन्तुलित विकास होता है।

(२) आवास की समस्या—नागरीकरण के कारण जब अधिकांश जनसख्या नगरों मे प्रवास करने लगती है, तो इससे नगरों का विकासक्रम असन्तुलित हो जाता है और लोगों के रहने के लिए जगह बनाना एक समस्या हो जाती है। गन्दी बस्तियाँ (slums) तथा अस्वच्छता का जन्म होता है।

(३) धुआँ एव अस्वास्थ्यकर वातावरण—नागरीकरण का जनसाधारण के स्वास्थ्य पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है। हर ओर धुआँ, गन्दगी एव यातायात की रुकावट (traffic congestion) जैसी अनेक समस्याओं के कारण व्यक्तियों के सामान्य जीवन प्रवाह म बाधा पहुँचती है।

समस्या के हल का सुझाव (Suggestions and Remedies)—उपरोक्त विवेचन स स्पष्ट है कि नागरीकरण क दोष भी हैं और गुण भी। इस कारण हम नागरीकरण को समाप्त करने क पक्ष म नहीं हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस दिशा म पश्चिमी राष्ट्रों का अन्धानुसरण करते चले जायें जहाँ कुछ इने-गिने विशाल नगरों में देश की जनसख्या का अधिकांश भाग निवास करता है। हमारे

देश में कुछ बड़े-बड़े नगरों की जनसंख्या में पिछले पचास वर्षों में बड़ी वृद्धि हुई है जिससे नागरीकरण पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया। इसलिए हमारे देश में समस्या यह है कि हम अपने नगरों के विकास के लिए सुनिश्चित योजना बनायें जिससे नगरों तथा शहरों का नियोजित विकास (planned growth) हो तथा नागरिकों के लिए पर्याप्त सुख सुविधायें प्राप्त हों। देश का समुचित आर्थिक प्रगति के लिए यही आवश्यक नहीं कि केवल नगरों का विकास हो वरन् ग्रामीण क्षेत्रों में भी नये-नये उद्योग धन्धे प्रतिस्थापित किये जायें जिससे ग्रामीण क्षेत्रों का भी विकास होता जाये। तभी राष्ट्र की समृद्धि सम्भव हो सकेगी।

भारत की जनसंख्या की प्रगति ✓

(Increase in India's Population)

जैसा सर्वविदित है कि भारत संसार के अत्यधिक जनसंख्या वाले देशों में से एक है। यही नहीं, पिछले कई वर्षों से भारत की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जैसा कि हम आगे देखेंगे। भारत की जनसंख्या की यह प्रगति आर्थिक नियोजकों के लिए घोर चिन्ता का विषय बनी हुई है। निम्न तालिका भारत की जनसंख्या की (१८९१ से १९५८ तक की) प्रगति का चित्र प्रस्तुत करती है :—

भारत की जनसंख्या की प्रगति (१८९१ से १९५८)

वर्ष	जनसंख्या (लाखों में)	प्रगति (लाखों में)	प्रगति (प्रतिशत में)
१८९१	२,३५६	—	—
१९०१	२,३५५	—४	—१ ३
१९११	२,४९०	+१३५	+५ ८
१९२१	२,४८१	—९	—० ३५
१९३१	२,६५५	+२७८	+११ ०
१९४१	३,१२८	+३७३	+१४ ३
१९५१	३,५६९	+४४१	+१३ ३
१९५८ (अनुमानित)	३,९७५	+४०६	+९ ५

भारत की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण

(१) बाल विवाह—बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीति जिसके फलस्वरूप छोटी आयु में विवाह हो जाने से देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(२) भारत में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक विचार बालक के जन्म को प्रोत्साहन देने का कार्य करते हैं जैसे पिता के लिए कन्या दान देना तथा उसकी मृत्यु

के पश्चात् अन्तिम दाह सस्कार का पुत्र द्वारा सम्पन्न होना उसकी आत्मा की शान्ति के लिए अनिवार्य है।

(३) देशवासियों का निर्धनता तथा उनका जीवन स्तर अत्यधिक निम्न होना भी जनसख्या में वृद्धि का कारण है।

(४) बहुधा यह देखा गया है कि अधिक निर्धन परिवारों म अधिक बच्चे पैदा होते हैं। भारत एक ऐसा देश है जहाँ सामाजिक विचारो का बोलबाला है। प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए विवाह अनिवार्य समभा जाता है, जो जनसख्या वृद्धि का एक प्रमुख कारण है।

(५) अशिक्षित एव निरक्षर होने के कारण अधिकाश भारतवासी उच्च जीवन स्तर को विशेष महत्व नहा देते हे। अत बालक के जन्म को वह भगवान की देन समभते हैं। ऐसी प्रवृत्ति भी जनसख्या की वृद्धि म सहायता देती है।

(६) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली—इसके कारण बच्चा क पालन-पोषण की समस्या तथा उसका उत्तरदायित्व दम्पति पर न पड़ने क कारण बालक के जन्म में कोई बाधा नहीं पहुचती और जनसख्या म निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(७) आर्थिक दृष्टि—इसके भी बच्चों का अधिक पैदा होना उचित समभा है। परिवार का आय कम होने क फलस्वरूप पिता छोटी आयु में ही अपने बच्चा को किसी कार्य म लगा देता है जिससे आय म वृद्धि हो। इस कारण वे अधिक बच्चे उत्पन्न करने क पक्ष म हैं।

(८) देश म परिवार नियोजन का कार्य मन्द गति से होने के कारण जनसख्या वृद्धि बिना रोक-टोक हुआ करती है।

जनसख्या वृद्धि का प्रभाव (Effects of Increase in Population)
लाभदायक प्रभाव (Beneficial Effects)

(१) *देश की जनशक्ति में विभिन्नता (Diversity in Man power)*—देश की जनसख्या की वृद्धि मानव शक्ति का एक प्रमुख स्रोत है इससे देश की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं (economic activities) के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यक मानवी शक्ति उपलब्ध होती रहती है।

(२) औद्योगिक विकास (Industrial Progress)—देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास एव राष्ट्रीय आय की निरन्तर वृद्धि के लिए कुशल जनशक्ति एक आवश्यक तथ्य है।

(३) नागरीकरण (Urbanisation)—जनसख्या की निरन्तर वृद्धि से नागरीकरण में सहायता होती है और बड़े बड़े विशाल औद्योगिक केन्द्रों में देश की जनशक्ति आकर्षित होती है।

हानिकारक प्रभाव (Bad Effects)

(१) भूमि पर दबाव (Pressure of Population on Land)—जनसंख्या के निरन्तर बढ़ते रहने से भूमि पर उसका भार बढ़ता रहता है जिससे कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) अतिरेक जनशक्ति (Surplus Man-power)—आर्थिक विकास के अभाव में जनसंख्या की वृद्धि से सम्पूर्ण मानवी शक्ति का उपयोग नहीं हो पाता है, इस कारण देश में प्राय. अतिरेक जनशक्ति के आर्थिक उपयोग की समस्या बनी रहती है।

(३) बेकारी की समस्या (Problem of Unemployment)—जनसंख्या की वृद्धि से अविकसित राष्ट्रों में बेकारी की समस्या का जन्म होता है। इस कारण देश के लिए सर्वोच्च जनसंख्या से अधिक जनसंख्या की वृद्धि राष्ट्र के आर्थिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं कही जा सकती।

(४) निर्धनता व जीवन का निम्न स्तर (Poverty and Low Level of Life)—जब देश में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि हो जाने से बेकारी व बेरोजगारी की समस्या बढ़ने लगती है तो देश की अधिकांश जनता को गरीबी तथा निम्न जीवन-स्तर का सामना करना पड़ता है।

(५) बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों के दुष्परिणाम (Evils of Big Industrial Towns)—जनसंख्या की वृद्धि से अत्यधिक लोगों का शहरों की ओर प्रवास होने लगता है जिससे बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र तथा विशाल नगरों के असन्तुलित विकास के फलस्वरूप अस्वच्छता, आवास का अभाव, यातायात की रुकावट (traffic congestion), धुँआ, गदी बस्तियाँ आदि की अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं।

भविष्य में जनसंख्या निर्धारण के तत्व (Factors determining the Future Population)

किसी देश की भविष्य में कितनी जनसंख्या होगी यह मुख्यतया निम्न बातों पर निर्भर है :—

(१) आवास (Immigration)—अर्थात् किसी निश्चित समय में देश के भीतर आकर बसने वालों की संख्या।

(२) प्रवास (Emigration)—अर्थात् किसी निश्चित समय में देश से बाहर जाकर बसने वालों की संख्या।

(३) पुनर्जन्म की दर (Rate of Reproduction)—अर्थात् जन्म दर तथा मृत्युदर में अन्तर।

भारत जैसे देश में जनसंख्या की वृद्धि केवल पुनर्उत्पत्ति की वास्तविक दर (net reproduction rate) पर निर्भर करती है क्योंकि यहाँ से प्रवास करने वालों की संख्या तथा देश में आकर बसने वालों की संख्या बहुत ही कम है जिसका देश की वृद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

भविष्य में जनसंख्या-वृद्धि के कारण—भारत ही क्या, संसार के समस्त राष्ट्रों में जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि हो रही है जिससे अनेक विशेषज्ञों ने अनेक चिन्ता-जनक विचार प्रस्तुत किये हैं, इनकी जानकारी अत्यन्त रुचिकर एवं उपयोगी होगी।

1 "Double in forty years"—डा० सी० पी० ब्लैकर (Dr. C. P. Blacker), जो ब्रिटेन के स्वास्थ्य मन्त्रालय के सलाहकार हैं, के अनुसार यदि वर्तमान गति से संसार की जनसंख्या की वृद्धि होती रही तो ४० वर्षों में संसार की जनसंख्या दूनी हो जायगी।

2 "Rise in population may cause water shortage"—संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय जलकोष के अधिकारी सर हरबर्ट ब्राडले (Sir Herbert Broadley) के अनुसार संसार की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने से संसार के बड़े-बड़े नगरों में जल की कमी उत्पन्न हो सकती है।

संसार में जनसंख्या की प्रगति (Growth of World Population) लगभग पिछले २०० वर्षों में संसार की जनसंख्या में जिस गति से प्रगति हुई है उसे निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है :—

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ों में)
१७५०	७२·८
१८००	९०·६
१८५०	११७·१
१९००	१६०·१
१९४०	२१७·१
१९५०	२४० १

भारत की जनसंख्या की मुख्य विशेषताएँ (Principal Characteristics of Population)—भारत की जनसंख्या के तारतमीय अध्ययन के पश्चात् हम देश की जनसंख्या के कुछ प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे। भारत की जनसंख्या की निम्न विशेषताएँ उसकी आर्थिक दशा पर गहरा प्रभाव डालती हैं तथा इन्हीं कारणों से भारत की समस्या अन्य देशों की जनसंख्या की समस्या से भिन्न है।

(१) तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या (Progressively increasing Population)—जिस गति से भारत में जनसंख्या की वृद्धि हो रही है वह भारत की जनसंख्या की सबसे बड़ी विशेषता है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या लगभग ३६ करोड़ थी परन्तु १९६१ तक यह संख्या बढ़कर लगभग ४३ करोड़

होने का अनुमान है जो १९७१ में तथा १९८१ में क्रमशः ५४ तथा ६० करोड़ तक पहुँच सकती है।

(२) भारतीय जनसंख्या संख्यात्मक दृष्टि से विशाल परन्तु गुणात्मक दृष्टि से निर्धन है (Indian population is quantitatively great but qualitatively poor)—वैसे तो भारत का जनसंख्या के आकार की दृष्टि से संसार में दूसरा स्थान है परन्तु स्वास्थ्य तथा शक्ति की दृष्टि से निम्नतम है जिससे देश में जन्म दर, शिशु मृत्यु दर तथा मातृ मृत्यु दर का बहुत ऊँचा होना तथा भारतीयों की जीवन अवधि का बहुत कम होना है।

(३) अति ग्रामीण जनसंख्या (Predominantly Rural Population)—भारत की जनसंख्या की एक प्रमुख विशेषता यह है कि देश का अधिकांश भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का ८२.७ प्रतिशत भाग ग्रामों में तथा १७.३ प्रतिशत भाग नगरों में रहता है।

(४) अत्यधिक कृषि पर आश्रित जनसंख्या (Population mainly depending upon Agriculture)—देश की अधिकांश जनता अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि व्यवसाय में लगी हुई है यही कारण है कि भारत की अधिकांश जनता खेतिहर है।

(५) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक कार्यशील (Male Population more active than Female Population)—अनेक सामाजिक तथा धार्मिक रीति रिवाज के कारण भारतवर्ष में स्त्रियाँ आर्थिक कार्यों में अधिक सक्रिय भाग नहीं ले पातीं, अतः देश के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में भाग लेने का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही है।

(६) जनसंख्या के घनत्व में प्रादेशिक विभिन्नता (Regional Disparity in the Density of Population)—भारत में विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व एक-सा नहीं है। किन्तु कुछ भागों में आबादी इतनी घनी है कि जिसके कारण घनत्व में बहुत वृद्धि हो गई है, जैसे दिल्ली जहाँ घनत्व ३०१७ है इसके विपरीत राजस्थान प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व केवल ११६ है।

भारत में जनसंख्या की समस्या

(Problem of Population in India)

भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में मूलभूत तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् इसकी जनसंख्या की समस्या के वास्तविक रूप को समझने की भी अत्यन्त आवश्यकता है। संसार में जनसंख्या की समस्या के विषय में एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक राज्य में जनसंख्या की समस्या एक-सी नहीं है। हाँ, देश में उसकी जनसंख्या की समस्या उसकी सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है।

केवल जनसंख्या की वृद्धि (जैसा कि उपरोक्त तालिका से विदित है जिसमें संसार की जनसंख्या की प्रगति प्रदर्शित की गई है) ही समस्या का मूल कारण नहीं है। वास्तव में जनसंख्या की समस्या उसकी वृद्धि के साथ साथ किसी देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति से भी सम्बन्धित होती है। इस दृष्टि से संसार के अनेक सुविकसित राष्ट्र ऐसे हैं जहां जनसंख्या की वास्तव में कोई समस्या ही नहीं और वे अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त वस्त्र एवं भोजन उपलब्ध करने में पूर्णतया समर्थ हैं। यही नहीं, इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाता है, परन्तु हमारे देश में ऐसी स्थिति नहीं है।

भारतवर्ष में पिछले तीस चालीस वर्षों में जनसंख्या में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है और देश के पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक सुविधायें न प्राप्त होने के कारण भारतवासियों का जीवन-स्तर बराबर गिरता जा रहा है। यही नहीं, जनसंख्या की वृद्धि से उनके प्रमुख आर्थिक व्यवसाय खेती में भी अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। जनसंख्या के बढ़ने से जब भूमि पर अत्यधिक भार पड़ता है तो देश की खेती योग्य जमीन अनार्थिक जोतों (uneconomic holdings) में बंट जाती है जिससे खेती के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। खेती के पिछड़े होने के कारण कृषि पर आश्रित अधिकांश जनसंख्या की आर्थिक दशा सुधरने नहीं पाती। भारत में कितनी जनसंख्या रह सकती है जिसका जीवन स्तर विकसित राष्ट्रों की तुलना में भी काफी अच्छा हो? यह राष्ट्र के सम्पूर्ण आर्थिक साधनों के कुशल शोषण पर निर्भर करता है। नि सन्देह भारतवर्ष अपने आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक धनी देश है, परन्तु दुःख की बात यह है कि यहाँ के निवासियों का जीवन स्तर काफी नीचा है जिसका मूल कारण देश की पर्याप्त आर्थिक प्रगति तथा उसके साधनों का कुशल उपयोग न होना है, जिसके फलस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि एक विशाल समस्या प्रतीत होती है। पश्चिम के बड़े राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि से देश की आर्थिक व्यवस्था में दृढ़ता आती है तथा पर्याप्त जनशक्ति की उपलब्धि से राष्ट्रीय साधनों का अच्छा विकास होता है, परन्तु हमारे देश में परिस्थिति इसके विपरीत है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि देश की अर्थ व्यवस्था को दृढ़ नहीं बनाती वरन् देश के आर्थिक ढांचे में शिथिलता उत्पन्न होती है।

भारत की जनसंख्या सम्बन्धी अध्ययन के विभिन्न पक्ष (Different Aspects of the Study of India's Population)—हम भारत की जनसंख्या की समस्या का कई दृष्टिकोणों से निरीक्षण कर सकते हैं। मुख्यतया इस समस्या के दो रूप हैं —

(१) **जन वर्णन पहलू (Demographic Aspect)**—जनसंख्या के अध्ययन के इस पहलू में हम देश की जनसंख्या की प्रगति दर (Rate of

growth) तथा मानवी प्रजनन शक्ति (human fertility) का शास्त्रीय अध्ययन करते हैं जिससे देश की वर्तमान जनसख्या का क्या रूप है, इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। इस दृष्टि से भारत की जनसख्या का आकार उसके आर्थिक साधनों के विकास की दृष्टि से बहुत बडा है और जिस गति से देश की जनसख्या बढ़ती जा रही है वह राष्ट्र के आर्थिक विकास में बाधक सी प्रतीत होती है।

(२) आर्थिक पहलू (Economic Aspect)—जनसख्या की समस्या के अध्ययन का एक आर्थिक दृष्टिकोण भी होता है जिसके अन्तर्गत हम देश की जनसख्या तथा उसके आर्थिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। इस दृष्टि से भी भारत में जनसख्या का आधिक्य है। कारण यह कि हमारे देश की जनसख्या का स्वास्थ्य और शक्ति अन्य देशों की तुलना में काफी नीची है। जैसा कि शिशु मृत्यु दर, स्त्री मृत्यु दर तथा देश की सामान्य मृत्यु दर के आकड़ों से जाना जा सकता है। अनेक रोगों में ग्रस्त और अपर्याप्त पौष्टिक भोजन के अभाव में देश की अधिकांश जनसख्या का स्वास्थ्य बिगडा हुआ है जिसके कारण देश की श्रमशक्ति अकुशल है।

क्या भारत में जनसख्या का आधिक्य है ?

(Is India overpopulated ?)

भारत में जनसख्या का आधिक्य है अथवा देश की जनसख्या उसकी आवश्यकता के अनुसार है ? इस सम्बन्ध में पारस्परिक विरोधी विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। यह जानने से पूर्व कि किन परिस्थितियों में देश की जनसख्या आवश्यकता से अधिक होती है और किन अवस्थाओं में देश की जनसख्या उसकी आर्थिक स्थिति के अनुकूल होती है यह जान लेना उपयोगी होगा कि जनसख्या के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं, जिसको ध्यान में रखकर किसी देश की जनसख्या के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

जनसख्या सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्त (*Important Theories of* Population)

(१) जनसख्या का माल्थस का सिद्धान्त (Malthusian theory of population)—जनसख्या सम्बन्धी माल्थस का सिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके अनुसार किसी देश की जनसख्या ज्योमितिक वृद्धि (geometrical progression) अर्थात् १ २ ४ ८ १६ ३२ आदि, परन्तु देश की खाद्य सामग्री में समानान्तर वृद्धि (arithmetical progression) होती है। इस कारण किसी देश की जनसख्या उस देश की खाद्य सामग्री की पूर्ति की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ़ती है परन्तु ऐसा तभी होता है जब किसी प्रकार का अवरोध कार्य न कर रहा हो। जैसे निवारक (preventive) तथा नैसर्गिक (positive) अवरोध। निवारक अवरोधों द्वारा जनसख्या के जन्म दर में ह्रास होता है तथा नैसर्गिक अवरोधों

से मृत्यु दर में वृद्धि होती है। माल्थस के अनुसार यदि देश की जनसंख्या को रोकने के लिए निवारक अवरोधों द्वारा सफलता न मिल रही हो और उस देश में महामारी, भूकम्प, बाढ़ इत्यादि जैसे कारणों द्वारा मृत्यु दर में वृद्धि हो रही हो अर्थात् नैसर्गिक अवरोध क्रियाशील हों तो उस देश में आवश्यकता से अधिक जनसंख्या कही जा सकती है।

जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त या अनुकूलतम (optimum) जनसंख्या का सिद्धान्त—आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने माल्थस के सिद्धान्त की तीव्र आलोचना करके जनसंख्या का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसे अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त (optimum theory of population) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश के लिये जनसंख्या का एक आदर्श आकार होता है जो किसी राष्ट्र में उपलब्ध पूँजी, औद्योगिक एवं कलात्मक ज्ञान द्वारा देश के अधिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सके। इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय (per capita real income) अधिकतम होती है। यदि देश की जनसंख्या सर्वोत्तम जनसंख्या से कम होगी तो देश के अधिक साधनों का पूर्ण विकास न होकर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम से कम होगी। इसी प्रकार यदि देश में जनसंख्या अधिक है तो भी व्यक्तियों को रोजगार न मिलने के कारण प्रति व्यक्ति आय सर्वोत्तम जनसंख्या की दशा से कम होगी।

भारतवर्ष में जनसंख्या आधिक्य की समस्या

जनसंख्या के उपरोक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर अब हम भारत की जनसंख्या का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में एक विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि देश में जनसंख्या का आधिक्य है अथवा आवश्यकतानुसार है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं :—

(१) भारत में जनसंख्या का आधिक्य नहीं है।

(२) भारत में जनसंख्या अधिक है।

भारत में जनसंख्या का आधिक्य नहीं है (India is not overpopulated)

(१) जिन लोगों का यह मत है कि भारतवर्ष में जनसंख्या अधिक नहीं है वे इस तर्क की पुष्टि के लिए देश की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का सहारा लेते हैं। उनकी राय में जिस देश की राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो तो उस देश में जनसंख्या का आधिक्य कैसे हो सकता है? डा० वी० के० आर० वी० राव के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १९३१-३२ में ६५ रुपया थी। परन्तु १९५०-५१ में २६५·२ रुपया हो गई और द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलता के पश्चात् देश की प्रति व्यक्ति

राष्ट्रीय आय बढ़कर लगभग ३३० रुपया वार्षिक होने का अनुमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत अतिवासित नहीं है।

(२) माल्थस द्वारा बताये गये नैसर्गिक अवरोधों, जिनका प्रकोप भारत में पिछले कई वर्षों से बिलकुल कम हो गया है, इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारत में जनसख्या अधिक नहीं है।

(३) ससार के विभिन्न देशों की तुलना में भारत में जनसख्या का घनत्व भी कम होना इस तथ्य का प्रमुख प्रमाण है।

(४) भारत के औद्योगिक विकास की गति मन्द होने का एक प्रमुख कारण देश में कुशल शक्ति का अभाव है। जिससे यह भी सिद्ध होता है कि भारत की जनसख्या अधिक नहीं है।

(५) कुछ लोग भारत की गरीबी व निर्धनता का दोष उसकी बढ़ती हुई जनसख्या पर मढ़ देते हैं परन्तु यह भ्रमात्मक है। वास्तव में देश का निर्धन होना उसके प्राकृतिक ससाधनों का उचित प्रयोग एव शोषण न होने के फलस्वरूप अधिक विकास में बाधा पड़ने के कारण है जिसका उत्तरदायित्व राष्ट्रीय आय के असमान वितरण पर भी है न कि इसलिए कि हमारा देश अतिवासित है।

देश में जनसख्या का आधिक्य है (India is overpopulated)

भारत की जनसख्या के सम्बन्ध में दूसरा मत यह है कि भारत में जनसख्या अधिक है जिसके लिए निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) देश की जनसख्या के निरन्तर वृद्धि से ही भारत जैसे कृषि प्रधान देश में खेती की अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं, जैसे खेती की भूमि पर जनसख्या के अत्यधिक भार द्वारा कृषि जोत का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाना।

(२) देश में जनसख्या के बराबर बढ़ते जाने के कारण ही बेकारी की विकट समस्या उत्पन्न हो गई है।

(३) जनसख्या के स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण अधिकाश जनता में अधिक रोगों का प्रकोप बढ़ता जा रहा है जिसका मुख्य कारण स्वास्थ्यवर्धक तथा पौष्टिक भोजन का न मिलना भी जनसख्या के आधिक्य का एक प्रमाण है।

(४) भारत में जनसख्या के अधिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी देश में खाद्यान्न की कमी बराबर बढ़ती जा रही है और इस के लिए पर्याप्त खाद्यान्न की पूर्ति करने की दृष्टि से सरकार को भारी मात्रा में विदेशों से अन्न का आयात करना पड़ता है।

(५) देशवासियों के जीवन स्तर की दशा इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि देश में जनसख्या का आधिक्य है। पिछले कुछ वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में

वृद्धि तो अवश्य हुई है पर संसार के अन्य देशों की तुलना में स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है जिसका मूल कारण है देश में जनसंख्या का आवश्यकता से से अधिक होना जिससे भारतवासियों का जीवन स्तर बहुत नीचा है।

(६) यद्यपि भारत में चिकित्सा के प्रबन्ध द्वारा सरकार ने जनसाधारण के स्वास्थ्य में काफी प्रगति की है फिर भी समय समय पर माल्थस द्वारा बताये गये नैसर्गिक अवरोधों (positive checks) जैसे बाढ़, चेचक, फ्लू इत्यादि की क्रियाशीलता इस बात का प्रमाण है कि देश में जनसंख्या का आधिक्य है।

जनसंख्या का खाद्यपूर्ति से सम्बन्ध (Population in relation to Food Supply)—जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है भारत में जनसंख्या के अधिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण देश में खाद्यान्न की निरन्तर कमी होते जाना है। निम्न तालिका से स्पष्ट है सरकार को देश में अन्न की इस कमी को पूरा करने के लिए बराबर भारी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है जिससे देश की राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग विदेशों को चला जाता है।

देश में खाद्यान्न का आयात (१९४७-५८)

वर्ष	आयात की मात्रा (टनों में)	लागत (करोड़ रुपये में)
१९४७	२८.३	८३.७
१९४८	२८.४	१२६.५
१९४९	३८.०	१४२.०
१९५०	२०.३	३५०.०
१९५१	४७.०	२१६.०
१९५२	४७.६	२२८.१
१९५४	२६.१	१५३.०
१९५७	३५.८२	१६२.०
१९५८	३१.७३	१२०.५

जिस गति से भारत की जनसंख्या में प्रगति होती आ रही है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि देश में कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक प्रयत्न न किये गये तो भारत में खाद्यान्न की बराबर कमी बनी रहेगी। १९६१ की जनगणना के पूर्व भारत में जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाये गये हैं उनके अनुसार १९६१ में देश की जनसंख्या लगभग ४१ करोड़ तक पहुंच जायगी जिसे ८.५ करोड़ टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। अशोक मेहता खाद्यान्न समिति (Ashok Mehta Foodgrains Enquiry Committee) के अनुसार भी १९६०-६१ में देश में अन्न उत्पादन लगभग ७५० लाख टन होगा,

अवधि में देश की खाद्य आवश्यकता लगभग ७६० लाख टन होने का अनुमान है। ऐसी स्थिति में लगभग २० लाख टन अनाज की कमी होने की सम्भावना है।

जनसंख्या के सुधारने के उपाय (Suggestions to tackle the Problem)—भारत में जनसंख्या की समस्या भीषण रूप धारण कर चुकी है, अतएव इस समस्या के सुलझाने की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत की जनसंख्या की समस्या हल करने के लिए हम दो प्रकार के प्रयत्न करने होंगे। प्रथम तो हम जनसंख्या की भावी प्रगति में प्रतिरुन्ध लगाना होगा अर्थात् ऐसे उपाय करने होंगे जिससे जनसंख्या की प्रगति कम हो जाये। दूसरी ओर हम वर्तमान जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊँचा उठा कर तथा उन्हें रोजगार के अवसर प्रदान करके जीवन को सुखमय बनाना है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए हम नीचे कुछ महत्वपूर्ण सुझाव देते हैं —

(१) कृषि में प्रगति (Progress in Agriculture)—कृषि प्रधान देश होने के कारण आगामी कुछ समय तक देश की अर्थव्यवस्था कृषि पर ही निर्भर रहेगी जिसकी प्रगति पर देश का आर्थिक विकास तथा देशवासियों के जीवन स्तर को उठाने की आशा की जा सकती है।

(२) शिक्षा का प्रसार (Spread of Education)—जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए देश में शिक्षा का प्रसार करना अत्यन्त आवश्यक है जिससे देशवासियों के ज्ञान में वृद्धि होगी तथा उनका दृष्टिकोण विकसित होगा। इससे प्रत्येक व्यक्ति समस्या के हल करने में अपना योग दे सकेगा जिससे परिवार नियोजन कार्य में सफलता मिल सकेगी।

(३) जनसंख्या का समान वितरण (Equal Distribution of Population)—जैसा कि विदित है कि भारत में जनसंख्या के घनत्व में भीषण प्रादेशिक विभिन्नता पाई जाती है। इस कारण यदि हम देश की घनी आबादी वाले क्षेत्रों से कुछ जनसंख्या उन क्षेत्रों में भेज दें जहाँ आबादी कम है तथा जिनका विकास अभी कम हुआ है तो बहुत सीमा तक समस्या के प्रकोप को कम किया जा सकता है।

(४) आत्म संयम (Self restraint)—आत्म संयम द्वारा हमारी समस्या का हल आसानी से हो सकता है। इस कारण यदि अधिक उम्र में विवाह हो और विवाह सबके लिए आवश्यक न होकर केवल उन्हीं के लिए आवश्यक समझा जाय जो अपने पैरों पर खड़े होकर अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों का भली भाँति पालन पोषण कर सकें तो अवश्य ही पैदा होने वाले बच्चों की संख्या कम होगी जिससे इस समस्या को हल करने में सफलता होगी।

(५) औद्योगीकरण (Industrialisation)—देश के औद्योगिक

से भी हम देश की जनसंख्या की समस्या सुलझा सकते हैं। औद्योगीकरण के फलस्वरूप देशवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा तथा उनका जीवन-स्तर ऊँचा होगा और साथ ही जनसंख्या के लिए जीविकोपार्जन के अनुसार उत्पन्न होने से भूमि पर जनसंख्या का भार भी कम होगा जिससे खेती की समस्याएँ भी हल हो सकेंगी।

(६) स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएँ (Measures to improve Health and Physique)—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है भारत में केवल जनसंख्या के घनत्व की ही समस्या नहीं है वरन् समस्या का गुणात्मक (qualitative) पहलू भी है। इस कारण हम देशवासियों के स्वास्थ्य तथा शक्ति को सुधारने के लिए अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएँ बनानी पड़ेंगी जिससे जनसंख्या की गुणात्मक प्रगति (qualitative improvement) हो सकेगी।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास (Emigration)—कुछ लोगों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास द्वारा अतिजनित देशों की जनसंख्या की समस्या को हल किया जा सकता है। यह सुझाव वास्तव में काफी महत्वपूर्ण है, परन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास में अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। फलतः हम सुझाव को कार्यान्वित नहीं कर सकते और संसार में कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ जातीयता (Racialism) की भावना इतनी तीव्र है जिसके फलस्वरूप कुछ जातियों को छोड़कर अन्य जातियों के लिए उन देशों के द्वार बन्द हैं। आस्ट्रेलिया की श्वेत जातीय नीति (White Australia Policy) तथा दक्षिणी अफ्रीका में जातीय प्रश्न को लेकर अभी डाक्टर वरवर्ड (Dr. Verwoerd) सरकार ने जो अत्याचार किये हैं उनसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासन एक स्वप्न मात्र है।

(८) सन्तति निग्रह (Birth Control)—देश की वर्तमान जनसंख्या की प्रगति को देखकर हम जन्म-नियन्त्रण का भी आश्रय लेना पड़ेगा, जिसके सम्बन्ध में आगे चलकर अध्ययन करेंगे।

परिवार नियोजन (Family Planning)—इस तथ्य को अस्वीकार करना कठिन है कि भारत में इस समय परिवार नियोजन की परम आवश्यकता है। जिस देश में देशवासियों का जीवन स्तर इतना निम्न तथा आर्थिक दृष्टि से भी राष्ट्र काफी पिछड़ा हुआ है वहाँ देश की जनसंख्या की वृद्धि को निरन्तर रोकने के लिए परिवार नियोजन को विशेष बल देना होगा। यही नहीं, भारत में जहाँ विवाह एक सर्वलौकिक प्रथा है और प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता है, वहाँ परिवार नियोजन का और भी महत्व बढ़ जाता है। इस कारण देश में जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार परिवार नियोजन के लिए आवश्यक कदम उठाये और हर सम्भव प्रोत्साहन प्रदान करे। देश में अधिक

से अधिक अस्पताल तथा स्वास्थ्य केन्द्र खोले जायें जहाँ विवाहित व्यक्तियों को सन्तति निग्रह सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान तथा सुविधायें प्राप्त हो सकें।

परिवार नियोजन के विभिन्न उपाय (Different Methods of Family Planning)—भारत मे जनसख्या की समस्या को हल करने के लिए परिवार नियोजन एक सरल उपाय समझा जाता है जिसके सम्बन्ध में इस समय देश में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। विशेषज्ञों ने सन्तति निग्रह के विभिन्न तरीके बताये हैं जिनके द्वारा देशवासी गर्भ निरोध मे सफल हो सकते है।

(१) सतर्क रीति (Precaution Method)—सबसे सरल उपाय सन्तति निग्रह का यह है कि सभोग के समय पति थोड़ी सतर्कता से काम ले तथा वीर्यपात से पहले ही स्त्री योनि से अपनी इन्द्री बाहर निकाल ले। इस रीति को coitus interruptun method भी कहते हैं।

(२) अप्रजनन काल (Safe period Method)—इस रीति के अनुसार पुरुष को कुछ समय तक स्त्री-सभोग से दूर रहना पड़ता है अर्थात् स्त्रियों के माहवारी के ८ दिन पश्चात् उनमें जनन काल (fertile period) प्रारम्भ होता है, इन दिनों यदि सम्भोग न किया जाय तो गर्भ रहने की आशका नही रहती।

(३) गर्भ निरोधक रीति (Use of Contraceptives)—अनेक प्रकार की रबर की बनी वस्तुओं के प्रयोग से जैसे शीथ, डायफ्रम, रबर पेसरी, डच कैप, सर्विकल कैप तथा व्यूगस कैप से भी गर्भ निरोध हो सकता है।

(४) स्परमिसाइडल रीति (Spermicidal Method)—इस रीति के अन्तर्गत कुछ ऐसी गोलिया, क्रीम अथवा जेली के प्रयोग से स्पर्म सेलों को समाप्त किया जा सकता है जिससे गर्भ की आशङ्का नहीं रहती।

(५) बाध्य कराने की रीति (Sterilization)—इस रीति के अनुसार आपरेशन (vesectomy) द्वारा स्त्री तथा पुरुष बाँझपन (sterilization) से गर्भ की चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।

रुकावटें (Obstacles)—भारत मे परिवार नियोजन म बहुत कम सफलता प्राप्त हुई है जिसके फलस्वरूप सरकार द्वारा किये गये अनेक प्रयत्नों के फलस्वरूप भी भारत की जनसख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारे देश मे अनेक कारण ऐसे है जो परिवार नियोजन के कार्य मे बाधक हैं जिनमें सबसे प्रमुख कारण है अशिक्षा एव निर्धनता। देश की अधिकाश जनता निरक्षर है जिसके कारण वह परिवार-नियोजन की विभिन्न रीतियों को समझने में असमर्थ है तथा अशिक्षित होने के फलस्वरूप सीमित दृष्टिकोण होने के कारण अधिकाश देशवासी

परिवार नियोजन का महत्व नहीं समझते। इसी प्रकार अधिकांश जनता गर्भनिरोधक सम्बन्धी आवश्यक सामग्री के खरीदने में असमर्थ है। कारण यह है कि उनकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय है कि वह इस सम्बन्ध में अपनी आय का थोड़ा भाग भी नहीं खर्च कर सकते। देश में परिवार नियोजन की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार शिक्षा का प्रसार कर लोगों की परिवार नियोजन के प्रति रुचि पैदा करे तथा कम मूल्य पर उन्हें सन्तति निग्रह सम्बन्धी आवश्यक सामग्री प्रदान करे।

जनसंख्या सम्बन्धी सरकारी नीति (Population Policy in India)—हमारे देश में कुछ साल पहिले तक जनसंख्या सम्बन्धी कोई निश्चित नीति नहीं रही। विदेशी शासन काल में सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे समस्या निरन्तर गम्भीर होती गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और यह समझा जाने लगा कि उस समय तक भारत की आर्थिक व्यवस्था में कोई भारी प्रगति नहीं हो सकती जब तक देश की जनसंख्या का एक समुचित हल न ढूंढ लिया जाय। वास्तव में यह सत्य है कि जो कुछ भी आर्थिक प्रगति हम कुछ सालों के घोर परिश्रम के पश्चात् करते हैं देश की जनसंख्या की वृद्धि उसे व्यर्थ कर देती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार देश में जगह जगह पर विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे अस्पताल खोले जहाँ जनसाधारण को विभिन्न साधनों द्वारा सन्तति निग्रह की विभिन्न रीतियों का ज्ञान कराया जा सके तथा उन्हें आवश्यक सहायता एवं परामर्श मिलने में सहायता हो।

जनसंख्या एवं पंचवर्षीय योजनाएं (Population and Five Year Plan)—जनसंख्या के सम्बन्ध में हमारी राष्ट्रीय योजना काल में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं और परिवार नियोजन में भी कुछ प्रगति हुई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने लगभग ६५ लाख रुपया परिवार नियोजन के कार्यक्रम पर खर्च किए थे। सन् १९५४ ई० में इस दिशा में एक परिवार आयोजन अनुदान समिति (Family Planning Grants Committee) की स्थापना की तथा परिवार नियोजन सम्बन्धी अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी परिवार नियोजन के कार्य में काफी प्रगति हुई। सन् १९५८ तक ८२६ परिवार नियोजन केन्द्र खोले जा चुके थे और लगभग ४६२३ पुरुषों का आपरेशन किया गया। लगभग ७४२४ स्त्रियाँ बन्ध्या कर दी गईं।

प्रश्न

1 Viewed over a long period the Indian economy has been, more or less stagnant and has failed to meet the demands of a rapidly growing population. Do you agree with the above statement? Explain fully. *(Agra, 1958 Rajputana, 1952)*

2 Discuss what do you consider to be the main problem of Indian population (*Agra 1956*)

3 Explain critically the problem of population in India How far can the population be deliberately planned and controlled ? (*Patna, 1955*)

4 In what sense is India overpopulated ? Do you advocate population control ? Give reasons (*Agra, 1956*)

5 How far do you agree with the view that the rapid growth of population in India stands in the way of economic progress ? (*Delhi*, 1953, *Agra, 1957*)

6 Write a short note on 'Family Planning' (*Agra 1960 1957 , Delhi, 1954*)

7 Examine the case for family planning in India (*Punjab, 1957*)

8 What are the major problems of population in India ? Suggest a suitable population policy for the solution of these problems (*Punjab, 1958*)



खण्ड ४

कृषि एवं उसकी समस्याएँ

अध्याय ६

१९वीं शताब्दी मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन

(A Study of Indian Economy during 19th Century)

इतिहास की दृष्टि से भारत का प्राचीन काल एक स्वर्ण काल कहलाता है। जिस समय ससार के अन्य राष्ट्र अज्ञानता के घोर अधकार म डूबे हुए थे तथा जिनसे सभ्यता का प्रकाश कोसों दूर था उस समय भारत अपनी आर्थिक, सामाजिक, आत्मिक तथा नैतिक प्रगति द्वारा उन्नति के शिखर तक पहुँच चुका था जिसके कारण ससार के नेतृत्व का भार भारत जैसे देश पर था। इस काल में भारतीय सस्कृति का वह तेजस्वी रूप था जिसमें आर्थिक उन्नति के अतिरिक्त हमारे देश म कला, साहित्य, धर्म तथा दर्शन का उच्चतम विकास हुआ। यही नहीं, यह वह समय था जब देश मे स्वर्ण एव चादी का अपार भडार था। चारो तरफ सुख-शान्ति की वर्षा होती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए भरपेट भोजन, पहनने को वस्त्र तथा देश में दूध घी की नदियाँ बहा करती थी। कला तथा उद्योग की महान् प्रगति के कारण देश में बनी हुई अनेक सुन्दर तथा कलात्मक वस्तुएँ विदेशों को जाया करती थी जिसके कारण भारत ने ससार म अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। यही नही, भारत के कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की प्रशसा प्राचीन रोम एव मिश्र जैसे सभ्य देशों मे भी की जाती थी। इतिहास साक्षी है कि भारतीय मलमल मिश्र की ममीज के आवरण के लिए प्रयुक्त होती थी। इस प्रकार व्यापार तथा उद्योगों के कारण भारत म सोना व चाँदी दूसरे देशों से ढुला चला आता था। एक लेखक के अनुसार विक्रम की पहली दूसरी व तीसरी शताब्दी में भारत का रोम साम्राज्य के साथ जो व्यापार था उसका यह फल हुआ कि पश्चिम से बह कर आने वाली नदी ने भारत को सींच दिया परतु अपनी आर्थिक समृद्धिशीलता एव सम्पन्नता के कारण भारत अन्य राष्ट्रो की आखों में खटकने लगा और किसी न किसी आकर्षण के फलस्वरूप विदेशियों ने भारत मे पदार्पण प्रारम्भ कर दिया।

विदेशियों का आगमन (Advent of Foreigners)—भारत विदेशियों के लिए सदा ही आकर्षण का कारण रहा। १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में योरोप के अनेक धर्म प्रचारकों ने भारत में आना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १४९८ ई० में सर्वप्रथम पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा कालीकट में उतरा। इसके पश्चात् डच, डेन, फ्रासीसी तथा अग्रेज इत्यादि योरोप निवासियों ने भारत में आना प्रारम्भ

कर दिया। यह जातियाँ हमारे देश में मुख्यतया व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति ही के लिए आई थीं, किन्तु कालान्तर में पारस्परिक संघर्ष के कारण एक-एक कर के इनका पतन होता गया और अन्त में अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना कर ली। अंग्रेजों से पूर्व अन्य शासकों ने भारतीय अर्थ व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन उत्पन्न होने नहीं दिया और देश का सामान्य आर्थिक जीवन प्रायः हलचल से मुक्त (undisturbed) ही रहा। परन्तु भारत में अंग्रेजी शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उस काल में अनेक ऐसे कार्य हुए जिनका देश की अर्थ व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। उनकी नीतियों ने भारत की प्राचीन अर्थ व्यवस्था की काया ही पलट दी। समृद्धिशील तथा आत्मनिर्भर भारतीय अर्थ व्यवस्था पूर्णतया छिन्न भिन्न हो गई और हमारा देश आर्थिक अवनति की ओर बढ़ने लगा।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत का आर्थिक संगठन

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के आर्थिक संगठन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं जिनका अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। अतिप्राचीन काल से भारत एक ... देश रहा है जिसके कारण देश का आर्थिक संगठन तथा सभ्यता की प्रकृति ... थी। देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में रहा करता था जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था, परन्तु उस समय भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों द्वारा भी अनेक व्यक्तियों का जीवन निर्वाह हो रहा था। यह कुटीर उद्योग न केवल भारत की जनसंख्या के अधिकांश भाग को उसकी जीविका प्रदान करने में समर्थ थे वरन् इनके द्वारा भारत की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का परिचय भी होता था। भारत भूमि में जन्मित ये अनेक उद्योग भारत के प्राचीन गौरव-प्रतीक हैं जिनसे स्पष्ट था कि भारतवासी एक सरल तथा नम्र स्वभाव के होते हुए भी विभिन्न कलाओं तथा उद्योगों से कितना प्रेम रखते थे। उनका जीवन सादा परन्तु परिश्रमशील था। विदेशी शासन द्वारा प्रभावित होने के पूर्व भारत के आर्थिक संगठन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं जिनकी देश के आर्थिक जीवन पर गहरी छाप पड़ी थी। हम इनका वर्णन नीचे करेंगे।

(१) **ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का आत्मनिर्भर होना**—भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि हमारे ग्राम आत्मनिर्भर थे, यहाँ तक कि संसार अथवा देश में जो अनेक आन्दोलन अथवा क्रान्तियाँ हुईं वे भी हमारे ग्रामीण जीवन को न प्रभावित कर सकीं। अतः उनकी सामाजिक एवं आर्थिक आत्म-निर्भरता ज्यों की त्यों बनी रही। ग्रामीण निवासी केवल अपने गाँव सम्बन्धी अनेक समस्याओं में व्यस्त रहते थे। उनका संसार तथा देश की विभिन्न बातों से कोई सम्बन्ध

न था। एक सरल तथा आत्मनिर्भर जीवन के लिए हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी। उनका जीवन सुखी एवं सम्पन्न था। देश की जनसंख्या भी इतनी न थी कि भूमि पर उसके अत्यधिक भार से कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जातीं। उनके सुखमय एवं समृद्धिशील जीवन का मुख्य कारण यह था कि उनके जीवन तथा मुख्य व्यवसाय कृषि में किसी प्रकार की कठिनाई एवं समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। खेती के लिए पर्याप्त भूमि थी जिसके कारण कृषक तथा उसके परिवार को जीवन निर्वाह के आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाते थे। जो कुछ भी अतिरेक जनसंख्या थी उसके लिए भारत में फैले हुए विभिन्न कुटीर उद्योगों द्वारा जीविका प्राप्त हो जाती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले देशवासियों के लिए अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए गाँव के बाहर का मुँह नहीं देखना पड़ता था। उनके लिए समस्त आवश्यक वस्तुएँ एवं कच्चे माल का गाँवों में पर्याप्त भण्डार था तथा देहातों में रहने वाले विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों में पारस्परिक प्रेम तथा सद्भावना के कारण किसी व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता तथा अभाव के कारण पीड़ित होने का कोई कारण ही न था।

(२) द्रव्य एक गौण स्थान के रूप में—जैसा कि उपरोक्त विवेचन से सिद्ध है कि १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे गाँव आत्मनिर्भर थे जिसके कारण बहुत सीमित मात्रा में विनिमय की आवश्यकता पड़ती थी। अधिकतर प्रचलन वस्तुविनिमय (barter) का था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा कर लिया करता था। यदि किसी समय उसे किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती थी जिसका उत्पादन उसके द्वारा नहीं होता था तो वह उस वस्तु को अपने द्वारा निर्मित किसी अन्य वस्तु द्वारा प्राप्त कर लिया करता था। गाँव में जितनी भी सेवाएँ होती थीं जैसे खेतिहर मजदूरों की सेवाएँ, नाई, कुम्हार, जुलाहे, कहार, तेली, अहीर, बढ़ई, सुनार इत्यादि, इन सभी की सेवाओं के लिए हमारे ग्रामीण बन्धु प्रायः अनाज का ही प्रयोग करते थे। इस कारण अनाज उस समय विनिमय का प्रमुख माध्यम (medium of exchange) था, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे ग्रामीण भाई मुद्रा से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। वास्तविकता यह थी कि मुद्रा का प्रचलन कम था जिसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय देश-वासियों को मुद्रा की अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। इस कारण उनके दैनिक जीवन में आधुनिक युग के विपरीत मुद्रा का महत्व गौण था। यद्यपि आज हमारे जीवन में मुद्रा का एक उच्च स्थान है पर भारत में एक ऐसा भी समय था जब कि भारतवासियों का जीवन मुद्रा की महानता (supremacy of money) से मुक्त था।

(३) सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से ग्रस्त जीवन—एक और विशेषता यह थी कि देशवासियों का जीवन विभिन्न सामाजिक रीति रिवाज तथा परम्

अप्रगतिशील जीवन व्यतीत करते रहे। उनका दृष्टिकोण अनिश्चित रहा तथा उन्नति के विभिन्न साधनों का उन्हें ज्ञान तक न होने पाया।

(६) पारस्परिक प्रतियोगिता का अभाव—भारत की प्राचीन अर्थ व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण यह भी था कि उसमें प्रतियोगिता का कोई स्थान न था। ग्राम निर्भरता तथा जाति के आधार पर विभिन्न व्यवसाय में होने के कारण पारस्परिक प्रतियोगिता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा कि विदित है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था में व्यापारिक कारण का महत्व बहुत कम था जिसके फलस्वरूप अत्यधिक लाभ कमाने की दृष्टि से की जाने वाली प्रतियोगिता बहुत कम देखने में आती थी। एक प्रकार से लोगों में अपने व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं था। जाति के आधार पर व्यवसायों के विभाजन होने के कारण जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म ले लेता था उसे उस जाति द्वारा किये गये व्यवसाय को ही अपनाना पड़ता था।

(७) कृषि में व्यापारीकरण का अभाव—१६वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक जब देश के आर्थिक जीवन में पर्याप्त क्रांति नहीं होने पाई थी तब देश के अधिकांश व्यक्तियों का प्रमुख व्यवसाय कृषि था जिसका स्वरूप भी उसके आधुनिक स्वरूप से पूर्णतया भिन्न था। मुख्यतया छोटे पैमाने पर चलाये जाने के कारण कृषि उद्योग के लिए बहुत सीमित मात्रा में श्रम तथा पूँजी की आवश्यकता होती थी। यही कारण था जो कृषि अधिकांश जनता के जीवन निर्वाह का साधन बनी हुई था। कृषक को अधिक खेतिहर मजदूरों की भी आवश्यकता न था और प्रायः वह स्वयं तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा खेती सम्बन्धी समस्त कार्य पूर्ण कर लेता था। कृषि के समक्ष अधिक समस्यायें भी न थी। भूमि पर जनसंख्या के अधिक भार न होने के कारण खेती की भूमि के अनार्थिक जोतों (uneconomic holdings) में विभक्त होने वाली वर्तमान जैसी कठी समस्या भी न थी। खेती की प्रणाली तथा पद्धति भी अत्यन्त सरल थी। कृषि में प्रयोग होने वाले औजार सादे व घरेलू हुआ करते थे। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि भारत की खेती व्यापारीकरण से मुक्त था। कृषि का अधिकांश भाग किसान अपने तथा परिवार के सदस्यों की आवश्यकता के लिए सुरक्षित रखता था। शेष भाग उसकी अन्य विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता था। वस्तुविनिमय की प्रधानता होने के कारण कृषक अनेक सेवाओं का भुगतान अनाज द्वारा करता था। जिसके फलस्वरूप कृषि का विशाल स्तरीय उत्पादन (large scale production) न होने के कारण किसान के पास बाजार में बेचने के लिए पर्याप्त मात्रा में अनाज नहीं बच पाता था जिससे कृषि में व्यापारीकरण सम्भव नहीं था।

(८) उद्योग तथा व्यापार की दशा—कृषि प्रधान देश होने हुए भी प्राचीन

काल में भारत ने औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी काफी प्रगति कर ली थी। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल तक यद्यपि देश में विशाल स्तरीय उद्योगों की भरमार नहीं थी फिर भी अपने कुटीर उद्योगों की कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन के लिए हमारा देश संसार के सब देशों से आगे था। भारत में लगे हुए कुटीर उद्योगों में अतिकुशल श्रमिकों द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर तथा मोहक वस्तुओं की प्रशंसा समस्त संसार के कला प्रेमियों द्वारा की जाती थी। फ्रांस, इटली तथा मिश्र जैसे सभ्य देशों में भारत की बनी हुई सुन्दर कलापूर्ण वस्तुओं के प्रयोग से लोग प्रसन्नता तथा गौरव अनुभव करते थे। उस काल की औद्योगिक दशा की प्रमुख विशेषता यह थी कि भारत में विशाल उद्योगों की अपेक्षा कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योगों का प्रमुख स्थान था। यही नहीं कि केवल भारत की इन कलात्मक वस्तुओं की ख्याति केवल विदेशों ही में थी वरन् स्वयं देश में तत्कालीन राजाओं व महाराजाओं के प्रोत्साहन के कारण इन वस्तुओं का विस्तृत बाजार था। भारत में बनी हुई अनेक वस्तुओं से लदे जहाज प्रायः संसार के सभी भागों में जाया करते थे जिनसे देश में अधिक मात्रा में स्वर्ण तथा [illegible] की प्राप्ति होती थी।

भारत में आर्थिक क्रान्ति का प्रारम्भ—ग्रामीण आत्मनिर्भरता, मुद्रा का अभाव, नगर तथा ग्रामों में सम्पन्न होना तथा कुटीर उद्योगों की प्रधानता जैसी प्रमुख विशेषताओं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है उनसे भारत के प्राचीन आर्थिक संगठन का विस्तृत रूप आँखों के सामने आ जाता है, परन्तु थोड़े ही समय के बाद भारत की आर्थिक स्थिति में महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। विदेशों के सम्पर्क में आने के कारण तथा उनके रीति रिवाज से प्रभावित होने के फलस्वरूप भारत की दृढ़ आर्थिक स्थिति का रूप भी बदलने लगा। अंग्रेज शासक अपने प्रारम्भ काल से ही भारत में अपना आधिपत्य जमाने का स्वप्न देख रहे थे जिसके लिए उन्होंने धीरे धीरे यहाँ के सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को बदलने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजों का अधिकार भारत में काफी गहराई तक पहुँच चुका था। अपने शासन काल में अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक नीतियों के फलस्वरूप उन्होंने भारत के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में महान् क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अब भारत में ग्रामीण आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी। विदेशियों के सम्पर्क में आने के कारण नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ तथा ग्रामीण निवासी भी अब इस नई विचारधारा से प्रभावित होने लगे। जिस देश में अपनी दैनिक आवश्यकताओं तथा सेवाओं की पूर्ति के लिए लोग वस्तु विनिमय का ही सहारा लेते थे वहाँ अब मुद्रा का चलन बढ़ गया। उत्पादन में वृद्धि होने लगी। खेती के तरीकों में परिवर्तन होने लगा जिसके कारण कृषक अपने तथा अपने परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने में समर्थ हो सके और विभिन्न सेवाओं का भुगतान अब अनाज में न होकर

मुद्रा में होने लगा जिसके कारण ग्रामीण जनता के पास बाजार में बिक्री के लिए भी अनाज की पर्याप्त पूर्ति शेष रहने लगी। जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ खेती पर भार अधिक बढ़ने लगा और अपने जीवकोपार्जन के लिए भारी संख्या में लोग शहरों में आने लगे। ब्रिटिश शासकों के सम्पर्क में आने के कारण अब देशी राजा तथा नवाबों की रुचि तथा फैशन में भी परिवर्तन होने लगा। वे अंग्रेजी सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित हो चुके थे जिसके कारण भारत के कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित विभिन्न आकर्षक तथा कलात्मक वस्तुओं की माँग घटने लगी। राजाओं तथा नवाबों के प्रोत्साहन के अभावों के कारण अनेक कुटीर उद्योग एवं दस्तकारी का विनाश होने लगा जिससे उन पर आश्रित जनसंख्या के समक्ष जीवकोपार्जन की जटिल समस्या उत्पन्न होने लगी। अधिकांश लोग बेकारी का शिकार हो गये। अंग्रेजों ने भारत को अपनी आर्थिक पूर्ति करने का साधन मात्र समझ रक्खा था। इंगलैंड तथा स्काटलैंड के अनेक उद्योगों की सफलता भारत के शोषण पर ही निर्भर थी। उनके लिए पर्याप्त मात्रा में तथा सस्ते मूल्य पर कच्चे माल की पूर्ति के लिए भारत में अंग्रेजी शासकों ने अनेक कदम उठाये। एक ओर तो अंग्रेज भारत से भारी मात्रा में कच्चा माल इंगलैंड को ले जाया करते थे दूसरी ओर वहाँ बनी हुई उसी कच्चे माल की वस्तुयें ऊँचे मूल्य पर बेचने के लिए भारत को एक विस्तृत बाजार समझा जाता था। इन सब का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और भारत की आर्थिक सम्पन्नता की मजबूत चट्टान हिलने लगी और देश के आर्थिक जीवन की नींव बिखरने लगी। फलस्वरूप देश का आर्थिक पतन प्रारम्भ हो गया।

पर ऐसा सोचना सर्वथा अन्याय ही होगा कि अङ्गरेजी शासन द्वारा भारत का केवल आर्थिक पतन ही हुआ है और उसकी प्राचीन आर्थिक व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई। सत्य तो यह है कि विदेशियों के सम्पर्क में आने तथा उनके शासन काल में अनेक ऐसी आर्थिक घटनायें हुईं तथा बहुत सी ऐसी योजनाएँ बनीं जिनसे भारत के आर्थिक जीवन में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। अब हम देश के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों तथा सामाजिक क्षेत्रों में इनके प्रभावों का परीक्षण करेंगे।

सामाजिक क्रान्ति (Social Transition)—१६वीं शताब्दी भारत के लिए एक ऐसा युग रहा है जिसमें भारत में अनेक सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन हुए जिनके फलस्वरूप भारत का सामाजिक ढाँचा पूर्णतया बदल गया। सामाजिक क्षेत्र में इस क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि भारत में ग्रामीण आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई और अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए ग्रामवासियों को औरों पर निर्भर रहना आवश्यक होने लगा। देश की प्राचीन सामाजिक संस्थायें जैसे संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली एवं जाति प्रथा का अन्त होने लगा। लोगों में व्यक्तिवाद की भावना जागृत हो गई।

शिक्षा का प्रसार तथा ग्रामीण क्षेत्रों का नगरों से सम्पर्क हीनता की समाप्ति के कारण लोगों में नई विचारधारा का सचार हुआ। देशवासियों के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देने लगा। संक्षेप में भारत के प्राचीन सामाजिक ढाँचे ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया।

आर्थिक क्रान्ति (Economic Transition)—नये विचारों के समावेश तथा नवीन विचारधाराओं से पोषित इस नवीन वातावरण में देश में हर तरफ आर्थिक क्षेत्र में भी एक नई जागृति होने लगी। विकसित राष्ट्र तथा समृद्धिशील राष्ट्र के सम्पर्क में आने से भारत के आर्थिक जीवन तथा उसकी प्राचीन अर्थ व्यवस्था में भी क्रान्ति उत्पन्न हो गई। देश में अब कृषि के साथ साथ औद्योगिक उन्नति के प्रति भी रुचि बढ़ने लगी। कृषि से उद्योग की ओर (from agriculture to industry) बढ़ने की प्रवृत्ति आर्थिक क्रान्ति का एक प्रमुख कारण थी। यही नहीं कि केवल इस काल में देश में कुछ उद्योगों का प्रारम्भ हुआ तथा भारत में नये नये उद्योगों की नींव रक्खी जाने लगी वरन् स्वयं देश के प्राचीन व्यवसाय कृषि में भी एक प्रकार की क्रान्ति सी आ गई। अब भारतीय कृषि का वह रूप नहीं था जिसमें किसान केवल अपने लिए ही उत्पादन करता हो और जिसमें श्रम व पूँजी का सीमित उपयोग होकर कृषि की प्रणाली सीधी सादी बनी हो। इस नई अर्थ व्यवस्था में भारत का कृषि में अनेक सुधार हुए। सबसे प्रमुख परिवर्तन जो भारतीय कृषि में दृष्टिगोचर हुआ वह देश में कृषि का व्यापारीकरण (commercialisation of agriculture) था जिसका अर्थ था कि अब कृषक कृषि का उत्पादन केवल अपने लिए ही न करके देश व संसार के अन्य लोगों के लिए भी करता था। विदेशी साम्राज्यवादियों, जिनका भारत पर आधिपत्य था, वे भारत से अधिक मात्रा में कच्चा माल अपने देशों में निर्यात करते थे जिससे भारतीय किसान को काफी आय होने लगी थी। भारतीय कृषक अब यह भली भाँति समझ गया था कि ऐसी अवस्था में उसके लिए केवल अपने लिए ही कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन करना उचित नहीं वरन् ऐसी अनेक वस्तुओं का जैसे चाय, कहवा, रबड़, कपास, जूट, रेशम इत्यादि जिनके उत्पादन द्वारा उसे काफी आमदनी हो सकती है। जिससे भारतीय कृषि में व्यापारीकरण की प्रवृत्ति आने लगी।

उत्पादन पद्धति में क्रान्ति (Transition in Productive Technique)—१६वीं शताब्दी में भारत में होने वाली आर्थिक क्रान्ति तथा शिक्षा के प्रसार एवं ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों में सम्पर्क स्थापित होने का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि रूढ़िवादी विचारों तथा अन्धविश्वास को छोड़कर देशवासी एक नवीन दृष्टिकोण तथा उन्नतिशील विचारों को अपनाने के लिए उत्सुक होने लगे। इस नये प्रकाश एवं नवीन चेतना के प्रकाश के फलस्वरूप भारत के किसान अब कृषि की अपनी प्राचीन रीति तथा पद्धति से घृणा करने लगे। कृषि उत्पादन पद्धति में भी

सर्वथा क्रान्ति दिखाई देने लगी। भारतीय किसान अब खेती में केवल अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से ही सन्तुष्ट नहीं था वरन् खेती के व्यापारीकरण के फलस्वरूप उसे कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी जिसके फलस्वरूप अब कृषि में खेतहर मजदूरों (Agricultural labourers) की अत्यधिक सहायता लेने लगा और कृषि उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन होने लगा। अब किसान केवल कुओं तथा तालाबों से ही अपने खेत नहीं सींचता था वरन् सिंचाई की सुविधाओं के लिए देश के अनेक भागों में नहरों का निर्माण हो गया था जिससे भारतीय किसान को काफी लाभ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial transition)—सन् १८६६ ई० में स्वेज नहर (Suez Canal) के खुल जाने से भारत के उद्योग एवं व्यापार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके कारण भारत की अन्य देशों से पृथक करने वाली दूरी कम हो गई। उदाहरण के लिए केप की ओर से (Via Capetown) बम्बई से लदन (London) लगभग दस हजार छै सौ (१०,६००) मील से अधिक की दूरी पर है जब कि स्वेज नहर के खुल जाने के पश्चात् यह फासला घटकर केवल ६,२७४ मील ही रह गया जिससे लगभग दूरी में ४१ २ प्रतिशत की कमी हो गई।*

यही नहीं स्वेज नहर के खुलने से केवल भारत से अन्य देशों की दूरी में कमी हो गई वरन् इसका भारत की अर्थ व्यवस्था पर अनेक प्रकार से गहरा प्रभाव पड़ा। भारत के विदेशी व्यापार में महान प्रगति होने का मुख्य कारण स्वेज नहर का खुलना ही था। इस नहर के खुलने तथा दूरी में कमी के कारण किराये (Freights) में पर्याप्त कमी हो गई जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत से भारी मात्रा में कच्चे माल के निर्यात तथा उसके बदले में निर्मित वस्तुओं के आयात में और भी प्रोत्साहन मिला और अब विदेशों में बनी वस्तुयें, आयात के खर्चे में कमी के कारण, कम व सस्ते मूल्य पर बिकने लगा। इसके दो मुख्य परिणाम हुए। पहला तो यह कि भारत को अपने उद्योगों के लिए आधुनिक यन्त्र तथा साज-सज्जा कम मूल्य पर प्राप्त होने लगी परन्तु साथ ही दूसरा परिणाम यह हुआ कि इससे भारत के प्राचीन कुटीर उद्योगों को भारी क्षति भी पहुंचने लगी और अनेक भारतीय उद्योगों तथा दस्तकारियों का विनाश प्रारम्भ हो गया।

इस काल में भारत में अनेक आधुनिक सुविधायें उपलब्ध होने लगीं। देश में *रेल यातायात तथा जलयातायात के साधनों की सुविधाओं के कारण देश के आर्थिक* तथा औद्योगिक विकास में बड़ी सहायता मिली। देश में बड़े बड़े उद्योग स्थापित होने लगे जिनमें आधुनिक यन्त्र तथा मशीनों द्वारा उत्पादन होने के फलस्वरूप भारी सख्या

*M Halayya *A Text book of Economic History* p 27

में बेकार लोगों को रोजगार प्राप्त हुआ। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र तथा नगरों की स्थापना होने लगी जिसके फलस्वरूप देश की जनसंख्या के नगर तथा ग्रामों में वितरण में भी काफी परिवर्तन हो गया।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि १९वीं शताब्दी में भारत में जो आर्थिक, सामाजिक तथा औद्योगिक क्रान्ति हुई उससे देश की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था पूर्णतया परिवर्तित हो गई जिसके परिणाम-स्वरूप देश का आर्थिक ढांचा ही बिल्कुल बदल गया। विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली क्रान्ति द्वारा उत्पन्न इस नवीन अर्थ व्यवस्था में भारत के भावी औद्योगीकरण तथा आर्थिक प्रगति की नींव तो अवश्य पड़ गई है परन्तु फिर भी अनेक कारणों से देश का सम्पूर्ण आर्थिक एवं औद्योगिक विकास नहीं हो सका। संसार के अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारत फिर भी एक पिछड़ा तथा अर्धविकसित राष्ट्र बना रहा जिसके कारण भारतवासियों का जीवन स्तर बहुत निम्न है।

प्रश्न

1 What do you know about the economic transition in India during 19th Century? What were its causes and affects on the economic life of the country? *(Lucknow 1944)*



अध्याय ७

भारत में कृषि का महत्व तथा उसकी समस्याएँ

(Importance of Agriculture and its Problems in India)

प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन की कुछ विशेषतायें होती हैं जिनका राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अर्थ व्यवस्था की प्रकृति तथा देशवासियों की आर्थिक क्रियाओं का इनके द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। अत राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के औद्योगिक एव आर्थिक विकास में इन विशेषताओं को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए औद्योगिक राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि वहाँ प्रथम उद्योग सम्बन्धी व्यवसायों जैसे खनिज उद्योग व इन्जीनियरिंग उद्योगों का विकास किया जाये जिसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन म वृद्धि होने से राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि होती जाय। इसी प्रकार एक कृषि प्रधान देश की आर्थिक उन्नति तथा समृद्धि के लिये पहले कृषि की दशा को सुधारना होगा। बिना उन्नतिशील कृषि के देश की अर्थ व्यवस्था में वास्तविक सुधार होना असम्भव है। यही दशा हमारे देश की है। एक कृषि प्रधान देश होने के कारण अधिकाश जनता खेती के व्यवसाय में लगी हुई है, अत राष्ट्रीय विकास की योजनाओं को सफल बनाने तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यकता इस बात की है कि कृषि क क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो। यही हमारा अर्थ व्यवस्था का आधारभूत तथ्य है।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान (Place of agriculture in Indian economy)—भारत सदा से ही कृषि प्रधान देश रहा है। वैसे तो प्रत्येक देश में उसकी जनसंख्या के पालन पोषण तथा उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चे माल की पूर्ति की समस्या को हल करने के लिये कृषि का महत्व होता है, परन्तु भारत में कृषि का एक विशेष स्थान है। हमारे आर्थिक जीवन का आधार स्तम्भ कहलाने का गौरव केवल कृषि को ही प्राप्त है। प्राचीन काल से ही यह हमारे देश वासियों का मुख्य व्यवसाय रहा है। कृषि उद्योग भारत का सर्व श्रेष्ठ उद्योग है। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व जब देश में यातायात सम्बन्धी सुविधायें बहुत कम थीं कृषि उत्पादन का क्रय विक्रय केवल गाँव तक ही सीमित था। हमारे गाँव आत्मनिर्भर थे तथा बाहरी दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध न था। यातायात के साधनों के विकास से कृषि उत्पादन के बाजार में भी विस्तार हुआ, अत. कृषि का व्यापारीकरण हो गया। यद्यपि वर्तमान समय में हमारे देश के समक्ष खाद्य पूर्ति की गम्भीर समस्या उपस्थित है, ...

हमारे देश से विभिन्न प्रकार की कृषि वस्तुओं का निर्यात किया जाता है। खाद्य समस्या को हल करने के लिये किये गये प्रयत्नों से कृषि की उन्नति तथा उसमें सुधार किये जाने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि बिना उन्नतिशील कृषि के देश की आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है। देश के आर्थिक विकास के लिये निर्मित पञ्चवर्षीय योजनाओं की सफलता भी कृषि की उन्नति एवं विकास पर ही निर्भर है।

हमारे देश के प्राकृतिक साधनों में सबसे प्रमुख साधन "भूमि" है। उत्पत्ति के लिये आवश्यक पाँच साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, साहस एवं संगठन में जिन दो उत्पत्ति के साधनों का हमारे देश में बाहुल्य है वे हैं भूमि व श्रम (Land and labour)। देश की अधिकांश जनता एवं जन शक्ति भूमि पर आश्रित है। इसी कारण देश की अर्थ व्यवस्था में कृषि का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से देश की जन संख्या का अधिकांश भाग खेती के व्यवसाय में लगा हुआ है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग ७० प्रतिशत भाग अर्थात् ३५६६ लाख व्यक्तियों में से लगभग २४ करोड़ ९० लाख कृषि द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। कुल जन-संख्या का लगभग ३० प्रतिशत ही भाग ऐसा है जो कृषि से भिन्न व्यवसायों पर निर्भर रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि देश की जनसंख्या के प्रत्येक दस व्यक्तियों में से सात व्यक्ति ऐसे हैं जो कृषि या उससे सम्बन्धित कार्यों में संलग्न हैं। कृषि में लगी हुई इस जन संख्या पर ही राष्ट्र के चालीस करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करने का उत्तरदायित्व है। परन्तु इस समय खाद्य सामग्री की पूर्ति के अभाव के कारण देश की आवश्यकता का कुछ भाग विदेशों से आयात करना आवश्यक हो जाता है।

कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत है। सन् १९५५ के राष्ट्रीय आय के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार भारत में कृषि (पशु इत्यादि समेत) व्यवसाय द्वारा ४,२२० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय प्राप्त हुई। यह उस वर्ष की कुल राष्ट्रीय आय का ४३.७ प्रतिशत भाग है। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषि हमारी राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण साधन है। संसार के अन्य देशों में कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय भारत की तुलना में बहुत कम है जैसा कि निम्न तालिका से विदित है।

कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय (१९५४)

राष्ट्र	कृषि द्वारा प्राप्त आय (करोड़ रुपये में)	कुल राष्ट्रीय आय [illegible] प्रतिशत
भारत	४२२०.०	४३.७
जापान	१९७१.१	२१.८
यूनाइटेड किंगडम	१०२०.०	४.६
संयुक्त राज्य अमेरिका	७२७१.६	४.३

हमारे देश द्वारा किये गये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी कृषि का महत्व कम नहीं है। भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली विभिन्न वस्तुयें कृषि से सम्बन्धित हैं, जैसे जूट, तम्बाकू, चाय, तिलहन, लाख इत्यादि। इन वस्तुओं के निर्यात से देश को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। जहाँ तक खाद्य सामग्री का प्रश्न है, भारत की दशा इस समय वास्तव में बड़ी शोचनीय है। देश में जनसंख्या के लिए पर्याप्त खाद्य सामग्री के अभाव के फलस्वरूप भारत को हर वर्ष अपनी आवश्यकता का लगभग १० प्रतिशत भाग विदेशों से आयात करना पड़ता है। आयात किये गये इस खाद्य सामग्री से राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था पर बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। एक ओर जबकि विदेशों से आयात किये गये गेहू तथा अन्य प्रकार की खाद्य सामग्री की किस्म (quality) निम्न श्रेणी की होती है, जो एक प्रकार से निर्यात करने वाले देशों के लिए अतिरेक (surplus) के समान होती है, वा दूसरी ओर भारी मात्रा में खाद्यान्न के आयात के लिए राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग विदेशों को चला जाता है। इससे हमारी विकास सम्बन्धी योजनाओं को पूरा करने मे कठिनाई उपस्थित होती है। किसी समय हमारे देश को विश्व के खाद्य भण्डार का खलिहान (Grainary of the world) कहलाने का गौरव प्राप्त था, परन्तु आज स्थिति बड़ी गम्भीर है। सन् १९३७ म भारत से बर्मा के अलग हो जाने के पश्चात देश में खाद्यान्न की बराबर कमी अनुभव की जा रही है। १९५७ १९५८ में क्रमश ३ ५ और ३ ८७ मिलियन टन अनाज का आयात किया गया जिसका मूल्य क्रमश १६२ २, १२० ५ करोड़ रुपया होता है।* द्वितीय एव आगामी पचवर्षीय योजना में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान देने के फलस्वरूप भारत न केवल खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की दशा को प्राप्त कर लेगा वरन् ऐसी आशा की जाती है कि पुन वह अपने उत्पादन का कुछ भाग विदेशों को निर्यात करने म भी समर्थ हो सकेगा।

भारत के औद्योगिक विकास के क्षेत्र में भी कृषि का महत्व कुछ कम नहीं है। देश में प्रतिस्थापित अनेक उद्योगों म कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति करते रहने के लिए भी भारतीय कृषि को उन्नतिशील और समृद्धि शील अवस्था मे लाना अत्यन्त आवश्यक है। भारत के कुछ उद्योग जैसे सूती वस्त्र उद्योग, चीनी, तथा जूट उद्योग ऐसे उद्योग हैं जिनके भावी विकास के लिए हमें उनके लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन जैसे कपास, पटसन, गन्ना, इत्यादि कृषि वस्तुओं के उत्पादन में बराबर वृद्धि करते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। देश विभाजन के पश्चात् जूट उद्योग के समक्ष कच्चे माल की पर्याप्त मात्रा प्राप्त करने की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। अत इस उद्योग का भविष्य मुख्यतया जूट के आन्तरिक उत्पादन पर ही निर्भर करता है। इन कारणों से

*India and World Economy, p 66

यह स्पष्ट होता है कि भारत की अर्थ व्यवस्था में कृषि का एक महत्वपूर्ण स्थान है। संक्षेप में राष्ट्र की उन्नति कृषि की उन्नति पर निर्भर करती है।

कृषि उत्पादन की विशेषतायें (Characteristics of agricultural production)—पूर्व इसके कि हम भारत की कृषि की समस्याओं का अध्ययन करें यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि कृषि उत्पादन की मुख्य विशेषतायें क्या हैं तथा औद्योगिक उत्पादन से कृषि उत्पादन किस प्रकार भिन्न है? कृषि संसार के प्रमुख व्यवसायों में गिना जाता है। प्रत्येक देश में कृषि अथवा कृषि से प्राप्त वस्तुओं का महत्व अवश्य होता है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए या तो देश स्वयं उसका उत्पादन करता है अथवा अन्य देशों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन वस्तुओं का आयात करता है। एक कृषि प्रधान देश का हित इसी में है कि वह कृषि उत्पादन सम्बन्धी अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर हो। कृषि उत्पादन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रकृति पर बहुत निर्भर रहती है। प्रकृति पर निर्भरता के कारण कृषि में बाढ़, सूखा, टिड्डी आगमन, अनेक प्रकार के रोगों आदि दैव प्राकृतिक प्रकोपों का सदैव भय बना रहता है। कृषि उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) अधिक शीघ्रता से लागू होने लगता है। औद्योगिक उत्पादन में काफी समय के बाद इस नियम की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और उत्पादन के आकार में वृद्धि कर देने से बहुत हद तक उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रवृत्ति को दूर किया जा सकता है, परन्तु कृषि में भूमि की मात्रा सीमित होने के कारण उत्पादन बढ़ाने में कठिनाई होती है।

कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति प्राय जल्दी नष्ट होने वाली होती है जिसके कारण कृषिकों के सामने अन्न संग्रह की विकट समस्या होती है, अन्न फसल कटने के बाद ही बाजार में पूर्ति अधिक बढ़ जाती है और वस्तुओं के दाम गिरने लगते हैं। कभी कभी पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण कृषिकों को अपने उत्पादन के उचित मूल्य प्राप्त करने में भी बाधा पहुँचती है जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। कृषि व्यवसाय की उपरोक्त विशेषताओं का कृषि उत्पादन एवं कृषकों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करते समय इन्हें ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

interests, and farmers in the course of their pursuit of a living and a private profit are the custodians of the bases of national life.*

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएँ

(Main features of Indian agriculture)

संसार के अन्य देशों की भाँति भारत के कृषि उत्पादन में भी उपरोक्त विशेषतायें चरितार्थ होती हैं। परन्तु कृषि उत्पादन की इन मौलिक विशेषताओं के अतिरिक्त भारतीय कृषि की कुछ और प्रमुख बातें विशेष महत्व की हैं जिनके सम्बन्ध में जानकारी होना भारतीय कृषि की विभिन्न समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(१) भारतीय कृषि की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ सिंचाई के पर्याप्त साधन उपलब्ध न होने के फलस्वरूप कृषि वर्षा पर ही मुख्यतया निर्भर करती है, परन्तु वर्षा के अनिश्चित, अपर्याप्त एवं समय पर न होने के कारण कृषिकों के सामने गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(२) हमारे खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होना तथा उनके छिटके होने के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि करना कठिन हो जाता है।

(३) भारतीय कृषि की एक विशेषता यह भी है कि भूमि क्षरण जैसी समस्याओं के कारण भारत की कृषि भूमि की उपज में निरन्तर ह्रास होती जा रही है जिसके फल स्वरूप प्रति एकड़ उत्पादन में कमी होने की समस्या उत्पन्न हो गई है।

(४) भारतीय कृषि बड़ी पिछड़ी अवस्था में है। प्राचीन उत्पादन पद्धति तथा खेती सम्बन्धी अनेक सुविधाओं की कमी के कारण भारतीय कृषि की दशा बड़ी शोचनीय है।

(५) भारतीय कृषक की अज्ञानता एवं निरक्षरता कृषि की उन्नति में बाधक है। किसानों के पास पूँजी की पर्याप्त मात्रा न होने के कारण अपनी आवश्यकताओं के लिए ऋण लेना पड़ता है। सामाजिक रीति रिवाज एवं परम्पराओं के कारण किसान अपव्यय का शिकार हो जाता है जिसके कारण उसे भारी ब्याज पर ऋण लेने की आवश्यकता होती है जिसका उसके आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(६) भारतीय कृषि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभी तक भारत के कृषि उद्योग में विज्ञान के प्रयोग का अभाव है। संसार के अन्य राष्ट्रों में वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा कृषि उत्पादन में पर्याप्त उन्नति कर ली गई है। भारतीय कृषि अभी तक वैज्ञानिक प्रयोगों एवं अनुसंधानों से लाभान्वित होने में असमर्थ रही है। यही भारतीय कृषि की समस्याओं का मूल्य कारण है।

---

*Quoted in Theory and Practice of Co-operation in India and Abroad, Vol. III

भूमि उपयोग (Land Utilisation)

भारत में कृषि योग्य भूमि कितनी है, इसकी जानकारी करना अत्यन्तआवश्यक है। देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग ८१.१ करोड़ एकड़ है। इसमें से केवल ७२.२ करोड़ एकड़ भूमि के प्रयोग के सम्बन्ध में ही आँकड़े उपलब्ध है। लगभग ८.६ करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है जिसके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी का अभाव है। भारत की ७२.२ करोड़ एकड़ भूमि का उपयोग निम्नतालिका में प्रदर्शित किया गया है।

भूमि	क्षेत्रफल (करोड़ एकड़ में)
कुल क्षेत्रफल	८१.१
उपयोग की जाने वाली भूमि	७२.२
वन प्रदेश	१३.३
खेती में प्रयुक्त भूमि	३१.५
खेती योग्य अप्राप्य भूमि	१२.२
कृषि योग्य व्यर्थ भूमि	९.५
ऊसर भूमि	५.८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में लगभग ३१.५ करोड़ भूमि ही ऐसी है जिस पर खेती की जाती है वैसे तो परती भूमि मिलाकर भारत में कुल खेती योग्य भूमि लगभग ३८.३ करोड़ एकड़ है परन्तु ३१.५ करोड़ एकड़ ही भूमि पर खेती की गई थी। १९५६-५७ में ३२.० करोड़ एकड़ भूमि पर खेती की गई थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि करने के प्रयत्न किये गये हैं। केन्द्रीय एवं राज्यकीय ट्रैक्टर संगठनों द्वारा लगमग २३ लाख एकड़ भूमि को खेती योग्य भूमि बनाने का कार्य किया गया। भारत की कुल खेती योग्य भूमि को अगर भारतीय किसानों में वितरित किया जाय तो प्रति व्यक्ति भूमि लगभग १.१ एकड़ आवेगी। संसार के अन्य देशों में प्रति व्यक्ति जोती हुई भूमि भारत की तुलना में कहीं अधिक है। निम्न तालिका में हम भारत तथा संसार के कुछ प्रमुख देशों में प्रति व्यक्ति जोती गई भूमि का प्रदर्शन करते हैं।

राष्ट्र	प्रति व्यक्ति जोती गई भूमि (एकड़)
भारत	१.१
अमेरिका	३.१७
आस्ट्रेलिया	४.७१
कनाडा	५.२९

मुख्य फसलें (Main crops)

भारत की फसलें मुख्यतया दो प्रकार की हैं—खाद्य फसलें (Foodcrops) और अखाद्य फसलें (Non food crops)। वस्तु भारतीय कृषि उत्पादन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ अधिक मात्रा में उपजाऊ भूमि उपलब्ध होने के कारण तथा पर्याप्त वर्षा एवं विभिन्न प्रकार की आवश्यक जलवायु के कारण कृषि उत्पादन में बड़ी सहायता मिलती है जिसके फलस्वरूप भारत में विभिन्न प्रकार की फसलें बोई जाती हैं। दूसरी विशेषता भारतीय कृषि की यह है कि यहाँ खाद्य फसलों का प्रमुख स्थान है अर्थात् कृषि योग्य भूमि के ८० प्रतिशत भाग पर ऐसी वस्तुओं का उत्पादन होता है जो खाद्य पदार्थों की श्रेणी में आती हैं जैसे चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, जौ, मक्का, दालें इत्यादि। केवल २० प्रतिशत क्षेत्र पर ही अन्य प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है। निम्न तालिका में हम १९५८ ५९ में देश में उगाई गई मुख्य फसलों का क्षेत्रफल एवं उत्पादन प्रदर्शित कर रहे हैं

मुख्य फसलों का क्षेत्रफल एवं उत्पादन (१९५८ ५९)*

फसल	कुल क्षेत्रफल (लाख एकड़ में)	उत्पादन (लाख टन में)
चावल	८१५ ६०	२९७ २१
गेहूँ	३०९ ६६	६६ ६४
ज्वार	४२६ ०८	८६ ८६
बाजरा	२७६ ०५	३७ ६१
मक्का	१०३ १४	२६ ६०
रागी	५६ ३०	१७ २२
जौ	८१ ८६	२६ ४०
दालें	५८६ ७०	१२२·०८
कुल	२७८६ ०३	७३५ ०३

उपरोक्त तालिका में प्रमुख खाद्यान्न फसलों के सम्बन्ध में आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु खाद्य फसलों के अतिरिक्त भारत में अखाद्य फसलों का भी काफी महत्व है। निम्न तालिका में हम तिलहन, कपास, तम्बाकू चाय, गन्ना, पटसन इत्यादि फसलों से सम्बंधित क्षेत्रफल एवं उनके उत्पादन के सम्बन्ध में आँकड़े दे रहे हैं :–

*India, 1960, p 240

फसल	कुल क्षेत्रफल (लाख एकड़)	कुल उत्पादन (लाख टन में)
तिलहन	३३४.२	५६.१
कपास	२०१.६	५७.५
पटसन	१७.५	४०.६ (लाख गाँठ)
गन्ना	५०.२	६४१.४
तम्बाकू	६.३	२.५
चाय	७.८	६.८ (लाख पौंड)
कहवा	२.४	६८.० (लाख पौंड)
रबर	१.८	४९.० (लाख पौंड)

खाद्य फसलें

चावल—चावल भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसलों में गिना जाता है देश की कृषि-योग्य भूमि के लगभग ३.५ प्रतिशत भाग पर चावल की खेती होती है। भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन चावल ही है। १९५८-५९ में इसका क्षेत्रफल लगभग ८१५.६ लाख एकड़ और उपज २९७.२१ लाख टन थी। चावल एक खरीफ की फसल होने के कारण नवम्बर दिसम्बर के महीने में काटी जाती है। भारत में चावल की समस्या १९३५ में बर्मा के अलग हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। अपनी आवश्यकता के लिए भारत को चावल विदेशों आयात करना पड़ता है। पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश, असम, मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, इत्यादि प्रदेश चावल के प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं।

गेहूँ—भारत में शीत ऋतु में गेहूँ की खेती होती है। गेहूँ देशवासियों का प्रमुख भोजन है। वैसे तो इसके उत्पादन के लिये वर्षा की आवश्यकता होती है परन्तु कम वर्षा वाले स्थानों में सिंचाई द्वारा इसकी पैदावार के लिये पर्याप्त जल उपलब्ध कर लिया जाता है। गेहूँ के उत्पादन के लिए दुमट मिट्टी सबसे अधिक लाभदायक है। इस कारण देश की कुल उपज का लगभग ३५ प्रतिशत भाग केवल उत्तर प्रदेश से ही प्राप्त होता है। शेष उत्पादन पंजाब, बिहार, बम्बई, राजस्थान से प्राप्त होता है। १९५८-५९ में इसका क्षेत्रफल ३०९.६६ लाख एकड़ था जिसमें लगभग ९६.९४ लाख टन की उपज हुई थी।

जौ—जौ भी देश में भोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यह अधिकतर निर्धन एवं कम आय वाले व्यक्तियों का लोकप्रिय अनाज है। इसका प्रयोग बियर (Beer) बनाने के लिए भी किया जाता है और साथ ही पशुओं के चारे के लिए भी। इस कारण

कृषकों के लिए यह द्राविक फसल होने के कारण अधिक महत्व की है। उसका उत्पादन उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार, मध्य प्रदेश, पञ्जाब, राजस्थान आदि में अधिक होता है। १९५८-५९ में इसकी कुल उपज २६ ४० लाख टन थी।

ज्वार बाजरा एवं रागी—ज्वार, बाजरा, रागी को घटिया किस्म की फसलों में गिना जाता है परन्तु देश की निर्धन जनता के भोजन के लिए इनका महत्व कम नहीं है। सन् १९५८-५९ में ज्वार, बाजरा तथा रागी का उत्पादन क्रमश: ८६ ८६ लाख टन, ३७ ६१ लाख टन और १७ २२ लाख टन था।

दालें—दालें भारत के लिए अत्यन्त महत्व की हैं। देश की अधिकांश जनता शाकाहारी होने के कारण लगभग सारे देश में दालों का उपभोग किया जाता है। दालें प्राय देश के सभी क्षेत्रों में उत्पन्न की जाती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका महत्व अधिक है क्योंकि इनसे प्रोटीन काफी मात्रा में प्राप्त होती है। सन् १९५८-५९ में लगभग ५८६ ७ लाख एकड़ में दालों की काश्त हुई थी जिसकी कुल उपज लगभग १२९ ०८ लाख टन थी। बिहार, पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, बम्बई, आदि राज्य इसके लिए प्रमुख हैं।

गन्ना—यह भारत की प्रमुख व्यापारिक फसल गिनी जाती है तथा देश का एक प्रमुख उद्योग—चीनी उद्योग—इसी पर आधारित है। गन्ने के उत्पादन की दृष्टि से विश्व में भारत का प्रथम स्थान है। सन् १९५७-५८ में देश में लगभग ५० २ लाख एकड़ भूमि पर गन्ने की खेती हुई थी। उसी समय इसका उत्पादन लगभग ६४१ ४ लाख टन था। उत्तर प्रदेश, जो गन्ने का प्रमुख उत्पादक है, के अतिरिक्त बम्बई, मद्रास, आसाम, बिहार, पञ्जाब, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में भी गन्ने का उत्पादन होता है।

अखाद्य फसलें (Non food crops)

कपास (Cotton)—कपास के उत्पादन के लिए काली मिट्टी सबसे बढ़िया है। इसके लिए पर्याप्त वर्षा तथा उच्च तापक्रम की भी आवश्यकता है। इस कारण भारत में कुल उत्पादन का लगभग ६०% भाग दक्षिणी भारत से ही प्राप्त होता है। इसके उत्पादन के मुख्य क्षेत्र बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश आदि राज्य हैं। संसार में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत रूस के पश्चात ही भारत की गणना होती है। भारत में अच्छी किस्म की कपास अधिक पैदा न होने के कारण देश की सूती मिलों की आवश्यकता के लिए बढ़िया किस्म की कपास मिस्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों से आयात की जाती है। १९५७-५८ में कपास का कुल उत्पादन ४७ ०५ लाख गाँठ हुआ था। एक गाँठ का भार लगभग ३९२ पौंड होता है। भारत में १९८ लाख एकड़ के क्षेत्रफल से अधिक भूमि पर कपास का उत्पादन किया जाता है।

पटसन (Jute)—संसार में पटसन के कुल उत्पादन का लगभग ६६% भाग अविभाजित भारत में होता था। इस कारण देश के विभाजन के पूर्व जूट के उत्पादन का भारत को एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु अब दशा बदल गई है। विभाजन के फलस्वरूप जूट के उत्पादन क्षेत्र अधिकांश पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत को जूट की मिलों के लिये देश का पाकिस्तान से आयात किये गये जूट पर निर्भर रहना होता है। इस कारण देश में जूट का उत्पादन बढ़ाने के लिए सक्रिय प्रयत्न किये जा रहे हैं।

तिलहन (Oil seeds)—मूँगफली, सरसों, अलसी, तिल एवं रेंडी ही प्रमुख फसल भारत में उगाई जाती हैं। इनका उपयोग पशुओं को खिलाने, तेल निकालने एवं साबुन तथा वनस्पति घी जैसे उद्योगों में किया जाता है। सन् १९५७-५८ में इन पाँचों प्रकार के तिलहन का उत्पादन लगभग ३३४.२ लाख एकड़ भूमि पर किया गया था जिसका कुल उत्पादन लगभग ५६ लाख टन था। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, बिहार और आसाम इसके उत्पादन के मुख्य क्षेत्र हैं।

चाय (Tea)—संसार में चाय का सबसे बड़ा उत्पादक चीन है, दूसरा स्थान भारत का है। आन्तरिक उपभोग के अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा महत्व निर्यात की दृष्टि से है। भारतीय चाय संसार के अनेक देशों को निर्यात की जाती है। सन् १९५७-५८ में भारत से लगभग ११६ करोड़ रुपये की चाय का निर्यात हुआ था।

रबर (Rubber) दक्षिणी भारत में अधिकांश रबर का उत्पादन होता है। केवल केरल राज्य में ही कुल देश का लगभग ९० प्रतिशत रबर पैदा होता है। केरल के अतिरिक्त मद्रास और मैसूर राज्यों में भी रबर का उत्पादन होता है। सन् १९५८-५९ में भारत में लगभग ४६ लाख पौंड रबर का उत्पादन हुआ था।

तम्बाकू (Tobacco)—संसार के प्रमुख तम्बाकू उत्पादक देश संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन हैं। तम्बाकू के उत्पादन की दृष्टि से संसार में भारत का तृतीय स्थान है। यों तो सारे देश में तम्बाकू किसी न किसी मात्रा में उत्पन्न होता है परन्तु बिहार, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा पश्चिमी बंगाल तम्बाकू के प्रमुख उत्पादक हैं। लगभग २.९३ लाख टन तम्बाकू का उत्पादन सन् १९५८-५९ में किया गया था।

कहवा (Coffee)—कहवा भी दक्षिणी भारत में अधिक उत्पन्न होता है। मैसूर तथा मद्रास कहवा के प्रमुख उत्पादक हैं। कहवे का अधिकांश भाग निर्यात के काम आता है। सन् १९५७-५८ में ८८ लाख पौंड कहवा उत्पन्न किया गया।

भारतीय कृषि की समस्याएँ

वर्तमान समय में भारत की सबसे प्रमुख समस्या उसकी कृषि की समस्या

है। वास्तव में भारत, जो कभी संसार के अन्य-देशों के लिये भी खाद्य सामग्री उत्पन्न करता था, आज उसकी अधिकांश जनसंख्या कृषि व्यवसाय में लगी होने पर भी वह अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त खाद्य उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसके कारण राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक भारी भाग प्रति वर्ष देश-वासियों के लिए आवश्यक भोजन के आयात करने में व्यय कर दिया जाता है। हमारी कृषि की समस्या ही वर्तमान में देश की अत्यन्त गम्भीर समस्या है। बिना कृषि की समस्या हल किये भारत का आर्थिक विकास सम्भव नहीं। यदि हम देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय की तुलना करें तो हमें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले तथा नागरिक क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय में भारी अन्तर दिखाई देगा। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों की कृषि व्यवसाय में लगी जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय १८० रुपये है परन्तु दूसरे कार्यों में संलग्न व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति आय का अनुमान ४१६ रुपया लगाया गया है। अतः इससे स्पष्ट है कि वैसे तो समस्त राष्ट्र ही निर्धन व्यक्तियों से बसा हुआ है, परन्तु भारत की ग्रामीण जनता की दशा अत्यन्त दयनीय है जिसका मुख्य कारण भारतीय कृषि के समक्ष अनेक समस्याओं का उपस्थित होना है। इन समस्याओं को हल करने पर ही हम देश के कृषि-उत्पादन में वृद्धि करके ग्रामीण निवासियों तथा समस्त देश-वासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर उनका जीवन सुखमय बनाने में समर्थ हो सकेंगे। भारतीय कृषि की निम्न प्रमुख समस्यायें हैं जिनके कारण भारतीय कृषि एक पिछड़ी हुई अवस्था में है—

भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारण

(१) भूमि पर जनसंख्या का भार—भारतीय कृषि की सबसे प्रमुख समस्या भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार होना है जिसके कारण हमारा देश एक कृषि-प्रधान देश होते हुए भी कृषि की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई अवस्था में है। खेती के व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन कम होना स्वाभाविक ही है। तथा इन छोटे-छोटे खेतों में खेती के आधुनिक तरीकों को अपनाने में भी अत्यन्त कठिनाई होती है। इस समस्या को हल करने के लिए हमें रोजगार के अन्य अवसरों की उप-लब्धि के लिए नये नये उद्योग-धन्धों का विकास करना आवश्यक है।

(२) खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होना तथा छिटके होना—खेती की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि खेत काफी बड़े हों जिनके अन्दर हम आधुनिक यन्त्रों तथा ट्रैक्टरों से सुगमता से खेती कर सकें परन्तु भारत में खेत बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गये हैं। भारत में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ खेत का औसत क्षेत्रफल केवल २½ एकड़ ही है। छोटे छोटे टुकड़ों में तथा उनके सर्वत्र बिखरे

होने के कारण हमारी खेती एक पिछड़ी अवस्था में है। चकबन्दी द्वारा ही हम इस समस्या को हल कर सकते हैं जिससे हमारी कृषि में पर्याप्त सुधार सम्भव हो सकता है।

(३) उत्तरदायित्व का अभाव—कृषि के क्षेत्र में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के बीच उत्तरदायित्व के अभाव के कारण कृषि को भारी क्षति हो रही है (Divided responsibility is hitting agriculture)। कृषि की समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारों के कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की अपनी जिम्मेदारी का अनुभव न कर अपने लिए आवश्यक खाद्यान्न के लिए केन्द्रीय सरकार पर सदैव निर्भर करते रहने की प्रवृत्ति को दूर करने के लिए संविधान का संशोधन किया जाय जिससे कृषि सम्बन्धी समस्त अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास आ जायें।

(४) वर्षा पर अत्यधिक निर्भर होना—अच्छी उपज के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी की आवश्यकता है, परन्तु भारत में सिंचाई के कृत्रिम साधनों की अपर्याप्त मात्रा में उपलब्धि के कारण भारतीय कृषक को अपनी उपज के लिए वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु वर्षा का ठीक समय पर तथा समान वितरण न होने के कारण खेती को बड़ी क्षति पहुँचती है। वर्षा अधिक हो जाने से बाढ़ आ जाती है और फसल को नुकसान पहुँचता है। वर्षा न होने अथवा कम होने के फलस्वरूप कभी कभी सूखा पड़ जाने का भय रहता है। इस कारण संक्षेप में भारतीय कृषि मानसूनी जुआ (gamble in monsoons) के नाम से विख्यात है।

(५) दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था—भारत में प्रचलित भूमि व्यवस्था दोषपूर्ण होने के कारण खेती की उन्नति में बाधा पहुँचती है तथा इसका कृषकों की कार्यक्षमता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। भारत में जमींदारी प्रथा के प्रचलित होने के कारण खेती एक पिछड़ी अवस्था में रही है, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषक को अपनी भूमि में सुधार करने तथा उसके उत्पादन में वृद्धि करने की प्रेरणा मिली है। आवश्यकता इस बात की है कि कृषक और सरकार के बीच मध्यस्थों को समाप्त कर दिया जाये तभी कृषि में वास्तविक सुधार सम्भव हो सकेगा।

(६) कृषि की दोषपूर्ण प्रणाली—भारतीय कृषि के पिछड़े होने का एक प्रमुख कारण देश में प्राचीन तथा दोषपूर्ण कृषि पद्धति का अपनाया जाना है। हमारे कृषक प्राचीन यन्त्रों द्वारा ही खेती करते हैं। उनके खेती के तरीके बहुत पुराने हैं जिसका मुख्य कारण उनकी अज्ञानता ही है। इस कारण खेती में प्रयुक्त यन्त्रों को उन्नतिशील बनाया जाये तथा हमारे कृषक गण खेती के नये-नये एवं सुधरे तरीकों को अपनायें जिससे भारतीय कृषि को वास्तविक लाभ अवश्य होगा।

(७) खाद की कमी—खाद उपज बढ़ाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न अधिकांश गोबर, जो अच्छी खाद के रूप में प्रयुक्त किया जा

सकता है, भारी मात्रा में किसानों द्वारा ईंधन के रूप में जला दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे किसानों को कम्पोस्ट बनाने का भी समुचित ज्ञान नहीं है जिससे कारण या तो अधिकांश कूड़ा करकट व्यर्थ चला जाता है अथवा दोषपूर्ण ढंग से इकट्ठा रखने से कारण उनके आवश्यक रासायनिक तत्व नष्ट हो जाते हैं। इस कारण कृषि का उत्पादन कम हो जाता है।

✓(८) उत्तम बीज की कमी—भारतीय कृषि को सुधारने के लिए उत्तम बीज का भी होना अत्यन्त आवश्यक है। अच्छे प्रकार के बीज के प्रयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

(९) दुर्बल पशु—वैसे तो हमारे देश में खेती में प्रयोग होने वाले पशुओं की संख्या कम नहीं है तथा संख्या की दृष्टि से भारत में संसार में सबसे अधिक पशु हैं, परन्तु किस्म की दृष्टि से (*Qualitatively*) भारतीय पशु दुर्बल और घटिया प्रकार के हैं। उनकी कार्य क्षमता कम होने के कारण किसान को उनसे वास्तविक लाभ नहीं हो पाता। भारत की पशु सम्पत्ति सुधारने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पशुओं के लिए चारे का समुचित प्रबन्ध हो, उनके रहने का स्थान स्वच्छ एवं स्वास्थ्यवर्धक हो तथा उनकी चिकित्सा का भी प्रबन्ध हो।

✓(१०) कृषि विपणन के दोष—भारतीय कृषि के पिछड़े होने का दायित्व बहुत कुछ कृषकों की भी पिछड़ी एवं दयनीय अवस्था होना है जिसका मुख्य कारण यह है कि दोषपूर्ण विपणन प्रणाली के कारण उन्हें अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। गाँवों के रास्ते खराब होने तथा यातायात के साधनों के अभाव के फलस्वरूप किसान को गाँव में ही प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी फसल को बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। संगठित मंडियों के अभाव के कारण वहाँ नाना प्रकार की धोखे बाजियाँ प्रचलित हैं तथा मध्यस्थों द्वारा उसके मूल्य का एक भारी भाग हड़प कर लिया जाता है। सहकारी विपणन समितियाँ द्वारा इन मध्यस्थों को दूर कर किसान को अपनी उपज का उचित मूल्य दिलाया जा सकता है जिससे उसकी दशा में वास्तविक सुधार हो जायेगा।

(११) कृषकों का ऋण ग्रस्त होना—भारतीय कृषक रूढ़िवादी तथा दकियानूसी विचारधारा का शिकार है। अपनी अज्ञानता के कारण उसे सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर गाँव के महाजन से ऋण लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अपनी खेती सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए भी उसे महाजन और साहूकार के द्वार खटखटाने पड़ते हैं। सहकारी समितियों द्वारा किसान को अपनी आवश्यकता के लिए उचित ब्याज पर साख दिलाकर उसे महाजन साहूकार के निर्दयी पंजों से मुक्त किया जा सकता है। इससे देश की कृषि की दशा को सुधारने में सहायता मिलेगी।

कम उपज के कारण—जैसा कि उपरोक्त विवरण से विदित है भारतीय कृषि

की अवस्था बड़ी दयनीय है। एक ओर तो देश की जन संख्या में निरंतर वृद्धि होती जा रही है और दूसरी ओर इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए देश में पर्याप्त खाद्य सामग्री का अभाव है जिससे फलस्वरूप देश को विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। भारत में प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। निम्न तालिका में हम चावल, गेहूँ, तथा गन्ने के सम्बन्ध में संसार के प्रमुख देशों का प्रति एकड़ औसत उत्पादन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

देश	[प्रति एकड़ औसत उत्पादन (पौन्डों में)]		
	गेहूँ	चावल	गन्ना
भारत	५८६	६६१	२६,४६७
पाकिस्तान	८३३	१,२६१	१७,४६६
अमेरिका	६४६	—	३६,६१८
कनाडा	१,०५०	—	—
यू० के०	२,४३६	—	—
जापान	—	३,५३३	—
हवाई	—	—	१,५०,३६८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में गेहूँ, चावल, गन्ना जैसे प्रमुख वस्तुओं का प्रति एकड़ औसत उत्पादन संसार के अन्य देशों के प्रति एकड़ औसत उत्पादन से बहुत कम है। जबकि यू० के० में प्रति एकड़ गेहूँ का औसत उत्पादन २,४३६ पौंड है वहाँ भारत में केवल ५८६ पौंड ही है। इसी प्रकार जापान में चावल के प्रति एकड़ औसत उत्पादन की तुलना में भारत का प्रति एकड़ उत्पादन बहुत ही कम है। इससे इस बात का आभास होता है कि हमें कम उत्पत्ति के कारणों का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए जिनके हल करने के पश्चात् ही देश की कृषि अर्थ व्यवस्था में कोई वास्तविक सुधार सम्भव हो सकेगा। भारत में कम उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) खेतों का उपखंडन तथा छितरे होना।

(२) लगातार खेती करने तथा भूमिक्षरण (Soil erosion) के कारण कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति कम होते जाना।

(३) उत्तम बीज तथा खाद का प्रयोग कम होना।

(४) दोषपूर्ण प्राचीन कृषि प्रणाली का अपनाया जाना।

(५) सिंचाई के साधनों के अभाव के कारण खेती का वर्षा पर निर्भर होना।

(६) दुर्बल तथा रोगग्रस्त पशुओं का प्रयोग।

(७) दोषपूर्ण कृषि विपणन की पद्धति।

(८) विभिन्न रोगों तथा कीटाणुओं द्वारा फसल नष्ट हो जाना।

(९) कृषकों की अज्ञानता तथा ऋणग्रस्त होना।

(१०) दोषपूर्ण भू धारण प्रणाली।

(११) कृषकों की निर्धनता तथा कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए पूँजी का अभाव।

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के उपाय

भारत में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए समय समय पर नियुक्त की गई समितियों एवं सम्मेलनों द्वारा अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। हमारे विचार से यदि हमें देश की कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करना है तो निम्नलिखित सुझावों को ध्यान में रखना होगा —

(१) उद्योग धन्धों के विकास से रोजगार के विभिन्न अवसर प्रदान किये जायें जिससे भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो।

(२) देश की वनस्पति की रक्षा करने की दृष्टि से पेड़ों के काटने पर रोक लगानी चाहिये।

(३) सिंचाई के साधनों का समुचित विकास हो। उन्नतिशील कृषि यन्त्र, उत्तम बीज एवं बढ़िया खाद का प्रयोग हो।

(४) ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार हो जिससे कृषक की अज्ञानता एवं उसकी रूढ़िवादी विचारधारा समाप्त की जा सके।

(५) यातायात के साधनों का विकास हो।

(६) कीटाणु एवं विभिन्न रोगों से फसल की रक्षा की जाये।

(७) कृषि अनुसंधान एवं वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा खेती के उन्नतिशील तरीकों का विकास हो।

(८) भूमिक्षरण द्वारा होने वाली हानि से कृषि भूमि की रक्षा की जाये।

(९) छोटे छोटे खेतों को मिलाकर कृषि जोत (agricultural holdings) में वृद्धि की जाये।

(१०) पशु सम्पत्ति के सुधार के लिए प्रयत्न किये जायें।

भारत सरकार के खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (Ministry of Food and Agriculture) एवं सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्रालय (Ministry of Community Development and Co operation) के नियन्त्रण पर आमन्त्रित १३ सदस्यों वाले 'फोर्ड फाउन्डेशन अध्ययन दल' (Ford Foundation Study Team) द्वारा भारतीय कृषि के उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए दिये गये सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन सुझावों से देश के कृषि उत्पादन में वास्तविक वृद्धि की सम्भावना की जा सकती है। सुझावों को संक्षेप में नीचे दे रहे हैं —

(१) भूमि सुधार तथा भूमि की स्थाई व्यवस्था करना।

(२) खाद्यान्न के मूल्यों में स्थिरता लाना।

(३) खेतों की चकबन्दी।
(४) सहकारी कृषि प्रणाली।
(५) साख सम्बन्धी सुविधाओं को प्रदान करना।
(६) कृषि विपणन में सुधार।
(७) भूमि क्षरण से भूमि की रक्षा की जाना।
(८) पशुओं द्वारा खेतों में अनियन्त्रित ढंग से चरने पर रोक।
(९) रासायनिक खादों का प्रयोग।
(१०) कृषि का यन्त्रीकरण।
(११) पशुओं की दशा सुधारना तथा बेकार पशुओं की संख्या कम करना।
(१२) कृषि अर्थशास्त्र में अनुसंधान (Research in Agricultural Economics)

भारत में विस्तृत तथा सघन अथवा गहरी खेती की समस्या (Problem of Extensive and Intensive Cultivation in India)

भारत में कृषि सम्बन्धी सुधार के अन्तर्गत विस्तृत तथा गहरी खेती की समस्या भी आती है। हमारे देश के समक्ष इस समय अधिक उत्पादन की समस्या है। कृषि उत्पादन में वृद्धि करने से न केवल भारत अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक खाद्यान्न जुटाने में समर्थ हो सकेगा वरन् उत्पादन की इस वृद्धि का अन्य दृष्टि से भी अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व है। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा यदि हमारे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त करना है तो उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत अपनी उन वस्तुओं के उत्पादन में दिनोन्दिन वृद्धि करता जाय जिनका प्राचीन समय से भारत द्वारा निर्यात किया जाता रहा है। दूसरे नियोजित आर्थिक विकास के अन्तर्गत होने वाले औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के कच्चे माल की पूर्ति के लिए स्वयं आत्मनिर्भर न रहना पड़े। इस सम्बन्ध में दो समस्यायें हैं —

(१ विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)—अर्थात् खेती योग्य भूमि की मात्रा में वृद्धि करना। अधिक उत्पादन के लिए हमें देश की कृषि योग्य भूमि में निरन्तर वृद्धि करनी चाहिए। देश में अभी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं और मिट्टी न होने के कारण उसका खेती के लिए प्रयोग नहीं हो पा रहा है। भारत की कुछ कृषि योग्य भूमि ऊसर तथा बंजर हो जाने या अधिक जंगली घास पात से ढकी होने के कारण खेती के सर्वथा अयोग्य हो गई है। हमें इस प्रकार की भूमि का पुनरुद्धार करके पुनः खेती योग्य बनाना है। इस प्रकार भारत की कृषि योग्य पड़ी हुई भारी मात्रा में व्यर्थ भूमि खेती के कार्य में प्रयुक्त हो सकती है। भारत के तराई के क्षेत्र में भी बहुत-सी ऐसी भूमि है जिसमें सुधार करके कृषि उत्पादन किया जा सकता है।

'के द्रीय ट्रेक्टर संगठन' की स्थापना इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए की गई है। इस कार्य के लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से समय समय पर ऋण भी प्रदान किया गया है। भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में लगभग १५ लाख एकड़ भूमि को खेती के योग्य बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अत स्पष्ट है कि भारत में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए विस्तृत खेती की भी पर्याप्त सम्भावनायें हैं परन्तु इसमें आवश्यक तान्त्रिक ज्ञान तथा वित्तीय साधनों का अभाव है।

(२) गहरी सघन खेती (Intensive Cultivation)—अधिक उत्पादन के लिए या तो खेती योग्य भूमि की मात्रा में वृद्धि की जाये अथवा भूमि के एक निश्चित क्षेत्रफल पर अधिक श्रम व पूँजी तथा खाद के प्रयोग से उत्पादन में आवश्यक वृद्धि प्राप्त की जाये। यदि हमें अपने देश में कृषि उत्पादन में वृद्धि करनी है तो उसके लिए भी सघन खेती की पर्याप्त सम्भावनायें हैं। सिंचाई की सुविधाओं के समुचित विकास, उन्नतिशील कृषि, यन्त्र, उत्तम बीज व बढ़िया खाद द्वारा देश की प्रति एकड़ भूमि में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इस क्षेत्र में हमें जापान के उदाहरण को समक्ष रखना होगा जहाँ प्रति व्यक्ति खेती किया गया क्षेत्रफल भी भारत की तरह कम है। परन्तु वैज्ञानिक एवं उन्नतिशील कृषि पद्धति द्वारा वहाँ उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर ली गई है। हमारे देश में भी सरकार द्वारा आयोजित फसल प्रतियोगिताओं के अन्तर्गत की गई उपज इस बात का साक्षी है कि सुधरे हुये तरीकों तथा पर्याप्त सुविधाओं द्वारा देश में सघन खेती द्वारा उत्पादन में वृद्धि करना अधिक कठिन नहीं है।

कृषि क्षेत्र में विदेशों के अनुभव

वर्तमान में यह बड़े दुख का विषय है कि भारत एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं में ग्रस्त है जिसके कारण उसकी कृषि अर्थ व्यवस्था बड़ी बिगड़ी हुई अवस्था में है। *संसार के अन्य देशों के कृषि सम्बन्धी अनुभवों द्वारा* भारत को काफी लाभ हो सकता है। नीचे हम अमरीका, रूस, चीन और जापान जैसे प्रमुख राष्ट्रों की कृषि पद्धति का अध्ययन करेंगे।

अमेरिका (America)—अमेरिका की कृषि पद्धति के विषय में दो बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं, *पहली तो कृषि में विज्ञान का प्रयोग और दूसरी वैज्ञानिक कृषि प्रबन्ध* (scientific farm management)। विज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर होने के कारण कृषि-सम्बन्धी अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण द्वारा कृषि प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण सुधार कर लिए गये हैं। आधुनिक कृषि, औजारों, रासायनिक खाद तथा कृषि के यन्त्रीकरण द्वारा कृषि में पर्याप्त उन्नति हुई है।

रूस (Russia)—सोवियत रूस कृषि के क्षेत्र में संसार के प्रमुख राष्ट्रों में गिना जाता है। अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए रूस अपने आन्तरिक उत्पादन पर आत्मनिर्भर है। रूसी कृषि के सम्बन्ध में निम्न बातें जानने योग्य हैं —

(१) बड़े बड़े खेतों पर खेती किया जाना।

(२) कृषि यन्त्रीकरण (Mechanisation of agriculture)।

(३) सामूहिक कृषि प्रणाली (Collective farming)।

चीन (China)—पिछले कुछ वर्षों में चीन ने भी कृषि के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति कर ली है। चीन में प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में खादों का प्रयोग किया जाता है। जिन खादों का चीन में अधिक प्रयोग किया जाता है उसमें से प्रमुख हैं मल की खाद (night soil), कूड़े की खाद (compost) तथा सेम की खली (bean cake) इत्यादि। भारत में उत्पन्न होने वाली अधिकांश गोबर कृषक द्वारा ईंधन के रूप में प्रयुक्त हो जाने के कारण तथा अन्य प्रकार की खादों के सम्बन्ध में समुचित जानकारी न होने के कारण भारतीय कृषि में खाद का पर्याप्त मात्रा के प्रयोग का पाठ हमें चीन से मिलता है जिससे देश के कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हो सकती है।

जापान (Japan)—जापान के कृषि उत्पादन में सबसे प्रमुख वस्तु चावल है जिसके सम्बन्ध में जापान के अनुभवों से भारतीय कृषि को पर्याप्त लाभ होने की सम्भावना है। जापान में प्रति एकड़ चावल की उपज भारत की प्रति एकड़ चावल की उपज से कई गुना अधिक है जैसा कि निम्न तालिका से विदित है —

देश	प्रति एकड़ चावल की उपज (पौंड में)
जापान	३५३३
भारत	६६१

जापान में प्रति एकड़-उपज अधिक होने का मुख्य कारण एक विशेष प्रकार की धान की खेती का जाना है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है।

जापानी ढंग से चावल की खेती* (Japanese Method of Rice Cultivation)—जापानी ढंग से धान की उपज बढ़ाने के लिए २ बातों को सदैव याद रखना आवश्यक है —(१) बेड़ का पुष्ट होना (२) फसल का अच्छा होना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हम निम्नलिखित तरीकों को काम में लाना चाहिए :—

(१) बेड़ को भली भाँति तैयार की हुई क्यारियों में लगाने से।

(२) बेड़ के लिए बीज की मात्रा कम डालने से।

(३) क्यारियों और खेत दोनों में प्रचुर मात्रा में खाद देने से।

(४) कतार में और दूर दूर पर रोपाई करने से।

---

*(१) उत्तर प्रदेश में जापानी ढंग से धान की खेती।

(५) बेड़ की देखभाल करने और खेत में उचित निराई करने से ।

यदि इन तरीकों से कार्य किया जाये तो धान की पैदावार औसत से दुगनी और तिगुनी हो जाती है ।

बेड़ लगाने का स्थान सिंचाई के साधन के नजदीक ही होना चाहिए । क्यारी बनाने के पहले खेत को खूब अच्छी तरह जोत कर मिट्टी बारीक कर लेनी चाहिए । क्यारी की लम्बाई २५ फुट तथा चौड़ाई ४ फुट होनी चाहिए । इस प्रकार की प्रत्येक क्यारी में एक मन की दर से सड़ी हुई गोबर की खाद व कम्पोस्ट अच्छी तरह से मिला देनी चाहिए । इसके बाद क्यारी के ऊपर लगभग ½ इंच छनी हुई बारीक कम्पोस्ट और इसके ऊपर राख की एक पतली तह फैला देनी चाहिए । राख की तह के ऊपर ½ सेर रासायनिक खाद का मिश्रण जिसमें आधा अमोनियम सल्फेट और आधा सुपर फास्फेट हो छिड़क देना चाहिए । अब अच्छे बीज को नमक के पानी में डालकर फिर अलग पानी में धो लेना चाहिए, तत्पश्चात् खाद के मिश्रण के ऊपर बीजों को इस प्रकार डालना चाहिए कि बीज हर स्थान पर बराबर-बराबर पड़ जाये । एक क्यारी के लिए ½ सेर बीज काफी है । ७ या ८ दिन के बाद पौधों की निराई करनी चाहिए । बेड़ तैयार हो जाने के बाद उन्हें शीघ्र ही रोप देना चाहिए इसके बाद खेत तैयार किया जाता है । हर एक बेड़ को बहुत सावधानी से उखाड़ना चाहिए । रोपाई कतार ही में करनी चाहिए । पौधे से पौधे की दूरी और कतार से कतार की दूरी दस-दस इंच की होनी चाहिए । रोपाई के बाद पन्द्रह पन्द्रह दिन पर गोड़ाई करनी चाहिए । बरसात में यदि पानी की कमी हो तो समय-समय पर पानी देते रहना चाहिए ।

प्रश्न

1. Mention the chief characteristics of Indian agriculture. How can we improve it? *(Rajputana, 1951)*

2. What are the main problems of Indian Agriculture? How is it proposed to solve them during the next five years? *(Allahabad, 1954, Punjab, 1933, Agra, 1946)*

3. Why is agricultural productivity low in India? Are you satisfied with the steps taken so far to increase it? *(Banaras, 1954)*

4. The central problem in planning and development of India's economy is the reconstruction of agriculture. Discuss. *(Bombay, 1953)*

5. Write a short on :—
   (1) 'Principal Agricultural Crops of India'. *(Agra, 1957)*
   (2) Causes of Low Yield *(Agra, 1942)*

अध्याय ८

भारत में कृषि की इकाई

(Unit of Cultivation in India)

कृषि की उन्नति में प्रभाव डालने वाली बातों में जोत का आकार सबसे अधिक महत्व का है। यह सत्य है कि बिना बढ़िया खाद, बीज, उन्नत औजार एवं कृषि यन्त्र। सिंचाई आदि की सुविधाओं के कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती है, 3 इन सब साधनों तथा सुविधाओं से अधिकतम लाभ उठाने तथा उनका अधिकतम आर्थिक प्रयोग करने के लिए खेत की इकाई अथवा जोत का आकार एक महत्वपूर्ण विषय है जिसका मुख्य कारण यह है कि कृषि के आकार पर ही उत्पत्ति का पैमाना, कृषि यन्त्रों का प्रयोग एवं उत्पादन प्रविधि इत्यादि जैसी समस्त बातें निर्भर करती हैं। कृषि की इकाई के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे।

कृषि उत्पादन का परिमाण (Scale of Agricultural Production)

जिस प्रकार से औद्योगिक उत्पादन छोटे पैमाने अथवा बड़े पैमाने पर किया जा सकता है ठीक उसी प्रकार कृषि उत्पादन का पैमाना भी निर्धारित करने वाला मुख्य तत्व देश की जनसंख्या है। एक कृषि प्रधान देश में भूमि पर जनसंख्या का अधिक भार होने के कारण प्रति व्यक्ति कृषि भूमि की मात्रा कम होती है। अधिक लोगों को जीविका मिलने के कारण समस्त देश की कृषि योग्य भूमि छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाती है और यदि कृषक इस सीमित कृषि भूमि की मात्रा से उत्पादन वृद्धि का इच्छुक है तो उसे अधिक मात्रा में श्रम तथा पूँजी लगाकर गहरी खेती कर अपने लक्ष्य को पूरा करना होगा। परन्तु संसार के उन देशों में जहाँ कृषि योग्य भूमि अधिक है और साथ ही जनसंख्या का भूमि पर भार भी कम है, वहाँ प्रति व्यक्ति कृषि भूमि की मात्रा अधिक होती है जिसके कारण बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन किया जा सकता है। कृषि में उत्पत्ति का परिमाण अनेक बातों पर निर्भर करता है जिनमें मुख्य निम्न हैं—

कृषि में उत्पादन का पैमाना निर्धारित करने वाले तथ्य (Factors governing the Scale of Production in Agriculture)—

(१) भूमि पर जनसंख्या का भार—घनी आबादी वाले देशों में भूमि पर

जनसंख्या का भार अधिक होने के कारण कृषि भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बँट जाने से बड़े पैमाने पर खेती नहीं की जा सकती।

(२) भूमि की प्रकृति—यदि खेती की भूमि उपजाऊ है तो थोड़ी ही भूमि पर कृषि की उत्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

(३) जलवायु—जन स्वास्थ्य तथा कृषि के लिए उपयोगी जलवायु होने के कारण किसी स्थान पर जनसंख्या के घनत्व अधिक हो जाने से कृषि जोतों का क्षेत्र छोटा हो जाता है।

(४) कृषि सम्बन्धी सुविधायें—खाद, बीज तथा सुधरे हुए कृषि के औजार तथा सिंचाई के साधनों की उपलब्धि पर कृषि उत्पत्ति का परिमाण निर्भर करता है।

(५) उत्पादन प्रविधि तथा कृषकों की कार्य कुशलता—कुशल कृषकों तथा उन्नत कृषि पद्धति द्वारा सीमित क्षेत्र में भी पर्याप्त उत्पादन सम्भव हो सकता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि कृषि उत्पत्ति का परिमाण अनेक बातों पर निर्भर करता है। अत यह कहना कठिन है कि बड़े पैमाने पर खेती अच्छी है अथवा छोटे पैमाने पर। वास्तव में दोनों प्रकार की कृषि उत्पत्ति के परिमाण के लाभ व दोष हैं और प्रत्येक देश की आर्थिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ही उस देश के लिए कृषि उत्पत्ति का परिमाण निश्चित किया जाना चाहिए। जहाँ तक कृषि की जोत का सम्बन्ध है यह बात सर्वविदित है कि एक छोटे जोत में कृषि उत्पादन में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। इस कारण कृषि की छोटी जोत की अपेक्षा बड़े जोत में खेती करना अधिक लाभदायक होता है।

जोतों के उपविभाजन से होने वाली हानियों का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि वास्तव में कृषि की बड़ी जोतों से क्या लाभ होते हैं।

कृषि की बड़ी जोतों से होने वाले लाभ (Advantages of Bigger Holdings)—बड़ी जोत के मुख्य लाभ निम्न हैं—

(१) उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का उच्चतम आर्थिक प्रयोग होना।

(२) उन्नत कृषि औजारों, समय तथा परिश्रम बचाने वाले यन्त्रों का प्रयोग सम्भव होना।

(३) प्रति इकाई उत्पादन व्यय में कमी होना।

(४) औजारों तथा पशुओं का अधिकतम प्रयोग होने से घिसावट व्यय (Depreciation) कम होना।

(५) कृषि में अनुसन्धान होना।

जोत का अर्थ (Meaning of Holding)—कृषि जोत से हमारा तात्पर्य कृषक द्वारा जोते हुए समस्त क्षेत्र से है अर्थात् वह कुल भूमि जिस पर एक किसान खेती सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करता है।

जोत की किस्में (Kinds of Holdings)—कृषक कृषि भूमि के जिस क्षेत्र पर खेती करता है उस पर या तो उसकी मिलकियत या पैतृक अधिकार हो सकता है अथवा उसे उस भूमि पर केवल कृषि उत्पादन मात्र का ही अधिकार हो। इस दृष्टि से कृषि जोत की दो मुख्य प्रकार होती हैं—

(१) भूस्वामी की जोत (Owner's Holdings)—अर्थात् वह जोत जिस पर किसान का आधिपत्य हो और कानूनी दृष्टि से उसे उसका स्वामित्व प्राप्त हो। इस प्रकार की भूमि पर या तो भूस्वामी स्वयं कृषि करे अथवा कई किसानों में उसे विभक्त कर दे जिससे प्रत्येक किसान को कुल स्वामित्व की इकाई (unit of ownership) का केवल एक छोटा भाग ही प्राप्त होगा।

(२) कृषक की जोत (Cultivator's Holdings)—इसे कृषि की इकाई (unit of cultivation) भी कहते हैं। इससे हमारा अभिप्राय एक कृषक द्वारा उस समस्त भूमि से है जो वास्तव में कृषक द्वारा जोती जाती है। किसान अपनी आवश्यकता के लिए अनेक भूस्वामियों से छोटी छोटी मात्रा में भूमि लेकर खेती कर सकता है। इस प्रकार उसके द्वारा जोती गई समस्त भूमि को 'कृषि की इकाई' या 'कृषक जोत' कहा जायगा।

आर्थिक जोत (Economic Holding)

अर्थ—आर्थिक जोत के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रगट किये गये हैं जिससे इस शब्द का सही अर्थ समझने में कठिनाई होती है। वास्तव में आर्थिक जोत से हमारा तात्पर्य एक कृषक द्वारा जोती गई कृषि भूमि के उस क्षेत्र से है जिससे उसे न्यूनतम लगान से अधिकतम उपज प्राप्त होती है। यह तब सम्भव होगा जब खेत का आकार कम से कम इतना अवश्य हो जिससे कृषि में लगे उत्पत्ति के समस्त साधनों के उच्चतम प्रयोग के फलस्वरूप किसान को होने वाला लाभ अधिकतम हो।

आर्थिक जोत का वास्तविक अर्थ जानने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों एवं लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

परिभाषायें

कीटिंग्स (Keatings) के शब्दों में एक आर्थिक जोत उसे कहते हैं "जो आवश्यक खर्चे निकालने के पश्चात् एक कृषक को अपने और अपने परिवार को उचित सुविधाओं की प्राप्ति के लिए पर्याप्त उत्पादन का अवसर देती है।"[1]

डा० मान के अनुसार—"एक आर्थिक जोत वह है जो एक औसत आकार के परिवार को जीवन का सतोषजनक समझा जाने वाला न्यूनतम स्तर प्रदान करती है।"[2]

स्टैनले जेवेन्स (Stanley Jevons) के विचारानुसार कोई जोत तभी आर्थिक

1 Keatings, *Agricultural Problems in Western India*

2 H Mann *Land and Labour in Deccan Villages*

आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार कृषि के स्वरूप पर भी आर्थिक जोत का आकार निर्भर करता है।

(५) उगाई जाने वाली फसल की प्रकृति—कुछ फसलें ऐसी हैं जिनके उगाने के लिए एक छोटा खेत भी आर्थिक जोत कहा जा सकेगा जैसे गन्ना, सब्जी, फल इत्यादि। परन्तु विभिन्न प्रकार के अनाजों जैसे गेहूँ, ज्वार, बाजरा इत्यादि की उत्पत्ति के लिए आर्थिक जोत का बड़ा ही होना उपयुक्त होगा।

(६) बाजार से अन्तर—खेत से बाजार का अन्तर भी आर्थिक जोत निर्धारण करने के लिए महत्वपूर्ण तथ्य है। उदाहरण के लिए जो खेत बाजार व रेलवे स्टेशन के निकट होते हैं ऐसे छोटे खेत भी आर्थिक जोत कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत यातायात व्यय में वृद्धि होने से स्टेशन व बाजार से दूर स्थित होने वाली कृषि भूमि के जोत का आकार बड़ा होना चाहिए।

आधारभूत जोत, अनुकूलतम जोत तथा पारिवारिक जोत
(Basic Holdings, Optimum Holdings & Family Holdings)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त कृषि सुधार समिति १९४९ (Agrarian Reforms Committee 1949) ने भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर कृषि भूमि के आर्थिक जोत का आकार निर्धारित करने के लिए देश की आर्थिक स्थिति की अपेक्षा सामाजिक परिस्थितियाँ तथा देश में उपलब्ध भूमि की माँग व पूर्ति को दृष्टि में रखने पर अधिक बल दिया है। समिति द्वारा कृषि भूमि के आर्थिक जोत को आधारभूत जोत (basic holding) का नाम दिया गया है।

आधारभूत जोत—आधारभूत जोत कृषि जोत की सबसे छोटी इकाई है। इससे कम भूमि पर कृषि उत्पादन का कार्य करना आर्थिक दृष्टि से अलाभकर होगा अर्थात् "बुनियादी जोत" से हमारा अभिप्राय व्यक्तिगत आधार पर की जाने वाली लाभदायक खेती के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।

अनुकूलतम जोत—इसे "आदर्श जोत" भी कहते हैं। संसार के कुछ राष्ट्रों में (जैसे कनाडा व संयुक्त राज्य अमेरिका) आर्थिक जोत तथा आदर्श या अनुकूलतम जोत में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। अर्थात् खेत का वह आकार, जिससे एक किसान को उसके द्वारा लगाये गये श्रम व पूँजी से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, वही आदर्श जोत कही जायेगी। भारत में अनुकूलतम जोत का आकार आर्थिक जोत के आकार का तीन गुना माना गया है। आदर्श जोत के आकार को इस प्रकार निश्चित करना सामाजिक दृष्टि से देश के लिए बड़े महत्व की बात है जिसके द्वारा देश में फैली आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया गया है।

पारिवारिक जोत—पारिवारिक जोत से हमारा तात्पर्य कृषि भूमि के ऐसे आकार से है जो किसान को कम से कम इतना उत्पादन अवश्य प्रदान करे जिससे

कृषि जोत का औसत आकार[1]

देश	कृषि-जोत का औसत आकार
भारत	७ ५
ब्रिटेन	२०
फ्रांस	२० ५
जर्मनी	२१ ५
हालैंड	२६
डेनमार्क	४०
संयुक्त राज्य अमरीका	१४५

जब कि भारत की औसत जोत ७ ५ एकड़ है, भारत में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ कृषि जोत का आकार काफी छोटा है। निम्न तालिका में हम भारत के कुछ राज्यों में, जोत के औसत आकार का विवरण दे रहे हैं—[2]

राज्य	जोत का औसत आकार (एकड़ में)
उत्तर प्रदेश	२ ५
पश्चिमी बंगाल	४ ४
मद्रास	४ ५
आसाम	४ ८
उड़ीसा	४ ६
मैसूर	६ २

भारत में पंजाब तथा बम्बई राज्य ऐसे हैं जहाँ जोत का औसत आकार, उपरोक्त तालिका में दिखाये गये विभिन्न राज्यों की जोत के औसत आकार से काफी बड़ा है। यह क्रमश: १० व १२ २ एकड़ है। फिर भी इन आँकड़ों से कृषि जोत की समस्या का वास्तविक रूप स्पष्ट नहीं होता। कारण यह है कि औसत आकार वाले खेतों की संख्या छोटे आकार वाले खेतों की तुलना में बहुत कम है और समस्त कृषि भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने पर भी औसत आकार से यही अनुमान लगता है कि प्रदेश की जोत का औसत आकार काफी बड़ा आकार है। इस कारण निम्न तालिका में हम

1 *Indian Economics Year Book*, p 53

2 *Agricultural Legislation in India*, 1951 (Govt. of India)

भारत के कुछ राज्यों में ५ एकड़ से कम वाली जोतों का विवरण दे रहे हैं। यह कुल जोतों के प्रतिशत तथा कुल कृषि क्षेत्र के प्रतिशत भाग में प्रदर्शित किया गया है —

विभिन्न राज्यों में पाये जाने वाले ५ एकड़ से कम कृषि जोतों का विवरण[1]

राज्य	कुल जोतों की प्रतिशत	कुल क्षेत्रफल की प्रतिशत
ट्रावनकोर कोचीन	९४ ६	५७ १
उत्तर प्रदेश[2]	८१ २	३८ ८
मद्रास	६७ ६	४० ३
आन्ध्र प्रदेश	६६ ८	१८ १
मध्य प्रदेश	५९ ४	१३ ६
राजस्थान	५१ ४	११ ०
बम्बई	५१ ३	१० ८

ऊपर दी हुई तालिका से यह बात स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न राज्यों में कृषि जोत के आकार में पर्याप्त अन्तर है जहाँ ट्रावनकोर कोचीन जैसे राज्यों में कुल जोतों के ९४ ६ प्रतिशत जोत ५ एकड़ से कम के आकार के हैं वहाँ बम्बई राज्य में केवल ५१ ३ प्रतिशत ही जोतों का आकार ५ एकड़ से कम है। फिर भी यह नहीं समझना चाहिये कि यह राज्य कृषि जोत की समस्या से मुक्त हैं। वास्तव में समस्त देश में जोत का आकार इतना छोटा है कि जिसने भारतीय कृषि को बहुत सीमा तक एक अनार्थिक व्यवसाय बना दिया है। ऐसी स्थिति में कृषि के क्षेत्र में उन्नति करना केवल स्वप्नमात्र है। आगामी तालिका में उत्तर प्रदेश व बम्बई में कृषि जोत के आकार का विस्तृत चित्र दिया जा रहा है—

उत्तर प्रदेश व बम्बई में खेतों का आकार

उत्तर प्रदेश			बम्बई		
क्षेत्रफल (एकड़)	संख्या	प्रतिशत	क्षेत्रफल (एकड़)	संख्या	प्रतिशत
० — ५	१९७१	८१ २	० — ५	१३१३	५२ ३१
५ — १०	१५६३	१२ ७	५ — १५	७०७	२८ १८
१० — १६	४४०	३ ६	१५ — २५	२७४	१० ९०
१६ — २५	१९०	१ ६	२५ — १००	२०१	८ ०२
२५से ऊपर	११४	० ९	१०० — ५००	१४	० ५७
			५००से ऊपर	१	० ०२
-					

1 *Second Five Year Plan* p 213 220
2 *First Five Year Plan* [illegible] 199-101

कृषि जोतों का उपविभाजन एव अपखण्डन
(Subdivision and Fragmentation of Agricultural Holdings)

ऊपर दिये गये आकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में छोटे छोटे आकार वाले खेतों की सख्या अत्यधिक है। इन अलाभकर कृषि जोतों के ही कारण भारतीय कृषि में उन्नतिशील तरीकों को अपनाने में बाधा पहुचती है। पहले यह देखना आवश्यक है कि जोतों के उपविभाजन व अपखण्डन से हमारा क्या अभिप्राय है।

अर्थ—कृषि जोतों की दो प्रमुख समस्यायें हैं—एक उपविभाजन (subdivision) की और दूसरे अपखण्डन (fragmentation) की। कृषि भूमि की इन गम्भीर समस्याओं म पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण इन्हें पृथक नहीं किया जा सकता।

उपविभाजन—इसका अर्थ है कृषि भूमि का छोटे-छोटे अलाभकर जोतों में बँट । भूस्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी कृषि भूमि का उसके उत्तराधिकारियों में र बराबर अथवा उनके हक के अनुसार बँट जाने के कारण ही जोतों के उप विभाजन की समस्या उत्पन्न होती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है जिसके कारण पिछले लगभग २०० वर्षों में भारत की कृषि भूमि के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं।

जोतों के अपखण्डन से हमारा आशय यह है कि किसी भूस्वामी की कुल भूमि एक चक के रूप में नहीं है वरन् उसके छोटे छोटे खेत एक अथवा कई गाँवों में बिखरे पड़े हैं। सक्षेप में भूमि के अपखण्डन से हमें कृषि जोतों की स्थिति का आभास होता है। खेतों के अपखण्डन होने के फलस्वरूप किसान को खेती में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

डा० मान (Dr Mann) द्वारा बम्बई राज्य के पूना जिले के 'पिम्पला सौदागर' ग्राम में कृषि जोतों के सम्बन्ध में की गई जाँच से वहाँ की स्थिति का सही ज्ञान होता है। उनके अनुसार सन् १७७१ में वहाँ जोत का औसत आकार लगभग ४० एकड़ था जो १८१८ व १९१५ में घटकर क्रमश १७½ व ७ एकड़ ही रह गई थी। इससे पता चलता है कि लगभग १५० वर्षों में उपविभाजन की निरन्तर प्रवृत्ति से कृषि जोत पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस काल में कृषि जोत ⅙ से भी कम रह गई है।

इसी प्रकार खेतों के अपखण्डन के समय म भी स्थिति अत्यन्त गम्भीर है देश के अधिकाश क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ किसान छोटे छोटे अनेक खेतों पर खेती करता है। डा० मान की जाँच से जोतों के अपखण्डन का भी पता चलता है। उनके अनुसार वहाँ लगभग १५६ भूस्वामियों के ७२९ खेत थे। इनमें ४६२ खेत ऐसे थे जिनका आकार १ एकड़ से कम था तथा २११ खेत तो ¼ एकड़ से भी छोटे थे।[1]

कृषि जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के कारण—

1 Dahama, *Agricultural and Rural Economics*, p 50

(१) **जनसंख्या की वृद्धि से भूमि पर भार का बढ़ना**—भारत की अधिकांश जनता खेती सम्बन्धी कार्य में लगी है। पिछले कुछ वर्षों में देश की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होने के कारण भूमि पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई है जिनके पास रोजगार के कोई अन्य अवसर न होने के कारण खेतीबाड़ी ही जीविका का एक मात्र साधन रह जाता है। यही कारण है कि भारत की कृषि भूमि छोटे-छोटे अलाभदायक जोतों में विभाजित होती जा रही है।

(२) **संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अन्त**—आजकल देश में संयुक्त परिवार प्रणाली जैसी प्राचीन प्रथा का लोप होता जा रहा है। सारी जनसंख्या छोटे छोटे परिवारों में बँट गई है। आज भारत के एक साधारण परिवार की औसत संख्या केवल ५ ही रह गई है।

(३) **व्यक्तिवाद की भावना**—पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रसार तथा पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण देश में व्यक्तिवाद की भावना के विकास में प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में अलग रहने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई। प्रत्येक अपना हिस्सा अलग ही कर लेना चाहता है। इस व्यक्तिवाद की भावना ने कृषि जोत के उप-विभाजन तथा अपखण्डन में भारी योग दिया।

(४) **उत्तराधिकार के नियम**—हमारे देश में प्रचलित दायाधिकार तथा उत्तराधिकार नियमों ने भी भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन को प्रोत्साहन दिया है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी दायाधिकार के नियम के अनुसार पिता के सभी पुत्रों को उसकी सम्पत्ति में बराबर का अधिकार होता है जिससे कृषि भूमि का उपविभाजन तो होता ही है साथ ही प्रत्येक उत्तराधिकारी का सब प्रकार की भूमि से हिस्सा लेने के कारण भूमि का अपखण्डन भी होता है।

(५) **कुटीर उद्योगों एवं सहायक धन्धों का विनाश**—देश के विभिन्न कुटीर उद्योगों, सहायक धन्धों एवं दस्तकारियों के पतन होने के कारण ग्रामीण जनसंख्या के लिए केवल कृषि ही रोजगार का एकमात्र साधन शेष रह गया जिससे भूमि से जीविका प्राप्त करने वालों की संख्या में चिन्ताजनक वृद्धि हो गई और कृषि भूमि का उप-विभाजन तथा अपखण्डन होता गया।

(६) **कृषकों का ऋणग्रस्त होना**—भारतीय कृषक के ऋणग्रस्त होने से भी भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन में सहायता मिली। ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देकर ग्रामीण महाजन सदैव किसानों की भूमि के कुछ भाग को हथियाने की ताक में रहता है।

(७) **मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति**—भारत के किसानों में पैतृक एवं अचल सम्पत्ति के प्रति अपूर्व प्रेम होने की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप भी कृषि भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन होना स्वाभाविक [redacted] है।

उपविभाजन एवं अपखंडन के आर्थिक प्रभाव—देश की खेती योग्य भूमि के उपविभाजन तथा अपखंडन का भारत की कृषि अर्थ व्यवस्था पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। कृषि पर जोतों के अन्तर्विभाजन तथा दूर दूर छिटके होने के प्रभावों को समझने के लिए उपविभाजन तथा अपखंडन से होने वाले लाभों एवं हानियों का परीक्षण करना होगा।

जोतों का उपविभाजन

लाभ—खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होने से निम्न लाभ होते हैं—

(१) एक कृषि-प्रधान देश में जहाँ भूमि को माता के समान सम्मान प्राप्त है यह कहाँ तक उचित है कि कुछ के पास काफी भूमि हो और कुछ को इससे वंचित रक्खा जाये। भूमि के उपविभाजन से प्रत्येक को कुछ न कुछ भूमि प्राप्त हो जाती है।

(२) देश की अधिकांश जनसंख्या को भूमि द्वारा ही जीविका मिलती है। इस अब तक देश के औद्योगीकरण द्वारा जीवकोपार्जन के अन्य साधन सुलभ नहीं हो जाते भूमि के उपविभाजन से हर व्यक्ति को अपनी रोटी कमाने के लिए एक छोटे से खेत का मिल जाना ही उचित है।

(३) भूमि के उपविभाजन के कारण कृषि के एक सीमित क्षेत्र से ही अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन प्राप्त करने के उद्देश्य से ग्रामीण जनता में सघन खेती तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता अनुभव होगी।

(४) आर्थिक एवं सामाजिक विषमता को दूर करने की दृष्टि से भी कृषि भूमि का उपविभाजन आवश्यक है। कारण, इससे देश दो पारस्परिक विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाने से बच जाता है। एक वर्ग भूमिहीन किसानों का और दूसरा वह जिसके हाथों में देश की अधिकांश भूमि हो।

हानियाँ—कृषि जोतों का छोटे-छोटे अनार्थिक एवं अलाभदायक टुकड़ों में विभाजित होने से खेती पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे होने वाले कुछ लाभों को ऊपर बताया गया है। नीचे हम इससे होने वाली हानियों का वर्णन कर रहे हैं :—

(१) छोटे-छोटे खेतों में कृषि-उत्पादन करने से बहुत-सी भूमि मेड़ों तथा रास्ते इत्यादि बनाने में व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

(२) अत्यधिक छोटे एवं उपविभाजित कृषि जोत पर खेती सम्बन्धी स्थाई सुधार नहीं किये जा सकते जिसके बिना कृषि उत्पादन में वृद्धि होना असम्भव है।

(३) छोटे खेतों पर कृषि सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करने से उत्पादन लागत में काफी वृद्धि हो जाती है। कारण कृषि यन्त्रों तथा खेती में प्रयुक्त पशुओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और साथ ही खाद डालने जैसे कार्यों पर खर्चा भी अधिक आता है।

(४) बहुत छोटे खेतों पर उन्नतिशील कृषि प्रविधि, सुधरे हुए यन्त्रों तथा खेती के लिए उपयोगी मशीनों इत्यादि का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ट्रैक्टर जैसी मशीनों के प्रयोग के लिये खेतों का आकार काफी बड़ा होना चाहिए।

(५) अत्यधिक छोटे कृषि जोतों पर खेती करने वाले कृषकों की आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। पर्याप्त आय तथा आर्थिक लाभ न होने के कारण उनके साधन भी सीमित होते हैं जिसके फलस्वरूप कृषि में उन्नति करने की उनमें पर्याप्त क्षमता नहीं होती।

जोतों का अपखण्डन—जोतों के उपविभाजन की भाँति जोतों के अपखण्डन से भी अनेक लाभ व हानियाँ हैं।

लाभ

(१) कृषि भूमि के अपखण्डित होने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि एक कृषक के पास विभिन्न प्रकार की कृषि योग्य भूमि आ जाती है जिसमें से यदि कुछ का उपज कम है तो दूसरी भूमि की उपज अधिक होने के कारण कृषक को होने वाली हानि कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। इससे कृषक को विभिन्न प्रकार की फसलें बोने की सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की भूमि पर विभिन्न प्रकार की फसलों को उगाने के कारण उसे वर्ष भर के लिए पर्याप्त काम भी उपलब्ध हो जाता है।

(२) खेतों के अपखण्डन के फलस्वरूप पैतृक सम्पत्ति के प्रत्येक उत्तराधिकारी को सब प्रकार की भूमि मिल जाती है। यह नहीं, कि एक पुत्र को बढ़िया तथा उपजाऊ भूमि प्राप्त हो और दूसरे के घटिया और कम उपजाऊ भूमि ही हाथ लगे।

(३) खेतों का दूर-दूर छिटके होना वर्षा, पाला, टिड्डी के आक्रमण, सूखा इत्यादि विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक प्रकोपों के प्रति एक बीमा जैसा है जिससे किसान को किसी एक स्थान के खेत में होने वाले हानि का दूसरे स्थान पर स्थित खेतों से पूरा किया जा सकता है। इससे उसकी आर्थिक सुरक्षा होती है।

हानियाँ

(१) कृषि जोत के दूर दूर स्थित होने के कारण किसान को कृषि उत्पादन में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। एक खेत से दूसरा खेत काफी दूरी पर स्थित होने के कारण आने जाने में काफी समय व शक्ति का अपव्यय होता है।

(२) अपखण्डित खेतों की देख रेख करने में कृषक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रायः देखभाल तथा निरीक्षण के अभाव में कृषि उत्पादन को भारी क्षति पहुँचती है।

(३) खेतों के अपखण्डित होने के कारण किसान के सीमित साधनों तथा पूँजी का समुचित प्रयोग नहीं हो पाता। काफी मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर खाद,

बीज तथा कृषि-यन्त्रों के लाने वाले जाने में यातायात व्यय तथा धन का अपव्यय होता है।

(४) खेतों के अपखण्डन तथा दूर-दूर छिटके होने के कारण सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाता जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती। कृषि जोतों के दूर-दूर स्थित होने के कारण पशुओं की शक्ति का भारी नुकसान होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में ही बैल इतने थक जाते हैं कि खेतों पर उनसे भरपूर काम नहीं लिया जा सकता।

(५) कृषि जोतों के अपखण्डन से किसानों में पारस्परिक झगड़े-फिसाद पैदा होते हैं जिनसे गाँव का वातावरण तनावपूर्ण तथा दूषित हो जाता है।

समस्या को हल करने के उपाय (Remedies)

भारत की कृषि के पिछड़ा होने का एक महत्व पूर्ण कारण कृषि जोतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में होना तथा उनका दूर-दूर छिटके होना है। यही कारण है जिसने भारतीय कृषकों की आर्थिक दशा इतनी दयनीय बना दी है। अतः यह आवश्यक है कि इस समस्या को हल करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जायें। कृषि जोतों को उपविभाजन एवं अपखण्डन से उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर करने के लिए हम दो प्रकार के भिन्न उपायों का सहारा ले सकते हैं :—

(१) वर्तमान कृषि जोतों की एक निश्चित सीमा के उपरान्त भविष्य में होने वाले उपविभाजन एवं अपखण्डन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना।

(२) जोतों की चकबन्दी करना।

उपविभाजन पर रोक—कृषिजोत के उपविभाजन तथा अपखण्डन की गम्भीर समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी समस्या इस बात की है कि एक निश्चित एवं निम्नतम आकार के पश्चात् जोतों का अपखण्डन न किया जाय। इस प्रकार बड़ी बड़ी तथा आर्थिक कृषि जोतों के अपखण्डन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें अनुत्पादक एवं अलाभकर जोतों में परिवर्तित होने से रोका जाय। इस समस्या को सुलझाने के लिए केवल चकबन्दी से काम न चलेगा जैसा कि हम आगे देखेंगे। छोटे छोटे खेतों को मिलाकर तथा दूर-दूर छिटके खेतों को एकत्र करके उन्हें चकबन्दी द्वारा यदि हम एक बड़ी कृषि की इकाई में बदल भी देते हैं तो भविष्य में उनके उपविभाजन तथा अपखण्डन पर वैधानिक प्रतिबन्ध न लगने पर भविष्य में फिर उनके अन्तर्विभाजन तथा छिटक जाने का भय रहेगा। इस कारण या तो ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार किया जाय जिससे कृषि में लगी जनसंख्या की अज्ञानता का अन्त हो और उनमें चकबन्दी से होने वाले लाभ का महत्व समझने की क्षमता उत्पन्न हो जिसके परिणामस्वरूप वह स्वयं उपविभाजन तथा अपखण्डन जैसी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करने लगेंगे, परन्तु साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि ऐसे खेतों की अन्तर्विभाजन से रक्षा की जाय जिनका

आकार केवल इतना ही रह गया है कि जिसके और टुकड़े किये जाने पर वे आर्थिक जोत ही न रह सकेंगे। इस कार्य के लिए कानून की सहायता लेना भी आवश्यक है। भारत के कुछ राज्यों में जैसे पंजाब, पेप्सू (PEPSU), बम्बई तथा उत्तर प्रदेश इत्यादि में भूमि के एक निम्नतम सीमा के पश्चात् भूमि के अन्तर्विभाजन एवं उसके हस्तांतरण पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। आज आवश्यकता तो इस बात की है कि समस्त देश में व्यापक कृषि जोत के उपविभाजन तथा अपखण्डन की इस बुराई को दूर करने के लिए प्रत्येक राज्य में इस प्रकार के वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये जायें।

निम्न तालिका में हम भारत के विभिन्न राज्यों में भूमि की जिस निम्नतम सीमा के पश्चात् उपविभाजन तथा अपखण्डन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है उसका विवरण दे रहे हैं—[1]

राज्य	न्यूनतम सीमा (एकड़)
उत्तर प्रदेश	६¼ एकड़
भूपाल	१५ „
मध्य भारत	१५ „
दिल्ली	८ स्टैण्डर्ड एकड़
विन्ध्य प्रदेश	५ एकड़ (सिंचाई वाली भूमि)
	१० „ (सूखी भूमि)

उपरोक्त तालिका में विभिन्न राज्यों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध कृषि भूमि की निम्नतम सीमा निर्धारित करने के लिए वास्तव में बड़ा महत्वपूर्ण कदम है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक और आवश्यक कार्य किया जाना भी उपयोगी होगा और वह है देश में दायाधिकार व उत्तराधिकार के नियमों में आवश्यक संशोधन करना। वर्तमान अवस्था में इन नियमों द्वारा पैतृक सम्पत्ति का सब उत्तराधिकारियों में उनके अधिकारानुसार बराबर वितरण करने से एक भूस्वामी की कृषिभूमि के अन्तर्विभाजन तथा अपखण्डन में सहायता मिलती है। इन नियमों में अगर ऐसा परिवर्तन कर दिया जाये जिससे केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही पिता की मृत्यु के पश्चात् समस्त कृषि भूमि मिले तो उससे कृषि भूमि उपखण्डित होने से बच जायगी। परन्तु क्या यह न्यायोचित कहलायेगा? छोटे पुत्र तथा अन्य उत्तराधिकारियों को कुछ न मिले और सब भूमि बड़े लड़के को ही मिल जाय? इससे भूमि वंचित व्यक्तियों के समक्ष जीविकोपार्जन की जटिल समस्या उत्पन्न हो जायेगी।

1 *India*, 1959, p 274 275

जोतों की चकबन्दी

चकबन्दी का अर्थ—जब भूस्वामियों की दूर दूर छिटकी हुई कृषि भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों को मिलाकर एक या आवश्यकता पड़ने पर एक से अधिक चकों में बाँधने का प्रयास किया जाता है तो इस कार्य को जोतों की चकबन्दी (consolidation of holdings) कहते हैं। इस कारण चकबन्दी कृषि भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या को हल करने का एक सफल प्रयास है।

चकबन्दी का उद्देश्य—चकबन्दी का मुख्य उद्देश्य अपखण्डित तथा दूर-दूर बिखरी हुई कृषि भूमि को एक बड़े एवं आर्थिक जोत में बदल देना है। कृषि की आर्थिक जोतों के निर्माण द्वारा ही हम अन्तर्विभाजन से होने वाली हानियों को दूर कर कृषि में उन्नति कर सकते हैं।

शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के ... "भूमि के टुकड़े टुकड़े होने की बुराई को रोककर उसकी कुछ सहायता करने का केवल एक उपाय दिखाई पड़ता है, वह उपाय है—चकबन्दी। इस प्रणाली से एक मालिक की समस्त भूमि का एक भूमिखण्ड अथवा विभिन्न प्रकार की मिट्टी के कुछ भूमिखण्ड बन सकते हैं।[1]

चकबन्दी के प्रकार—चकबन्दी का कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है —

(१) ऐच्छिक चकबन्दी। यह भी दो प्रकार से हो सकती है (अ) व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा (ब) सहकारिता के आधार पर

(२) अनिवार्य चकबन्दी। चकबन्दी के विभिन्न प्रकारों को हम नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं :—



ऐच्छिक चकबन्दी (Voluntary Consolidation)—इस प्रकार की कृषि जोतों की चकबन्दी का कार्य किसानों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है तथा चक बनाने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता। इस प्रकार चकबन्दी का कार्य करने में सफलता प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पहले हम चकबन्दी से प्रभावित होने वाले समस्त व्यक्तियों को उससे होने वाले लाभों से अवगत करावें। भोली

1 *Royal Commission on Agricultural Report* p 139

भाली, अशिक्षित एवं रूढ़िवादी विचारधारा वाली ग्रामीण जनसंख्या को चकबन्दी का अर्थ तथा उसका महत्व समझने में काफी समय लगेगा, परन्तु यदि एक बार वे चकबन्दी की सम्भावनाओं तथा कृषि को उसके द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों से प्रभावित हो जाते हैं, तो फिर निसन्देह वे स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी के लिए तैयार हो जायेंगे। ऐच्छिक चकबन्दी का कार्य दो प्रकार से सम्पन्न हो सकता है —

(१) **व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर**—*व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा* चकबन्दी करना वास्तव में एक बड़ा ही कठिन कार्य है। आश्चर्य की बात तो यह है कि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा की जाने वाली चकबन्दी का कार्य संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों जैसे डेनमार्क, जर्मनी तथा फ्रांस आदि देशों में भी अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सका तो इस क्षेत्र में भारत जैसे पिछड़े देश में व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर की जाने वाली चकबन्दी की सफलता के लिए आशा करना ही व्यर्थ है। अनेक कारणों से हमारे देश में चकबन्दी का कार्य व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा सफल नहीं हो सकता। क्योंकि :—

(अ) भारत की अधिकांश कृषि जनसंख्या अशिक्षित एवं रूढ़िवादी होने के कारण चकबन्दी का वास्तविक महत्व नहीं समझती।

(ब) *भारत में कृषिक्षेत्र में अधिकारों की विभिन्नता के कारण भी व्यक्तिगत* प्रयत्नों के आधार पर चकबन्दी करने में बड़ी बाधा पहुँचती है।

(स) टेक्नीकल ज्ञान का अभाव।

(२) **सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर**—चकबन्दी का कार्य सहकारिता के आधार पर *किया जा सकता है।* इस प्रकार चकबन्दी के कार्य का जन्म सर्वप्रथम १६२१ में पंजाब में हुआ जहाँ चकबन्दी के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की गई। सहकारी सिद्धान्तों द्वारा की जानेवाली चकबन्दी में भी किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की जाती और न ही किसी को चकबन्दी के लिए बनाई गई योजना को मान्यता प्रदान करने के लिए विवश किया जाता है। समिति के अधिकारियों का मुख्य कार्य चकबन्दी सम्बन्धी लाभों से सदस्यों को अवगत करना है। समिति की सदस्यता के द्वार सभी व्यक्तियों के लिए खुले होते हैं। चकबन्दी के लिए आवश्यक भूमि के पुनर्विभाजन तथा चकबन्दी की योजना उस समय तक कार्यान्वित नहीं की जा सकती जब तक प्रत्येक सदस्य की अनुमति प्राप्त न हो जाये। इस प्रकार सहकारिता के आधार पर की जानेवाली चकबन्दी में भी अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे :—

(१) अशिक्षित तथा *अन्धविश्वासी ग्रामीण जनता* को चकबन्दी *का लाभ तथा* महत्व समझाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

(२) आसानी से भारतीय किसान अपनी पैतृक भूमि के हस्तांतरण के लिए तत्पर नहीं होते।

(३) यथार्थ में किसी एक व्यक्ति को भी चकबन्दी की योजना मान्य न होने पर उसे कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।

(४) चकबन्दी के लिए आवश्यक थोड़े से भी व्यय के लिए किसान तैयार नहीं होता।

(५) इस प्रकार चकबन्दी में समय अधिक लग जाता है।

अनिवार्य चकबन्दी—भारत जैसे देश में व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर तथा सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर की जाने वाली ऐच्छिक चकबन्दी सफल न होने के कारण यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि हमें भारतीय कृषि को कृषि भूमि के विभाजन तथा अपखंडन के दोषों से मुक्त करना है तो यह आवश्यक है कि अनिवार्यता (compulsion) का सहारा लें। इसलिए कानून द्वारा चकबन्दी का कार्य किया जाने। अनिवार्य चकबन्दी या तो गाँव के अधिकांश भूस्वामियों, जिनके पास गाँव की निश्चित न्यूनतम भूमि है, द्वारा चकबन्दी के लिए रक्खी गई योजना के आधार पर की जाती है। अथवा सरकार अपनी ओर से चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ कर देती है। ऐसी दशा में सरकार के लिए भूस्वामी की अनुमति लेना आवश्यक नहीं है। अनिवार्य रूप से चकबन्दी का कार्य करने के लिए भारत में विभिन्न राज्यों में चकबन्दी सम्बन्धी अधिनियम बना लिए गये हैं। मध्य प्रदेश में यह नियम १६२८ में पास हुआ था, पंजाब में १६३६ में, उत्तर प्रदेश में १६३६ में, तथा जम्मू व काश्मीर में भी यह नियम १६४० में पास किये गये। उत्तर प्रदेश के अधिनियम का संशोधन १६५३ में किया गया। बम्बई राज्य में १६४७ में, पूर्वी पंजाब में १६४८ में, उड़ीसा में १६५१ में, हिमाचल प्रदेश में १६५३ में, राजस्थान में १६५४ में, पश्चिमी बंगाल में १६५५ में और बिहार तथा हैदराबाद में १६५६ में चकबन्दी सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये।[2]

चकबन्दी की प्रगति

चकबन्दी ही भारत की कृषि भूमि के अपविभाजन तथा छिटके होने का एक मात्र उपाय है। हमारे देश में चकबन्दी का महत्व पूर्णतया स्पष्ट हो जाने के कारण प्रायः देश के सभी राज्यों में चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ हो गया है। कुछ राज्यों में तो इस क्षेत्र में महान प्रगति हुई है। परन्तु साथ ही कुछ राज्य ऐसे हैं जो इस क्षेत्र में अभी काफी पिछड़े हैं जिसके कारण भारतीय कृषि के समक्ष उत्पन्न इस भीषण रोग को पूर्णतया दूर नहीं किया जा सका है। देश के विभिन्न राज्यों में सन् १६५७ के अन्त तक चकबन्दी के क्षेत्र में की गई प्रगति अगले पृष्ठ पर दी गई है[2] (इसका विस्तृत विवरण अध्याय ६ में दिया गया है।)

1 *Indian Economics*, Gupta S B, p 202

2 *Indian Economics Year Book*, 1959 60, p 69

बम्बई	१८६० गाँव
दिल्ली	२१० गाँव
मध्य प्रदेश	२६ लाख एकड़
पंजाब	६१·४ लाख एकड़
उत्तर प्रदेश	४०·६ लाख एकड़

चकबन्दी में आने वाली कठिनाइयाँ

यद्यपि चकबन्दी द्वारा हम भारतीय कृषि में पर्याप्त उन्नति कर सकते हैं फिर भी चकबन्दी के कार्य में अनेक ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं जिनके कारण चकबन्दी की प्रगति में बड़ी बाधा पहुँचती है। इनमें से कुछ कठिनाइयाँ निम्न हैं :—

(१) चकबन्दी के कार्य में आवश्यक व्यय होने के कारण इसकी प्रगति में बाधा पहुँचती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में सरकार भी चकबन्दी के लिए कुछ शुल्क लेती है।

यदि यह कार्य बिना शुल्क लिये ही किया जाये तो आशा है कि चकबन्दी के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो सकेगी।

(२) अपनी पैतृक तथा पूर्वजों से प्राप्त भूमि के प्रति अत्यधिक ममता तथा लगाव होने के कारण किसान उसे हस्तान्तरित करने के लिए आसानी से तैयार नहीं होता। इस कारण भी चकबन्दी का कार्य अधिक तेजी से नहीं हो पा रहा है।

(३) भारत के अधिकांश क्षेत्रों में भूमि में अधिकार सम्बन्धी आवश्यक अभिलेखों (Records) के न होने के कारण भी चकबन्दी के कार्य में कठिनाई होती है।

(४) प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों की कमी होने के फलस्वरूप चकबन्दी जैसे गम्भीर तथा पेचीदा कार्य को पूरा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, जो इसके मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधा है।

(५) चकबन्दी कार्य से सम्बन्धित कर्मचारियों में ईमानदारी की कमी, रिश्वत लेने, भेदभाव तथा पक्षपात करने की प्रवृत्ति के कारण ग्रामीण जनता में चकबन्दी के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई है जो इस कार्य की प्रगति में बड़ी बाधक सिद्ध हुई है।

(६) निरक्षरता, अन्धविश्वास तथा अज्ञानता के कारण भारतीय किसान चकबन्दी के कार्य का न तो वास्तविक महत्व समझता है और न उसकी प्रगति में अपना समुचित योग प्रदान कर पाता है जिसके कारण चकबन्दी के क्षेत्र में भारी प्रगति नहीं हो सकी है।

कृषि की विभिन्न प्रणालियाँ (Types of Farming)

भारतीय कृषि को सुधारने के लिए कृषि जोतों के अन्तर्विभाजन तथा अपखण्डन को रोकने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दिये गये उपरोक्त सुझाव जैसे उत्तरा

धिकार नियमों में परिवर्तन करना तथा चकबन्दी द्वारा बड़े आकार के आर्थिक जोतों का निर्माण करना तो इस समस्या को हल करने का एक सफल उपाय है ही, परन्तु साथ-साथ कृषि प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन करके भी हम इस समस्या को बहुत सीमा तक हल कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ जनसंख्या का अधिकांश भाग भूमि पर ही अपनी जीविका प्राप्ति के लिए निर्भर करता हो व्यक्तिगत आधार पर कृषि व्यवसाय अधिकतर उपयुक्त नहीं हो सकता। वर्तमान परिस्थितियों में जब भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जा रहा है तो इस बात की ओर गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि क्या हम व्यक्तिगत खेती (individual farming) के स्थान पर किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था का प्रयोग नहीं कर सकते। संसार के अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ पर किसानों द्वारा व्यक्तिगत आधार पर खेती नहीं की जा सकती है जिसके फलस्वरूप वे राष्ट्र उपविभाजन एवं अपखण्डन जैसी सम ... से मुक्त हैं और साथ ही उनकी खेती भी सुधरी हुई अवस्था में है। कृषि के ... में अपनाई जाने वाली विभिन्न प्रणालियों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है'—

(१) सामूहिक खेती (Collective Farming) सामूहिक कृषि प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर खेती की जा सकती है। भूमि पर किसी व्यक्ति का आधार न होकर सामूहिक अधिकार हो जाता है। समस्त कृषि यन्त्रों तथा अन्य साधनों का सामूहिक रूप से प्रयोग किया जाता है। व्यक्तिगत किसान को मजदूरी पाने का अधिकार होता है जिसका निर्धारण उसके कार्य के अनुसार किया जाता है। संक्षेप में सामूहिक प्रणाली के अन्तर्गत भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों का प्रायः अन्त सा हो जाता है। हमारे देश में जहाँ भूमि तथा अचल सम्पत्ति के प्रति लोगों में इतना प्रेम है इस प्रकार की कृषि पद्धति के लिए अनुकूल वातावरण नहीं है, परन्तु सोवियत रूस जैसे महान देशों में सामूहिक कृषि उत्पादन में भारी प्रगति हुई है। रूस के कोलखोज (Kolkhoz), इजराइल के किब्बुत्ज (Kibbutz) तथा मोशाव शितूफी (Moshav shitufi) सामूहिक खेती के उत्तम उदाहरण हैं।[1]

(२) राज्य कृषि अथवा भूमि का राष्ट्रीकरण (State Farming or Nationalisation of Land)—राज्य कृषि भी भारत की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। हमारे देश में आदि काल से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की परम्परा चली आ रही है। शायद ही भारत का कोई भी किसान ऐसा हो जो भूमि पर अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देने को तत्पर हो, परन्तु राज्य कृषि के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं है। उसके अन्तर्गत समस्त भूमि का राष्ट्रीकरण करके भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना पहला कार्य होगा। सरकार

O P. Dahama, *Agricultural and Rural Economics*, p 61

सारी कृषि भूमि को अपने अधिकार में लेकर कृषकों द्वारा आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग से कृषि उत्पादन का कार्य करायेगी जिसके लिए किसानों को वेतन दिया जायेगा। परन्तु क्या इस प्रणाली में समस्त कृषि समस्याओं का हल हो जायेगा ? सत्य तो यह है कि कृषि में उन्नति व्यक्तिगत प्रेरणा तथा प्रोत्साहन द्वारा ही सम्भव हो सकती है। भूमि के राष्ट्रीकरण के पश्चात् किसान केवल सरकारी कर्मचारी के रूप में ही खेती का कार्य करेंगे। व्यक्तिगत लाभ की आशा के अभाव में प्रत्येक कृषक अपना अधिकतम योग (maximum contribution) न देगा।

(३) सुसगठित खेती (Corporate Farming)—इस प्रकार की सुसगठित खेती का एक मात्र उद्देश्य कृषि उत्पादन द्वारा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना है। सुसगठित खेती वास्तव में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का ही एक रूप है। कृषि उत्पादन की इस प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर खेती करने के लिये पर्याप्त पूँजी एव भूमि का होना आवश्यक है जिससे खेती के उन्नत तरीकों से कृषि उत्पादन करने से लाभ में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कृषि उत्पादन भी बहुत बढ़ जाता है।

(४) सहकारी कृषि (*Co operative Farming*)—वर्तमान समय में सहकारी कृषि के ऊपर काफी वादविवाद उठ रहा हुआ है। खेतों के उपखण्डन तथा दूर दूर छिटके होने की समस्या को हल करने के लिये तथा भारतीय कृषि के पुर्नसगठन के लिए सहकारी कृषि पद्धति अपनाये जाने का सुझाव दिया जाता है। सहकारी कृषि का वास्तविक अर्थ क्या है ? इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है और अनेक भ्रममूलक विचार प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे सहकारी कृषि का अर्थ तथा देश की वर्तमान कृषि व्यवस्था में उसके महत्व को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। हम इस सम्बन्ध में नीचे कुछ प्रमुख लेखकों तथा विशेषज्ञों द्वारा बताये गये सहकारी कृषि के अर्थ का विवरण दे रहे हैं। उदाहरण के लिए डा० ओटो शिलर (Dr Otto Schiller) के शब्दों में—

"In modern literature generally co-operative farming is understood as a form of farm management in which the land is used jointly.........[1] अर्थात् आधुनिक साहित्य में सहकारी कृषि का यह अर्थ लगाया जाता है कि यह प्रायः कृषि व्यवस्था का एक रूप है जिसमें भूमि का सयुक्त प्रयोग किया जाता है।

कांग्रेस अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी (Shri Sanjiva Reddy) के अनुसार "*Co-operation is not only a technique for greater* production and better living but is also a way of life

[1]Dr. Otto Schiller Quoted by K. R Kulkarni, *Theory and Practice of Co-operation in India and Abroad*', V. III, p. 378.

which is opposed to many of the conflicts that exist to-day."* सहकारिता न केवल अधिक उत्पादन तथा उन्नत जीवन की एक विधि है वरन् यह जीवन का एक ऐसा मार्ग भी है जो वर्तमान समय के अनेक संघर्षों के विरुद्ध है।

सहकारी कृषि के भेद—सहकारी कृषि के ४ विभिन्न रूप हैं जिनका भेद समझना आवश्यक है :—

(१) सहकारी संयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming)—इस प्रकार की सहकारी कृषि में छोटे छोटे खेतों को मिलाकर एक बड़ी इकाई बना ली जाती है जिसमें सदस्यों का अपनी अपनी भूमि पर अधिकार बना रहता है। भूमि के प्रबन्ध के लिए एक समिति होती है जिसके द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार कार्य करते हैं। उनके द्वारा किये गये श्रम के लिए उन्हें मजदूरी दी जाती है, साथ ही उनकी भूमि के मूल्य के अनुपात में लाभांश भी प्राप्त होता है।

(२) सहकारी उन्नत कृषि (Co operative Better Farming)—इस प्रकार की प्रणाली में व्यक्तिगत एवं मिल जुलकर दोनों प्रकार से काम किया जाता है। सदस्यों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह किन बातों में अन्य सदस्यों के साथ मिल जुलकर कार्य करें और किन बातों को व्यक्तिगत आधार पर करें। जहाँ तक भूमि के स्वामित्व तथा प्रबन्ध का प्रश्न है उसके लिए भूस्वामी पूर्ण स्वतन्त्र है, परन्तु यदि वह कृषि में उन्नति करना चाहता है तो इसके लिए कृषक एक सहकारी उन्नत खेती समिति का निर्माण कर लेते हैं जिसके द्वारा बढ़िया बीज, अच्छी खाद, उन्नत कृषि यंत्र तथा कृषि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के लिए मशीन आदि के खरीदने तथा खेती की उपज बेचने का कार्य किया जाता है। डेनमार्क जैसे देशों में इस प्रकार की समितियों ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

(३) सहकारी काश्तकार खेती (Co operative Tenant Farming)—सहकारी काश्तकार खेती के अन्तर्गत समस्त कृषि भूमि सहकारी समितियों के अधिकार में होती है जिसे छोटे छोटे चकों में विभक्त कर दिया जाता है। समिति खेती कराने के लिए कुछ किसानों को लगान पर एक एक चक दे देती है जिन पर खेती समिति द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार ही करना होता है। कृषि सम्बन्धी विविध सुविधाओं, जैसे खाद, बीज, औजार आदि प्रदान करना समिति का ही उत्तरदायित्व होता है। उत्तर प्रदेश में गंगा खादर योजना पर सहकारी आसामी कृषि व्यवस्था अथवा सहकारी काश्तकार कृषि का महत्वपूर्ण प्रयोग हो रहा है।

(४) सहकारी सामूहिक कृषि (Co operative Collective Farming)—इस प्रकार की कृषि में भी भूमि सहकारी कृषि के अधिकार में होती है, परन्तु

* *National Herald*, dated—Jan 17, 1960

इसमें खेती का कार्य भी समिति के सदस्यों द्वारा ही सम्पन्न होता है। ऐसी प्रणाली में समिति के सदस्य के पास भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहता है। वे तो वेतन के बदले केवल एक श्रमिक के रूप में ही काम करते है। सदस्य समिति द्वारा अर्जित लाभ का कुछ भाग पाने के अधिकारी होते हैं।

भारतवर्ष में सहकारी कृषि (Co-operative Farming in India)—वैसे तो सहकारी कृषि के सिद्धान्त भारत के लिए कुछ नये नहीं हैं फिर भी कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में पास किये गये प्रस्तावों में, विशेषकर कृषि सगठन सम्बन्धी, के पास होने के उपरान्त सहकारी कृषि पर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। नागपुर अधिवेशन के पश्चात् कांग्रेस ने सहकारी कृषि प्रणाली अपनाने का जो महत्वपूर्ण निश्चय किया उसे देश के अन्य राजनैतिक दलों तथा आलोचकों द्वारा सहकारी कृषि की तीव्र आलोचना की जाने लगी। कुछ लोगों के विचार से देश की वर्तमान कृषि अर्थ व्यवस्था को सुधारने, कृषि में उन्नति करने, तथा कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि तथा खाद्य समस्या को हल करने का एक मात्र साधन सहकारी कृषि है, परन्तु दूसरी ओर स्वतन्त्रता, जनतन्त्र तथा अन्य उच्च आदर्शों एवं सिद्धान्तों के नाम पर सहकारी कृषि की की जाने वाली कटु आलोचना भी सर्व विदित है। यदि एक ओर भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सजीव रेड्डी, श्री निजिलिंगप्पा जैसे नेताओं ने सहकारी कृषि द्वारा देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति सुधारने की बड़ी आशा प्रकट की है, तो दूसरी ओर राजगोपालाचार्य, क० एम० मुन्शी, प्रो० रंगा, मिस्टर एम० आर० मसानी जैसे विचारकों एवं विद्वानों ने सहकारी कृषि की सफलता पर काफी सन्देह प्रगट किया है। इस कारण हम सहकारी कृषि के पक्ष एवं विपक्ष में कहे गये कुछ महत्वपूर्ण तर्कों का परीक्षण कर रहे हैं।

सहकारी कृषि का आलोचनात्मक विश्लेषण पक्ष में

(१) सहकारी कृषि से कृषि जोतों के आकार में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। यह एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होने तथा उनके छिटके होने के कारण कृषि को होने वाली हानियाँ दूर करके भारतीय कृषि में काफी उन्नति की जा सकती है।

(२) सहकारी कृषि भारतीय कृषकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। मिल जुलकर की जाने वाली खेती में फसल खराब होने तथा अन्य प्रकार के जोखिमों का भार एक व्यक्ति पर नहीं पड़ता।

(३) सहकारी कृषि द्वारा देश में कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि करके वर्तमान समय में खाद्यान्न की कमी जैसी गम्भीर समस्या बड़ी सुगमता से हल की जा सकती है।

(४) अनेक प्रकार से कृषि में उन्नति करने के लिए सहकारी कृषि बड़ी उपयोगी

सिद्ध हो सकती है। सहकारी कृषि समितियों द्वारा किसान को बाजार की प्रवृति तथा अपने साधनों के समुचित प्रयोग के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्रदान की जा सकती है जिससे उसको अपने कृषि उत्पादन के स्तर को बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(५) सहकारी कृषि द्वारा बड़े पैमाने पर खेती की जाने की सम्भावना की जा सकती है। अनेक बचतों के प्राप्त होने तथा थोक भाव पर कृषि के लिए आवश्यक सामग्री बीज, यन्त्र, आदि खरीदने से उत्पादन लागत बहुत कम हो जाती है और साथ ही उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

(६) सहकारी खेती द्वारा होने वाले सामाजिक लाभ के कारण भी सहकारी कृषि पद्धति भारत के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी है। ग्रामीण जीवन में मिल जुल कर रहने, पारस्परिक सहयोग तथा भाईचारे की भावनाओं का विकास कर सहकारी ग्रामीण जीवन में शान्ति एवं सुख का सचार करने का एक उपयोगी साधन है।

सहकारी कृषि से होने वाले लाभों को बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है —

"Co operative farming is held to be the best means of rationalising agriculture and attaining a higher order of social and economic life in keeping with the principles of democracy and self-government'[1]

विपक्ष में

विभिन्न लेखकों तथा विशेषज्ञों द्वारा सहकारी कृषि की तीव्र आलोचना की गई है। मिस्टर एच० के वीराना गऊध (Mr H K Veeranna Gowdh) के शब्दों में —

"Co operative farming had nothing sinful or destructive about it any more than promoting joint stock companies or industrial combines"[2]

सहकारी कृषि के विपक्ष में दिये जाने वाले मुख्य तर्क निम्न हैं :—

(१) सहकारी कृषि भारत की सामाजिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) भूमि के प्रति अधिक लगाव होने के कारण कृषकों से भूमि प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होगी। सहकारी कृषि का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे किसान केवल एक श्रमिक के रूप में परिणत हो जाता है। इसके फलस्वरूप उसकी रुचि एवं उत्साह में कमी आ जाने से कृषि उत्पादन में बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

(३) कुछ लोगों के विचार से सहकारी कृषि प्रणाली के अपनाये जाने से देश में बेकारी की समस्या और बढ़ जायेगी।

1 K R Kulkarni, *Theory and Practice of Co-operation*, p 578.

2 *National Herald*, dated Jan 17, 1960

(४) पर्याप्त कुशल कर्मचारियों तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव सहकारी कृषि पद्धति को सफल बनाने तथा उसे वास्तविक लाभ प्राप्त करने म बहुत बड़ा बाधा है।

(५) मिस्टर रेल्फ ओस्लेन (Mr Ralph Oslen), जिन्होंने भारत में अभी कुछ समय पूर्व आये हुए अमरीकी कृषकों के एक दल का नेतृत्व किया, सहकारी कृषि के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है —

"Co operative farming was not too practical and I do not think it will be successful in India It took away incentive from the farmer and made him lose his identity and individual interests as an entrepreneur in the land [1]

सहकारी सेवा समितियाँ (Service Co operatives)—भारत में कृषि की उन्नति के लिए सहकारी सेवा समितियों द्वारा बड़ा उपयोगी कार्य किया जा सकता है। *वर्तमान स्थिति में जबकि विभिन्न विचारकों तथा लेखकों द्वारा सहकारी कृषि की* तीव्र आलोचना की जा रही है शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसे सहकारी सेवा समितियों के उपयोग तथा महत्व म तनिक भी स देह हो। प्रसिद्ध अमेरिकन कृषि नेता *मिस्टर ओस्लन द्वारा भी सहकारी सेवा समितियों की बड़ी प्रशसा की गई है।* उनके शब्दों में —

'Service Co operatives were very practical and will be *of tremendous advantage to India*

इन सहकारी सेवा समितियों द्वारा किसान को उसके लिए आवश्यक खाद, बीज, उर्वरक, सुधरे कृषि यन्त्र, साख, विपणन तथा प्राविधिक उपयोगी सुविधाएँ सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं *जिनसे वह अपनी कृषि म पर्याप्त उन्नति कर सकता है।* इस प्रकार सहकारी सेवा समितियाँ कृषि सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

भारत में सहकारी कृषि अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था म है परन्तु कृषि क्षेत्र में इसका अत्यधिक महत्व होने के कारण सहकारी कृषि के विकास का दृढ़ निश्चय कर लिया गया है। दिसम्बर १९५८ तक भारत में सहकारी कृषि समितियों की संख्या लगभग २०२० थी परन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिए यह संख्या इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अभी सहकारी कृषि ने देश म व्यापक प्रगति नहीं की है जिसके लिए आवश्यक है कि इसके विकास एव प्रचार के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जायें तभी देश सहकारी कृषि द्वारा समुचित लाभ प्राप्त कर सकेगा। सहकारी कृषि के विकास के लिए हमें निम्न प्रयत्न करने चाहिए —

---

1 *National Herald* dated Dec 29 1959

(१) सहकारी कृषि द्वारा होने वाले लाभ तथा उसके महत्व से किसान को अवगत करने के लिए इसका व्यापक प्रचार हो।

(२) इसके लिए आवश्यक प्राविधिक सलाह तथा परामर्श की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए जिससे इसके मार्ग में आनेवाली प्राविधिक कठिनाइयाँ इसके विकास में बाधक न हों।

(३) सहकारी कृषि समितियों को अपना कार्य सुगमतापूर्वक चलाने के लिए उन्हें आवश्यक प्रोत्साहन देना भी अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें अपने कृषि उत्पादन के लिए उचित अथवा रियायती मूल्य पर आवश्यक कृषि सामग्री जैसे खाद, बीज, कृषि-यन्त्र उर्वरता वर्धक इत्यादि दिलाकर सहकारी कृषि में बड़ी प्रगति की जा सकती है।

भारत सरकार ने देश में सहकारी कृषि के विकास के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि के प्रसार के लिए महत्वपूर्ण प्रयत्न किये गये हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में देश में कार्य करने वाली अथवा निष्क्रिय समितियों को सुधारने अथवा पुनः जीवित करने की ओर ध्यान दिया जायेगा। देश में आगामी वर्षों के लिए बनने वाली तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारी कृषि तथा सहकारी सेवा समितियों की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाने का निश्चय किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत लगभग २,५०,००० सहकारी समितियों की स्थापना करने का प्रस्ताव रक्खा गया है जिसकी सदस्य संख्या लगभग ४ करोड़ होगी।

प्रश्न

1 What are the causes and effects of subdivision and fragmentation of agricultural holdings? What remedial measures have been adopted to check and eradicate the evil?

(*Agra, 1917 1919, Delhi, 1953, Rajasthan, 1952, Allahabad* 1953, *Patna, 1953*)

2 Write a short note on 'Agricultural Holdings in India'.

(*Agra, 1916, 1948, Rajasthan, 1948*)

3 Define an 'Economic Holding' What measures would you suggest for creation and stabilisation of economic holdings in India?

(*Rajasthan, 1953*)

4 What are the various types of farming at present practised in India? How far would 'Co-operative Farming' prove beneficial for our country under the present circumstances? (*Agra 1960*)

5 Write a short note on —

Consolidation of Holdings (*Punjab, 1958*)
Service Co-operatives (*Agra, 1960*)

लिए निश्चित की जाती है। यह काल ३० या ४० वर्ष का होता है। इस काल के पूर्ण हो जाने पर लगान की धनराशि पुनः निश्चित की जाती है।

जमींदारी प्रथा बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तरी मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बम्बई के कुछ भागों में पाई जाती है। उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य प्रदेशों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन अभी हाल में ही किया गया है। जमींदारी प्रथा के विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

महालवारी प्रथा—इस पद्धति का श्रीगणेश सन् १८३३ ई० के 'रेगुलेशन एक्ट' के अनुसार सर्व प्रथम आगरा व अवध में हुआ था। कालान्तर में इसे पंजाब के कुछ भागों में लागू कर दिया गया। 'महाल' शब्द का अर्थ गाँव से होता है। गाँव के कुछ समृद्धिशाली लोग मिलकर सरकार से भूमि का स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं और सम्मिलित रूप से गाँव भर के लगान को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। अतः इस प्रथा को 'संयुक्त ग्राम स्वामित्व' (Joint Village Tenure) प्रणाली भी कहते हैं।

विशेषतायें

(१) इस प्रथा के अन्तर्गत मालगुजारी अस्थायी होती है।

(२) मालगुजारी के लिए केवल कोई विशेष भूस्वामी ही सरकार के प्रति उत्तरदायी नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण गाँववाले मिलकर मालगुजारी के लिए सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(३) किसान को अपनी भूमि का किसी भी रूप में प्रयोग करने का पूरा पूरा अधिकार होता है।

(४) इस प्रथा के अन्तर्गत भूमि के हिस्सेदारों में विभाजन की तीन मुख्य प्रणालियाँ होती हैं :

(अ) पैतृक सिद्धान्त के अनुसार,

(ब) अपैतृक सिद्धान्त के अनुसार, तथा

(स) साधारण विभाजन।

पैतृक सिद्धान्त के अनुसार भूमि का हिस्सेदार परम्परागत भूमि का स्वामी होता है। पैतृक प्रणाली वाले गाँव तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे गाँव जो एक संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की भाँति होते हैं अर्थात् जिन पर कुछ व्यक्तियों का सामूहिक अधिकार होता है। द्वितीय वे ग्राम होते हैं जो अपैतृक प्रणाली पर आधारित हैं। इसमें भूमि का विभाजन 'भय्ये माईचारे' के सिद्धान्त के अनुसार होता है। यह तीन रूप धारण कर सकता है—(क) भूमि को बराबर बराबर हिस्सों में बाँटकर, (ख) हल्की सम्पदाओं के स्वामित्व के अनुसार, (ग) पानी अथवा कुओं के हिस्सों के अनुसार। तृतीय वे गाँव

होते हैं जहाँ भूमि के विभाजन के लिए कोई विशेष नियम प्रचलित नहीं। जिस व्यक्ति के अधिकार में जो भूमि होती है वही व्यक्ति उस भूमि का स्वामी माना जाता है।

यह प्रथा पंजाब, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है। सैद्धान्तिक रूप से यह प्रथा भली अवश्य मालूम होती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में इसमें कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः पंजाब आदि राज्यों में इसका स्वरूप व्यावहारिक दृष्टिकोण से बदला हुआ है। पंजाब में सम्पूर्ण गाँव के स्थान पर किसान ही व्यक्तिगत रूप में भूमि का स्वामी समझा जाता है।

रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—सर्वप्रथम इस पद्धति को कैप्टेन रीड तथा मद्रास के गवर्नर टामस मनरो ने सन् १७९२ में मद्रास के बारामहल नामक जिले में चालू किया था। शनैः-शनैः यह पद्धति राज्य के अन्य भागों तथा बम्बई में ...ु हो गई। इस समय यह प्रथा बम्बई, मद्रास, बरार, कुर्ग, मध्य प्रदेश तथा ... में प्रचलित हैं। प्रारम्भ में रैयत ही स्वयं काश्तकार होता था परन्तु आजकल बहुत से रैयत खुद काश्तकार नहीं होते।

विशेषतायें

(१) इस प्रथा के अन्तर्गत किसान और सरकार के बीच एक सीधा सम्पर्क होता है और किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती।

(२) किसानों को व्यक्तिगत रूप से अपने खेतों के लगान को सरकारी खजाने में जमा करना पड़ता है।

(३) मालगुजारी लगभग प्रत्येक ३०-४० वर्ष बाद निश्चित होती है। मालगुजारी के निश्चित करते समय भूमि के क्षेत्रफल तथा उसकी उर्वरा शक्ति को ध्यान में रखा जाता है।

(४) सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व रहता है। यद्यपि वैधानिक रूप से किसान भूमि का पूरा स्वामी नहीं होता, व्यावहारिकता में वह स्वामी ही रहता है।

(५) किसान को अपनी भूमि को प्रयोग में लाने, बदलने अथवा छोड़ देने का पूरा अधिकार होता है।

(६) किसान भूमि का स्वामी उसी समय तक रहता है जब तक वह सरकार को लगान देता रहता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की भूमि व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भूमि का विभाजन सन् १९३७-३८ में इस प्रकार था[1]—

---

[1] Ministry of Information and Broadcasting, *Agricultural in India* 1950, p. 51.

भूमि व्यवस्था की प्रथा	क्षेत्रफल (करोड़ एकड़ में)	कुल का % क्षेत्रफल	राज्य जहाँ प्रचलित है
(१) रैयतवारी	१८.३	३६	मद्रास, बम्बई, आसाम तथा सिन्धु (पाकिस्तान)
(२) जमींदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	१२.६७	२५	बंगाल, उड़ीसा, बिहार, और मद्रास
(३) जमींदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	१६.७२	३६	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब।

जमींदारी उन्मूलन

सरकार तथा किसानों के बीच में उपस्थित मध्यस्थों ने कृषि के विकास को ठेस पहुँचाई है। अतः राज्य सरकारों ने जमींदारी प्रथा तथा मध्यस्थों का अन्त करने का निश्चय कर लिया और अपने अपने राज्यों में तत्सम्बन्धी जमींदारी उन्मूलन अधिनियम भी पास कर दिये हैं। इस प्रकार के अधिनियम देश के भाग 'अ' के लगभग सभी राज्यों में तथा हैदराबाद, मध्य प्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र, पैप्सू तथा जम्मू एवं कश्मीर में बनाये गये हैं। इसी प्रकार के कार्यक्रम अन्य बहुत से राज्यों में भी बनाये जा रहे हैं।

मध्यस्थों के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम कुछ राज्यों में पूर्णतया, कुछ राज्यों में अधिकांशतः तथा कुछ राज्यों में आंशिक रूप में लागू किये जा चुके हैं। राज्यानुसार इनका विवरण इस प्रकार है :—

(१) पूर्णतया क्रियान्वित (Fully implemented)

मध्य प्रदेश, पंजाब, हैदराबाद, पैप्सू तथा भूपाल।

(२) अधिकांशतः क्रियान्वित (Substantially implemented)

आंध्र प्रदेश, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत तथा सौराष्ट्र।

(३) आंशिक रूप में क्रियान्वित (Partially implemented)

बिहार, उड़ीसा, राजस्थान तथा विन्ध्य प्रदेश।

जमींदारी प्रथा अथवा मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में लोगों का एक मत नहीं है। कुछ लोग उन्मूलन के पक्ष में हैं और कुछ इसके विपक्ष में।

उन्मूलन के पक्ष में तर्क

जमींदारी उन्मूलन के समर्थकों ने अपने प्रभावपूर्ण तर्क इस प्रकार दिये हैं—

(१) जमींदार किसानों का शोषक होता है—जमींदारी प्रथा के इतिहास का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि अधिकांश जमींदार लोग निर्धन, जर्जर

और पीड़ित किसानों का सदैव से शोषण करते रहे हैं और अपने कर्तव्यों की पूर्ति जैसे भूमि सुधार आदि की अवहेलना करते रहे हैं। उन्मूलन के समर्थकों का कहना है कि यदि मध्यस्थों को हटा दिया जाय तो किसानों की दशा भी सुधरेगी और भूमि सुधार भी हो सकेगा।

(२) राजकीय आय में वृद्धि—जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत किसानों से लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व जमींदारों अथवा मध्यस्थों का होता है। ये मध्यस्थ लगान का एक बहुत बड़ा भाग स्वयं ले लेते हैं। यदि इन मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाय तो सरकार और किसान का सीधा सम्पर्क स्थापित हो जायगा और मध्यस्थों की जेब में जाने वाला भाग सरकारी खजाने में जाने लगेगा।

(३) राजनैतिक सुधार—भारतीय जनता का अधिकांश भाग (लगभग ७०%) कृषि पर आधारित है। जमींदारों द्वारा शोषित तथा उत्पीड़ित किये जाने के कारण किसानों में एक राजनैतिक असन्तोष की भावना आ गई है। यदि इस प्रथा का उन्मूलन कर दिया जाय तो किसानों के असन्तोष की भावना का भी अन्त हो जायगा और स्वभावतः हमारी सरकार और किसानों के सम्बन्ध अच्छे हो जायेंगे और आगामी निर्वाचन में शासक दल की लोकप्रियता बनी रहेगी।

(४) देश का आर्थिक विकास—लोगों का यह भी कहना है कि यदि मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाता है तो कृषि में सुधार होगा, कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी, जनता की क्रय शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः देश का आर्थिक विकास होगा।

उन्मूलन के विपक्ष में तर्क

जमींदारी उन्मूलन के विपक्षियों ने अपने तर्क निम्न प्रकार प्रस्तुत किये हैं —

(१) देश में बेरोजगारी की वृद्धि—यदि जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया जाता है तो बहुत से जमींदार तथा मध्यस्थ और उनके कर्मचारी एक बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो जायेंगे। अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित होने के कारण इनको कोई रोजगार भी नहीं मिल सकेगा। ऐसे समय में जब कि देश में बेरोजगारी का दानव आतंक मचाये हुए है, इन लोगों की अतिरिक्त बेकारी देश में अराजकता फैला देगी और नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र के शुभ्र भाल पर कलंक का टीका लगा देगी।

(२) किसानों की कठिनाइयाँ—महोदय क्लाउस्टन के शब्द, "भारतीय कृषक का जन्म ऋण में होता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है और इसी ऋण में उसकी मृत्यु भी हो जाती है" आज भी अक्षरशः सत्य हैं। जमींदार लोग अपने किसानों को अपनी प्रजा समझ कर उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति समय समय पर किया करते हैं। यही कारण है कि जमींदारों में अनेक दोष होते हुए भी किसान

उनकी छत्रछाया से अलग नहीं होना चाहते। जमींदारी के समाप्त हो जाने पर किसान लोग निराधार हो जायेंगे और सामाजिक अराजकता फैल जावेगी।

(३) **ग्रामीण रिकार्डों का अभाव**—देहातों में भूमि सम्बन्धी सलेखों (Records) की लिखापढ़ी पटवारियों (लेखपालों) द्वारा की जाती है। इन लोगों को कोई उचित शिक्षा, उच्च अथवा विशेष नहीं दी जाती, अतः वे ठीक-ठीक हिसाब-किताब नहीं रख पाते। प्रायः पैसे के लालच में वे अशुद्ध प्रविष्टियाँ कर देते हैं। जमींदारी उन्मूलन के समय ये कठिनाइयाँ बाधक सिद्ध होंगी।

(४) **क्षतिपूर्ति (मुआवज़े) की समस्या**—जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होते ही सरकार को जमींदारों की क्षतिपूर्ति देने की समस्या उत्पन्न होगी। अनुमान है कि जिन राज्यों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है वहाँ क्षतिपूर्ति के रूप में लगभग ४५० करोड़ रुपए देने होंगे। ऐसे समय में जब कि सरकार के पास धन का अभाव है क्षतिपूर्ति एक समस्या बन जावेगी। यदि इस धन का उपयोग कृषि सुधार में लगाया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

(५) **भूमिधर बनने की समस्या**—काश्तकारों को भूमिधर बनने के लिए सरकार को दस गुना लगान देना होगा। भारतीय किसान इतने धनवान नहीं हैं कि वे इसे अपने सचित कोष से निकाल कर जमा कर दें। उनके पास ऐसी कोई चल अथवा अचल सम्पत्ति भी नहीं है जिसके विरुद्ध वे ऋण प्राप्त कर सकें।

जमींदारी उन्मूलन के मूल तत्व

जमींदारी उन्मूलन के तीन प्रमुख तत्व हैं :—

(१) मध्यस्थ अधिकारों का अन्त और जमींदार को क्षतिपूर्ति जो कि मध्यस्थ अधिकार से होने वाली शुद्ध आय की कई गुनी रखी गई। जिस जमींदार की आय अधिक थी उसको घटती हुई दर से क्षतिपूर्ति की गई।

(२) जमींदार द्वारा अपनी व्यक्तिगत कृषि के लिए रखी जाने वाली भूमि की सीमा निश्चित की गई और जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई।

(३) सरकार और किसान में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना जिससे अब किसान लगान चुकाने के लिए सीधा सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है।

जमींदारों अथवा मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के लिए सरकार को कुल क्षतिपूर्ति तथा पुनर्वास अनुदान (ब्याज सहित) ६२५.२५ करोड़ रुपए देना था। इसमें से सन् १९५७-५८ तक ६८.८० करोड़ रुपए की धनराशि दी जा चुकी है। निम्न तालिका में राज्यानुसार सन् १९५७ के अन्त में देय क्षतिपूर्ति तथा दी जा चुकी राशियाँ दिखाई गई हैं :—

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के लिए देय तथा दी जा चुकी क्षतिपूर्ति
(राज्यों से पुनस्संगठन के पूर्व की स्थिति के अनुसार)

(करोड़ रुपयों में)

	कुल देय क्षतिपूर्ति तथा पुनर्वास अनुदान (ब्याज सहित)	दी जा चुकी राशि
आसाम	५ १८	० ०२
आन्ध्र प्रदेश	६ ६०	४ ५६[1]
उड़ीसा	१० ५०	० ४७
उत्तर प्रदेश	१७६ ००	५६ ७३
तिरुवाकुर-कोचीन	० २०	—
पश्चिम बंगाल	७० ००	१ ५६
	२० ८६	० १४
बिहार	२४० ००	३ ७०[2]
मद्रास	४ ८१	३ १६
मध्य प्रदेश[3]	२२ १०	६ ७८
मैसूर	१ ८०	—
राजस्थान (अजमेर सहित)	३५ ८८	६ ४०
सौराष्ट्र	१० २०	२ ६२
हैदराबाद	१५ १८	६ ६४
योग	६१५ २५	६८ ८७

मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन

कानून बनाने तथा मध्यवर्ती लोगों की भूमि हस्तगत कर लेने से सम्बन्धित अधिकांश कार्य तथा मध्यवर्ती लोगों क पूर्ण रूप से उन्मूलन का कार्य लगभग किया जा चुका है। भू स्वामियों तथा राज्य क बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। कृषि विहीन भूमि (वह भूमि जिस पर कृषि नहीं की जाती) तथा वन आदि हस्तगत कर लिए गये हैं और उसकी व्यवस्था का काम राज्य अथवा ग्राम पचायत जैसे स्थानीय सगठन प्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन का कार्यक्रम विभिन्न राज्यों म भिन्न भिन्न स्थिति में है।

[1] फरवरी, १९५८ तक [2] जुलाई, १९५८ तक

[3] भूतपूर्व भोपाल, मध्य भारत तथा विन्ध्य प्रदेश सहित

जमींदार अथवा मध्यवर्ती लोगों के अधिकार में कुल क्षेत्रफल का ४३% भाग जमींदारी उन्मूलन के पूर्व था। उन्मूलन के पश्चात् कुल क्षेत्रफल का लगभग ५% भाग अब भी मध्यवर्ती लोगों के हाथ में है। स्पष्ट विवरण निम्न तालिका से ज्ञात होगा :—

मध्यवर्ती लोगों से सम्बन्धित क्षेत्रफल

	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
वह क्षेत्र जो मध्यवर्ती लोगों के अधिकार में था	४३
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के सम्बन्ध में कानून लागू किए जा चुके हैं	४०
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन किया जा चुका है	३८
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोग अभी भी हैं	५

भूमि सुधार (Land Reforms)—आर्थिक दृष्टिकोण से भूमि नीति ऐसी होनी चाहिए कि कृषि की विविधता द्वारा तथा उसकी कार्यक्षमता के स्तर को ऊँचा उठा कर कृषि उत्पादन में वृद्धि हो। योजना आयोग की रिपोर्ट में भूमि नीति के आर्थिक पहलू के अतिरिक्त सामाजिक पहलू पर भी बल दिया गया है। सामाजिक पहलू में निम्न बातें सम्मिलित हैं :—

(१) धन और आय की असमानताओं को कम करना,

(२) शोषण का अंत करना, तथा

(३) किसान के लिए भूधारण की सुरक्षा और ग्रामीण जनसख्या के विभिन्न समुदायों को समाज में स्थान और अवसर पाने की समानता।

प्रथम पचवर्षीय योजना में निर्धारित की गई राष्ट्रीय भूमि नीति में यह स्वीकार कर लिया गया कि राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम में भूमि स्वामित्व तथा कृषि के रूप का बहुत अधिक महत्व है। उस भूमि व्यवस्था के स्थान पर, जिसमें किसानों का शोषण होता आ रहा था, इस भूमि नीति म एक ऐसी भूमि व्यवस्था लागू करने की सिफारिश की गई जिसमें किसान को अपने श्रम का अधिकतम लाभ प्राप्त हो और उसे उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने का पूरा पूरा प्रोत्साहन मिले। द्वितीय पचवर्षीय योजना में भी इसी बात पर बल दिया गया। योजना में निहित भूमि-नीति के दो उद्देश्य हैं :—

(१) गाँव में वर्तमान भूमि व्यवस्था के कारण कृषि उत्पादन के मार्ग

वाली अड़चनों को दूर करना तथा देश में यथा शीघ्र ऐसी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था लागू करना जिससे कार्यक्षमता और उत्पादन क्षमता, दोनों में वृद्धि हो, और

(२) समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज की रचना करना तथा सामाजिक असमानताओं को दूर करना।

नई कृषि नीति—नागपुर प्रस्ताव

कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में 'कृषि संगठन सम्बन्धी ढाँचे' पर स्वीकृत प्रस्ताव के द्वारा भूमि नीति को एक ठोस रूप दिया गया। यह प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कृषि उत्पादन सम्बन्धी उपसमिति की रिपोर्ट पर तैयार किया गया था। प्रस्ताव में दो महत्वपूर्ण आधार भूत निर्णय हैं—एक तो भूमि की अधिकतम सीमा के और दूसरा संयुक्त सहकारी कृषि से सम्बन्धित है। कृषि संगठन पर पास किये प्रस्ताव की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) **ग्राम पंचायत और ग्राम सहकारिता**—ग्रामीण संगठन ग्राम पंचायत और ग्राम सहकारिता पर आधारित हो जिनके पास पर्याप्त अधिकार और साधन हों। ग्राम सहकारिता की सदस्यता सभी लोगों के लिए खुली होनी चाहिए चाहे उनके पास भूमि हो या न हो। सहकारी समिति को वैज्ञानिक कृषि और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर अपने सदस्यों के कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए।

(२) **सहकारी संयुक्त कृषि**—भावी कृषि संगठन सहकारी संयुक्त कृषि पर आधारित होगा, जिसमें संयुक्त कृषि के लिए भूमि को एकत्रित कर लिया जायगा, किसानों का भूमि में स्वामित्व बना रहेगा और उन्हें शुद्ध आय से अपनी भूमि के अनुपात में लाभांश (हिस्सा) मिलेगा। संयुक्त खेत पर काम करने वालों को मजदूरी मिलेगी चाहे उनके पास भूमि हो या न हो। संयुक्त कृषि प्रारम्भ करने के पूर्व किसानों को आवश्यक सेवायें जैसे अच्छे बीज, खाद, कृषि यन्त्र की पूर्ति, वैज्ञानिक सलाह, सिंचाई की सुविधायें, सस्ता साख, विक्रय और संग्रह की सुविधायें प्रदान करने के लिए सेवा सहकारिता की स्थापना की जायगी ताकि किसान वैज्ञानिक कृषि कर सकें। यह सब तीन वर्ष के अन्दर पूरा हो जाना चाहिए। इस समय भी जहाँ संयुक्त कृषि सम्भव हो सके चालू की जानी चाहिए। सेवा सहकारी समितियों से संयुक्त सहकारी समितियों की प्रगति करना कठिन होगा। क्योंकि पुराने विचारों वाले अशान्त किसानों को उत्साहित करने और उनके मानसिक दृष्टिकोण को विस्तृत करने के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षणिक योग्यता प्रदान करने तथा नये प्रयोगों को समझाने में कठिनाई होगी। अतः सहकारी संयुक्त कृषि धीरे धीरे ढंग से चालू की जानी चाहिए। इसके लिए आवश्यक संगठनात्मक एवं टेक्नीकल योग्यतायें प्राप्त विशेषज्ञों और सुलझे हुए नेतृत्व की आवश्यकता होगी।

(३) जोत की अधिकतम सीमा—इसमें वर्तमान और भावी जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए और विभिन्न राज्यों में १९५९ के अन्त तक कानून बना देना चाहिए। इस प्रकार जो भूमि शेष बचेगी वह पचायतों की होगी और भूमिहीन तथा जोत की अधिकतम सीमा से कम होने वाले किसानों की सहकारी समिति द्वारा उस पर खेती की जायगी।

(४) फसल के न्यूनतम मूल्य का निर्धारण—फसल बोने से काफी पहले फसल का निम्नतम मूल्य निश्चित कर देना चाहिए ताकि किसान को अपनी उपज के बदले में उचित मूल्य का विश्वास हो जावे।

(५) बजर भूमि को कृषि योग्य बनाना—बजर भूमि को खेती के लिए उपयोगी बनाना चाहिए।

भूमि सुधारों की प्रगति

भूमि सुधार के अन्तर्गत निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन;
(२) काश्त सम्बन्धी सुधार,
(३) जोतों का सीमा-निर्धारण,
(४) जोतों की चकबन्दी,
(५) सहकारी कृषि; तथा
(६) भूदान।

मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन

कानून बनाने तथा मध्यवर्ती लोगों की भूमि हस्तगत कर लेने से सम्बन्धित अधिकांश कार्य तथा मध्यवर्ती लोगों के पूर्ण रूप से उन्मूलन का कार्य लगभग किया जा चुका है। भू स्वामियों तथा राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। कृषि भिन्न भूमि (वह भूमि जिस पर कृषि नहीं की जाती) तथा वन आदि हस्तगत कर लिए गये हैं और उसकी व्यवस्था का काम राज्य अथवा ग्राम पञ्चायत जैसे स्थानीय सगठन प्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन का कार्यक्रम विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न है।

काश्त सम्बन्धी सुधार

योजना आयोग ने राज्यों से जो काश्त सम्बन्धी सुधार अपनाने की सिफारिश की, उसके मुख्य उद्देश्य हैं : (१) लगान में कमी करना, (२) पट्टे की सुरक्षा के लिए व्यवस्था करना, तथा (३) काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार देना। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में काफी प्रगति हो चुकी है।

जोतों का सीमा-निर्धारण

प्रथम योजना मे जोतों की सीमा निर्धारित करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था । इस कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़ों का संग्रह करने के लिए जोतों तथा कृषि सम्बन्धी गणना करने का सुझाव रखा गया । यह गणना अधिकांश राज्यों में की गई । द्वितीय योजना में इस सिफारिश पर फिर से बल दिया गया है कि जोतों की सीमा 'तीन पारिवारिक जोत' निर्धारित की जाय । इसके अतिरिक्त इसमें यह भी सिफारिश की गई है कि द्वितीय योजना काल में प्रत्येक राज्य में वर्तमान जोतों की सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए ।

सीमा निर्धारण दो प्रकार का होता है (क) भविष्य के लिए तथा (ख) वर्तमान जोतों का । निम्न राज्यों में भविष्य के लिए निर्धारित की गई जोतों की सीमा का ब्यौरा दिया गया है

	मैदानी जिले	५० एकड़
आन्ध्र प्रदेश	तेलंगाना क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
उत्तर प्रदेश		१२½ एकड़
जम्मू तथा कश्मीर		२२¾ एकड़
पंजाब		३० स्टैण्डर्ड एकड़
पश्चिम बंगाल		२५ एकड़
बम्बई	बम्बई क्षेत्र (भूतपूर्व)	१२ से ४८ एकड़
	मराठवाड़ा क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
	विदर्भ तथा कच्छ क्षेत्र	३ पारिवारिक जोत (क्षेत्र का निश्चय न्यायाधिकरण करेगा)
	सौराष्ट्र क्षेत्र	६० से १२० एकड़
मध्य प्रदेश	मध्य भारत क्षेत्र	५० एकड़
	राजस्थान क्षेत्र	३० से ६० एकड़ (भूमि की उपज के अनुसार भिन्न भिन्न)
मैसूर	बम्बई क्षेत्र	१२ से ४८ एकड़
	हैदराबाद क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
राजस्थान (अजमेर सहित)		३० सिंचित एकड़ अथवा ६० सूखे एकड़
दिल्ली		३० स्टैण्डर्ड एकड़

निम्न राज्यों में वर्तमान जोतों पर कानून बनाये जा चुके हैं :

असम	मैदानी जिले	५० एकड़
आन्ध्र प्रदेश	तेलगाना क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
जम्मू तथा कश्मीर		२२¾ एकड़
पंजाब	पेप्सू क्षेत्र	३० स्टैंडर्ड एकड़ (विस्थापित व्यक्तियों के सम्बन्ध में ५० स्टैंडर्ड एकड़)
पश्चिम बंगाल		२५ एकड़
बम्बई	मराठवाड़ा क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
	विदर्भ तथा कच्छ क्षेत्र	६ पारिवारिक जोत
मैसूर	हैदराबाद क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
राजस्थान	अजमेर क्षेत्र	५० एकड़ (मध्यवर्ती लोगों के संबंध में)
हिमाचल प्रदेश		चम्बा जिले में ३० एकड़ तथा अन्य क्षेत्रों में १२५ रुपये के मूल्य का क्षेत्र

इसके अतिरिक्त असम, आन्ध्र प्रदेश, केरल, जम्मू तथा कश्मीर, पंजाब के पेप्सू क्षेत्र, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश तथा मैसूर में कई अन्य प्रकार की व्यवस्थाएँ भी की गई हैं।

जोतों की चकबन्दी

प्रथम तथा द्वितीय, दोनों योजनाओं में जोतों की चकबन्दी की आवश्यकता पर काफी बल दिया गया है। योजना आयोग ने इस बात की सिफारिश की है कि जोतों की चकबन्दी का कार्य सामुदायिक योजना कार्य-क्षेत्रों में अवश्य किया जाना चाहिए।

प्रथम योजना काल में उत्तर प्रदेश में ४४ लाख एकड़ भूमि, पंजाब में ४८ लाख एकड़ भूमि, पेप्सू में १३ लाख एकड़ भूमि, मध्य प्रदेश में २६ लाख एकड़ भूमि तथा बम्बई में २१ लाख एकड़ भूमि में चकबन्दी का कार्य किया गया। द्वितीय योजना काल की तत्सम्बन्धी राज्यीय योजनाओं के लिए ४५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। विभिन्न राज्यों में जोतों की चकबन्दी के सम्बन्ध में ३१ दिसम्बर, १९५७ तक हुई प्रगति अगले पृष्ठ की तालिका में दिखाई गई है।

जोतों की चकबन्दी

राज्य, संघीय क्षेत्र	१९५६-६१ के लिए व्यवस्था (लाख रुपये)	३१.१२.५७ तक हुआ कार्य (एकड़)	३१.१२.५७ को जारी कार्य (एकड़)
आसाम	१४ २५	—	—
आन्ध्र प्रदेश	२० ५३	—	१,६२,३४?
उड़ीसा	५ ००	७३	—
उत्तर प्रदेश	*	१३,६८,५६२	३७,३५,१२६
पंजाब	१७२ ००	८५,८०,८७४	५६,१७,४३८
पश्चिम बंगाल	१४·२५	—	—
बम्बई	७६ ३६	१२,६५,२७५	११,७६,५४२
बिहार	१८ ६७	—	२,५५,८८५
मद्रास	११ ५०	—	—
मध्य प्रदेश	५८ २५	२६,६५,४३५	२,१६,६४२
मैसूर	१४ ५१	३,८८,३३८	८,५१,११०
राजस्थान	३२ ५०	२१,०००	३,६२,११६
दिल्ली	२ ८५	२,०१,८३८	—
पाण्डिचेरी	० २०	—	—
मणिपुर	० २६	—	—
हिमाचल प्रदेश	६ ५०	२१,७६२	१६,१०८

खेतों का बँटवारा तथा टुकड़े होना

भू सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनों के फलस्वरूप खेतों के बँटवारे से उनके टुकड़े इतने अधिक होते गये कि आज कृषि उत्पादन बहुत ही गिरी अवस्था में है। भारत सरकार की नीति इस प्रवृत्ति को रोकने की है।

१५ राज्यों में खेतों के बँटवारे को तथा उनके टुकड़े होने से रोकने के लिए कानूनी कार्यवाही की गई। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में अन्य उपायों पर भी अमल किया गया।

जोत के आँकड़े

२२ राज्यों में कृषि-भूमि तथा जोत सम्बन्धी गणना की जा चुकी है। गणना सम्बन्धी परिणाम बिहार को छोड़कर अन्य सभी राज्यों के सम्बन्ध में उपलब्ध हैं।

---

*चकबन्दी का कार्यक्रम योजना में सम्मिलित नहीं था। अब इसे वार्षिक योजनाओं में सम्मिलित किया जा रहा है।

सहकारी कृषि

भूमि समस्या को केवल सहकारी ग्राम व्यवस्था द्वारा ही हल किया जा सकता है जैसा कि प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में बताया गया था। प्रथम योजना में यह कहा गया था कि छोटे तथा मध्यम श्रेणी के किसान सहकारी कृषि के माध्यम से ही बड़े बड़े खेतों की व्यवस्था कर सकते हैं और तभी भूमि की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना, कृषि में अधिक पूंजी लगाना तथा वैज्ञानिक अनुसन्धानों का पूरा पूरा उपयोग करना सम्भव हो सकेगा। इस अवधि में लगभग सभी राज्यों ने सहकारी कृषि समितियों की स्थापना के लिए सहायक कानून तथा उनकी सहायता के लिए नियम बनाये।

द्वितीय योजनाकाल में सहकारी कृषि के विकास के लिए सुदृढ़ आधार भूमि तैयार करने के काम को प्रधानता दी गई है।

'राष्ट्रीय विकास परिषद्' की स्थायी समिति ने सितम्बर, १६५७ में सहकारी कृषि के कार्यक्रम पर विचार किया और शेष द्वितीय योजनाकाल में ३,००० खेतों में सहकारी कृषि का परीक्षण करने का निर्णय किया।

दिसम्बर, १६५८ के अन्त में देश में २०२० सहकारी कृषि समितियां थीं।

भूदान

भूदान अथवा स्वैच्छिक भूमिदान आन्दोलन की प्रेरणा देने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। आन्दोलन के उद्देश्य के विषय में बतलाते हुए आचार्य विनोबा भावे कहते हैं "न्याय और समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज में भूमि सबकी होनी चाहिए। इसलिए, हम भूमि की भिक्षा नहीं मांग रहे बल्कि उन गरीबों का हिस्सा मांग रहे हैं जो भूमि प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी हैं।' इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बिना किसी खून खराबी के देश में सामाजिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था को दूर करना है।

व्यावहारिक रूप में भूदान आन्दोलन का अर्थ, लोगों से भूमिहीन व्यक्तियों में बाँटने के लिए उनकी अपनी भूमि के ⅙ भाग को स्वेच्छा से दान करने का अनुरोध करना है। कृषि भिन्न क्षेत्रों में यह आन्दोलन सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, जीवनदान, साधन दान तथा गृहदान का रूप ले लेता है। इस आन्दोलन का लक्ष्य ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का है जिससे प्रत्येक ग्राम्य परिवार को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि प्राप्त हो सके। इसने अब ग्रामदान का व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है।

भारत में कृषि मजदूर

(The Agricultur l Labour in India)

कृषि प्रधान देश भारत अपनी उन्नति का श्रेय कृषि को ही मानता है। भारत का प्राचीन वैभव केवल कृषि और तत्सम्बन्धित उद्योगों पर ही अवलम्बित था।

क्वेसनेः* के शब्दों में 'गरीब किसान, गरीब राजा, गरीब देश' आज भारत के लिए सर्वथा उपयुक्त है। भारत में आज किसान को न भर पेट रोटी का ठिकाना है न तन ढकने के लिए समूचा कपड़ा। उसे यह भी पता नहीं था कि सामाजिक सुविधायें क्या होती हैं ? उसके पास न निजी घर थे और न खेती करने के लिए साधन ही। हमारे देश की सामाजिक अर्थ व्यवस्था बिगड़ने का प्रधान कारण था हमारे देश के किसानों का निर्धन एवं निरक्षर होना। जहाँ के किसानों की इस प्रकार की दयनीय दशा हो वहाँ पर खेतिहर मजदूरों की दशा क्या होगी यह एक विचारणीय विषय बन जाता है।

सच पूछा जाय तो भारत का खेतिहर मजदूर और किसान अपनी साँसों को आहों के रूप में निकालता था और वह सिर्फ ऋण के भुगतान के लिए जीवित रहता था। उसे न तो अपने जीवन से प्रेम रह जाता था न मातृभूमि से ममता और अपने परिवार से स्नेह उससे कोसों दूर रहता था। उसका जीवन सदैव निराशामय और चिंताग्रस्त बीतता रहता था। उसके परिवार के सदस्य सदैव नंगे और भूखे रह कर अपना जीवन व्यतीत कर देते थे।

सन् १९५०-५१ की कृषि-मजदूर सम्बन्धी रिपोर्ट

यह रिपोर्ट केन्द्रीय श्रम सचिवालय ने प्रकाशित की थी। इसमें कृषि मजदूरों के विषय में जाँच की, पर देश की सम्पूर्ण जाँच न हो पाई क्योंकि भारत एक विशाल देश है तथा यहाँ पर खेतिहर मजदूर भी फैले हुए हैं। न वे एक स्थान पर रहते हैं और न उनका कोई संगठन ही है जिससे सही आँकड़े पाये जा सकें अतएव सही और पूर्ण जाँच होना असम्भव हो जाता है। अतएव नमूने के रूप में सम्पूर्ण देश के ८१२ गाँव लिए गये थे जिसमें १,०३,५८४ व्यक्ति रहते थे जिसमें ७९.८% परिवार खेती पर ही निर्भर थे। ३०.४% इनमें खेतिहर मजदूर हैं। इनके आधे अर्थात् १५.२% व्यक्तियों के पास अपनी निजी कुछ भूमि है और शेष १५.२% लोगों के पास अपनी निजी कोई भी भूमि नहीं है।

विस्तृत जाँच के अनुसार यह कहा जा सकता है कि भारत में ५.८० करोड़ परिवार हैं जिसमें से १७६ लाख परिवार खेतिहर मजदूर हैं और इनके आधे अर्थात् ८८ लाख परिवारों के पास कुछ निजी भूमि है और उत्तरार्ध ८८ लाख परिवारों के पास निजी भूमि के नाम पर शून्य है।

उपरोक्त संख्या जो ३०% बतलाई गई है उसका विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि ५५.४% अस्थायी एवं आकस्मिक कृषि मजदूर हैं और ४६% स्थायी

---

*Quesnay, *The Physiocratic Leader*.

मजदूर हैं। इनके परिवारों में लगभग ४.७ व्यक्ति प्रति परिवार पाये जाते हैं। इनमें से प्रत्येक परिवार में २.४ व्यक्ति काम धन्धों में लगे हुए हैं तथा अन्य आश्रित हैं। २१% मजदूर ऐसे भी हैं जो सहायक उद्योग धन्धों से भी कुछ आय प्राप्त कर लेते हैं। इन श्रमिकों के पास औसतन निजी भूमि २.६ एकड़ है, जो बहुत ही कम है।

कृषि-मजदूरों की प्रति परिवार औसत वार्षिक आय ४४७ रुपए और प्रति व्यक्ति औसत आय १०४ रुपए थी। वर्ष में औसतन केवल २१८ दिन काम के होते थे १८६ दिन कृषि सम्बन्धी कार्य में और शेष २६ दिन और कार्यों में। इस प्रकार वर्ष में ७ महीने मजदूरी देकर कृषि होती थी। लगभग १५ प्रतिशत कृषि मजदूर भू-स्वामियों के साथ सम्बद्ध थे और वे उनके लिए औसतन ३२६ दिन काम करते थे, जब कि आकस्मिक रूप से कार्य करने वाले कृषि मजदूरों को वर्ष के २०० दिनों में ही काम रहता था। कृषि मजदूरों की स्थिति में सुधार करने की समस्या दरिद्रता उन्मूलन की एक मूलभूत समस्या है।

इन कृषि श्रमिकों के चूल्हे को गरम रखने के लिए यह आवश्यक है कि बेरोजगारी एवं अर्धबेरोजगारी को दूर कर अमूल्य समय का सदुपयोग किया जाय। इस समय के सदुपयोग के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाय, और ऐसी योजना बनाना चाहिए जिससे प्रत्येक श्रमिक लाभ उठा सके।

(२) शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिए जिससे बच्चे, वयस्क एवं वृद्धि सभी लाभान्वित हों।

(३) कृषि मजदूरों को अपना नेतृत्व दूसरे व्यक्तियों के हाथ में न सौंप कर स्वयं करना चाहिए जिससे वे अपनी दशा सम्भालने में सफल हो सकें।

(४) श्रम सहकारी समितियों का निर्माण किया जाय जिससे श्रमिक आर्थिक एवं सामाजिक सहायता पा सकें तथा उसमें भाईचारे की भावना की जागृति हो।

(५) तान्त्रिक प्रशिक्षण के लिए केन्द्रों की स्थापना की जाय और उनको (श्रमिकों को) इन केन्द्रों से समय समय पर सहायता मिलती रहनी चाहिए।

श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए किये गये उपाय—ऐसी स्थिति में जब कि भारत की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग दास बना हुआ है सरकार इनकी स्थिति को सम्भाले बिना देश की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था समाजवादी ढंग पर नहीं बना सकती है। आधुनिक काल में इस प्रकार के सभी कार्य सरकार के उत्तरदायित्व में सम्मिलित हो गये हैं और जनप्रिय सरकार इनको जनता की भलाई के लिए करना अपना धर्म समझती है। श्रमिक भी अब न तो मौन है और न उतना अज्ञानी ही है कि वह अपना सर झुकाये सब कुछ सुनता रहे। अब यदि उसका शोषण किया गया

तो देश में आपसी कलह उत्पन्न हो जायगी और विद्रोह की भावना जाग्रत हो जायगी। इन श्रमिकों का अभ्युदय ब्रिटिश शासन काल से हुआ था और यह दासता अंग्रेजों के साथ साथ चली भी गई। अब कानून के द्वारा श्रमिकों की सुरक्षा के लिए क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। उनको न तो कोई खरीद ही सकता है और न बेच ही सकता है। फिर भी वर्ग प्रथा के पूर्णतः समाप्त न होने के कारण से जमीदार का कुछ काम जैसे मुर्गे मुर्गियां पालना, तथा अन्य पालतू जानवरों की सेवा मुफ्त में ही करनी पड़ती है। पर जहां पर जमींदारी समाप्त हो चुकी है जैसे उत्तर प्रदेश वहां भी अब ऐसी स्थिति नहीं रही है। वहाँ अब इन मजदूरों को इस कार्य के लिए भी पैसा दिया जाने लगा है। अन्य शब्दों में अर्ध सामन्त प्रथा जो सदियों से चला आ रही थी उसका अन्त हो गया है। श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए जो अन्य उपाय किये जा रहे हैं उनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है—

(१) श्रमिक सहकारिता—मजदूरों के हित के लिए योजना आयोग ने सुझाव प्रस्तुत किया है कि सिंचाई सहकारिता, कृषि एवं वन विभाग तथा राज्य के अन्य विभागों से कृषि श्रमिकों के लिए सहकारी समितियों का संगठन किया जाय। इस संगठन के द्वारा सामाजिक कल्याण होने की सम्भावना पाई जाती है।

(२) भूदान यज्ञ—विनोबा भावे द्वारा प्रसारित भूदान यज्ञ न केवल भारत के लिए वरन् विश्व के लिए एक आदर्श है। इसमें भूमिपतियों से जिनके पास आवश्यकता से अधिक भूमि है उनसे प्रार्थना करके कुछ भूमि मांगी गई है और जो भूमि प्राप्त हो जाती है उसको उन व्यक्तियों में बांट दिया जाता है जिनके पास भूमि नहीं होती है पर भूमि पर वे कठिन परिश्रम कर सकते हैं। बिहार के रामगढ़ के राजा को इस क्षेत्र में श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने १,०२,००१ एकड़ भूमिदान में दे दी। यह आन्दोलन सन् १९५१ में हैदराबाद के तेलगाना नामक जिले से प्रारम्भ हुआ था तथा इसका लक्ष्य १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ भूमि दान में प्राप्त कर लेने का लक्ष्य था। अनुमान के द्वारा यह कहा जा सकता है कि १९५६ तक केवल ४० लाख एकड़ भूमि ही एकत्र हो पाई है। इससे सामाजिक तथा राजनैतिक दोनों ही प्रकार की समितियाँ प्रभावित हुई हैं। इससे मुख्य मुख्य निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) इसके द्वारा आपस में सद्भावना एवं सहकारिता का विकास होता है।

(२) इससे त्याग की भावना बढ़ती है जैसे इसके द्वारा भूमिदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान आदि सभी एकत्र किये जाते हैं।

(३) इसके द्वारा यह विद्रोह की भावना नहीं बढ़ती तथा सदैव मैत्री की भावना बनाये रखने का प्रयास किया जा रहा है।

(४) इससे बेकारी की समस्या दूर की जा सकती है।

(अ) भूमिहीन किसानों को भूमि मिल जाती है।

(ब) खेती के अयोग्य भूमि पर ट्रैक्टरों द्वारा तथा अन्य औजारों की सहायता से उसे खेती योग्य बनाया जाता है।

(स) कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों को गाँवों में ही खोलने का प्रयास किया जा रहा है।

(द) सिंचाई में विकास करने के लिए नई योजनाएँ तैयार की जा रही हैं जिससे श्रमिकों को कार्य मिल जायगा।

(य) कृषि एवं कृषि सम्बन्धित उद्योगों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले गये हैं।

(र) इसम उद्योग प्रादेशिक स्वावलम्बन के आधार पर खोले गये हैं जिससे श्रमिकों का बेकार समय इन उद्योगों में जा सके।

(ल) इन (कृषि श्रमिकों) का अपना जीवन स्तर उठाने के लिए कहीं कहीं प्रौढ़ पाठशाला खोले गये हैं तथा इनके बच्चों को स्कूल में बिना किसी भेदभाव के मुफ्त शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। सहायता के रूप में उनको नि.शुल्क शिक्षा, विद्यार्थी हितकारी कोष से निश्चित धन तथा पुस्तकें मुफ्त में प्राप्त होती हैं जिससे इनको शिक्षा के क्षेत्र में कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है। इससे श्रमिकों की दरिद्रता, उनका पिछड़ापन तथा उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार किया जा रहा है।

(३) सामुदायिक विकास योजनाएँ—हरिजनों एवं कृषि मजदूरों की दशा सँभालने के लिए २ अक्टूबर १९५२ से ५५ सामुदायिक विकास योजनाओं ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था तथा २ अक्टूबर १९५३ से राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ भी प्रदान की जाने लगीं। इनकी स्थापना श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए किया गया है। इनके द्वारा वे सभी काम किये जाते हैं जिनसे श्रमिकों का कल्याण हो सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ७ करोड़ जनसंख्या की भलाई के लिए १२०० विकास खण्डों ने कार्य प्रारम्भ किया था जिनके कार्य करने का क्षेत्र १,२०,००० गाँव थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह सम्पूर्ण गाँवों पर लागू करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इस योजना में ५१० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे। इन विकास खण्डों के द्वारा जनता की सर्वाङ्गीण उन्नति की जायगी।

(४) कृषि में न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण—कृषि मजदूरों की दशा सुधारने तथा उनके हितों की रक्षा करने के लिए सरकार ने 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८' पास किया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत के विभिन्न राज्यों में कृषि मजदूरी के पारिश्रमिक की न्यूनतम सीमा निर्धारित की गई है। ये राज्य हैं—केरल, उड़ीसा, दिल्ली, पंजाब, राजस्थान और त्रिपुरा। इसके अतिरिक्त, असम, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई, हिमा-

चल प्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ क्षेत्रों में भी न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू किया गया है।

सन् १९५६-५७ में लगभग ३,६०० ग्रामों में सन् १९५१ की जाँच के आधार पर ही 'द्वितीय अखिल भारतीय कृषि श्रमिक जाँच' (Second All India Agricultural Labour Enquiry) प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ किये गये कार्यक्रमों के विकास के प्रभाव को आँकने के लिए की गई थी। अभी तक इस जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की है।*

प्रश्न

1 Describe the different forms of land tenures in India What are their defects? Briefly examine the effects of the abolition of Zamindari on the economic status of the peasantry

(Agra, 1947, 1949)

2 Which system of land tenure will in your opinion, bring about greater social justice and higher efficiency of agriculture in India? Give reasons in support of your answer *(Rajasthan, 1954)*

3 Argue the case for and against the fixation of a ceiling on agricultural holdings in India *(Delhi, 1954)*

4 Distinguish between Zamindari and Ryotwari systems Point out the defects of each Examine the effects of abolition of permanent settlement on the state revenues and the economic status of the peasantry *(Agra, 1948, Rajasthan 1948)*

5. Discuss the land policy of the Government of India since Independence



*India 1960, p 259

अध्याय १०

भारत में सिंचाई

(Irrigation in India)

कृषि प्रधान देश में सिंचाई क्या महत्व रखती है इस पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है। भारत के आर्थिक ढांचे की दुर्बलताएँ कभी भी इतनी स्पष्ट नहीं हुई थीं जितनी द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त पश्चात् दिखाई पड़ीं। देश के विभाजन से स्थिति और भी गम्भीर हो गई। राष्ट्रीय सरकार के सामने उस समय अनेक समस्याएँ थीं जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्न उत्पादन की समस्या थी। इसके पश्चात् विद्युत शक्ति क उत्पादन का प्रश्न था जो उद्योग धन्धों के विकास के लिए अनिवार्य थी। भारत के पास विशाल जल साधन हैं, जो परिमाण में १३ हजार लाख एकड़ फुट क्षेत्र के बराबर है, परन्तु उसमें से ⅙ ही प्रयुक्त हो रहा है। भारत में सिंचाई तो बहुत प्राचीन काल से हो रही है परन्तु जल और विद्युत साधनों का योजनाबद्ध विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही आरम्भ हुआ। यदि हमारी राष्ट्रीय सरकार की प्रथम पचवर्षीय योजना देश की जल शक्ति के योजनाबद्ध विकास का प्रतिनिधित्व करती है तो द्वितीय योजना ने उस कार्य को आगे बढ़ाया है।

सिंचाई का अर्थ

साधारण रूप से कृषि के लिए जल सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति वर्षा से होती है परन्तु यदि वर्षा के अभाव में कृत्रिम साधनों जैसे नदी, तालाब कुओं और नहरों से पानी पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है तो इसको सिंचाई कहते हैं। दूसरे शब्दों में भूमि में नमी कम हो जाने पर फसल को सूखने से बचाने के लिए जो पानी बाहरी साधनों द्वारा पौधों को दिया जाता है, उसे सिंचाई कहते हैं। भारत जैसे विशाल और कृषि प्रधान देश में जहाँ बहुत से क्षेत्रों में वर्षा का नितान्त अभाव है अथवा जहाँ वर्षा अनियमित और अनिश्चित होती है, वहा सिंचाई के कृत्रिम साधनों का अवलम्बन लेना ही आवश्यक होता है।

सिंचाई का महत्व

प्रत्येक किसान सिंचाई का महत्व भली भाँति जानता है और बहुत सी कठिनाइयों का सामना करके भी किसान पाला पड़ने वाले मौसम में भी रात भर ठंढ खाकर और परिश्रम करके अपनी फसलों को सूखने से बचाता है। सिंचाई की आवश्यकता किन्हीं

किन्हीं फसलों में अधिक तथा किन्हीं किन्हीं में कम पड़ती है और मौसम के आधार पर भी फसलों में कम या अधिक पानी देना पड़ता है। अतएव कृषि में सिंचाई का एक बहुत बड़ा स्थान है।

भारतवर्ष में वर्षा के मानचित्र को देखने से ज्ञात होता है कि देश के कुछ भाग जैसे आसाम और हिमालय की तराई में बहुत अधिक वर्षा—१००" से ३००" तक—होती है और कुछ भागों जैसे राजपूताना और पंजाब में नाम मात्र को ही वर्षा होती है। देश के अन्य भागों में वार्षिक वर्षा ३०" से ४०" के बीच में होती है।

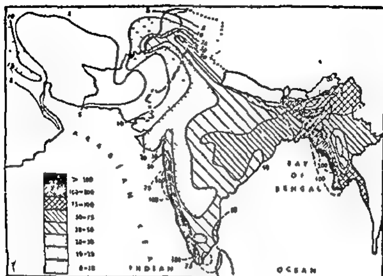
मौसम के आधार पर तथा फसलों के अपने गुणों के अनुसार भिन्न भिन्न फसलों के लिए भिन्न भिन्न मात्रा में पानी की आवश्यकता होती है, परन्तु यह मात्रा किसी एक फसल के लिए कभी एक नहीं रहती। जलवायु और भूमि की बनावट के अनुसार पानी की आवश्यकता घटती अथवा बढ़ती रहती है और कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए फसल भर तक (Crop season) पानी की आवश्यकता होती है, जब कि अभाग्यवश भारतवर्ष में वर्षा केवल सामयिक (seasonal) होती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि फसल के मौसम में कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए औसतन ४०' जल की आवश्यकता होती है।

स्पष्टीकरण के विचार से निम्नलिखित तालिका में हम कुछ प्रमुख फसलों के लिए पानी की आवश्यकता की मात्रा देते हैं जिससे किस फसल को कितना पानी आवश्यक है इसका अनुमान लग सकेगा —

फसल का नाम	पानी की मात्रा (वर्षा के अतिरिक्त एकड़ इंचों में)
धान	३७
ज्वार	१०
मक्का	१५
गेहूँ	८
जौ	६
अरहर	९
मटर	६
चना (यदि आवश्यक हो)	३
गन्ना	५०
आलू	३०

अत: उन सब क्षेत्रों में जहाँ वर्षा की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं होती है वहाँ सिंचाई अपरिहार्य हो जाती है।



चित्र ५

भारतीय वर्षा की चार मुख्य विशेषताएँ हैं :—

(१) वर्षा का असमान वितरण;

(२) वर्षा का अनियमित वितरण;

(३) वर्षा का अभाव अथवा अनावृष्टि; तथा

(४) वर्षा की अधिकता अथवा अतिवृष्टि।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण सर चार्ल्स ट्रैवीलियन ने कहा है कि "भारतवर्ष में सिंचाई ही सब कुछ है। पानी भूमि से मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है तो उपज शक्ति में कम से कम छः गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि भी उपजाऊ हो जाती है, जो बंजर थी, अतः भारत में सिंचाई सब कुछ है।" श्री नविल्स ने तो यहाँ तक कहा है कि "सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योंकि भूमि की उपज, उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय में वृद्धि हुई है। अतः दुर्भिक्ष के समय में इस सहायता की अति आवश्यकता पड़ती है और यह सम्पूर्ण क्षेत्रों को सभ्य बनाने में सहायक हुए हैं।"

सिंचाई का महत्व केवल कृषि और कृषक तक ही केन्द्रित नहीं है बल्कि देश की *सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास, व्यापार में उन्नति, उत्पादन में वृद्धि, उद्योगों* का विस्तार, सरकारी आय में वृद्धि तथा सर्व साधारण के रहन सहन को प्रभावित करता है।

जल की पूर्ति (Availability of Water)—सिंचाई के लिए जल की

पूर्ति तीन साधनों से होती है :—(१) प्राकृतिक नदियों और स्रोतों से प्रत्यक्ष रूप में, (२) बाढ़ अथवा वर्षा के पानी को एकत्रित करके तथा (३) भूमि के नीचे संचित जल से। भारतवर्ष में ये तीनों ही साधन उपलब्ध हैं।

भारतवर्ष में प्रति वर्ष ७ करोड़ एकड़ भूमि से अधिक की सिंचाई की जाती है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ पर संसार का सबसे अधिक सिंचित भू भाग है। यह भू-भाग संयुक्त राज्य अमेरिका के सिंचित भाग [redacted] दुगना है। भारतवर्ष में सिंचाई अति प्राचीन काल से की जाती रही है। प्रारम्भिक सिंचाई कुओं, तालाबों, नहरों तथा स्रोतों को काटकर की जाती थी।

सिंचाई के साधनों का विभाजन

सिंचाई के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) उत्पादक और (२) अनुत्पादक अथवा रक्षात्मक। उत्पादक साधनों से तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा इतनी आय प्राप्त हो जाती है कि जिससे पूँजीगत व्यय [redacted] ब्याज, कार्यशील खर्चे तथा कर वसूल करने के खर्चे आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इस वर्ग में आने वाली योजनाओं की अर्थ-व्यवस्था सार्वजनिक ऋणों के द्वारा की जा सकती है क्योंकि इससे सार्वजनिक अर्थ व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे योजनाएँ आती हैं जिनसे केवल इतनी आय प्राप्त होती है जिससे लगाई गई पूँजी का ब्याज निकल आये।

सिंचाई के लाभ

(१) अकाल के विरुद्ध सुरक्षा—अनावृष्टि अथवा अपर्याप्त वर्षा होने की दशा में सिंचाई का मुख्य कार्य उस क्षेत्र की अकाल के विरुद्ध रक्षा करना होता है। सिंचाई की योजनाओं के निर्माण के समय असमर्थ लोगों को कार्य मिलता है जिससे उनकी क्रय शक्ति बढ़ती है। योजनाओं के समाप्त हो जाने पर सिंचाई कार्यों की सहायता से लोगों को खाद्यान्न और चारे की फसलें प्राप्त होती हैं।

(२) *भूमि के मूल्य में वृद्धि—सिंचाई की योजनाओं के पास वाले क्षेत्रों का* बाजार मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है क्योंकि अब उस स्थान को उत्पत्ति सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

(३) सिंचाई वाले स्थान का स्तर (level) पहले की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है।

(४) मनुष्यों और जानवरों को नहाने और पीने के लिए पानी की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

(५) सिंचाई की सहायता से बागान संभल जाते हैं और भूमि की नमी बढ़ जाती है।

(६) राज्यों की आगमनी में वृद्धि हो जाती है।

(७) बाढ़ नियन्त्रण तथा शक्ति उत्पादन में सहायता मिलती है।

(८) यदि सिंचाई की योजनाएँ बहुउद्देशीय होती हैं तो उससे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। Rakesh Mohan Saxena

उपरोक्त लाभों से प्रभावित होकर हमारी सरकार ने सिंचाई विकास की ओर विशेष ध्यान दिया है जैसा कि निम्न तालिका से ज्ञात होगा—

(मिलियन में)

वर्ष	जनसंख्या	बोई गई भूमि (एकड़)	सिंचित क्षेत्र (एकड़)	कुल खाद्यार्थ क्षेत्र (एकड़)
१९००	२३६	२०२	२६	१८०
१९५१	३६२	३००	५१	२४०
१९७१ (अनुमानित)	४००	३१५	१५०	पूर्ण विकास

भारत में सिंचाई के विभिन्न साधन

भारतवर्ष में सिंचाई के बहुत से साधन हैं, जिनसे सिंचाई के लिए किसानों को पानी मिलता है, जैसे—

(१) कुआँ,

(२) नल कूप (Tube well),

(३) नहर,

(४) नदी,

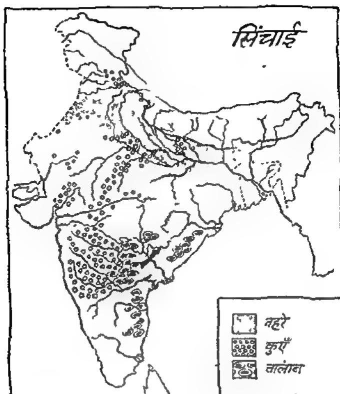
(५) तालाब अथवा झील, तथा

(६) झरना।

ऐसा अनुमान है कि उपरोक्त विभिन्न साधनों द्वारा भारत के कुल कृषि योग्य क्षेत्रफल का केवल २०% क्षेत्रफल ही लाभान्वित होता है और शेष ८०% क्षेत्रफल के लिए सिंचाई का कोई साधन नहीं है। सन् १९५८-५९ में विभिन्न सिंचाई के साधनों द्वारा सिंचित भूमि का क्षेत्रफल और उनका तुलनात्मक प्रतिशत अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दर्शाया गया है*—

---

*Directory and Year Book 1959-60 p 135



चित्र ६— सिंचाई

सिंचाई के साधन	सिंचित क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)
नहरें :	
सरकारी	१९,८३२
निजी	३,३६०
तालाब	१०,८८४
कुएँ	१६,६४३
अन्य साधन	५,४४४
योग	५६,१६३

आगे हम सिंचाई के प्रमुख साधनों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

कुआ द्वारा सिंचाई

सिंचाई के व्यक्तिगत साधनों में कुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में यह अति प्राचीन काल से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अति प्रचलित साधन रहा है। देश में जहाँ कहीं भी अनुकूल भौगोलिक दशाएँ विद्यमान हैं वहाँ कुएँ पाये जाते हैं। भारत वर्ष में कुल सिंचित क्षेत्रफल का लगभग २६% भाग कुओं के द्वारा ही सींचा जाता है। वैसे तो यह देश के लगभग प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं परन्तु यह विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास, और बम्बई राज्य में पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ११ लाख से अधिक कुएँ काम में लाये जाते हैं। इसके बाद मद्रास का नम्बर आता है जहाँ ८३ लाख कुएँ पाये जाते हैं। पंजाब, बम्बई, मध्य प्रदेश और राजपूताना क्रमशः इसके बाद आते हैं। कुओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—साधारण कुएँ और नल कूप।

साधारण कुएँ—साधारण कुएँ कच्चे और पक्के दोनों ही प्रकार के होते हैं। इन कुओं की बनावट, गहराई और पानी की मात्रा भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के कुओं की संख्या अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा सबसे अधिक है। दक्षिणी भारत में पथरीली भूमि होने के कारण कुओं की संख्या बहुत कम है। १९४५ के अकाल जाँच आयोग ने कुओं की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "कुएँ सिंचाई के सर्वोत्तम महत्व के साधन हैं और यदि सिंचित क्षेत्र में अधिकतम वृद्धि करनी है, तो व्यक्तिगत कुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि करना अनिवार्य है।"

नल कूप—नल कूपों के निर्माण ने सिंचाई पद्धति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया है। एक नल कूप ६० फुट से लेकर ५०० फुट तक गहरा होता है। इसकी क्षमता ३२००० गैलन पानी प्रति घण्टा खींचने की होती है। इससे लगभग ५०० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकती है।

सर्वप्रथम सन् १९४८ में भारत सरकार ने नल कूपों के विषय में दो अमरीकी विशेषज्ञों को सलाह के लिए बुलाया था। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ऐसे कुओं का निर्माण सन् १९३० से प्रारम्भ हो गया था और १९५० तक लगभग २५०० कुएँ बन चुके थे। अमरीकी विशेषज्ञों ने उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में नल कूपों के विकास की भारी योजनाएँ बनाईं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५८१० नल कूप तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ३५८१ नल कूप बनाने का लक्ष्य रखा गया था। इस समय यह नल कूप पंजाब, बम्बई, बिहार, मद्रास, उत्तर प्रदेश, ट्रावनकोर कोचीन तथा मध्य प्रदेश में काफी संख्या में पाये जाते हैं।

कुओं से लाभ

(१) पानी के व्यय में मितव्ययता—विभिन्न गहराइयों से पानी निकालने

में होने वाले परिश्रम से बचने के लिए किसान स्वभावतः पानी व्यर्थ नष्ट करने में सकोच करता है। पानी निकालने में लागत भी अधिक लगती है, अतः इस पानी का उपयोग केवल लाभदायक फसलों में ही किया जाता है। इस प्रकार पानी के व्यय की लागत कम हो जाती है और परिश्रम की बचत होती है।

(२) कुएँ का पानी धात्विक दृष्टिकोण से अधिक गुणकारी होता है क्योंकि इसमें सोडा, नाइट्रेट, क्लोराइड तथा सल्फेट मिले होते हैं जो कि भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ा देते हैं।

(३) आवश्यकतानुसार पानी का उपयोग होने के कारण पानी के सड़ने (water-logging) का भी भय नहीं रहता जैसा कि नहरों, तालाबों और झीलों से सम्भव है।

(४) कुओं के निर्माण में न तो अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और न ही तान्त्रिक योग्यता की।

(५) भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार भी कुँओं का निर्माण ही अधिक हितकर है। अधिकांश भूमि तराई की एवं रेतीली है जिसमें कि बरसात का पानी सुविधापूर्वक संचित हो जाता है।

(६) नल कूप साधारण कुँओं की अपेक्षा मितव्ययी, दीर्घजीवी होते हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि ये मानवीय और पाशविक परिश्रम को बिलकुल छुटकारा दे देते हैं।

कुओं से सिंचाई करने में कठिनाइयाँ

(१) कुओं द्वारा सिंचाई करने में धन और परिश्रम दोनों ही अधिक लगते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में धन और परिश्रम का विनियोग कम मालूम होता है परन्तु कालान्तर में कुओं की मरम्मत, सफाई और पुनर्निर्माण पर जो व्यय और परिश्रम होता है वह अत्यधिक होता है।

(२) अनावृष्टि अर्थात् वर्षा के अभाव वाले वर्ष जब कि पानी की अधिक आवश्यकता होती है कुएँ प्रायः सूख जाया करते हैं। यही नहीं निरन्तर पानी के सिंचाई से भी कुएँ प्रायः सूख जाते हैं।

(३) कुएँ का पानी अक्सर खारा होता है जो कि पौधों के लिए हानिकारक होता है।

(४) नदियों एवं झरनों की अपेक्षा कुएँ के पानी में धात्विक मिश्रणों की कमी होती है क्योंकि ये एक ही स्थान पर केन्द्रित होते हैं।

(५) कुओं के द्वारा केवल सीमित क्षेत्रों पर ही सिंचाई हो सकती है। इसके विपरीत नदियों, नहरों और झरनों से भी अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्रों में सिंचाई हो सकती है।

(६) भारत के कुछ भू खण्डों में पानी की सतह बहुत नीची है जहाँ पर कुएँ खोदना अनार्थिक एव कष्टप्रद है।

नहरों द्वारा सिंचाई

सिंचाई की दृष्टि से प्राकृतिक साधन (वर्षा) के बाद नहरों का ही स्थान आता है। भारत में तो नहरें ही सबसे अधिक सिंचाई का महत्वपूर्ण साधन है। इनकी कुल लम्बाई ६७ हजार मील है। ये भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है, यद्यपि इनका आधुनिक विकास १६ वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। इस प्रकार से इनके निर्माण का श्रेय ब्रिटिश सरकार को प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान है कि हमारी नहरों में ८० करोड़ अधिक रुपया लगा हुआ है। नहरें अधिकतर पजाब, उत्तर प्रदेश, बगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में पाई जाती हैं जहाँ इनका एक प्रकार से जाल सा बिछा हुआ है। १६२१ ई० के पूर्व नहरों का वर्गीकरण इस प्रकार था —

(१) उत्पादक नहरें (Productive Canals),
(२) रक्षात्मक नहरें (Protective Canals) तथा
(३) छोटे कार्य म आने वाली नहरें (Minor Canals)।

प्रथम वर्ग की नहरें उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टिकोण से बनाई जाती थीं। द्वितीय वर्ग की नहरों से उत्पादन कार्य तो कम लिया जाता था परन्तु बाढ़ नियन्त्रण प्रमुख उद्देश्य होता था। इनसे आय नाम मात्र को तथा अनिश्चित होती थी। तृतीय वर्ग की नहरों को आपत्ति काल मे बनवाया जाता था। इनके निर्माण के लिए किसी विशेष कोष (fund) आदि का प्रावधान नहीं था। इनकी अर्थ व्यवस्था चालू वर्ष के बजट से ही की जाती थी।

आधुनिक काल में नहरों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है —

(१) बारहमासी अथवा स्थायी नहरें (Perennial Canals),
(२) मौसमी अथवा अस्थायी नहरें (Inundation Canals) तथा
(३) बाँध की नहरें (Storage Work Canals)।

(१) स्थायी नहरें

बारहमासी, धारावाहिक अथवा स्थायी नहरें वे नहरे हैं जो सदैव सिंचाई के लिए पानी बनाये रखती हैं और आवश्यकता के समय हानि से बचाती हैं। इनका निर्माण नदियों के दोनों ओर एक मजबूत बाँध बनाकर पानी को रोक कर किया जाता है। इनके द्वारा सिंचाई अधिक निश्चित, नियमित तथा समयानुकूल होती है। इस प्रकार की नहरें उत्तर प्रदेश में अधिक पाई जाती हैं। राष्ट्रीय सरकार आजकल इसी प्रकार की नहरों के निर्माण पर अधिक बल दे रही है।

(२) मौसमी नहरें

मौसमी, अनित्य वाहिनी, अस्थायी अथवा बाढ़ की वे नहरें होती हैं जिनमें केवल वर्षा ऋतु में पानी आता है। बरसात के दिनों में अथवा बाढ़ से उमड़ती हुई नदियों का अतिरेक जल इन नहरों में आ जाता है। ये नहरें केवल वर्षा काल में ही काम में लाई जा सकती हैं। इस प्रकार इन नहरों की अधिक महत्ता नहीं है क्योंकि वर्षा ऋतु में जब कि जल की बहुतायत होती है ये जल को प्रदान करती हैं परन्तु हाँ ऐसे स्थानों में जहाँ वर्षा ऋतु में भी फसलों को पर्याप्त जल नहीं मिलता इनकी महत्ता अवश्य बढ़ जाती है।

(३) बाँध की नहरें

बाँध की नहरें वे नहरें हैं जिनमें घाटियों के दोनों किनारों पर बाँध लगाकर पानी एकत्र किया जाता है और सूखे मौसम में उनका सदुपयोग किया जाता है।

..ं से लाभ

(१) कृषि उद्योग में स्थायित्व—साल भर तक नहरों द्वारा पानी मिलने के कारण कृषि उद्योग में एक प्रकार का स्थायित्व (stability) आ जाती है और उपज की मात्रा तथा गुण में भी वृद्धि हो जाती है।

(२) बाढ़ नियन्त्रण—नदियों पर आरपार बाँध बना कर जल संचित करने के कारण बाढ़ के प्रकोप का भय जाता रहता है। अनेक देशों में नहरों का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया है।

(३) नहरों द्वारा सिंचाई के कारण बहुत से मरुस्थल तथा बंजर भूमि लह लहाते हुए खेतों में परिणत हो जाती है। रेगिस्तानी इलाकों में सिंचाई का एक मात्र साधन यही रह जाता है।

(४) अकाल के भूत से छुटकारा मिल जाता है।

(५) नहरों के निर्माण से देश की जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को रोज गार मिल जाता है।

(६) बड़ी बड़ी नहरों को यातायात के साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है।

नहरों के दोष

(१) पानी का अपव्यय—भारतीय किसान लोग अपनी अज्ञानता एवं मूर्खता के कारण नहरों से आवश्यकता से अधिक पानी ले लेते हैं जिससे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। नहरों द्वारा सिंचित भूमि में एक ही स्थान पर पानी भरा रहता है जो दलदल का रूप धारण कर लेता है। इससे मच्छर आदि उत्पन्न हो जाते हैं जो मलेरिया, फायलेरिया आदि अनेक भीषण बीमारियों को जन्म देते हैं।

(२) भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास—खेतों में आवश्यकता से अधिक पानी के इकट्ठा हो जाने से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और उसमें लवण अथवा रेत उत्पन्न हो जाता है जो खेती को क्रमश नष्ट कर देता है। बम्बई तथा पंजाब के क्षेत्रो में रेत क कारण हजारों एकड़ भूमि व्यर्थ नष्ट हो गई है।

(३) फसल का नष्ट होना—आवश्यकता से अधिक पानी हो जाने पर भी फसलें या तो गल जाती हैं अथवा देर म पकती है।

(४) प्राकृतिक वर्षा के बहाव मे रुकावट—कभी-कभी नहरों के कारण वर्षा क पानी का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है जो अनेक अन्य समस्याओं को जन्म देता है।

(५) ऊँची सिंचाई दर—सिचाई की दरें प्राय ऊँची और विभिन्न स्थानों म अलग अलग होती हैं। पानी की नाप तौल न होने क कारण किसानों को मितव्ययता करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता।

उपरोक्त दोषो के होते हुए भी यह निर्भीकता से कहा जा सकता है कि नहर भारतवर्ष के लिए वरदान है और इनकी उपयोगिता को किसी भी प्रकार चुनौती नहीं दी जा सकती है।

तालाबो द्वारा सिचाई

तालाबों द्वारा सिंचाई की प्रथा हमारे देश में अति प्राचीन काल से चली आई है। बरसात के दिनों में वर्षा के पानी को अनेक स्थानों पर तालाबों मे एकत्रित कर लिया जाता है और फिर सूखे मौसम में इसका उपयोग खेती के लिए किया जाता है। यद्यपि देश के प्रत्येक राज्य में तालाबों द्वारा सिंचाई का साधन किसी न किसी रूप म अपनाया जाता है परन्तु मध्य और दक्षिणी भारत में यह प्रथा अधिक प्रचलित है। दक्षिण भारत में, इतिहास के पन्ने पलटने से ज्ञात होता है, कि यहा पर कई शताब्दियों पूर्व विशाल तालाब पाये जाते थे। उनमें से कुछ तालाब तो आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। दक्षिण भारत म तालाबों के द्वारा सिचाई होने के कुछ विशेष कारण हैं, जैसे —

(१) दक्षिण भारत की नदियाँ केवल वर्षा के पानी पर ही निर्भर होकर रहती हैं।

(२) वहा चट्टानों और पथरीली भूमि होने के कारण नहरों और कुँओं को खोदने में भी बड़ी कठिनाई होती है।

(३) चट्टानों में बरसाती पानी के सोखने की भी सामर्थ्य नही होती।

(४) दक्षिण भारत की जनसंख्या बिखरी हुई होने के कारण तालाब की सिचाई प्रथा को ही अधिक उपयुक्त समझती है।

(५) पहाड़ी और टूटी फूटी भूमि में तालाबों का निर्माण आसानी से किया जा सकता है और यह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी तथा उपयोगी सिद्ध होते हैं।

तालाब विभिन्न आकार के होते हैं। यह साधारण पोखरों से लेकर बड़ी बड़ी

भागों के रूप में पाये जाते हैं। मद्रास में लगभग ३५०० तालाबों से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

तालाबों का भारतीय कृषि व्यवस्था में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनके निर्माण में नहरों तथा कुँओं की अपेक्षा कम पूँजी लगती है और इनका उपयोग भी तुरन्त होने लगता है। इसी कारण सरकार ने तालाबों को संरक्षण प्रदान किया है। बम्बई तथा मद्रास के तालाब अधिकतर सरकारी निरीक्षण में ही हैं। बहुत से पुराने तालाबों, जो कि प्रयोग में न आने के कारण टूटे फूटे पड़े हैं, का पुनरुद्धार किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भी तालाबों का निर्माण और रक्षा का कार्य जोरों से जारी है।

भारत सरकार की सिंचाई नीति

अध्ययन की सुविधा के लिए हम भारत सरकार की सिंचाई नीति को पाँच खण्डों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) अति प्राचीन काल,
(२) मध्य काल,
(३) ईस्ट इंडिया कम्पनी का काल,
(४) ब्रिटिश शासन काल, तथा
(५) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

अति प्राचीन काल

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से सिंचाई का कार्य होता आया है। ऐसा कहा जा सकता है कि सिंचाई का कार्य कृषि के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुआ। अधिक धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं में ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। इस काल में सिंचाई के कार्य का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर नहीं होता था। सिंचाई के साधनों के निर्माण का कार्य शासकों की उदारता, दयालुता तथा धार्मिक भावनाओं पर निर्भर करता था। शासक लोग पुण्य कार्य के रूप में यदा कदा कुँओं और तालाबों को बनवा दिया करते थे। अधिकतर यह कार्य वैयक्तिक हुआ करता था। फलतः कोई सिंचाई विभाग अथवा तत्सम्बन्धी प्रशासन विभाग नहीं हुआ करता था।

मध्य काल

मध्य काल में भी सिंचाई कार्य की महत्ता को राजकीय स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया यद्यपि प्राचीन काल की अपेक्षा इस काल में सिंचाई कार्य को अकाल निवारणार्थ अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। मुसलमान शासकों जैसे फीरोज़ तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर तथा शाहजहाँ इत्यादि ने कुछ सिंचाई के साधनों का निर्माण करवाया। उदाहरणार्थ १८वीं शताब्दी में पश्चिमी यमुना नहर तथा पूर्वी यमुना

नहर मुगल सम्राटों ने बनवाई थी। परन्तु यह सब कार्य अधिकांश में पुण्य एवं धर्म भावना से प्रेरित होकर किये गये थे, अतः इस काल में भी राष्ट्रीय आधार पर कोई सिंचाई नीति नहीं बनाई गई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का काल

सिंचाई कार्य व्यवस्था की ओर सच्चे अर्थों में ध्यान सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही गया। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि यह सब ध्यान स्वप्रेरित न होकर परिस्थिति प्रेरित था। १८वीं और उन्नीसवीं शताब्दी में घटित अकालों ने विदेशी सरकार को सिंचाई सम्बन्धी एक सुव्यवस्थित और निश्चित नीति बनाने के लिए विवश कर दिया। प्रारम्भ में कम्पनी ने केवल उत्पादक कार्यों की ओर ही ध्यान दिया परन्तु कालान्तर में रक्षात्मक कार्यों की ओर भी ध्यान देना पड़ा।

उत्पादक कार्यों के अन्तर्गत प्रारम्भ में पुराने कार्यों की मरम्मत कराई गई, तत्पश्चात् कुछ नये कार्यों का भी निर्माण किया गया। इन सब का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

(अ) पुरानी नहरों का सुधार

(१) सन् १८२० में पश्चिमी यमुना नहर का सुधार किया गया, और सन् १८८३ में पश्चिमी यमुना नहर का पुनर्निर्माण किया गया।

(२) सन् १८३० में पूर्वी यमुना नहर का सुधार किया गया।

(३) सर आर्थर कॉटन ने सन् १८३६ में कावेरी ग्राड एनीकट बाँध बनाने के कार्य को अपने हाथ में लिया। सन् १८४३-४४ में इसका विस्तार तथा सन् १८९९-१९०२ में इसका पुनर्निर्माण किया गया।

(ब) नई नहरों का निर्माण

(१) सन् १८४०-५० में 'अपर गंगा कैनाल' का निर्माण किया गया।

(२) सन् १८४७-५४ में अपर बारी दोआब नहर का निर्माण किया गया।

(३) सन् १८४६ में गोदावरी नहर का निर्माण किया गया।

(४) सन् १८५२-५४ में कृष्णा नदी बाँध का निर्माण किया गया।

उपरोक्त महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त कम्पनी ने रेलों के प्रादुर्भाव से पूर्व अनेक छोटी मोटी नहरों का निर्माण किया। यह सब अकाल सकट के निवारण के लिए था।

ब्रिटिश शासन काल

सन् १९१९ के बाद से सिंचाई व्यवस्था का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों को सौंप दिया गया। प्रत्येक राज्य सरकार ने अपने-अपने राज्यों में सिंचाई विभाग की स्थापना की है। अन्तर-राज्य सिंचाई व्यवस्था (Inter State Irrigation) का सचालन करने के लिए दो केन्द्रीय सस्थाएँ हैं—

(१) केन्द्रीय जलशक्ति, सिंचाई तथा जलयान आयोग (Central Water Power Irrigation and Navigation Commission), तथा

(२) केन्द्रीय सिंचाई परिषद (Central Board of Irrigation)।

इन दोनों संस्थाओं की स्थापना क्रमशः १९४५ और १९३१ में हुई थी। उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त Central Ground Water Organisation (1946 47) तथा Tube Well Development Organisation (1954) नामक दो और संस्थाएँ हैं जो जल स्रोतों और नल कूपों के विकास पर काम कर रही हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात्

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई के महत्व को भली भांति समझा है। विशेषज्ञों का मत है कि खाद्य समस्या का पूर्ण हल करने के लिए देश के सिंचित क्षेत्रफल को दुगना करना होगा। इस कार्य को पूरा होने में १५ या २० वर्ष का समय लग सकता है। राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई विकास की योजनाओं को पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१ ५६)

योजना के प्रारम्भ में (१९५१) ५१ ५ मि० एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी जो कुल खेती योग्य भूमि का १७ ५% था। इस योजना के अन्तर्गत यह लक्ष्य रखा गया कि सींचे जाने वाले क्षेत्रफल में ४०% की वृद्धि हो जाय। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए नदियों, नहरों, नालाओं और कुँओं पर ५७० करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया। इस योजना के अन्तर्गत १७३ योजनाएँ थीं। सिंचाई के नवीन निर्माण कार्यों को तीन भागों में बाँटा गया—

(१) बहुउद्देशीय योजनाएँ (Multi purpose projects),

(२) सिंचाई के बड़े निर्माण कार्य, तथा

(३) सिंचाई के छोटे छोटे निर्माण कार्य।

उपरोक्त कार्यों पर व्यय किये जाने वाली धन की रकम तथा तद्नुसार सिंचित क्षेत्र के क्षेत्रफल में होने वाली वृद्धि निम्न तालिका में दिखाई गई है—

निर्माण कार्य	धन राशि (करोड़ रुपये)	योजना के अन्त में सिंचित क्षेत्रफल में वृद्धि (लाख एकड़)
(१) बहुउद्देशीय योजनाएँ	२६६	२३
(२) सिंचाई के बड़े निर्माण कार्य	१६८	६७
(३) सिंचाई के छोटे निर्माण कार्य		११०
अतिरिक्त प्रावधान—		
(१) सिंचाई के छोटे निर्माण के लिए	३०	—
(२) नल कूपों के लिए	६	—
योग	५७०	२००

द्वितीय पचवर्षीय योजना (१६५५ ६१)

प्रथम योजना के प्रारम्भ में जैसा कि पहले कहा जा चुका है ५१ ५ मि० एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी, और प्रथम योजना की सफलता के फलस्वरूप यह क्षेत्रफल ६७ ० मि० एकड़ हो गया। यह प्रगति वास्तव में सराहनीय है। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे यह लक्ष्य रखा गया है कि इस दिशा में ३१% की वृद्धि और की जाय जिससे सन् १६६० ६१ में सींचे जाने वाला क्षेत्रफल बढ़ कर ८८० लाख एकड़ हो जाय। इस कार्य के लिए द्वितीय योजना में ३८१ करोड़ रुपये नियत किये गये हैं जिसमें से, अनुमान है कि १७२ करोड़ रुपये द्वितीय योजना काल मे और शेष तृतीय एव चतुर्थ योजना काल मे व्यय किये जायँगे।

द्वितीय योजना काल मे १६५ नये निर्माण कार्य किये जायँगे। इन निर्माण कार्यों पर होने वाले व्यय तथा पूर्ण होने पर सिंचित क्षेत्र में होने वाली वृद्धि का व्यौरा निम्न तालिका मे दिया गया है —

अनुमानित लागत	योजनाओं की सख्या	कुल अनुमानित लागत	पूर्ण होने पर सिंचित क्षेत्र में वृद्धि
१० और ३० करोड़ रुपये के अन्तर्गत	१०	१६१	८४
५ और १० करोड़ रु० के अन्तर्गत	७	५४	१५
१ और ५ करोड़ रु० के अन्तर्गत	३५	८५	३४
१ करोड़ से कम धन राशि	१४३	४६	१५
योग	१६५	३७६	१४८

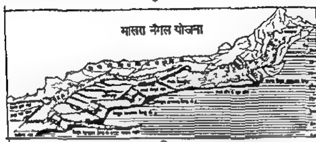
तृतीय पचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त निजी ओर से भी कुछ धन और व्यय किया जावेगा। योजना के अन्त तक सिंचाई का क्षेत्रफल ६ करोड़ एकड़ हो जायगा, जबकि दूसरी योजना के अन्त मे यह ७ करोड़ एकड़ होगा। लगभग ४ करोड़ एकड़ मे बरानी खेती की जायगी। १ करोड़ ३० लाख एकड़ अधिक भूमि को कटाव आदि से बचाने का काम किया जायगा। सन् १६६० ६१ तक लगभग ३ लाख ६० हजार टन नत्रजन युक्त खाद का प्रयोग होने का अनुमान है, १६६५ ६६ मे यह १० लाख टन हो जायगा। ७५ करोड़ एकड़ भूमि में पौधों को बचाने की व्यवस्था की जायगी।

प्रमुख बड़ी सिंचाई-परियोजनाएँ

भाकरा नागल योजना—इस योजना का शुभारम्भ १६४६ मे हुआ था जो

१९५८ में पूर्ण हो सकी। इसकी अनुमानित लागत १७० करोड़ २ लाख रुपये है। इसके द्वारा वर्तमान समय में ९४,००० किलोवाट बिजली उपयोग में लाई जा सकती है तथा यदि आवश्यकता पड़े तो ३६००० किलोवाट तक और बढ़ाया जा सकता है यह विद्युतशक्ति ५ केन्द्रों में विभाजित कर दी जायगी।



चित्र ७—भाखरा नागल योजना

भाखरा बाँध की ऊँचाई ७०० फीट और लम्बाई १७०० फीट है। इस बाँध म ७ ४ मिलियन एकड़ फीट पानी सग्रहीत हो सकता है जिसका क्षेत्रफल ५६ ४ वर्ग मील है। इससे निकली हुई प्रमुख नहर की लम्बाई ६५२ मील है तथा सहायक नहरों की लम्बाई २,२०० मील है।

दामोदर घाटी योजना—चार बाँधों वाली इस योजना की लागत ७५ करोड़ रुपये है। इसमें से तीन पर १,५०,००० किलोवाट के जल विद्युत घर, बोकारो तथा दुर्गापुर में १,७५,००० किलोवाट के दो थर्मल पावर स्टेशन, नहरें तथा उनकी सहायक नहरें होंगी। इसके तीन बाँध पूर्ण हो चुके हैं। इसका प्रबन्ध 'दामोदर वैली कारपोरेशन' को सौंप दिया गया है। यह योजना तिलैया, कोनार, मेठों तथा पचेट पहाड़ियों पर बाँध बना कर दामोदर तथा उसकी अन्य सहायक नदियों पर काबू पाने के लिए कार्यान्वित की गई है।

महानदी घाटी योजना—यह योजना सम्बलपुर तथा बोलनगिर के जिलों को हरा भरा करने के लिए बनाई गई है। इससे ६ ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इसके अन्तर्गत तीन बाँध—हीराकुड, टिकरपारा, तथा नारज—में बनेंगे। हीराकुड बाँध की लम्बाई (१५,७४८ फीट) ससार के सभी बाँधों से अधिक है तथा इसकी ऊँचाई १५० फ़ीट है। इसमें ६६ लाख एकड़ फ़ीट पानी एकत्रित हो सकेगा जिसे हम दूसरे शब्दों म २५८ वर्ग मील की झील कह सकते हैं। इसकी अनुमानित लागत ६२ करोड़ रुपये है।

तुङ्गभद्रा योजना—दक्षिण भारत की सबसे बड़ी योजना आन्ध्र और मैसूर

राज्य द्वारा प्रारम्भ की गई है। तुङ्गभद्रा नदी पर ७६४२ फीट लम्बा तथा १६२ फीट



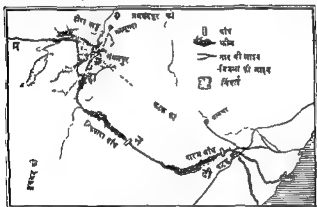
चित्र ७—प्रमुख सिंचाई परियोजनाएँ

चौड़ा बाध बनेगा। इसके दोनों किनारा पर जल विद्युत केन्द्र बनाये जायेंगे। इसकी क्षमता ३० लाख एकड़ फीट पानी की है। इसके दोनों ओर से नहरें निकाली जायेंगी जो

१'३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी। इस योजना की कुल लागत ६० करोड़ रुपये है। इसमें तीन विद्युत-गृह बनाये जावेंगे जिनका उत्पादन क्षमता ६६,००० किलोवाट होगी।

कोसी योजना—१३ ६५ लाख एकड़ भूमि को लहलहा देने वाली योजना म कोसी नदी के दोनों तटों पर १५० मील लम्बी दीवारें बनाई जायेंगी, हनुमान नगर (नेपाल) से तीन मील दूर पर एक बराज बनेगा तथा बराज से पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा। इस नहर की—सुपाल, मतापगज, पूर्णिया तथा अरारिया—शाखाएँ हैं। इस योजना में लगभग ४४ ६ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा।

हीराकुड योजना—यह बाँध सम्भलपुर रेलवे स्टेशन से ६ मील दूरी पर ।। उसकी लम्बाई १५,७४८ फीट तथा ऊँचाई २०० फीट होगा। इससे निकलने



चित्र ६—हीराकुड योजना

वाली नहर तथा उसकी शाखाएँ ६१ ५ मील और सहायक नहरों की लम्बाई ४६० मील होगी एव जल मार्ग की लम्बाई ६,५०० मील होगी। इस योजना का लागत व्यय लगभग ७० ७८ करोड़ रुपये है।

बड़ी और मँझली सिंचाई योजनाओं का उपयोग

सन् १९५८-५९ में चार बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं—भाखरा नागल, दामो दर घाटी निगम, तुङ्गभद्रा और हीराकुड से २५ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हुई। इसमें से भाखड़ा नागल योजना द्वारा पजाब और राजस्थान में १९ लाख ५० हजार एकड़ जमीन की सिंचाई हुई। दामोदर घाटी निगम से पश्चिमी बगाल मे २३५ हजार एकड़ जमीन की और हीराकुड से उड़ीसा में २८५ हजार एकड़ जमान की सिंचाई हुई। तुङ्गभद्रा योजना से मैसूर और आंध्र प्रदेश में १· लाख ८५ हजार एकड़ जमीन

की सिंचाई हुई। वैसे, इन चारों योजनाओं से कुल ३७ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हो सकती थी।

देश में सभी बड़ी और मँझली योजनाओं की कुल जितनी सिंचाई-क्षमता थी, उसका ८२% उपयोग हुआ। आशा है १९५९-६१ के दो वर्षों में भी कुल सिंचाई क्षमता और वास्तविक उपयोग का यह अनुपात जारी रहेगा।

सन् १९५०-५१ में सब प्रकार के साधनों से कुल ५१५ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हुई थी। इसमें से २२० लाख एकड़ जमीन की सिंचाई बड़ी और मझली सिंचाई योजनाओं द्वारा हुई। इसके अलावा दूसरी पचवर्षीय योजना के अन्त तक बड़ी और मँझली योजनाओं से ३३५ लाख एकड़ और जमीन की सिंचाई होने लगेगी।

पाँचवीं पचवर्षीय योजना के अन्त तक, *अर्थात् १९७५-७६ तक लगभग १८* से १९ करोड़ एकड़ जमीन के लिए सिंचाई की सुविधाएँ कर देने का विचार है। आशा है इसमें से लगभग ९ करोड़ एकड़ जमीन की सिंचाई बड़ी और मँझली योजनाओं द्वारा होने लगेगी।

पहली और दूसरी योजना में जो बड़ी और मँझली सिंचाई योजनाएँ शामिल की गई हैं, उन पर लगभग १,४०० करोड़ रुपये की लागत का अनुमान है।

प्रश्न

1 State the different forms of irrigation in India What is meant by Productive and Protective works? Point out the relative importance of irrigation works in different provinces in India

(*Agra, 1949*)

2 Describe the various methods of irrigation used in India and discuss their relative merits from the point of view of agriculture

(*Punjab, 1954*)

3 Mention the principal features of the multi-purpose projects undertaken by the government, and envisage their prospects

(*Agra, 1952*)

अध्याय ११

कृषि-विपणन

(Agricultural Marketing)

कृषि विपणन का महत्व

किसी भी वस्तु का विपणन अथवा विक्रय किसी देश की अर्थ व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि उत्पादन भी अन्य वस्तुओं की भाँति उस समय तक ... नहीं होता जब तक कि उसका विक्रय न हो जाय। यदि विपणन की उचित ... है तो अति उत्तम विधि से किया गया कृषि उत्पादन भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं होता। आज इस तथ्य का साधारण व्यक्ति भी स्वीकार करता है और विपणन की महत्ता दिन प्रति दिन बढ़ता जा रही है। एक समय था जब कहा जाता था कि "अच्छे किसान की एक आँख हल पर और दूसरी आँख बाजार पर रहती है।" परन्तु आज यह कहा जाता है कि "एक अच्छा किसान अपने दोनों हाथ हल पर तथा अपनी दोनों आँखें बाजार पर रखता है।" अर्थात् आज एक किसान जितनी लगन से कृषि-उत्पादन करता है उतनी ही लगन से उसके विपणन की भी व्यवस्था करता है। वह भी एक अर्थशास्त्री की भाँति कृषि उत्पादन की माँग और पूर्ति म सतुलन बनाये रखने की चेष्टा करता है किन्तु कुछ विवशताओं के कारण वह कृषि उत्पादन की माँग अथवा उसके सफल विपणन पर नियंत्रण नहीं कर पाता। उसकी अशिक्षा एवं अज्ञानता उसको उचित मूल्य दिलाने में बाधक सिद्ध होती है।

भारतीय किसान के साथ कुछ प्राकृतिक तथा कुछ कृत्रिम ऐसा असमर्थताएँ होती हैं जो कृषि विपणन को सफल बनाने में बाधक होती हैं। कृषि उत्पादन ही स्वय बहुत कुछ दैवी अनुकम्पा पर निर्भर होता है। यदि कृषि विपणन की व्यवस्था समुचित कर दी जाय तो निस्सदेह कृषि उद्योग पर दैवी प्रकोप कम किया जा सकता है। इस प्रकार यदि कृषि तथा कृषक, दोनों की दशा सुधारनी है, अच्छी फसलें उत्पन्न करने के स्वप्न को पूरा करना है तो फसलों के उचित मूल्य की व्यवस्था करनी ही होगी।

कृषि विपणन का अर्थ

कृषि विपणन से हमारा तात्पर्य कृषक वस्तुओं की माँग और पूर्ति में सतुलन स्थापित करने से है। सरल शब्दों में कृषि वस्तुओं को कृषि उत्पादकों से लेकर उन

भोक्ताओं तक पहुँचाने में मध्यस्थों द्वारा की गई सेवाओं को विपणन-कार्य कहते हैं। कृषि-विपणन में निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(१) कृषि वस्तुओं का एकत्रीकरण (Assembling)
(२) कृषि वस्तुओं का श्रेणीकरण (Grading)
(३) कृषि वस्तुओं का प्रविधिकरण (Processing)
(४) कृषि वस्तुओं का परिवहन (Transportation)
(५) कृषि वस्तुओं को सुरक्षित रखना (Storing)
(६) कृषि वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Retailing)
(७) कृषि वस्तुओं की समस्त क्रियाओं के लिए वित्त प्रदान करना (Financing)
(८) उपरोक्त क्रियाओं में निहित जोखिम उठाना (Risk Bearing)

भारतवर्ष में कृषि विपणन

भारतवर्ष में प्राय कृषि वस्तुओं का विपणन किसानों के द्वारा न किया जाकर मध्यस्थों द्वारा किया जाता है। मध्यस्थों की शृंखला इतनी बड़ी है कि कृषि उपज के लाभ का ५०% से अधिक भाग इन लोगों की जेब म चला जाता है। भारतीय गेहूँ विपणन समिति की रिपोर्ट के अनुसार निम्न प्रकार के मध्यस्थ पाये जाते हैं —

(१) ऐसे किसान जो दूसरे किसानों से अनाज एकत्र करते हैं,
(२) जमींदार जो किसानों की ओर से गल्ला एकत्र करके बेचते हैं,
(३) महाजन अथवा गाव का बनियाँ,
(४) ऐसे व्यापारी जो गाँव गाँव घूम कर अनाज इकट्ठा करते हैं,
(५) कच्चा अढ़तिया,
(६) पक्का अढ़तिया, तथा
(७) सहकारी समितियाँ।

बाजारों के प्रकार (Types of Markets)—भारत में कृषि विपणन के लिए विभिन्न प्रकार के बाजार पाये जाते हैं। श्रीयुत कुलकर्णी के अनुसार निम्न लिखित बाजार पाये जाते हैं —

(१) पैंठ अथवा हाट अथवा मंडियाँ,
(२) मंडिया,
(३) फुटकर बाजार (Retail markets)
(४) मेले तथा प्रदर्शनियाँ,
(५) उपज विपणन (Produce Exchange)

(१) पैंठ अथवा हाट—ग्रामों में छोटे मोटे बाजार जीवन की आवश्यक

वस्तुओं जैसे अनाज, कपड़ा, मिट्टी के बर्तन, चूड़ियाँ, फल तथा तरकारियाँ आदि के क्रय विक्रय के लिए लगा करते हैं। कुछ प्रदेशों जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में इन बाजारों को पैठ अथवा हाट कहते हैं तथा दक्षिणी भारत में शैन्दी (shandis) कहते हैं। ये सप्ताह में एक बार या दो बार लगती हैं। इनके लगने के दिन तथा स्थान व्यापारियों अथवा जमींदारों द्वारा निश्चित किये जाते हैं। ५-१० मील की दूरी पर एक हाट या बाजार होती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के बाजार लगभग २२००० से अधिक हैं।

(२) मंडियाँ—मंडियाँ वस्तुतः थोक बाजार होती हैं। ये किसी निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से लगाई जाती हैं और वहाँ पर प्रति दिन थोक में सौदे किये जाते हैं। यहाँ नित्य बहुत बड़ी मात्रा में उपज का क्रय विक्रय होता है और कुछ विशिष्ट क्रियाएँ विशिष्ट लोगों के द्वारा की जाती है और विशिष्ट लोग कुछ विशिष्ट नामों से पुकारे जाते हैं, जैसे तोले (weighmen), अढ़तिये तथा दलाल। ये मंडियाँ प्रायः निजी व्यक्तियों, स्थानीय संस्थाओं जैसे म्यूनिसपैलिटी, कारपोरेशन तथा जिला बोर्ड आदि के द्वारा नियंत्रित होती हैं और इनका स्वामित्व भी इन्हीं संस्थाओं के हाथ में होता है। ये मंडियाँ प्रायः १० से ४० मील की दूरी पर होती हैं और ऐसे स्थानों पर होती हैं जहाँ कि संग्रह सम्बन्धी, बैंक सम्बन्धी, यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं।

भारतवर्ष में इन मंडियों की संख्या लगभग १७०० है। ये मंडियाँ नियमित तथा अनियमित दोनों ही प्रकार की होती हैं।

फुटकर बाजार

ये फुटकर बाजार शहर अथवा देहात के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। इन बाजारों में फुटकर विक्रेता और उपभोक्ता में सीधा सम्बन्ध होता है। इनका स्वामित्व फुटकर व्यापारियों के हाथ में होता है और इनका नियमन स्थानीय सरकारों जैसे जमींदारों और पंचायतों द्वारा होता है। इन बाजारों में लगभग सभी प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय होता है और आसपास के गाँवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। व्यापारिक दृष्टिकोण से इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

मेले तथा प्रदर्शनियाँ

अनादिकाल से भारतवर्ष में मेले तथा प्रदर्शनियाँ देश के विभिन्न भागों में लगते रहे हैं। प्रायः मेले धार्मिक त्योहारों के उत्सव में तीर्थ-स्थानों पर लगते हैं। जैसे प्रयाग में माघ मेला, गढ़मुक्तेश्वर में कार्तिकी स्नान मेला, भृगु जी का मेला (बलिया), बटेश्वर का मेला (आगरा) आदि। अन्य मेले आर्थिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से लगाये जाते हैं। भारत में १७०० से अधिक पशुओं तथा कृषि-उपज के मेले

लगते हैं। इनमें से ५०% के लगभग पशु-सम्बन्धी, ४०% कृषि उपज सम्बन्धी तथा शेष १०% पशु तथा उपज सम्बन्धी होते हैं। इन मेलों तथा प्रदर्शनियों का संगठन जिला अधिकारियों, स्थानीय संस्थाओं अथवा निजी संस्थाओं द्वारा होता है।

(५) उपज विपणन

ये बाजार कृषि उपज के सबसे बड़े बाजार होते हैं यहाँ पर थोक में कृषि उपज का क्रय विक्रय होता है। ये देश के प्रमुख केन्द्रों में स्थापित हैं। इनका नियमन व्यापारिक संस्थाओं द्वारा होता है। इनका विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

कृषि उपज के विपणन की विधि

भारतवर्ष में कृषि वस्तुओं की बिक्री तीन प्रकार से होती है —

(१) गुप्त विधि द्वारा (By Under Cover),
(२) नीलाम के द्वारा (By Auction), तथा
(३) निजी समझौतों द्वारा (By Private Agreement)

ये उपरोक्त क्रियाएँ भारतीय कृषि विपणन में प्राय अपनाई जाती है चाहे कृषि विपणन की पद्धति किसी भी प्रकार की हो। बहुधा, कृषि विपणन की निम्नलिखित पद्धतियाँ भारतीय ग्रामों में अपनाई जाती हैं —

(१) गाँव में बिक्री
(२) किसान के द्वारा माल स्वयं गाँव से बाजार को ले जाना
(३) मंडियों में बिक्री।

गाँव में बिक्री

नवोदित स्वतंत्र भारत का कृषक आज भी दरिद्रता की गोद में शयन कर रहा है। उसके पैतृक ऋण, सामाजिक रीति रिवाज, जैसे विवाह, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि तथा सरकारी भूमिकर जिनमें लगान, सिंचाई आदि आते हैं, उसको अपनी फसल बेचने के लिए विवश कर देते हैं। इस विवशता का पूरा पूरा लाभ साहूकारों और जमींदारों को प्राप्त है। सच तो यह है कि ऋणी किसान अपनी उपज को केवल खेत से खलिहान तक ही लाता है और खलिहान से ही ऋण की अदायगी में उसका अधिकार छिन जाता है। गाँव में कृषि उत्पादन का क्रय करने वाले—जमींदार, साहूकार, बनियाँ, फेरी वाले तथा अन्य महाजन हैं। कभी कभी धार्मिक त्योहारों पर लगने वाले मेलों में भी कृषि उत्पादन का क्रय विक्रय किया जाता है। अथवा वे छोटी छोटी हाटें जो सातवें या पंद्रहवें दिन लगा करती हैं, उनमें कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग बेंच दिया जाता है। इस प्रकार से गाँव में बिक्री प्रतिकूल समय, प्रतिकूल परिस्थिति और प्रतिकूल वातावरण का ज्वलंत उदाहरण है।

(२) किसान के द्वारा माल स्वयं गाँव से बाजार को ले जाना—उन किसानों की संख्या अल्प होती है जो अपने कृषि उत्पादन को गाँव से ले जाकर बाजार में बेचते हैं। ये किसान या तो जमींदार होते हैं या बड़े पैमाने के कृषक होते हैं जिनके पास यातायात के साधन के रूप में घर की बैलगाड़ी होती है अथवा किराये पर गधे, खच्चर, ऊँट, घोड़े आदि से माल बाजार तक पहुँचाने की सामर्थ्य होती है। फिर भी सड़कों के अभाव में यातायात का व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उत्पादन के मूल्य का २०% भाग किराये के रूप में व्यय हो जाता है। माल को इन बाजारों तक लाने में अनावश्यक मध्यस्थों का व्यय भी बढ़ जाता है।

(३) मण्डियों में बिक्री मण्डियाँ दो प्रकार की होती हैं—नियमित (Regulated) तथा (२) अनियमित (Unregulated)।

नियमित मण्डियाँ अनियमित मण्डियों से कहीं अच्छी होती हैं। इनमें प्रमाणित बाँट होते हैं तौलनेवाले, सफाई करने वाले, तथा अन्य कार्य व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाये रखने वाले लाइसेंस प्राप्त होते हैं। फिर भी दलाल, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया आदि जैसे मध्यस्थ उपज का एक बड़ा अंश अपनी जेब में रख लेते हैं।

यही नहीं अनियमित मण्डियों में नाप तौल के न तो बाट ही शुद्ध होते हैं और न उनके समय का ही निश्चय होता है। इस प्रकार की मण्डियों के कार्यकर्ता को किसी प्रकार का लाइसेंस भी नहीं दिया जाता है तथा जो रकम कमीशन, दलाली, तौलाई और धर्मादा के रूप में काटी जाती है, वह भी नियमित नहीं होती है। यहाँ पर उत्पादन का मूल्य गुप्त विधि द्वारा होता है जिसका प्रमुख गुण क्रेता और विक्रेता की आँखों में धूल झोंकना होता है।

कृषि विपणन के दोष

भारतीय कृषि विपणन की जो पद्धतियाँ इस समय अपनाई जाती हैं वे बहुत ही दोषपूर्ण एवं असंतोषजनक हैं। इन दोषों का निवारण कृषि विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कृषि विपणन के दोष निम्नलिखित हैं —

(१) संगठन का अभाव (Lack of Organisation)
(२) बलात बिक्री (Forced Sales)
(३) निरर्थक मध्यस्थ (Superfluous Middlemen)
(४) विविध व्यय (Multiplicity of Charges)
(५) बाजार में धोखाधड़ी (Malpractices in the Market)
(६) नाप तौल के प्रमापित पैमानों का अभाव,
(७) श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण का अभाव,
(८) निम्नकोटि की उपज तथा मिलावट,

(९) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव
(१०) संग्रहालय सुविधाओं का अभाव
(११) यातायात के साधनों का अभाव
(१२) वित्तीय सुविधाओं की दुर्लभता

(१) **संगठन का अभाव**—कृषि विपणन का सबसे महत्वपूर्ण दोष यह है कि कृषि उत्पादकों में किसी भी प्रकार का संगठन नहीं पाया जाता। कृषि उपज, विशेषतः व्यापारिक उपज जैसे जूट, कपास, तिलहन आदि के खरीदार बड़े पैमाने पर इन वस्तुओं को खरीदते हैं और भली प्रकार से संगठित होते हैं। इसके विपरीत इन फसलों के उत्पादक छोटे पैमाने पर उत्पादन करते हैं और दूर-दूर तक छितरे-बितरे होते हैं। अतः इन लोगों में ऐसा कोई संगठन नहीं होता जिससे वे अपने हितों की रक्षा स्वयं कर सकें। फलतः व्यापारिक लोग इन बेचारे उत्पादकों का शोषण मनमाने ढंग से करते हैं।

(२) **बलात बिक्री**—आर्थिक परिस्थिति शोचनीय होने के कारण किसान को अपनी उपज को प्रतिकूल स्थान पर, प्रतिकूल मूल्य पर तथा प्रतिकूल समय पर बेचना पड़ता है। इस दयनीय परिस्थिति के कारण हैं—(१) कि ऋणग्रस्त होने के कारण फसल कटते ही ऋणदाताओं को कम मूल्य पर बेचे जाने के लिए विवश करना, (२) संतोषजनक यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का अभाव; (३) लगान तथा अन्य व्ययों को चुकाने की शीघ्रता; तथा (४) देहातों में संग्रहालयों का अभाव होना।

(३) **निरर्थक मध्यस्थों की शृंखला**—अधिकाश किसान अपनी फसल गाँव में ही बेच देते हैं। अतः उस फसल को गाँव से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए अनेक मध्यस्थों की आवश्यकता होती है और अततः मध्यस्थों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उपज का अधिकाश भाग मध्यस्थों की जेब में चला जाता है। उदाहरणार्थ एक अनुमान के अनुसार चावल के मूल्य के रूप में उपभोक्ता द्वारा दिये गये प्रत्येक रुपये में से केवल ८½ आने और गेहूँ के मूल्य के प्रत्येक रुपये में से केवल ६¾ आने ही उत्पादक को मिल पाते हैं।

(४) **विविध व्यय**—मंडी में उपज को बेचने के लिए किसान को अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है और विविध निरर्थक व्ययों को भी चुकाना पड़ता है। सबसे पहले किसान को एक दलाल के सम्पर्क में आना पड़ता है जो उसका परिचय कच्चे अढ़तिया से कराता है। दलाल की दलाली और अढ़तिये की आढ़त चुकाने के पश्चात् किसान को अनेक अन्य व्यय भी चुकाने पड़ते हैं जैसे, तुलाई, पल्लेदारी, गर्दा, धर्मादा, घाता तथा दाना आदि।

यू० पी० बैंकिंग जाँच समिति के अनुमान के अनुसार सौ रुपये की मूल्य की उपज में से उत्तर प्रदेश के प्रमुख बाजारों जैसे हापुड़ में २ रु० ६ आने, गाजियाबाद

में ४ रु० ३ आने, हाथरस में ४ रु० १३ आने, आगरा में ५ रु० १ आना ९ पाई तथा प्रतापगढ़ में २ रु० १३ आने व्यय के रूप में चुकाने पड़ते हैं।

(५) बाजार में धोखाधड़ी—वर्तमान कृषि उपज विपणन का एक और महान् दोष बाजार में धोखाधड़ी की क्रियाएँ हैं। यह धोखाधड़ी तीन प्रकार से की जाती है। प्रथम अढ़तिये तथा दलाल क्रेता और विक्रेता दोनों का कार्य करते हैं। अतः ये दोनों से ही अपना उल्लू सीधा करते हैं। द्वितीय परदे के अन्दर क्रेता और विक्रेताओं से छिपाकर वस्तुओं के मूल्य तय करते हैं। इस पद्धति का एक मात्र गुण क्रेता और विक्रेताओं को धोखा देना है। तृतीय बेचारे किसान विक्रेता से अनेक प्रकार से शुल्क और खर्चे जैसे कमीशन, पल्लेदारी, तुलाई, धमादा, गद्दा, दाना आदि अनिवार्य रूप से वसूल किये जाते हैं और यह पूरी धन राशि उसकी रकम से पहले ही काट ली जाती है।

(६) नाप तौल के प्रमापित पैमाने का अभाव—भारतवर्ष में उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूरब से लेकर पश्चिम तक कहीं पर भी नाप-तौल के पैमानों में सजातीयता नहीं पाई जाती है। कृषि पर शाही आयोग ने बम्बई प्रदेश के पूर्वी खानदेश के १६ पूर्वी बाजारों का पर्यवेक्षण करके पता लगाया कि वहाँ पर मन (maund) १३ प्रकार का पाया जाता था जो कि २१½ सेर से लेकर ८० सेर तक के प्रचलित थे। मध्य प्रदेश में नाप तौल के पैमाने 'मणि' 'किन्नी' तथा 'खायडी' के नाम से प्रचलित हैं जिनका वजन विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न होता है। असम में चावल की नाप तौल विभिन्न प्रकार की टोकरियों द्वारा होती है।

नाप तौल के विभिन्न पैमानों का प्रभाव विभिन्न प्रकार से पड़ता है। प्रथम इसके द्वारा भोले भाले किसानों को आसानी से ठगा जा सकता है, द्वितीय इसके द्वारा एक बाजार से दूसरे बाजार के मध्य बहुत सी निरर्थक जटिलताएं आ जाती हैं जो कि व्यवसाय एवं वाणिज्य के हित में नहीं होतीं। तृतीय कृषि उत्पादन के मूल्य सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करने में कठिनाई होती है।

(७) कृषि उपज के श्रेणीयन एवं प्रमापीकरण का अभाव—कृषि उपज के श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण के अभाव में भारतीय वस्तुओं का मान अन्य देशों की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। निर्यात सम्वर्धन समिति १९४९ ने भी सरकार का ध्यान निम्न कोटि (quality) के भारतीय निर्यातों की ओर आकर्षित किया था। समय-समय पर अनेक समितियाँ इस दोष की ओर इंगित करती रही हैं। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया है।

(८) निम्न कोटि की उपज तथा मिलावट—भारतवर्ष में वस्तुओं को बनाते समय अनेक प्रकार की मिलावटें (adulterations) कर दिये जाते हैं।

जैसे—अनाज में पानी डाल देना, मिट्टी-कूड़ा डाल देना आदि जिससे वजन बढ़ जावे। यही नहीं वस्तुओं को उत्पन्न करते समय उसकी किस्म सुधारने की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव—भारतीय कृषि विपणन का एक अन्य दोष यह भी है कि कृषि उत्पादकों को वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में शीघ्र सूचना नहीं मिल पाती। गाँव का बनिया ही अधिकांशतः सूचना का केन्द्र होता है जो कि सदैव अपने हित में ही मूल्य बताता है।

(१०) संग्रहालय सुविधाओं का अभाव—भारतीय कृषि-उत्पादकों के पास अपनी उपज को सुरक्षित रखने के लिए संग्रहालय सुविधाओं का अभाव होता है। वे प्रायः अपनी उपज को गड्ढों, खत्तियों तथा कोठियों आदि में रखते हैं। ये अवैज्ञानिक रीति से बने होने के कारण चूहे, घुन, पाले, दीमक आदि हानिकारक जन्तुओं से अनाज की रक्षा नहीं कर पाते और देश को करोड़ों रुपये का प्रति वर्ष नुकसान उठाना पड़ता है।

(११) यातायात के साधनों का अभाव—देश में अब भी यातायात के साधनों का बहुत अभाव है। अधिकांश ऐसे ग्राम हैं जिनके आसपास न तो कोई रेल की ही व्यवस्था है और न मोटर यातायात की ही। फलतः किसान अपनी उपज को गाँव से मंडियों तक ले जाने में असमर्थ रहता है और उसे विवश होकर गाँव के लोगों को कम मूल्य पर ही उपज बेच देनी पड़ती है।

(१२) वित्तीय सुविधाओं की दुर्लभता—कृषि-उत्पादकों को वित्तीय सहायता पहुँचाने वाली संस्थाएँ अधिकांशतः देशीय बैंकर अथवा महाजन होते हैं। ये लोग अत्यधिक ऊँची दर पर अग्रिम अथवा ऋण देते हैं जिससे कृषि उपज की लागत बढ़ जाती है और अन्ततः कृषि उत्पादकों को हानि उठानी पड़ती है।

कृषि-विपणन का सुधार

भारतीय कृषि-विपणन में अनेक दोष आने के कारण उनमें सुधार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब अन्न से भरी गाड़ी लेकर किसान गाँव से चलता है तो वह खुशी से झूम उठता है परन्तु मंडी में पहुँच कर जब खरीदार उसे मूल्य चुकाता है तो उसकी सभी आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश मंडियों में अनेक प्रकार की अनुचित क्रियाएँ होती हैं जिनका वर्णन विस्तार से पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अतः देश के अन्नदाता किसान की सहायता करने की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है और पिछले कुछ वर्षों से इस ओर सरकार द्वारा कुछ महत्वपूर्ण प्रयास भी किये गये हैं।

भारतवर्ष में कृषि विपणन का विकास करने के लिए सर्व प्रथम सन् १६३५ में

सरकार ने केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत विपणन एवं निरीक्षण निर्देशालय (Directorate of Marketing Inspection) की स्थापना की। यह निर्देशालय विभिन्न राज्यों में इसके प्रतिरूपों (counterparts) के माध्यम से कार्य संचालन करता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि उपभोक्ता द्वारा चुकाये गये मूल्य का अधिकांश भाग किसान को मिले। इस ध्येय को पूरा करने के लिए मंडियों को नियंत्रित करने की आवश्यक कार्यवाही की जाती है और किसानों को वस्तुओं के संग्रहण (Pooling), विधायन (Processing) और वर्गीकरण (Grading) के उन्नत तरीकों के बारे में समझाया जाता है।

विपणन एवं निरीक्षण निर्देशालय के कार्य (Functions of Directorate of Marketing and Inspection)

(१) यह निर्देशालय अखिल भारतीय आधार पर कृषि उत्पादनों का विपणन सम्बन्धी सर्वेक्षण करता है। इन सर्वेक्षणों के आधार पर वे सूचनाएँ तैयार की जाती हैं जिनसे विकास कार्यों की आवश्यकता की पूर्ति होती है।

(२) कृषि उत्पादन (वर्गीकरण और चिन्हांकन) अधिनियम, १९३७ के अन्तर्गत वर्गीकरण प्रतिमान (Grade Standards) निश्चित करके वर्गीकरण केन्द्रों के संगठन द्वारा यह निर्देशालय वर्गीकरण को प्रोत्साहन देता है।

(३) यह निर्देशालय राज्य सरकारों को नियंत्रित मंडियों की स्थापना के सम्बन्ध में परामर्श देता है और विभिन्न राज्यों में कृषि उत्पादन विपणन अधिनियमों के परिपालन में समन्वय रखता है।

(४) यह व्यवसाय द्वारा अपनाये जाने के लिए प्रमापी (स्टैण्डर्ड) शर्तें तय करता है।

(५) यह फल उत्पादन आदेश १९५५ के अन्तर्गत फलों से बनी वस्तुओं के गुण (क्वालिटी) नियंत्रण का काम करता है और फल परिरक्षण उद्योग के विकास में सहायता करता है।

(६) यह कृषि विपणन में प्रशिक्षण प्रदान करता है।

(७) यह भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, राज्य सरकारों, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद और खाद्य और कृषि मंत्रालय की वस्तु समितियों के लिए विपणन विषयक सभी परामर्श देता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय संगठनों जैसे कि एफ०ए० ओ० (F A O) और इकाफ (ECAFE) से सम्पर्क रखता है।

सर्वेक्षण (Surveys)

सन् १९३५ में विपणन और निरीक्षण निर्देशालय की स्थापना के तुरन्त बाद बाजार की अवस्थाओं का सर्वेक्षण करने के लिए कदम उठाये गये क्योंकि यह अनुभव

किया गया था कि विपणन विकास का कोई भी कार्यक्रम देश के विभिन्न बाजारों में प्रचलित व्यवहार सम्बन्धी पूर्ण और व्यापक सूचनाओं के अभाव में न तो बनाया ही जा सकता है और न कार्यान्वित ही किया जा सकता है।

अब तक ४१ कृषि-उत्पादनों सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें अन्न व दालें (५) पशु-धन और पशु जन्य वस्तुएँ (१२) और विशेष उपज (२४) सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त १० मुख्य वस्तुओं का पुनः सर्वेक्षण हो चुका है और उन पर संशोधित रिपोर्टें जारी हो चुकी हैं। साथ ही कुछ विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन अथवा विपणन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले १३ विशेष बुलेटिन और ब्रोशर प्रकाशित किये गये हैं।

इन रिपोर्टों में प्रत्येक वस्तु के निम्न पहलुओं पर जानकारी दी गई है :—

(१) उत्पादन;

(२) देश की आन्तरिक खपतें और निर्यात के लिए गुणात्मक एवं परिमाणात्मक माँग;

(३) कीमतें और कीमतों का फैलाव;

(४) प्रतिमानीकरण;

(५) मंडियाँ, मंडीशुल्क और मंडियों में विपणन की विभिन्न अवस्थाओं में काम करने वाले कर्मचारी;

(६) खर्चों के अनुसार वितरण व्यवस्था;

(७) बाजार व्यवहार में सुधार की सिफारिश।

ये रिपोर्टें समस्त देश में हो रहे विकास कार्यों का आधार बनाती हैं। विपणन सर्वेक्षणों से जिन अनुचित व्यवहारों का भेद खुला है, उनके निवारणार्थ निम्न कानून बनाये गये हैं :—

(१) फॉरवर्ड ट्रेडिंग का नियंत्रण;

(२) प्रमाणिक नाप-तोल लागू करना;

(३) लाइसेंस प्राप्त गोदामों की स्थापना और

(४) मंडियों का नियंत्रण।

वर्गीकरण और प्रतिमानीकरण -

वर्गीकरण से खरीदार और विक्रेता दोनों के बीच आपसी विश्वास बढ़ाने में सहायता मिलती है। उपभोक्ता को इच्छानुसार श्रेष्ठ कोटि की वस्तुएँ मिल जाती हैं और उत्पादक को उसकी उपज का उचित मूल्य। दोनों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से भारत सरकार ने कृषि उत्पादक (वर्गीकरण एवं विपणन) अधिनियम १९३७ पास किया जिसके अनुसार कृषि विपणन सलाहकार को अधिकार दिया गया है कि वह कृषि उत्पादों

की विभिन्न किस्मों और प्रकारों का प्रतिमान निर्धारित करे और गुण (quality) सूचक वर्गानुकूल चिन्ह निश्चित करे।

इसके अनुसार ऐसी भी व्यवस्था है कि निरीक्षण और विपणन निर्देशालय उपयुक्त व्यक्तियों और संगठित संस्थाओं को निर्धारित प्रतिमान के आधार पर वर्गीकरण और चिन्हांकन करने का अधिकार—प्रमाण-पत्र जारी कर सके। इस प्रकार वर्गीकृत वस्तुओं पर एगमार्क लगाया जाता है।

एकत्र करने वाले, उपभोग करने वाले और वितरण करने वाले बाजारों से प्रमुख व्यावसायिक किस्मों के प्रतिनिधि नमूने लिये जाते हैं और उनके विश्लेषक परिणामों के आधार पर प्रारूप विशिष्टियाँ तैयार की जाती हैं। भारत और विदेशों के व्यापार हित रक्षकों, राज्य सरकारों और सम्बद्ध पक्षों से राय कर इन प्रारूप विशिष्टियों को अंतिम रूप दिया जाता है। इस निदेशालय ने ११६ कृषि उत्पादनों के प्रतिमान तैयार कर लिये हैं। आवश्यकता पड़ने पर इन विशिष्टियों में आवश्यकतानुसार संशोधन कर लिया जाता है ताकि उनको व्यापार की नवीनतम प्रवृत्तियों के अनुकूल रखा जा सके।

देश के आंतरिक उपभोग के लिए निम्न प्रमुख वस्तुओं का एगमार्क के अन्तर्गत वर्गीकरण किया गया है—घी, वनस्पति तेल, कारखानों का बना मक्खन, अंडे, चावल, आटा, कपास, गुड़, देशी शक्कर, फल (आम, नारंगी, चीकू, अंगूर, सेब आदि)।

मुख्यतया निर्यात के लिए वर्गीकृत की हुई वस्तुएँ ये हैं —तम्बाकू, सन, आवश्यक तेल (चन्दन, लैमनग्रास, तेल) ऊन और सुअर के बाल।

देश के आन्तरिक उपभोग के लिए काम आने वाली वस्तुओं का वर्गीकरण ऐच्छिक होता है। लेकिन निर्यात के लिए जिन विशिष्ट वस्तुओं की आज्ञा दी जाती है, 'सी कस्टम्स एक्ट १८७८' के सेक्शन १६ के अन्तर्गत उनका वर्गीकरण आवश्यक बनाया जा सकता है।

द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना में व्यवस्था की गई है कि काली मिर्च, सोंठ इलायची, वनस्पति तेल, हाथ से तोड़ी जाने वाली मूँगफलियाँ, हड्डियाँ और चमड़ा, रंगा हुआ चमड़ा, सेमर की रुई और आँवला जो कि विदेश भेजने के लिए हो, का आवश्यक रूप से वर्गीकरण किया जायगा।

वर्गीकरण कार्य के विस्तार और गुण नियंत्रण की प्रभावशाली व्यवस्था बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि पृथक् प्रयोगशालाएँ स्थापित की जायँ। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नागपुर में एक केन्द्रीय नियंत्रण प्रयोगशाला और कानपुर, राजकोट, कोचीन, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, मैसूर और अमृतसर में प्रत्येक स्थान पर एक एक यानी कुल आठ क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ स्थापित की जा रही हैं।

वर्गीकरण का परिणाम काफी संतोषजनक रहा है। उदाहरण के लिए १९५३-५४ में वर्गीकृत कपास की गाँठों की संख्या पाँच हजार था, जिनका मूल्य लगभग २ करोड़ रुपये था। यह संख्या १९५५-५६ में बढ़ कर २.५३ लाख गाँठें हो गईं, जिनका मूल्य १२ करोड़ रुपये था। इसी प्रकार वर्गीकृत घी का परिमाण १९४२ में ६२००० मन से बढ़ कर १९५६ में १.५ लाख मन हो गया। देश के अन्दर अब उपभोक्ता एगमार्क को शुद्धता और गुण का प्रतीक मानते हैं। वस्तुओं के वर्गीकरण के नमूने देने और परीक्षण कराने में कुछ खर्चा होता ही है। यह अतिरिक्त खर्चा एगमार्क लेबिल लगाने से और शुद्धता और गुणों की विश्वसनीयता प्रदान करने से पूरा हो जाता है।

गुण (Quality) नियन्त्रण

विदेशों को निर्यात करने के लिए जो घी या अन्य सामग्री तैयार होती है, उसके वर्गीकरण के समय और वर्गीकरण के बाद भी गुण नियन्त्रण का विशेष ध्यान रखा जाता है ताकि सामग्री निर्धारित विशिष्टियों के अनुरूप ही हो इसके लिए निम्न लिखित कदम उठाये जाते हैं —

(१) कच्चे माल को ढँक कर रखा जाता है ताकि उसमें धूल, कूड़ा या अन्य बाहरी तत्व न मिल पाये।

घी और वनस्पति तेलों का अनिवार्य रूप से सूँघ कर या रासायनिक परीक्षण भी किया जाता है।

(२) प्रोसेस करने, पैकिंग करने, लेबिल लगाने के समय कड़ी निगरानी रखी जाती है।

अन्न, सन, ऊन और सुअर के बालों के सम्बन्ध में स्वच्छता का अधिक ध्यान रखा जाता है। घी, वनस्पति तेल, मक्खन तैयार करते समय माल को इकट्ठा कर उसे समरस बना देते हैं। यह समरसता की प्रक्रिया योग्य रसायनज्ञों की देख रेख में होती है।

(३) नियन्त्रण प्रयोगशालाओं में विश्लेषक परीक्षण—वर्गीकरण केन्द्रों से आये प्रतिनिधि नमूनों के प्रतिरूपों का इन प्रयोगशालाओं में परीक्षण किया जाता है।

(४) नमूनों का परीक्षण—विपणन कर्मचारी बाजार से नमूने एकत्र कर लेते हैं और उन नमूनों के गुप्त नम्बर नियत कर देते हैं। ये नमूने फिर विभिन्न प्रयोगशालाओं में रिपोर्ट के लिए भेज दिये जाते हैं। उपयुक्त तीन में वर्णित रिपोर्टों से उनकी फिर जाँच की जाती है।

नियन्त्रित मंडियाँ

किसानों को मध्यस्थों की चालबाजी से बचाने के लिए यह अनुभव किया गया कि देश में नियन्त्रित मंडियों की स्थापना की जाय जहाँ वे अपनी पैदावार का ईमानदारी पूर्वक और उचित तराजू से मोलभाव कर सकें, वहाँ स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना हो,

उसके साथ न्यायपूर्ण बर्ताव किया जाय और वहाँ विक्रेता के रूप में उनकी आवाज की मान्यता हो।

इस प्रकार की व्यवस्था करने की दृष्टि से बम्बई, मध्य प्रदेश, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, मैसूर, केरल और उड़ीसा राज्यों में 'राज्य कृषि पैदावार बिक्री अधिनियम' लागू किये गये हैं। अन्य राज्यों में भी शीघ्र ऐसी व्यवस्था की जाने की आशा है। जो मंडियाँ इन नियमों के अधिनियमों के अन्तर्गत आती हैं उन्हें नियन्त्रित मंडियाँ कहा जाता है।

सारे देश में फैली हुई १,८०० मुख्य मंडियों में से उपरोक्त राज्यों में (केरल को छोड़कर) ४२३ मंडियाँ नियन्त्रित की जा चुकी हैं। आशा है द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक ५०० मंडियाँ और नियन्त्रित की जा चुकेंगी।

नियन्त्रित मंडियों में प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त पर कार्य होता है। प्रबन्ध के लिए समिति' बनाई जाती है जिसमें उत्पादकों, व्यापारियों, स्थानीय निकायों (Local Bodies) के प्रतिनिधि और राज्य सरकारों द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं। अधिकांशतया उत्पादकों को इन समितियों में बहुमत प्राप्त है। कई स्थानों पर उत्पादकों का प्रतिनिधि अध्यक्ष भी निर्वाचित हो गया है।

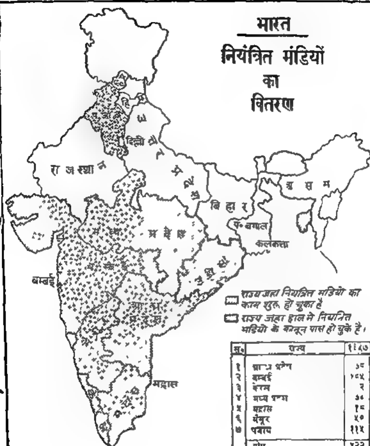
इन नियन्त्रित मंडियों से प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ है कि मंडी शुल्क, जिसमें २८ प्रतिशत से लेकर ६६% तक मिलता है, में कमी हो गई है। इसके अलावा खुली नीलामी में अपनी पैदावार बेचने से किसान को मूल्य अधिक प्राप्त होता है। देखा गया है कि इन मंडियों में बेचने से किसान को १०० रुपये के माल पर २ से ५ रुपये तक की अतिरिक्त आमदनी हो जाती है।

प्रशिक्षण (Training)

विभिन्न विपणन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त कृषि विपणन कर्मचारियों की अत्यावश्यकता है। यह इसलिए और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी विश्वविद्यालय अथवा संस्था में इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधा नहीं है।

१६५५ में इस दिशा में आरम्भिक प्रयत्न किया गया था जब कि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद की पशुपालन शाखा के तत्वावधान में निर्देशालय में पशुधन विपणन का विशेष कार्य शुरू किया गया। बाद में भारत सरकार ने विस्तृत प्रशिक्षण योजना को स्वीकृति दे दी थी, जिसमें पशु जन्य वस्तुओं व अतिरिक्त कृषि उत्पादनों के विपणन में प्रशिक्षण देना सम्मिलित कर लिया गया है।

इस योजना के अन्तर्गत अधिकतम ३० उम्मीदवारों को प्रति वर्ष प्रशिक्षण



सं॰	राज्य	१९५७
१	आन्ध्र प्रदेश	३८
२	बम्बई	१८५
३	केरल	२
४	मध्य प्रदेश	३०
५	मद्रास	१८
६	मैसूर	५०
७	पंजाब	११५
	योग	४२२

देने की व्यवस्था है। राज्य सरकारों द्वारा समर्थित उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाती है।

अनुबन्धों का प्रमापीकरण

केन्द्रीय कृषि-विपणन विभाग द्वारा गेहूँ, तिलहन, मूँगफली, वनस्पति घी के लिए प्रमापित अनुबन्ध शर्तें निर्धारित कर दी गई हैं।

बाजार सूचना सेवा

वस्तुओं की मूल्य स्कन्ध तथा परिवर्तनों सम्बन्धी विपणन सूचनाओं को आल इंडिया रेडियो (A. I R.) द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। ग्रामीण कार्यक्रम में बाजार बन्द होने के समय के मूल्य प्रसारित किये जाते हैं।

केन्द्रीय स्तर पर सूचना सेवा के अन्तर्गत निम्न सूचनाएँ दी जाती हैं :—

(अ) A I R. से नित्य हापुड़ मार्केट मूल्यों का प्रसारित करना,

(ब) A. I. R. द्वारा साप्ताहिक मार्केट रिपोर्ट को प्रसारित करना;

(स) मासिक पत्रिका 'भारत में कृषि स्थिति' (Agricultural Situation in India) तथा साप्ताहिक एव सामयिक मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं को सरकारी उपयोग के लिए प्रकाशित करना।

समितियों की नियुक्ति

कृषि वस्तुओं के उत्पादन तथा विपणन को प्रोत्साहित करने के लिए बहुत सी केन्द्रीय समितियाँ नियुक्त की गई हैं, जैसे—

(१) इंडियन सेन्ट्रल कॉटन कमेटी, बम्बई;

(२) इंडियन सेन्ट्रल जूट कमेटी, कलकत्ता,

(३) इंडियन सेन्ट्रल टोबैको कमेटी, मद्रास;

(४) इंडियन सेन्ट्रल आयल सीड्ज कमेटी, नई दिल्ली;

(५) इंडियन सेन्ट्रल कोकोनट कमेटी, इर्नाकुलाम,

(६) इंडियन सेन्ट्रल शुगरकेन कमेटी, नई दिल्ली;

(७) इंडियन सेन्ट्रल लेक (Lac) सेस कमेटी, राँची;

(८) इंडियन सेन्ट्रल ऐरेकोनोट कमेटी, कोजीकोडे;

(९) आल इंडिया कैटिल शो कमेटी, करनाल, पंजाब।

समग्रहालयों (Warehousing) की व्यवस्था—कृषि विपणन में सुधार लाने के उद्देश्य से कनाडा और यू० एस० ए० के आधार पर भारतवर्ष में भी समग्रहालयों की व्यवस्था की गई है। जून १९५६ में संसद द्वारा एक अधिनियम Agricultural Produce Development and Warehousing Corporation Act पास किया गया। इस अधिनियम के अनुसार Central Ware

दूध प्राप्त होता है और इनके द्वारा अधिकांश मक्खन निर्यात किया जाता है। नार्वे में ८० से ६० प्रतिशत तक दुग्ध विक्रेता सहकारी दुग्धशालाओं के सदस्य थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग २० हजार 'कृषक विपणन तथा क्रय परिषद' थे जिनकी सदस्यता ४० लाख थी। कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा न्यूजीलैण्ड में भी सहकारी विपणन का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत में सहकारी विपणन समितियाँ

सर्वप्रथम भारतवर्ष में सन् १६१२ में सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियों को स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। ये समितियाँ बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से पाई जाती हैं। उद्देश्य के अनुसार इन समितियों को ४ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) कृषि उपज का क्रय विक्रय करने वाली समितियां,

(२) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ,

(३) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियां

(४) कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन का क्रय विक्रय करने वाली समितियाँ।

यद्यपि भारतवर्ष में सहकारी विपणन समितियों का जन्म काफी देर से हुआ फिर भी आज भारत के विभिन्न राज्यों में सहकारी विपणन समितियों में काफी उन्नति हुई है। बिहार में सहकारी विपणन समितियों की संख्या सबसे अधिक है। ये समितियाँ अधिकतर गन्ने की बिक्री से सम्बन्धित हैं। उत्तर प्रदेश का स्थान बिहार के पश्चात् आता है। यहाँ गन्ने और घी की सहकारी विपणन समितियाँ सबसे अधिक हैं। सदस्यों की संख्या की दृष्टिकोण से व माल की बिक्री के आधार पर उत्तर प्रदेश सबसे अग्रणीय है और इस क्षेत्र में इसके पश्चात् बम्बई का स्थान है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी विपणन समितियाँ

कृषि के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश एक सम्पन्न राज्य है। व्यापारिक फसलों में गन्ने का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि के साथ साथ गाँव में पशुपालन प्राय सहायक व्यवसाय के रूप अपनाया जाता है, जिससे घी और दूध की बिक्री के द्वारा हमारे राज्य के किसानों को अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी विपणन समितियों को महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है जिनमें से तीन प्रकार की समितियों को विशेष रूप से। ये समितियाँ हैं साधारण विपणन समितियाँ, घी समितियाँ तथा गन्ना समितियाँ। गन्ना सहकारी विपणन समितियों को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। शक्कर कारखानों की गन्ने सम्बन्धी कुल आवश्यकताओं का लगभग ८५% से ६६% तक गन्ने की पूर्ति इन समितियों द्वारा की जाती है। प्रत्येक कारखाने के फाटक पर एक गन्ना संघ होता है। सन् १६५७-५८

में शक्कर कारखानों ने कुल २६.८१ करोड़ मन गन्ना पेरा, जिसका ६६.६% अर्थात् २५.०१ करोड़ मन गन्ना सहकारी संघों ने पहुँचाया। सहकारी संघों की निजी और कार्यरत पूँजी सन् १९५७-५८ में क्रमशः ३३२.७९ लाख रुपये ४०६.७२ लाख रुपये थी।

उत्तर प्रदेश में सात सहकारी दुग्ध संघ हैं जो लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, मेरठ, हल्द्वानी और अल्मोड़ा में स्थित हैं। सन् १९५७-५८ में दुग्ध संघों ने २.४३ लाख मन दूध इकट्ठा किया। लखनऊ, इलाहाबाद, हल्द्वानी और अल्मोड़ा के संघ प्रगतिशील हैं जब कि कानपुर, वाराणसी, मेरठ को उनके कार्य में हानि हुई है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी घी समितियाँ भी कम महत्व की नहीं। इन समितियों का संगठन 'एक गाँव में एक समिति' के सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। कोई भी व्यक्ति जो गाय रखता है अथवा रखने की इच्छा रखता है इन समितियों का सदस्य हो सकता है। ये समितियाँ अपने सदस्यों से घी, उसके गुण के आधार पर खरीदती हैं। इन समितियों की स्थापना ऐसे क्षेत्रों में की गई है जहाँ घी का उत्पादन अधिक होता है। सहकारी संघ के पास एक अनुसंधानशाला होती है जिसमें सदस्यों के घी की जाँच की जाती है। मिलावट करने वाले सदस्यों को सजा भी दी जाती है।

इसी प्रकार देश के अन्य राज्यों में भी सहकारी विपणन समितियों की स्थापना की गई है जिन्होंने हमारी कृषि विपणन की व्यवस्था के अनेक दोषों को दूर कर दिया है। सहकारी विपणन समितियों द्वारा प्राप्त लाभ संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(१) विपणन की लागत में मितव्ययता,

(२) उचित मूल्य प्राप्त किया जा सकता है,

(३) वस्तुओं की किस्म में सुधार,

(४) सामूहिक सौदा करने की शक्ति के लाभ,

(५) स्थाई पूर्ति और मूल्यों का स्थिरीकरण,

(६) सस्ता अर्थ व्यवस्था।

(७) किसानों को व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान और कुशलता की शिक्षा प्राप्त होती है।

सहकारी विपणन संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक तत्व

Richard Murphy महोदय ने सहकारी विपणन संस्थाओं की सफलता के लिए अनेक महत्वपूर्ण बातों का विवेचन किया है संक्षेप में उनका स्पष्टता इस प्रकार है —

(१) निश्चित उद्देश्य का होना।

(२) सहकारी विपणन संस्थाओं के स्थापित करने का उचित कारण और समुचित आवश्यकता होना चाहिए।

(३) सहकारी विपणन संस्थाओं के द्वारा बेची जानेवाली वस्तुएँ सीमित होना चाहिए।

(४) सदस्यों की सद्भावना एवं स्वामिभक्ति होनी चाहिए।

(५) सहकारी विपणन समितियों के द्वारा किया जाने वाला व्यावसायिक कार्य पर्याप्त होना चाहिए जिससे प्रति इकाई लागत निम्नतम हो।

(६) ऐसी वस्तुओं का विपणन करना चाहिए जिनका बाजार देशी तथा विदेशी दोनों हो।

(७) कुशल प्रबन्ध की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) आदर्श एवं कुशल व्यक्तियों का नेतृत्व (leadership) होना चाहिए।

सहकारी विपणन समितियों की धीमी प्रगति के कारण

उपरोक्त लाभों के होते हुए भी इन समितियों को कुछ बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिसके कारण देश में सहकारी विपणन समितियों का विकास पूर्णतया नहीं हो पाया है। इसके लिए उत्तरदायी प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) पर्याप्त तथा कुशल तान्त्रिक सलाह का अभाव,

(२) विपणन वित्त प्रदान करने में असुविधाएँ,

(३) सहकारी अधिकारियों में व्यापारिक योग्यता का अभाव,

(४) पर्याप्त संग्रह सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव,

(५) निरन्तर प्रति के बाजार भावों की सूचना का अभाव,

(६) अपर्याप्त यातायात सुविधायें,

(७) नियन्त्रित बाजारों का अभाव,

(८) व्यापारियों द्वारा प्रतियोगिता,

(९) सदस्यों में स्वामिभक्ति का अभाव, तथा

(१०) देश में सहकारिता के सिद्धान्त की उपेक्षा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य

योजना काल में १० हजार से अधिक बड़े पैमाने की साख समितियों तथा १६०० विपणन समितियों की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। सहकारिता की तृतीय सभा (१९५६) में समितियों की स्थापना सम्बन्धी वर्षानुसार निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं —

वर्ष	साख समितियाँ	विपणन समितियाँ
१९५६-५७	१,७१५	३१८
१९५७-५८	२,६८४	४७१
१९५८-५९	३,६००	६००
१९५९-६०	..	४११
१९६०-६१	२,४०१	...

प्रश्न

1. Mention briefly the difficulties of the Indian cultivator under which he sells his produce. What remedial measures have been adopted to remove these difficulties? *(Agra, 1960)*

2. Discuss the main problems of agricultural marketing in India. Suggest suitable remedies. *(Agra, 1959)*

3. What is the importance of co-operative marketing in the rural economy of India? What are the difficulties in making it more widespread and successful? Suggest remedies. *(Agra, 1957)*

अध्याय १२

भारत में अकाल

(Famines in Ind a)

अकाल का अर्थ—अकाल का अर्थ समय की गति के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। प्राचीन काल में अकाल का अर्थ अन्न के अभाव और तदनुसार कष्ट और मृत्यु से लगाया जाता था। सन १८६७ में स्थापित **अकाल आयोग**(Famine Commission) ने भी अकाल शब्द की व्याख्या इसी अर्थ से प्रभावित होकर की थी। "अकाल का अर्थ खाद्यान्नों के अभाव में बहुत बड़ी जनसंख्या का भूख से पीड़ित होना है।"* सामाजिक विज्ञान के विश्वकोष के अनुसार भी, "अकाल ऐसी स्थिति को कहते हैं जब कि साधारण रूप से उपलब्ध खाद्यान्न पूर्ति के अभाव के फल स्वरूप किसी क्षेत्र की जनता को तीव्र क्षुधानल का अनुभव होता है।"** इसके विपरीत आधुनिक काल में अकाल का अर्थ, वस्तुओं की मँहगाई, बेकारी, धनाभाव तथा यातायात के साधनों की अपर्याप्तता से लगाया जाता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में क्रय शक्ति का अभाव ही अकाल का द्योतक है। आधुनिक अकाल मुद्रा के अभाव का सूचक है न कि खाद्यान्न के अभाव का, क्योंकि खाद्यान्न की कमी अन्न के आयात के द्वारा दूर की जा सकती है। आधुनिक काल में किसी क्षेत्र विशेष में यदि अकाल पड़ जाता है तो उसका प्रभाव उसी क्षेत्र तक सीमित न रहकर सारे देश में ध्वनि तरंगों की भाँति प्रसारित हो जाता है।

अकाल के कारण—अकाल के कारणों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष।

प्रत्यक्ष कारण—इनके कारणों को तात्कालिक, आकस्मिक, प्राकृतिक तथा मूल भूत कारण भी कहते हैं। संक्षेप में इनका विवेचन इस प्रकार है —

(१) अनावृष्टि (Drought)—साधारण रूप से कृषि इन्द्र भगवान की

---

* As suffer ng from hunger on the part of large classes of population —*Fam ne Comm ssion 1867*

** The state of extreme hunger on the part of large classes of p pulation (*Encyclo, aed a of Social Sciences*) Vo V, p 85

अनुकम्पा पर आधारित होती है। भारतवर्ष में यह तथ्य एक कटु सत्य है कि 'जिस वर्ष भी वर्षा का अभाव हो जाता है, कृषि उद्योग में ताला पड़ जाता है।' यही कारण है कि भारतीय कृषि को 'मानसून का जुआँ' (gamble in rains) की संज्ञा दी गई है। औसत रूप में प्रत्येक ५ वर्ष में एक वर्ष सूखा तथा प्रत्येक दस वर्ष में एक वर्ष अकाल का वर्ष होता है।

(२) अतिवृष्टि (Excessive Rains)—अकाल पड़ने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण अतिवृष्टि है। जिस वर्ष आवश्यकता से अधिक वर्षा हो जाती है उस वर्ष खेती का सर्वनाश हो जाता है। अति वृष्टि होने से खेतों में पानी भर जाता है जो खड़ी फसल को गला देता है। भारतवर्ष में यह दृश्य साधारण रूप से दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इस प्रकार अनावृष्टि और अतिवृष्टि दोनों ही कृषि उद्योग की समृद्धि के लिए हानिकारक हैं।

(३) बाढ़ एवं भूमि का कटाव—अति वृष्टि के फलस्वरूप नदियों और नालों में बाढ़ आ जाती है जो दूर दूर तक फसलों को नष्ट कर डालती है। इसका एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि भूमि का कटाव तथा भूमि क्षरण प्रारम्भ हो जाता है।

(४) प्राकृतिक प्रकोप—वैज्ञानिक तथा आर्थिक क्षेत्र में पिछड़े होने के कारण कृषि के दुश्मन जैसे टिड्डी, दीमक, चूहे, घुन तथा अन्य कीड़े मकोड़े अपना दाँव दिखाये बिना नहीं रहते। ओला, पाला तथा चक्रवात (cyclone) भी अपना परिचय कभी कभी दे जाते हैं। इसी कारण से भारतीय किसान अति प्राचीन काल से भाग्यवादी (fatalistic) बना हुआ है।

अप्रत्यक्ष कारण—इन कारणों को आर्थिक, कृत्रिम, तथा सर्वकालिक कारण कहते हैं। संक्षेप में इनका विवेचन निम्न प्रकार है —

(१) जङ्गलों की सफाई—वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिन स्थानों पर जङ्गल अधिक होते हैं वहाँ वर्षा भी अधिक होती है। यही नहीं घने जङ्गल बाढ़, भूमि का कटाव तथा भूमि क्षरण को भी रोकने में सहायक होते हैं। भूमि के अभाव तथा अदूरदर्शिता के कारण जङ्गलों का बड़ा निर्दयता से विनाश किया जा रहा है। परिणामस्वरूप भूमि सूखा कर मरुभूमि का रूप धारण करती जा रही है और बाढ़ तथा भूमि कटाव अपना ताण्डव नृत्य दिखलाते जा रहे हैं। जङ्गलों की उपयोगिता को समझते हुए उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी ने वन महोत्सव प्रारम्भ किया था और अब वह एक पर्व के रूप में माना जाने लगा है।

(२) भूमि की उर्वरा शक्ति का क्रमिक ह्रास—वैज्ञानिक उपचारों का प्रतिपालन न होने के कारण भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जा रहा

अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी। साम्राज्य प्रसार तथा धन के प्रलोभन से प्रेरित होकर राजा महाराजा लोग अन्य राज्यों पर आक्रमण किया करते थे और विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से खेती को नष्ट कर देते थे तथा लूट खसोट करके वहाँ के आर्थिक जीवन को अस्त व्यस्त कर देते थे, फलत लोग भूख से मरने लगते थे।

अकाल के प्रभाव—अकाल जन्य प्रभावों को लेखनी बद्ध करना विनाशता की मूर्ति को साकार करना है। इसके दुष्परिणाम आर्थिक, नैतिक और सामाजिक तीनों ही रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

(१) **श्रम शक्ति का विनाश**—अकालों के परिणामस्वरूप असंख्य लोग काल के गर्त में चले जाते हैं। कहा जाता है कि १८७५-१९०० के बीच में लगभग २ करोड़ ६० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। १९०१ में अकाल आयोग ने तत्कालीन अकाल के परिणामस्वरूप कालकवलित व्यक्तियों की संख्या ५० लाख आंकी थी। यद्यपि आधुनिकतम आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथापि भारी मृत्यु दर का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है।

(२) **सामाजिक विघटन (Social Disintegration)**—अकाल का दुष्परिणाम केवल आर्थिक ही नहीं होता बल्कि सामाजिक भी होता है। इसके फलस्वरूप अनेक सामाजिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा १९४३ में की गई खोज के अनुसार बंगाल के २४.७% परिवारों का सामाजिक विघटन तत्कालीन अकाल के कारण हुआ। इस विभाग की रिपोर्ट पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस अकाल में असंख्य विधवाएँ, लड़कियाँ और अनाथ लाचार से घूम रहे थे। आर्थिक एवं भावुक स्थिति ने युवा, वृद्ध स्त्रियों को अपना शील विक्रय के लिए बाध्य कर दिया था। पुरुषों ने अपनी स्त्रियों को भगा दिया था, स्त्रियों ने अपने बीमार पतियों को छोड़ दिया था, बच्चों ने अपने वृद्ध एवं असहाय माँ बाप को त्याग दिया था तथा माँ बाप अपने घर-बार को छोड़ कर लाचारी में घूम रहे थे।*

(३) **बेकारी की समस्या**—अकाल के फलस्वरूप मजदूरों को एक बहुत बड़ी संख्या में बेकार हो जाना पड़ता है और उनकी कार्यक्षमता भी कम हो जाती है।

---

* Husbands have driven away wives, and wives have deserted ailing husbands children have forsaken aged and disabled parents and parents have also left home in despair brothers have turned deaf ears to the entreaties of the hungry sisters and widowed sisters maintained for years together by their brothers have departed at the time of direst need Tales of such woes blacken the face of our records and show where civilisation stands when faced with the periodical needs of man"—*Report of the Deptt of Anthropology of Calcutta University*

अकाल में अपर्याप्त तथा अपौष्टिक भोजन मिलने के कारण अनेक भयावह रोग फलत हैं जिससे जन सम्पत्ति की अत्यधिक हानि होती है।

(४) आर्थिक विकास में बाधा—अकाल के फलस्वरूप कृषि उद्योग में अनिश्चितता आ जाती है। कृषि सम्बन्धी क्रियाएँ लगभग समाप्त हो जाती हैं। किसान की क्रय शक्ति कम हो जाती है और अन्ततोगत्वा देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ जाती है।

(५) पशु सम्पत्ति की हानि—अकाल में न केवल खाद्यान्न का ही अभाव हो जाता है बल्कि भूसे और चारे की भी कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप हमारी कृषि के आधार पशुगण भी काल कवलित हो जाते हैं। कहना न होगा कि पशु सम्पत्ति की हानि आर्थिक हानि होती है।

(६) राज्य को हानि—अकाल के दुष्परिणाम केवल जनता जनार्दन को ही प्रभावित नहीं करते बल्कि सरकार को भी प्रभावित करते हैं। अकाल निवारणार्थ बढ़ता हुआ खर्च तथा घटती हुई आय मिल कर राज्य की अर्थ व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर देते हैं। इसके फलस्वरूप साधारण सामाजिक विकास भी रुक जाता है।

ऐतिहासिक मीमांसा

अध्ययन की सुविधा के विचार से हम अकाल के इतिहास को पांच विभागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) हिन्दू शासन काल,
(२) मुस्लिम शासन काल,
(३) ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन काल,
(४) ब्रिटिश शासन काल, तथा
(५) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

हिन्दू शासन काल—भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से अकाल अपना रूप दिखलाते रहे हैं। कोई भी ऐसी पीढ़ी नहीं होगी जिसने इन प्राकृतिक प्रकोपों की लीला न देखी हो। अतः भारतवर्ष को लोग महामारी के रूप में 'अकालों का देश' भी कहते हैं। हिन्दू काल में भारत में ऐसा कोई भी अकाल नहीं पड़ा जिसको देश व्यापी अकाल कहा जा सके। इस काल में सबसे पहला अकाल सन् ६५० ई० में पड़ा। इसके पश्चात् क्रमशः सन् ९४१, १०२२, तथा १०३३ में अनेक अकाल पड़े जिससे बहुत से राज्य (प्रान्त) सुनसान हो गये और मानव दानव के रूप में परिणत हो गया। दसवीं शताब्दी में कश्मीर में सन् ९१७ ई० में एक बहुत ही भयंकर अकाल पड़ा जिसकी भयंकरता का अनुमान कल्हण की राजतरंगणी के वर्णन से होता है। "झेलम में पानी कहीं नहीं दिखाई देता था, वह बिलकुल पटी हुई थी क्योंकि लाशें

जो दीर्घकाल से उसम पड़ी हुई थीं सड़ और फूल रही थीं। भूमि हड्डियों से बने रूप में पूर्णतया ढँकी हुई थी और वह एक श्मशान के रूप में परिवर्त हो गई थी, जिसको देख कर आत्मा सिहर उठती थी। राजा, मन्त्री और रक्षक धनवान बन गये ये क्योंकि वे चावल को ऊँची मूल्यों पर बेचते थे। राजा ऐसे व्यक्तियों को मन्त्री बनाता था जो प्रजा को बेच कर उसे अधिकतम अधिक धन प्रदान कर सके।"

जब कभी देश में अकाल पड़ता था हिन्दू राजा लोग उनके निवारणार्थ अनेक साधनों को अपनाते थे। अर्थशास्त्री चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में अकाल निवारण के लिए अनेक उपाय बतलाये हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं —

(१) कर माफ करना,

(२) देश निष्कासन,

(३) राज्य कोषों से धन तथा अनाज का वितरण,

(४) कृत्रिम झीलों, तालाबों तथा कुओं का निर्माण,

(५) अनाज का आयात इत्यादि।

मुस्लिम शासन काल में अकाल—मुस्लिम शासन काल में अनेक भयंकर अकाल पड़े। इतिहासकारों ने अनेक अकालों के बारे में दयनीय कथायें लिखी हैं जिनमें से चार अकाल बहुत ही मार्मिक हैं। मुहम्मद तुगलक के समय में सन् १३४३ई० में बहुत ही भयंकर अकाल पड़ा जो देशव्यापी था। इस अकाल के निवारण के लिए मुहम्मद तुगलक ने "दिल्ली की सम्पूर्ण जनता के लिए छः महीने तक मुफ्त अनाज बाटने के लिए, रेंगों करने तथा कुएँ खोदने के लिए अग्रिम राशि देने की आज्ञा दी।"* इस अकाल में शहर और जिले मनुष्यों से खाली हो गये और मनुष्यों को अप्राकृतिक भोजन जैसे खालें, आदमियों का मांस तथा जानवरों का खून पीने के लिए बाध्य होना पड़ा।

सम्राट् अकबर के शासन में भी इसी प्रकार का भयंकर अकाल पड़ा। सम्राट् ने पूरे हिन्दुस्तान में दान बाटने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् शाहजहाँ के शासन काल में सन् १६३० ई० में बहुत भयंकर अकाल पड़ा। सम्राट् द्वारा अत्यधिक उदारता पूर्ण नीति अपनाने के पश्चात् भी दैवी प्रकोप को कम न किया जा सका। चौथा अकाल औरंगजेब के शासन काल में सन् १६८६ में पड़ा। औरंगजेब ने भी बहुत ही उदारता का परिचय दिया परन्तु अकाल पीड़ित अभागे मनुष्यों का कोई विशेष लाभ न हुआ। इन चार महत्त्व अकालों के अतिरिक्त अनेक और भी अकाल पड़े जो इतना को कम्पित कर देते हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में—अकाल आयोग १८८० की रिपोर्ट के

*Elliot *History of India*

अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी के काल में १२ अकाल और चार तात संगे (scarcities) पड़े। इस काल में सर्वप्रथम १६३० में अकाल पड़ा जिसमें गुजरात की ⅓ जनता समाप्त हो गई और अनेक स्थान मानवरिक्त हो गये। इस काल में सबसे बड़ा अकाल १७७० में पड़ा। इस अकाल में लगभग एक करोड़ व्यक्ति मरे। १८३३ में मद्रास में एक बहुत बड़ा अकाल पड़ा जिसको गुन्तूर अकाल (Guntur famine) कहते हैं। ऐसा अनुमान है कि गुन्तूर की ५ लाख की आबादी में से २ लाख आदमी मर गये। सन् १८३७ में अनावृष्टि के कारण उत्तर भारत में एक भीषण अकाल पड़ा जिसमें ८० लाख से अधिक व्यक्ति मर गये। इस अकाल के सम्बन्ध में लार्ड लारेंस ने लिखा है कि "मैंने अपने जीवन काल में इतना विनाशकारी दिवस नहीं देखा है जैसा १८३७ में पड़ा है।"

ब्रिटिश शासन काल—सन् १८५८ में भारत का शासन पूर्णतया इंगलैंड के आधिपत्य में आ गया। इस काल में दस बड़े बड़े अकाल और अनेक छोटे मोटे अकाल पड़े। पहला अकाल सन् १८६० ६१ में पड़ा जिससे दिल्ली व आगरा के क्षेत्र प्रभावित हुए। १८६६ ६७ में बहुत बड़ा अकाल पड़ा जिससे देश का लगभग प्रत्येक प्रान्त प्रभावित हुआ। सन् १८६६ में अकाल के कारण लगभग ६ करोड़ लोग भूखों मर गये। बीसवीं शताब्दी में अकालों की कुछ संख्या कम रही। सबसे भयंकर अकाल ब्रिटिश काल में सन् १६४३ में बंगाल में पड़ा जिसमें लगभग ३५ लाख व्यक्ति मरे।

बंगाल का अकाल सन् १६४३—यह अकाल बीसवीं शताब्दी का सबसे भीषण अकाल कहलाता है। लार्ड एमरी के अनुसार इस अकाल में लगभग १० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई परन्तु यह संख्या गलत मालूम होता है। औसत रूप में बंगाल में लगभग ५० हजार व्यक्ति प्रति सप्ताह काल कवलित हो जाते थे। कलकत्ता विश्व विद्यालय के पुरातत्व विभाग की खोज के अनुसार इस अकाल में लगभग ३४ लाख ५५ हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इस अकाल ने बंगाल के आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन को एकदम नष्ट कर दिया था। निर्धनता के कारण लोग स्वर्गवासी व्यक्तियों की अन्त्येष्टि क्रिया भी नहीं कर पाते थे और लाशों को नदी-नालों में फेंक दिया जाता था। पुरुष, स्त्री, बच्चों का खुले आम क्रय विक्रय हुआ। छोटी-छोटी बालिकाओं को वेश्यावृत्ति का पेशा अपनाना पड़ा। वेश्यालयों में बेची जाने वाली लड़कियों की दर केवल १½ रुपया था। बंगाल नेशनल चेम्बर आफ कामर्स के अध्यक्ष श्री जे० के० मित्तर ने कहा था कि, 'ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नंगे लोगों का विश्रामगाह बन रहा है।"

इस अकाल के निवारणार्थ बंगाल सरकार ने लगभग ११½ करोड़ रुपये व्यय किये। सरकार ने ५,४४२ सहायतार्थ भोजनालय खोले। परन्तु ये भोजनालय भी

अपर्याप्त थे। यही नहीं इन भोजनालयों में दिया जाने वाला भोजन भी अमानवीय था। वास्ते कौंसिल के अनुसार "सहायतार्थ भोजनालय ऐसी संस्था नहीं थी जो मनुष्यों को बचाती। यह केवल मृत्यु को कुछ दिनों के लिए टाल देती थी। यह केवल श्मशान की ओर पहला कदम था।"

बंगाल के भीषण अकाल के कुछ विशेष कारण थे जिनकी संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है :—

(१) सन् १६४२ में ब्रह्मा द्वारा जापान को आत्म-समर्पण;
(२) युद्ध-जन्य मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्यों में वृद्धि,
(३) सामाजिक दृष्टिकोण से खाद्यान्न का संग्रह बंगाल से हटाना;
(४) बंगाल के बहुत से जिलों की फसलों का नष्ट होना;
(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा लंका को चावल निर्यात किया जाना,
(६) व्यापारियों की स्वार्थपूर्ण संग्रह नीति तथा चोर बाजारी;
(७) यातायात के साधनों की दुर्लभता, तथा
(८) दोषपूर्ण सरकार की वितरण नीति।

सन् १६४४ में बंगाल के अकाल के कारणों की जाँच करने के लिए वुडहेड आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये। जैसे—

(अ) २५,००० या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगरों में तुरन्त राशनिंग प्रथा लागू कर दी जाय,

(ब) अनाज के व्यापारियों को लाइसेंस देते समय सरकार को कड़ी नीति अपनानी चाहिए;

(स) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को सुदृढ़ बनाया जाय;

(द) निश्चित सीमा से अधिक भूमि रखने वाले किसानों को सरकारी नियन्त्रण में लाया जाय और ५० एकड़ भूमि अधिकतम सीमा निश्चित की जाय; तथा

(य) अतिरिक्त अनाज वाले स्थानों पर कड़ा नियन्त्रण किया जाय।

स्वतंत्रता के पश्चात्—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में कोई भयंकर अकाल नहीं पड़ा। हाँ खाद्यान्न का अभाव अवश्य प्रतीत होता रहा है। सरकार की सामयिक सहायता, सतर्कता तथा बुद्धिमत्ता के कारण जनता को यह भी अधिक खला नहीं है। विगत कुछ वर्षों से भारत में खाद्य संकट अवश्य बना रहा है जिसके लिए प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों ही कारण समान रूप से उत्तरदायी हैं। इन कारणों का विस्तार से अध्ययन खाद्य-समस्या के अन्तर्गत अध्याय १३ में किया गया है।

अकाल निवारणार्थ प्रयत्न (Famine Relief Measures)—अकाल निवारण के प्रयत्न प्रधानतः खेती का उत्पादन बढ़ाने और सर्व साधारण की क्रय शक्ति

को बढ़ाने से सम्बन्धित होना चाहिए। खेती का सर्वाङ्गीण विकास ही भारतीय अकाल की समस्या का एकमात्र उपाय हो सकता है। जनता को अकाल की आपत्तियों से सदैव रक्षित रखने के लिए कुछ स्थायी सुधारों की भी आवश्यकता होगी जैसे भारतीय खेती का पुनर्गठन, सिंचाई के साधनों का विकास, खाद्यान्न के वितरण पर नियन्त्रण, यातायात के साधनों का विकास, खेती के प्राकृतिक शत्रुओं से बचाव तथा अकाल निवारण कोष की स्थापना आदि।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में (हिन्दू और मुस्लिम शासन काल में) अकाल निवारण का कोई समुचित एवं स्थायी नीति नहीं अपनाई गई। जब कभी अकाल का प्रकोप होता था तत्कालीन शासकगण अपने राज्यों में अस्थायी निर्माण कार्य प्रारम्भ कर देते थे उदाहरणार्थ वे नहरें और तालाब खुदवाते थे, सड़क और इमारतों का निर्माण कराते थे, सरकारी गल्लाखाने से धन और अन्न का वितरण बड़ी उदारता के साथ किया जाता था। यही नहीं वे लोग अकालग्रस्त जनता को मुफ्त भोजन, लगान में छूट तथा तकावी ऋण आदि भी दिया करते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी इन्हीं शासकों की नीति का अनुकरण किया। मुफ्त भोजन, अनाज व सहायता दिया जाता था खाद्यान्न के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया था परन्तु फिर भी यातायात के साधनों की दुर्लभता के कारण असंख्य व्यक्तियों को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी।

आधुनिक सहायता कार्य—आधुनिक सहायता कार्य का सगठन सर्वप्रथम १८६० में किया गया। इस समय तक अकालों का स्वरूप बदल चुका था। अब अकाल खाद्यान्न के अभाव के कारण नहीं बल्कि क्रयशक्ति एवं रोजगार के अभाव के कारण होने लगे। सन् १८६० में आधुनिक अकाल संहिता (Modern Famine Codes) का निर्माण किया गया। इस संहिता के अनुसार जनसंख्या का विभाजन तीन श्रेणियों में किया गया। प्रथम वे लोग जो शारीरिक परिश्रम करने योग्य थे, द्वितीय वे लोग जो निर्धन और असहाय थे परन्तु कुछ कर सकते थे और तृतीय वे लोग जो बिलकुल असहाय थे। सन् १८६५-६७ में उड़ीसा के अकाल ने उपरोक्त नियमों को असफल कर दिया।

फलस्वरूप सन् १८६७ में सर जॉन कैम्पबेल की अध्यक्षता में सरकार ने अकाल जाँच आयोग की नियुक्ति की। यह प्रथम अकाल आयोग था। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने घोषित किया कि उसकी मुख्य नीति जनता के जीवन की रक्षा करना है। सन् १८८० में सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में सरकार ने एक और अकाल आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने सरकार की भावी अकाल निवारण नीति के सिद्धान्तों की नींव डाली। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार सन् १८८३ में प्रान्तीय अकाल कानूनों का निर्माण किया गया। इन कानूनों का परीक्षण सन्

१८९६-९७ तथा सन् १८९९ १९०० के अकालों द्वारा किया गया। ये कानून पूर्णतया सफल निकले।

वर्तमान अकाल निवारण नीति—वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो प्रधान अंग हैं—प्रथम अकाल पीड़ितों को तत्कालीन सहायता पहुँचाना तथा द्वितीय अकाल की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दीर्घकालीन प्रबन्ध करना। तत्कालीन सहायता कार्य को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) चेतावनी कार्य, (२) सुविधानुसार सहायता कार्य, तथा (३) जीवन रक्षा कार्य। सन् १९४३ में बंगाल के भीषण अकाल ने उपरोक्त सिद्धान्तों को असफल कर दिया। परिणामस्वरूप सन् १९४५ में सर जान वुडहेड की अध्यक्षता में एक अकाल जाँच आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने सरकार के सम्मुख दो रिपोर्ट प्रस्तुत की। पहली रिपोर्ट में तो बंगाल के अकाल के कारणों का विवेचन था और दूसरी रिपोर्ट में आयोग ने भावी अकालों की रोक-थाम के लिए महत्वपूर्ण सुझावों को दिया था। इन सुझावों के सम्बन्ध में ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी लोकप्रिय सरकार ने अकाल संकट को दूर करने के लिए खेती के सर्वांगीण विकास पर काफी ज़ोर दिया। खेती का विकास योजनात्मक ढंग पर किया जा रहा है और कृषि सम्बन्धी ठोस नीति को अपनाया गया है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय योजनाओं पर क्रमशः १०१८ करोड़ रुपये, १४८१ करोड़ रुपये तथा १५०० करोड़ रुपये कृषि एवं सिंचाई के विकास पर व्यय किये जाने के लिए नियत किये गये हैं। ये धनराशि योजनाओं में किये जाने वाले कुल व्यय की क्रमशः ४३.२%, ३०.८% तथा १५% है। आशा की जाती है कि इन योजनाओं के सफल हो जाने पर हमारे देश से अकाल का संकट सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा।

प्रश्न

1. Write a short note on 'Early Famines in India' (*Agra, 1955*)
2. What were the causes responsible for the frequent outbreak of famines in this country? What measures would you suggest for preventing their recurrence in future? (*Agra, 1954*)

अध्याय १३

खाद्य-समस्या

(Food Problem)

भारतवर्ष की अनेक गम्भीर समस्याओं में से खाद्य समस्या का स्थान सर्वोपरि है। देश के राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क में इस समस्या ने एक दर्द उत्पन्न कर दिया है। अनेक प्रयत्नों के पश्चात् भी वे लोग इस समस्या को सुलझाने में असफल रहे हैं। आज हम आयात किये गये अन्नों पर आश्रित रहने लगे हैं। यह कहते हुए हम लज्जा और शोक का अनुभव होता है। भारत अनादि काल से एक कृषि प्रधान देश रहा है और यहाँ पर दूध और घी की नदियाँ बहती रही हैं। आज भी अधिकांश जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ८२.७% जनसंख्या ग्रामीण है और कुल जनसंख्या के ६९.४% व्यक्ति अर्थात् २४.९ करोड़ व्यक्ति प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से खेती में ही लगे हुए हैं। कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत के लिए यह वास्तव में शोक, लज्जा व आश्चर्य की बात है कि वह अपनी खाद्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशों पर निर्भर रहे।

खाद्य समस्या के पक्ष (Aspects of Food Problem)—हमारी खाद्य-समस्या केवल अन्नाभाव की ही नहीं है वरन् गुण विषयक (Qualitative) तथा प्रशासन (Administrative) सम्बन्धी भी है। इस प्रकार खाद्य समस्या के तीन पक्ष हैं —

(१) मात्रा सम्बन्धी (Quantitative),

(२) गुण सम्बन्धी (Qualitative), तथा

(३) प्रशासन सम्बन्धी (Administrative)।

१—परिमाणात्मक अथवा मात्रा सम्बन्धी पक्ष

(Quantitative Aspect)

आज हमारी खाद्य उपज इतनी कम हो गई है कि जनता के उदर पोषण के लिए हम प्रति वर्ष लाखों टन अनाज विदेशों से आयात करना पड़ता है। सन् १९५७ और १९५८ में क्रमशः ३६ और ३२ लाख टन अनाज विदेशों से आयात किया गया। खाद्य समस्या ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेने का एक कारण यह भी है कि हमारे देश की जनसंख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। जन

संख्या की समस्या और खाद्य समस्या एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी, कैलीफोर्निया के प्राध्यापक डॉ० हैरीसन ब्रोउन ने जनवरी १९५९ में कहा है कि "यदि संसार की जनसंख्या इसी प्रकार उन्नतम दर से बढ़ती गई तो एक दिन इस धरती पर इतने अधिक मनुष्य हो जायेंगे कि उनको अपने छत पर अनाज उगाना सीखना पड़ेगा।"

यदि यह मान लिया जाय कि भारतवर्ष में सदैव से अन्न का संकट बना रहा है तो एक असम्य भूल होगी। सन् १८८० के अकाल आयोग (Famine Commission) ने इंगित किया था कि भारत में ५० लाख टन खाद्यान्नों का आधिक्य रहता है। कुछ समय तक कदाचित् सिंचाई की उन्नति ने जनसंख्या की वृद्धि और उपलब्ध खाद्य पूर्ति के बीच एक प्रकार का साम्य बनाये रखा किन्तु मालूम होता है कि जनसंख्या की वृद्धि ने खाद्य पूर्ति को पछाड़ दिया। ३४ वर्ष के पश्चात् अर्थात् सन् १९१४ मूल्य जाँच समिति (Prices Enquiry Committee) ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि देश में जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है, खाद्यान्नों के अन्तर्गत कृषि भूमि का क्षेत्र उसी तेजी से नहीं बढ़ रहा है जिसके फलस्वरूप जनसंख्या और खाद्यान्न के पूर्ति के बीच का सन्तुलन समाप्त हो रहा है।

सन् १९२१ में भारतवर्ष एक शुद्ध आयातकर्ता देश बन गया। इसके पूर्व यह एक निर्यातकर्ता देश था। इस वर्ष से भारतीय कृषि के इतिहास में एक नये अध्याय का आगमन होता है। सन् १९४१ ई० में जनसंख्या सूचक अंक ११७ (आधार वर्ष १९०१) था, जब कि खेती किये गये क्षेत्रफल का सूचक अंक ११६ था। इस प्रकार जनसंख्या ने खाद्य समस्या की दौड़ में पीछे पछाड़ दिया और माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण दिया। भारत सरकार ने सन् १९३३ में सर जान मीगा (Sir John Megaw) को आवश्यक जाँच करने के लिए नियुक्त किया। उनके अनुसार, "उस समय लगभग ४०% गावों की जनसंख्या अन्न उत्पादन की दृष्टि से अधिक थी। उस समय ३९% जनसंख्या को पूरा भोजन, ४१% जनसंख्या को अधूरा भोजन, तथा शेष २०% जनसंख्या के लिए भोजन मिलना या न मिलना बराबर था।" सन् १९३४ में डा० राधाकमल मुकर्जी ने अनुमान लगाया था कि एक साधारण वर्ष में भारत की खाद्य उपज उसकी केवल ८८% जनसंख्या के लिए ही पर्याप्त होती है।

सन् १९३७ में बर्मा के देश से अलग हो जाने के कारण खाद्यान्न का और भी अभाव हो गया। बर्मा से भारत को पर्याप्त मात्रा में चावल प्राप्त होता था। फलस्वरूप चावल के अभाव को बर्मा, जापान तथा अन्य देशों के आयात से पूरा किया जाने लगा। सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण खाद्य-समस्या का रूप और भी भयानक हो गया। देश की आवश्यकताओं के अतिरिक्त भारत पर मित्र राष्ट्रों

की सेनाओं को अन्न देने का उत्तरदायित्व दिया गया। इस प्रकार एक ओर तो अन्न की माँग बढ़ रही थी और दूसरी ओर अन्न का उत्पादन घट रहा था। सन् १९४३ में बंगाल के भीषण अकाल ने, जिसमें कि लगभग ३५ लाख व्यक्ति काल कवलित हो गये, खाद्य-समस्या को और भी गम्भीर बना दिया। इस समय तक विदेशों से खाद्यान्नों के आयात भी लगभग बन्द हो गये क्योंकि चीन, थाईलैण्ड, जावा तथा इंडोचीन जैसे देश, जिन पर कि भारतवर्ष अपने आयात के लिए निर्भर रहता था, दुश्मन राष्ट्रों द्वारा अधिकार में ले लिये गये।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही १५ अगस्त १९४७ को देश के विभाजन ने भारत के भाग्य को एक नया मोड़ दिया। देश के बहुत से उपजाऊ भाग जैसे पंजाब का नहरों वाला क्षेत्र, जूट तथा रुई उगाने वाला अधिकांश भाग पाकिस्तान क्षेत्र में चला गया। फलतः देश में लगभग ८ लाख टन अनाज की और कमी हो गई। विभाजन के फलस्वरूप भारत को हुई क्षति का स्पष्ट ब्यौरा निम्न तालिका से ज्ञात होगा —

(आँकड़े लाखों में)

	भारत	पाकिस्तान	भारतीय क्षति
क्षेत्रफल (वर्गमील)	१२	३ ५	२२%
जनसंख्या	३,३२७	६६१	१७%
जंगल (एकड़)	६२५	५२	८%
कृषि योग्य भूमि (एकड़)	२,०६८	५५२	२१%
सिंचित भूमि (एकड़)	३६०	१६५	३३%
अन्न (टन)	४०७	१३५	२५%
गन्ना (टन)	४५	८	१५%
तिलहन (टन)	५०	२	४%
रुई (गांठें)	२१	१४	४०%
जूट (गांठें)	१४	६३	८२%
तम्बाकू (टन)	३	१	२५%
धान (टन)	१२०	८५	४२%
गेहूँ (टन)	५६	३१	३४%

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्यान्न का उत्पादन और भी घट गया। सन् १९५०-५१ में खाद्यान्न का उत्पादन ४१.७४ मि० टन था जब कि १९४९-५०, १९४८-४९ तथा १९४७-४८ में यह उत्पादन क्रमशः ४६.०२, ४३.२, तथा ४३.७४

मिलियन टन था। अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन द्वारा किये प्रयत्नों के बावजूद भी खाद्यान्न उत्पादन घटता ही चला गया क्योंकि :—

(१) नई ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने पर अधिक जोर दिया गया और पहले से उपयोग में लाई जाने वाली भूमि का उत्पादन नहीं बढ़ाया गया।

(२) आन्दोलन के अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं की अकुशलता तथा बेईमानी।

(३) आन्दोलन के साथ किसानों का अपूर्ण सहयोग।

(४) खाद्यान्नों की अपेक्षा व्यापारिक फसलों पर जोर।

सन् १६४७ से सन् १६५१ तक की खाद्य स्थिति का विवेचन करना व्यर्थ ही है, क्योंकि उस समय देश में राजनीतिक उथल पुथल का समय था, जिससे भूमि सुधार करने तथा कृषि उत्पादन में सुधार लाने में सरकार कोई स्थिर तथा ठोस नीति नहीं बना सकी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१६५१-५६) काल में सिंचित भूमि के क्षेत्रफल में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। इस वृद्धि के मूल कारण खाद्यान्नों पर से मूल्य नियन्त्रण का हटाया जाना और अन्न संग्रह पर से प्रतिबन्धों का अन्त किया जाना था। इस प्रकार सभी प्रतिबन्धों के अन्त किये जाने से उत्पादकों में नई आशा का संचार हुआ। उन्हें अब प्रसन्नता थी कि वे खाद्यान्नों में मूल्य वृद्धि करके खूब लाभ कमा सकेंगे। किन्तु १६५३ और १६५४ में दो लाभकारी मानसूनों ने देश की खाद्यान्न की स्थिति को बिल्कुल बदल दिया। उत्पादन इतना बढ़ा कि खाद्यान्नों का मूल्य बहुत निम्न स्तर तक गिर गया। सरकार इस स्थिति से भयभीत हो गई और उसने मूल्यों में स्थिरता बनाये रखने के लिए बाजार से अन्न की खरीद प्रत्यक्ष रूप से शुरू कर दी।

सन् १६५१ से १६५६ तक सरकार ने अन्न उत्पादन की ओर खूब ध्यान दिया। उत्पादन वृद्धि के सभी साधन जुटाये गये तथा अनेक उपाय प्रयोग में लाये गये लेकिन सन् १६५६,५७,५८ और ५६ में उत्पादन स्थिति निरन्तर बिगड़ती गई। देशवासियों की उदरपूर्ति के लिए विदेशों से अन्न का आयात करना आवश्यक हो गया, और 'राशनिंग' प्रथा को पुनः लागू करना पड़ा।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बारह वर्ष पश्चात् भी अनेक उपाय करने पर भी खाद्यान्न की कमी को दूर नहीं किया जा सका और आज भी देश की यह दशा है कि उसे परिस्थितियों से बाध्य होकर अनाज की भारी मात्रा में लाजमी तौर पर आयात करना पड़ रहा है।

खाद्यान्नों के अभाव के परिणाम

(१) **अधिक आयात**—खाद्यान्नों के अभाव की पूर्ति के लिए विदेशों से

असख्य मात्रा मे आयात करने पड़े। समय-समय पर किये गये आयातों का अनुमान इस तालिका से होता है :—

वर्ष	आयात (लाख टनों मे)
१९४४	६·४
१९४७	२३·३
१९५०	२१·३
१९५३	२०·०
१९५४	८·०
१९५५	७·०
१९५६	१४·०
१९५७	३६·०
१९५८	३१·७३
१९५९ (१५ मई तक)	१७·२२

भारत और अमरीका की सरकारों के बीच एक समझौता हुआ है, जिसके अनुसार अमरीका भारत को चार वर्ष की अवधि म ६० लाख टन गेहूँ और १० लाख टन चावल देगा। इस अन्न राशि के मूल्य और समुद्री यातायात के व्यय के रूप में भारत अमेरिका को ६०७ करोड़ रुपया देगा।

(२) विदेशी मुद्रा का सकट—विदेशों से असख्य मात्रा म किये गये आयातों का प्रभाव हमारे आर्थिक साधनों पर भी पड़ा। आयातों के फलस्वरूप हमारा भुगतान का सतुलन (Balance of Payment) प्रतिकूल हो गया और यह आज भी प्रतिकूल बना हुआ है। अन्न सकट को दूर करने के लिए सरकार को समय समय पर सहायतायें अथवा अनुदान (subsidies) भी देने पड़े हैं जिन्होंने हमारे देश के वित्त व्यवस्था की रीढ़ को तोड़ दिया है।

(३) राशनिंग प्रथा का अपनाया जाना—खाद्यान्न के अभाव के कारण खाद्यान्न की पूर्ति पर नियन्त्रण करना पड़ा जो कि राशनिंग प्रथा के नाम से अधिक प्रचलित है। १९४४ के प्रारम्भ में २४० लाख व्यक्तियों को राशनिंग के अन्तर्गत अनाज मिल रहा था। यह सख्या शनैः शनैः बढ़ती चली गई। मार्च १९४६ में ५०० लाख व्यक्तियों को तथा दिसम्बर १९४७ तक १४५० लाख व्यक्तियों को इस योजना के अन्तर्गत अनाज प्राप्त हुआ। दिसम्बर १९४८ म यह सख्या घट कर ८०४ लाख हो गई। तदुपरान्त यह सख्या घटती-बढ़ती रही और अभी तक राशनिंग प्रथा चालू है।

(४) आन्तरिक उपभोग में कमी—अपर्याप्त मात्रा में आयात होने के बावजूद भी देश में खाद्यान्न की कमी रही। फलतः प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का उपभोग घटता चला गया। उदाहरणार्थ १९२० में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की पूर्ति ४७० पौण्ड थी जो १९३०-३१, १९४०-४१, तथा १९५०-५१ में क्रमशः ४०० पौण्ड, ३२८ पौण्ड तथा, ३१२ पौण्ड रह गई। १९५१ से खाद्यान्न की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

खाद्य समस्या के कारण

(१) जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या का समस्या की मूल बात यह है कि उसने खाद्य पूर्ति को काफी पीछे ढकेल दिया है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। पिछले ६० वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार हुई है —

वर्ष	जनसंख्या	प्रतिशत वृद्धि
१९०१	२३.६	—
१९११	२४.९	+५.८
१९२१	२४.८	—०.३
१९३१	२७.६	+११.०
१९४१	३१.८	+१४.३
१९५१	३५.७	+१३.४
१९६१ } अनुमानित*	४१.०	+१४.९
१९७१ }	४९.०	+३६.५

अशोक मेहता समिति के अनुसार जनसंख्या की वर्तमान वृद्धि से हमारी माँग सन् १९६०-६१ में ७६० लाख टन हो जायगी। इस प्रकार बढ़ती हुई जनसंख्या खाद्य समस्या को जटिल बनाये हुए हैं क्योंकि उत्पन्न हुए दानों के लिए पर्याप्त चने नहीं हैं।

(२) मुद्रा स्फीति (Inflation)—द्वितीय महायुद्ध से मूल्यों के स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इसमें कोई सुधार नहीं हुआ है। मौद्रिक आय अवश्य बढ़ी है परन्तु उसके साथ साथ मूल्यों में भी वृद्धि हुई है। मौद्रिक आय की अपेक्षा मूल्यों में वृद्धि अधिक हुई है, अतः मूल्य निर्देशांक भी बढ़ता गया है—

---

*R A Gopalswami *Census of India* 1951

(आधार १९५२-५३ = १००)

वर्ष	मूल्य निर्देशांक
१९५५-५६	९४.५
१९५६-५७	१०५.३
१९५७-५८	१०८.४
१९५८-५९	११२.८
१९५९-६०	११७.१

अनुमान था कि मूल्यों में वृद्धि से खाद्य उत्पादन बढ़ेगा परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बढ़ी हुई आय से किसानों ने अपने पुराने ऋणों को चुकाया और शेष धन से अपने उपभोग स्तर में वृद्धि की। इस प्रकार कृषि उत्पादन विधि में कोई सुधार न हो सकी और अन्न संकट अपना सर ऊँचा बनाये रहा।

(३) **कृषि उत्पादन में कमी**—एक ओर तो जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर प्रति व्यक्ति कृषि-क्षेत्रफल घटता जा रहा है। योजना आयोग (प्रथम योजना) के अनुसार जोते जाने वाला प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल १९११-१२ में ०.८६ एकड़ था, जो सन् १९२१, १९३१, और १९५१ में घट कर क्रमशः ०.८३ एकड़, ०.७२ एकड़ और ०.६५ एकड़ रह गया। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार जहाँ पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, हंगरी, रूमानिया, यूगोस्लाविया और इंगलैंड में १०० एकड़ भूमि क्रमशः [illegible], २४, ३०, ३२, ४२ और ९ आदमियों को आश्रय देती है, वहाँ भारत में उसे १४८ आदमियों का भार वहन करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ प्रति एकड़ उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

(४) **अखाद्य अथवा व्यापारिक फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि**—पिछले कुछ वर्षों से खाद्य फसलों के स्थान पर व्यापारिक फसलों (cash crops) को पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सन् १९१३-१४ से सन् १९४०-४१ के लगभग २७ वर्षों में खाद्य फसलों में ४% वृद्धि हुई जब कि व्यापारिक फसलों में ५३% की वृद्धि हुई है। इसका प्रमुख कारण विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण कृषि नीति है।

(५) **देश से बर्मा का अलग होना**—सन् १९३७ में देश से बर्मा के अलग हो जाने के कारण हमारे देश में खाद्यान्न विशेषकर चावल की कमी हो गई। बर्मा से लगभग १३ लाख टन चावल हमारे देश को प्राप्त होता था। इस अभाव को दूर करने के लिए बर्मा, जापान तथा अन्य पूर्वी देशों से आयात करने पड़े।

(६) देश का विभाजन—१५ अगस्त १६४७ को भारत का विभाजन हो जाने के कारण खाद्य-समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। बर्मा के अलग हो जाने से तो हम केवल चावल से ही वञ्चित हो गये, परन्तु देश के विभाजन ने हमसे चावल और गेहूं दोनों ही छीन लिये। पंजाब और सिंध के अत्यधिक उपजाऊ और सिंचित क्षेत्र, जो कि गेहूँ की खत्ती कहलाते थे, पाकिस्तान में चले गये। चावल के क्षेत्रफल का केवल ७६.६% और गेहूं के क्षेत्रफल का ६६% हम प्राप्त हुआ। इसके विपरीत अविभाजित भारत की ८०.५% जनसंख्या हमारे हिस्से में रही और शेष १६.५% जनसंख्या पाकिस्तान के हिस्से में। इस प्रकार हमारे खाद्य उत्पादन और जनसंख्या का अनुपात बिगड़ गया।

(७) शरणार्थियों का आगमन—विभाजन के साथ-साथ पाकिस्तानी क्षेत्रों से शरणार्थियों के आगमन से समस्या और गम्भीर हो गई। अनुमान है कि लगभग ६० लाख शरणार्थी पाकिस्तानी क्षेत्र से भारत में आ चुके हैं।

(८) प्राचीन व दोषपूर्ण कृषि पद्धति—आज जब कि मानव ने लगभग सभी प्राकृतिक क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर ली है और विज्ञान का प्रयोग उत्पादन के सभी क्षेत्रों में आ गया है। भारतवर्ष अब भी इस अवसर का लाभ नहीं उठा सका है। भारतीय कृषि उत्पादन के साधन बहुत ही प्राचीन तथा अवैज्ञानिक हैं। राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्नों के बावजूद भी कृषि पद्धति में सुधार बाकी रहेगा।

(६) वर्षा पर निर्भरता—आज भी भारतीय कृषि इन्द्र भगवान की अनुकम्पा पर आधारित है। अतः कहा जाता है कि "भारतीय कृषि वर्षा का जुआ है।" वर्षा का वितरण दोषपूर्ण, असमान तथा अनिश्चित है। जब कभी अनावृष्टि हो जाती है, कृषि उद्योग में ताला पड़ जाता है। डा० बलवन्त सिंह के अनुसार उत्तर प्रदेश में ३५ वर्ष में लगभग १६ वर्ष वर्षा कम हुई है और ६ वर्षों में सूखा रहा है। इसी प्रकार बंगाल में १० वर्षों में केवल एक वर्ष ही ऐसा होता है जब सन्तोषजनक वर्षा होती है और प्रति वर्ष राज्य के किसी न किसी क्षेत्र में अनावृष्टि अथवा बाढ़ का प्रकोप रहता है।

अतः कृषि उपयोगी साधन जुटाने और खेती करने के अनेक वैज्ञानिक ढंग अपनाने पर भी पानी (सिंचाई) की समस्या हल किये बिना सब कुछ व्यर्थ है।

(१०) दोषपूर्ण संगठन—भारतीय किसान जन्म से ही निर्धन होता है और आजीवन निर्धनता की गोद में रहता है। निर्धनता के कारण वह व्यक्तिगत रूप से अपनी कृषि व्यवस्था का संगठन नहीं कर पाता। विवश होकर उसे मध्यस्थों का सहारा लेना पड़ता है जो रक्तशोषक (T. B.) की कीटाणुओं की भांति उसके आर्थिक जीवन को चूस डालते हैं।

(११) अलाभकारी उद्यम—दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण तथा अवैज्ञानिक कृषि पद्धति के कारण कृषि उद्योग एक अलाभकारी उद्यम मात्र रह गया है फलस्वरूप कृषक पूर्ण परिश्रम तथा प्रेरणा से कार्य नहीं करता है।

(१२) विविध—खाद्य समस्या के उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारण भी हैं, जैसे यातायात के साधनों का अभाव, कृषि विपणन की समुचित व्यवस्था का अभाव, उत्तम खाद व सिंचाई का अभाव, पशु शक्ति की दयनीय दशा, फसलों के रोग तथा कीटाणु, दैवी प्रकोप तथा सर्वोपरि व्यापारिक नैतिक पतन आदि।

मेहता जाँच समिति (Mehta Inquiry Committee)

खाद्य समस्या के विभिन्न पक्षों का विस्तार में अध्ययन करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने जून १९५७ में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक खाद्य जाँच समिति नियुक्त की। समिति को निम्न बातों की जाँच करनी थी —

(१) वर्तमान खाद्य स्थिति का पर्यवेक्षण करना तथा १९५५ के मध्य से खाद्यान्न के मूल्यों में निरंतर वृद्धि के कारणों की जाँच करना।

(२) अगले कुछ वर्षों में माँग और पूर्ति की प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों को निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए इंगित करना —

(अ) खाद्य उत्पादन को बढ़ाने के लिए किये गये अथवा किये जाने वाले उपाय

(ब) बिक्री योग्य अतिरेक खाद्यान्नों की माँग पर बढ़ते हुए विकास व्यय, जन संख्या में वृद्धि तथा शहरीकरण (urbanisation) का प्रभाव

(स) आवश्यकता के दृष्टिकोण से विदेशी मुद्रा को ध्यान में रखते हुए खाद्यान्न प्राप्त होने की सम्भावना।

समिति के सुझाव

सन् १९५०-५१ से सन् १९५७ तक की खाद्य स्थिति की जाँच करने के पश्चात् समिति ने नवम्बर १९५७ में निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिये —

(१) सरकार द्वारा खाद्यान्न का क्रय विक्रय (Buffer stock Operations) करके खाद्यान्न के मूल्यों में स्थिरता रखना,

(२) अनाज के थोक व्यापार का शनैः शनैः समाजीकरण,

(३) परिवार नियोजन के लिए देश व्यापी आंदोलन,

(४) सहायक (subsidiary) खाद्यान्नों का उपभोग, तथा

(५) एक पृथक् खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन (Foodgrains Stabilisation Organisation), मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड (Price Stabilisation Board), केन्द्रीय खाद्य परामर्शदात्री समिति (Central Food Advisory Council) तथा मूल्य जाँच विभाग (Price Intelligence Division) की स्थापना करना।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इसके लेखकों का कहना है कि "खाद्य-उत्पादन स्थिर रहने का प्रमुख कारण यह है कि अभी तक भूमि से उत्पादन बढ़ाने के लिए कोई गहन प्रयत्न नहीं किया गया है। भारतवर्ष में प्रति एकड़ उपज संसार में सबसे कम है। जापान में प्रति एकड़ उपज ३,७५० पौण्ड है, चीन में २,३८७ पौण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ३,००० पौण्ड है जब कि भारतवर्ष में केवल ७०० पौण्ड ही है। गेहूं की प्रति एकड़ उपज ६०० पौण्ड ही है जब कि जापान में १८०० पौण्ड। अतः आधारभूत समस्या भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की है।"

भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए योजना में निम्न चार सुझाव रखे गये हैं —

(१) सिंचाई तथा जल की सुविधाओं की व्यवस्था,

(२) उर्वरकों की पर्याप्त पूर्ति तथा उनका विभिन्न प्रकार की भूमि में उपयोग,

(३) खेती का यन्त्रीकरण तथा ट्रैक्टरों का उपयोग, तथा

(४) किसानों को उत्तम बीज प्रदान करने की व्यवस्था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अध्यक्ष श्री यूजिन ब्लैक के परामर्श से तीन अर्थ विशेषज्ञों का एक मंडल भारत और पाकिस्तान आया। उसने भारत में घूम घूम कर सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन किया और हाल ही में उसने भारत की विकास योजनाओं के बारे में अपना रिपोर्ट दे दी है।

इस रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया गया है —

(१) कृषि उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता

(२) निर्यात व्यापार को विविध क्षेत्रों में प्रगति

(३) योजना में लोच बनाये रखने की आवश्यकता तथा

(४) कृषि उत्पादन के क्षेत्र में राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाने सरकार के विभिन्न भागों में समन्वय स्थापित करने तथा कृषि योजना का सुचारु रूप से क्रियान्वित करने की आवश्यकता।

२—खाद्य-समस्या का गुणात्मक पक्ष

(Qualitative Aspect of Food Problem)

इस समस्या का गुणात्मक स्वरूप और भी भयङ्कर है यह सर्वविदित सत्य है कि मनुष्य को केवल पर्याप्त भोजन ही नहीं मिलना चाहिये, बल्कि उस भोजन में पर्याप्त प्रोटीन, मिनरल साल्ट और विटामिन्स भी होने चाहिए। भारतवर्ष में जनता को केवल खाने को ही भरपेट नहीं मिलता बल्कि उस भोजन में पोषक तत्वों का भी बहुत अभाव होता है। हमारे भोजन में अनेक पौष्टिक पदार्थों जैसे दूध, घी, मक्खन, दही, मांस मछली, अण्डा, दालें, सब्जियाँ तथा फल आदि की बहुत कमी है। अतः हमारी खुराक असंतुलित रहती है जिसके फलस्वरूप हमारी कार्य क्षमता कम हो जाती है

और लोग यह कहने के लिए विवश हो जाते हैं, 'भारतवर्ष के निवासी रहते नहीं, बल्कि रह लेते हैं।"

सन् १९३३ में कृषि एवं खाद्य पंडित सर जान मीगा (Sir John Megaw) ने भारत का सर्वेक्षण करके बताया था कि भारत में केवल ३९% व्यक्तियों को पर्याप्त रूप में पोषक तत्व मिलते हैं, ४१% को अल्प मात्रा में पोषण तत्व मिलते हैं, और २०% को बहुत कम पोषण तत्व मिलते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ (U N O) के खाद्य तथा कृषि संघ (F A O) के एक प्रकाशन के अनुसार सन् १९४८-४९ में भारत में प्रति व्यक्ति प्रति दिन औसतन १६२१ कैलोरीज का उपभोग किया जाता है जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में ३१२८ कैलोरीज और कनाडा में ३०६२ कैलोरीज का उपभोग किया जाता था। देश की प्रमुख पत्रिका 'इस्टर्न इकनामिस्ट' में विभिन्न देशों के सम्बन्ध में दिये हुए आंकड़ों से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

कैलोरीज और प्रोटीन का उपभोग

(प्रति व्यक्ति, प्रति दिन)

देश	कैलोरीज की संख्या		प्रोटीन (ग्रामों में)	
	युद्ध के पूर्व	५४-५५	युद्ध के पूर्व	५४-५५
अमरीका	३,१५०	३,०९०	८९	९४
इंग्लैण्ड	३,११०	३,२३०	८०	८६
आस्ट्रेलिया	३,३०५	३,०४०	१०३	९१
जापान	२,१८०	२,१९५	६४	५८
भारत	१,९७०	१,८४०	५६	५०

पोषणहीन भोजन अथवा अपर्याप्त पोषण वाले भोजन का स्वाभाविक दुष्परिणाम यह होता है कि देश में अनेक प्रकार की बीमारियाँ जैसे सूखा, बेरीबेरी, खून की कमी तथा रिकेट (बच्चों की बीमारी) आदि फैलती हैं। जिसके फलस्वरूप जनता की कार्यक्षमता कम हो जाती है। यही नहीं मृत्यु दर और जन्म दर दोनों ही बढ़ जाती हैं। कांग्रेस द्वारा प्रकाशित 'आर्थिक समीक्षा' में यह बताया गया है कि जिन देशों के भोजन में प्राणीय प्रोटीन अधिक मात्रा में होते हैं, वहाँ जनसंख्या की वृद्धि का परिमाण धीमा होता है इसके विपरीत जिन देशों में प्राणीय प्रोटीन का उपभोग कुछ कम होता

है जहाँ जनसंख्या कुछ तेजी से बढ़ती है। निम्न आँकड़े उक्त कथन की पुष्टि करते हैं* —

देश	जन्म दर	प्राणीय प्रोटीन का दैनिक भोजन में परिमाण (ग्रामों में)
फारमोसा	४५ ६	४ ७
मलाय राज्य	३६ ७	८ ५
भारत	३३ ६	८ ७
जापान	२७·०	६ ७
यूनान	२३ ५	१५ २
इटली	२३ ४	१५ २
जर्मनी	२० ०	३७ ३
आयरलैंड	१६ [illegible]	४६ १
आस्ट्रेलिया	१८ ०	५६ ६
संयुक्त राज्य अमेरिका	१७ ६	६१ ४
स्वीडन	१५ ०	६२ ६

भारतवर्ष में अपर्याप्त पोषण के तीन प्रमुख कारण हैं। प्रथम देश में पोषक खाद्यों की बहुत कम उत्पत्ति होती है, द्वितीय देशवासियों के रहन-सहन का स्तर निम्न होने के कारण वे पोषक पदार्थों का उपभोग भी नहीं कर पाते हैं, तथा तृतीय अधिकांश जनता अशिक्षित होने के कारण विभिन्न खाद्य पदार्थों के पोषक तत्वों के बारे में अनभिज्ञ है।

३—प्रशासकीय पक्ष
(Administrative Aspect)

जब देश में खाद्यान्न का अभाव होता है, तब खाद्य समस्या का प्रशासकीय पक्ष भी महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रशासकीय शिथिलता से खाद्यान्न की समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। ऐसे समय में देश में उत्पन्न किये गये खाद्यान्नों का बिक्री योग्य आधिक्य (marketable surplus) को किसान और व्यापारी बाजार में नहीं डालते। वे खाद्यान्नों का अनुचित संग्रह करके अवसर का फायदा उठाना चाहते हैं। फलस्वरूप खाद्य समस्या और भी गम्भीर हो जाती है और मूल्य दिन प्रति दिन बढ़ते चले जाते हैं यहाँ तक कि वे गगनचुम्बी हो जाते हैं। इस प्रकार सरकार के सामने तीन समस्याएँ उत्पन्न होती हैं —

(१) मूल्य नियन्त्रण (control) द्वारा मूल्यों को स्थिर रखना,

*इस्टर्न इकनामिस्ट वार्षिकांक १६५६—पृष्ठ ६८७

(२) राशनिंग पद्धति के द्वारा खाद्यान्न का समान वितरण, तथा

(३) उपरोक्त दायित्वों को पूरा करने के लिए पर्याप्त खाद्य भंडार को बनाए रखना।

सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न

स्वतंत्रता के पूर्व सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के लिए दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार के प्रयत्न किये।

दीर्घकालीन हल—सन् १९४७ में श्रीयुत कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक खाद्य जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने खाद्य पदार्थों के निर्यात को रोकने, बड़े शहरों में राशनिंग लागू करने तथा 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को चालू करने की सिफारिश की, जिसके अन्तर्गत विस्तृत तथा गहन खेती की जाय, अखाद्य पदार्थों के बजाय खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए भूमि का उपयोग किया जाए, सिंचाई की सुविधाएँ तथा उन्नत खाद और उन्नत बीज दिए जायें। अभाग्यवश उचित संगठन के अभाव के कारण यह आन्दोलन सफल न हो सका।

अल्पकालीन हल—खाद्य समस्या को तुरन्त हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने खाद्य नियंत्रण लगाने, अनाज वसूल कर इकट्ठा किया तथा राशनिंग और अनाज के मूल्यों एवं आवागमन पर नियंत्रण किया। उस समय भ्रष्टाचार तथा चोर बाजारी का बोलबाला था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी खाद्य समस्या सरकार के लिए एक चिन्ता का विषय बनी हुई है। राष्ट्रीय सरकार इस समस्या को केवल आत्मनिर्भरता के स्तर पर ही हल नहीं करना चाहती, वरन् बढ़ती हुई जनसंख्या और उन्नत जीवन स्तर को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके हल करना चाहती है। हमें जीवन-स्तर को उन्नत करना है, लेकिन साथ ही साथ परिवार नियोजन द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को भी रोकना है। यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि अधिक उत्पादन के यत्न के साथ साथ खाद्यान्नों का अभाव होता जा रहा है और उनके मूल्यों में वृद्धि हो रही है। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ता का कारण है। इसी स्थिति के कारण अन्न के राजकीय व्यापार का निश्चय किया गया है।

खाद्यान्न का राजकीय व्यापार

८ और ९ नवम्बर, १९५८ को राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक बैठक हुई थी उसमें यह निर्णय किया गया कि सरकार अन्न का थोक व्यापार अपने हाथ में ले ले। इस योजना के अनुसार किसानों से फालतू अन्न सेवा सहकारी समितियाँ, ग्राम्य स्तर पर इकट्ठा करेंगी और वह क्रय विक्रय सहकारी समितियाँ, उच्च क्रय विक्रय सहकारी

टन अन्न खराब हो जाना ही इस तथ्य की पुष्टि करता है कि हमारे देश में अन्न तथा कृषि उत्पादनों को सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्मित भंडार-गृहों की कितनी आवश्यकता है।

भारत में भंडार गृहों की आवश्यकता की ओर सर्वप्रथम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा कृषकों तथा ग्रामीणों को उधार देने की सुविधाओं के विकास पर अनुसंधान करने के लिए १९५१ में नियुक्त 'सैम्पुल सर्वे क्रेडिट कमेटी' का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस कमेटी ने राष्ट्रीय स्तर पर देश भर में भंडार गृहों की क्रिया प्रणाली में सुधार करने का प्रस्ताव रखा जिसके परिणामस्वरूप १९५६ में भारतीय संसद में कृषि उत्पादन (विकास एवं भंडार गृह) निगम कानून 'एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस' (डेवलपमेंट ऐण्ड वेयर हाउसिंग) कारपोरेशन एक्ट पास हुआ, जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय सहकारी विकास और भंडार-गृह मंडल (नेशनल कोऑपरेटिव डेवलपमेंट एण्ड वेयरहाउसिंग बोर्ड), केन्द्रीय भंडार गृह निगम (सेंट्रल वेयरहाउसिंग कारपोरेशन) तथा प्रान्तीय स्तर पर विभिन्न राज्यों में प्रान्तीय भंडार गृह निगम (स्टेट वेयरहाउसिंग कारपोरेशन) की स्थापना हुई।

प्रश्न

1. Write a short note on The Food Problem (*Agra 1957*)

2. Describe briefly the present food crisis in India Examine some of the main recommendations made by the Ashok Mehta Committee (*Agra 1959*)

3. What are the main factors which are impeding the solution of the food problem in India? What measures would you recommend for these impediments? (*Punjab 1959*)



अध्याय १४

भारत में ग्राम्य वित्त-व्यवस्था

(Rural Finance in India)

फ्रांसीसी लोकोक्ति है "साख किसान को उसी प्रकार सहायक होती है जैसे फाँसने वाले की डोर किसी वस्तु को फाँसने में सहायक होती है।"* श्री निकल्सन का कथन है कि "रोम व स्काटलैंड तक कृषि का इतिहास, यह पाठ सिखाता है कि साख कृषि के अनिवार्य है।" भारतीय लोग भी उसी ग्राम को रहने योग्य समझते हैं जिसमें "एक महाजन हो जिससे आवश्यकता के समय धन उधार लिया जा सके, एक वैद्य हो, जो बीमारी में इलाज कर सके, एक ब्राह्मण पुजारी हो, जो भूमि की व्यवस्था कर सके तथा एक ऐसा जल स्रोत हो, जो ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे।" ये शब्द महाजन (साख) की महत्ता को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं।

परन्तु कृषि साख जब प्राप्त होती है तब भी एक समस्या है और यदि प्राप्त नहीं होती तब भी एक समस्या है क्योंकि "साख एक अच्छा सेवक है पर एक बुरा स्वामी।" एक बार जब भोलाभाला किसान निर्दयी महाजन के चंगुल में फँस जाता है तो उसका महाजन से जीवनपर्यन्त छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है और उसके द्वारा लिया हुआ ऋण एक पैतृक ऋण बन जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि 'भारतीय कृषक का जन्म ऋण में होता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है और इसी ऋण में उसकी मृत्यु भी हो जाती है।" अत भारतीय कृषि व्यवस्था में साख का एक महत्वपूर्ण स्थान है और इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

ऋण का परिमाण

(Magnitude of Indebtedness)

भारतीय कृषि ऋण के परिमाण के सम्बन्ध में समय समय पर अनुमान निकलते रहे हैं। प्रमुख आँकड़ों की सूची अग्रलिखित है —

---

*Credit supports the farmer as the hangman's rope supports the hanged —*French proverb*

वर्ष	ऋण करोड़ रुपयों में	लेखक
१६११	३००	सर एडवर्ड मैकलागन
१६२४	६००	सर माल्कम डार्लिङ्ग
१६३०	६००	जे० सी० बी० ई० समिति
१६३५	१,२००	डा० राधाकमल मुकर्जी
१६३८	१,८००	ई० वी० यस मैनियम

विगत कुछ वर्षों से खाद्यान्नों के कारण, जमींदारी प्रथा के अन्त हो जाने के कारण तथा सामाजिक विकास के कारण, ग्रामीण ऋण में अब कुछ कमी हो गई है। निश्चित आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण कुछ कहा तो नहीं जा सकता है परन्तु वर्तमान परिस्थितियों को देखने से इस सम्बन्ध में अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। पहले की अपेक्षा किसानों की अवस्था कहीं अच्छी है। किसान लोग खेती के साथ-साथ मजदूरी का कार्य भी करने लगे हैं और मजदूरी में वृद्धि होने के साथ साथ उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार हो रहा है।

कृषक की साख सम्बन्धी आवश्यकताएँ

भारतीय किसान को तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है —

(१) अल्प कालीन ऋण (Short term Credit)

(२) मध्य कालीन ऋण (Middle term Credit)

(३) दीर्घ कालीन ऋण (Long term Credit)

अल्प कालीन ऋण

अल्प कालीन ऋण अथवा साख की आवश्यकता अल्प काल (१२ माह से १५ माह तक) के लिए होती है जिसका भुगतान अगली फसल में कर दिया जाता है। यह आमतौर पर बीज, खाद, फसल काटने, फसल बेचने, लगान चुकाने तथा दैनिक व्यय के सम्बन्ध में होती है।

मध्य कालीन ऋण

यह ऋण अथवा साख १५ माह से ५ वर्षों तक की अवधि के लिए ली जाती है। इसका उपयोग सामान्यत कृषि यन्त्रों के खरीदने, पशुओं को खरीदने, खेत पर छोटे मोटे सुधार करने, तथा सिंचाई की व्यवस्था करने आदि के लिए होता है।

दीर्घ कालीन ऋण

यह ऋण ५ वर्ष से ३० वर्ष की अवधि तक के लिए लिये जाते हैं। इनका उपयोग भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए होता है। जैसे भूमि खरीदने, कृषि सम्बन्धी औजार खरीदने, पुराने ऋणों को चुकाने, कुँओं तथा मकान आदि बनवाने में किया जाता है।

ग्राम्य वित्त प्राप्ति के साधन

(Sources of Rural Finance)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (१९५१-५२) के अनुसार भारत में ग्रामीण साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ तथा उनसे प्राप्त होने वाले ऋण का तुलनात्मक प्रतिशत निम्न प्रकार है —

साख संस्थाएँ	ऋण का प्रतिशत अनुपात
संस्थागत स्रोत	
सरकार	३ ३
सहकारी संस्थाएँ	३ ८
व्यापारिक बैंक	० ९
योग	७ ३
निजी संस्थाएँ	
सम्बन्धी	१४ २
जमींदार	१ ५
कृषक ऋणदाता	२४ ९
पेशेवर ऋणदाता	४४ ८
व्यापारी तथा कमीशन एजेन्ट	५ ५
अन्य	१ ८
योग	१०० ०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल साख अथवा ऋणों का लगभग ९३% भाग निजी संस्थाओं से प्राप्त होता है और लगभग ७% सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं से। विभिन्न साख प्रदान करने वाली संस्थाओं का वर्गीकरण उनकी तुलनात्मक महत्ता के अनुसार इस प्रकार दिया जा सकता है —

(१) महाजन,

(२) सहकारी संस्थाएँ,

(३) सरकार,

(४) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया,

(५) अन्य स्रोत—

(अ) देशी बैंकर,

(ब) व्यापारिक बैंक,

(स) ऋण कार्यालय,

(द) निधियाँ व चिट फण्ड आदि।

महाजन (Moneylenders)

ग्रामीण साख प्रदान करने वाले स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्रोत ग्रामीण महाजन है। अनादि काल से यह हमारे ग्रामीण भाइयों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते आये हैं। आज भी इनकी महत्ता कम नहीं है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की खोज के अनुसार ये अब भी हमारी कृषि सम्बन्धी साख आवश्यकताओं की लगभग ७०% पूर्ति करते है।

महाजन दो प्रकार के होते हैं—(अ) पेशेवर (Professional) तथा (ब) गैर पेशेवर (Non Professional)।

पेशेवर महाजन वे होते हैं जो रुपये में लेन देन करने के साथ साथ व्यापार भी करते हैं। ग्रामीण साख की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण हैं।

गैर पेशेवर प्रायः जमींदार, तालुकेदार, समृद्ध किसान, अवकाश प्राप्त (*रिटायर्ड*) *धनवान व्यक्ति तथा सम्पन्न परिवार की विधवा स्त्रियाँ होती हैं। इनका मुख्य ध्येय रुपये का लेन देन करना तो नहीं है परन्तु अच्छी धरोहर की प्रतिभूति पर* परिचित व्यक्तियों को बहुधा रुपया उधार दे देते हैं।

उपरोक्त प्रणाली में शनैः शनैः अनेक दोष आ गये हैं जिनके द्वारा हमारे ग्रामीण समाज का शोषण होने लगा है। अत्यधिक शोषण की अवस्था में भारतीय मृतप्राय किसान को बचाने के लिए हमारी सरकार ने महाजनों के ऊपर अनेक वैधानिक प्रतिबन्ध लगाये हैं। प्रत्युत दोषों का निराकरण पूर्णतया नहीं हो पाया। महाजन आज भी देश के लिए एक समस्या बने हुए हैं।

महाजनों के दोष

भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१६३१) ने अपनी रिपोर्ट में महाजनों के निम्न दोषों को दर्शाया है :—

(१) *महाजन लोग ऋण देते समय ही ऋण दिये जाने वाले धन में से आगामी* वर्ष तक [redacted] ब्याज काट लेते हैं और किसान से पूरा धन प्राप्त करने की रसीद ले लेते हैं। महाजन द्वारा ब्याज प्राप्त होने की किसान को कोई रसीद न दिये जाने के कारण ब्याज को साल के अन्त में पुनः माँगा जा सकता है।

(२) महाजन किसान (ऋणी) से ऋण देते समय कोरे (bank) कागज पर दस्तखत अथवा अँगूठे का निशान लगवा लेते हैं और बाद में नियमित रूप से ब्याज के प्राप्त न होने पर मनमाने धन की राशि को लिख लेते हैं।

(३) *महाजन प्रायः अपने बही खाते अथवा रजिस्टर में वास्तव में दी हुई धन* राशि से कहीं अधिक लिखते हैं।

(४) ब्याज प्राप्त होने अथवा किस्त के प्राप्त होने पर महाजन द्वारा किसान को

कोई रसीद नहीं दी जाती। फलतः दी गई धन की राशि पूर्ववत बनी रहती है। बेचारे किसान को ऋण देते समय ब्याज के अतिरिक्त अनेक अनुचित खर्चे भी चुकाने पड़ते हैं जैसे गिरह खुलाई, गद्दी खर्चा, सलामी, कटौती, नट्टाखान आदि।

(५) कभी-कभी ऋणी किसान से यह शर्त भी कर ली जाती है कि वह अपनी उपज महाजन को ही बेचेगा। महाजन उपज को सदैव बाजार मूल्य से कम मूल्य पर खरीदते हैं इस प्रकार उनको दुहरा लाभ होता है।

गाडगिल समिति के सुझाव

कृषि वित्त उपसमिति, जो गाडगिल समिति के नाम से प्रसिद्ध है, ने महाजनों के दोषों दूर करने के लिए अपनी रिपोर्ट में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(१) महाजनों का अनिवार्य पंजीयन (रजिस्ट्रेशन),

(२) महाजनों को लाइसेंस देना,

(३) निर्धारित विधि के अनुसार लेखे तैयार करना,

(४) लेखों का खुला प्रदर्शन,

(५) ऋण लेने वालों को सामयिक ब्यौरा देना,

(६) ऋण लेने वालों से प्रत्येक प्राप्त किये गये धन की रसीद देना,

(७) ब्याज की दर सीमित करना,

(८) अनुचित धन लेने के विरुद्ध प्रतिबन्ध,

(९) ऋण लेने वालों को महाजनों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों अथवा हानियों के विरुद्ध वैधानिक सुरक्षा,

(१०) प्रत्येक राज्य में महाजनों की कार्य विधियों की जाँच करने के लिए निरीक्षण करने वाली संस्थाओं को स्थापित करना।

उपरोक्त सिफारिशें कार्यान्वित न हो सकीं क्योंकि ये व्यावहारिक नहीं है। इनके दोषों को दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि साख सुविधा प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं को बढ़ावा दिया जाय।

(२) सहकारी संस्थाएं*

सहकारी समितियों के अन्तर्गत सहकारी साख संस्थाओं, जिनमें भूमि बंधक बैंक भी सम्मिलित हैं, को ग्रामीण बैंकिंग के लिए तथा महाजनों को प्रतिस्थापित करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। परन्तु इनकी सफलता एवं प्रगति के आँकड़ों को देखने के पश्चात् यही ज्ञात होता है कि यह आन्दोलन हमारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति

*विस्तृत अध्ययन के लिए पुस्तक का अध्याय "सहकारी आन्दोलन" देखिये।

करने में सफल नहीं हुआ है। इन संस्थाओं ने बैंकिंग के सिद्धान्तों को पूर्णतया नहीं अपनाया है यद्यपि ये ग्रामीण बैंकिंग का कार्य करती हैं। ये व्यवसाय के लिए अल्प एवं मध्यकालीन निक्षेपों (deposits) तथा ऋणों को प्राप्त करते हैं परन्तु इनके द्वारा दिये गये ऋण साधनों के अनुकूल नहीं होते हैं। ऋण वापस लेने में शिथिलता, अनुत्पादक ऋण तथा क्षमता से अधिक ऋण देने के कारण अल्पकालीन ऋणों की वापसी भी निश्चित समय में नहीं हो पाती और वे स्वतः दीर्घकालीन ऋण बन जाते हैं। दिये गये ऋणों की अधिकांशतः वापसी नहीं हुई है।

डाक्टर ई० हाफ (Dr E Hough) ने सहकारी आन्दोलन के सफल न होने के कारणों को अपनी पुस्तक 'भारत में सहकारी आन्दोलन' में इस प्रकार दिया है, "निर्धनता तथा अपौष्टिक भोजन, (malnutrition), निरन्तर ऋण-ग्रस्तता, निरक्षरता का अत्यधिक ऊँचा प्रतिशत, व्यापारिक ज्ञान का अभाव, अनार्थिक कृषि का इकाई तथा प्राचीन कृषि प्रणाली, अपर्याप्त यातायात तथा संग्रह सुविधा, प्रमापित नाप-तौल के पैमाने का अभाव, अत्यधिक मूल्यों में उतार चढ़ाव, नियमित बाजारों का अभाव तथा महाजनों एवं मध्यस्थों के द्वारा शोषण।"*

सहकारी योजना समिति (C E C) ने सहकारी आन्दोलन की मंदगति के मुख्य कारणों को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "सरकार की मुक्त व्यापार (Laissez faire) नीति, लोगों की अज्ञानता, जनता का असहयोग, प्रारम्भिक इकाई का छोटा आकार होना तथा निःशुल्क सेवाओं पर अत्यधिक विश्वास ही आन्दोलन के प्रबन्ध की अकुशलता के कारण हैं।"

उपरोक्त व्यक्त की गई कठिनाई को यदि दूर कर भी दिया जाय, फिर भी हमारी साख समितियाँ दीर्घ कालीन ऋण नहीं दे सकती क्योंकि —

(१) इन समितियों के आर्थिक साधन सीमित हैं।

(२) दीर्घ कालीन ऋण केवल भूमि की जमानत पर ही दिया जा सकता है। और यदि इसके स्थान पर वैयक्तिक जमानत ली जाय तो सहकारिता के सिद्धान्तों की अवहेलना होने लगेगी।

(३) भूमि सम्बन्धी जमानतों का मूल्यांकन तथा तत्सम्बन्धी अधिकारों की जाँच करने के लिए विशेष वात्रिक ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसका कि साधारण सहकारी समितियों के पास अभाव होता है।

(४) निश्चित तिथि पर दीर्घकालीन ऋणों की अदायगी न होने पर इन समितियों की सम्पत्ति समाप्त हो जाती है।

*Dr E Hough, *The Co operative Movement of India*, 1953 p p 284 85

(५) प्रबन्धक लोगों की स्वार्थपरता अथवा अकुशलता के कारण सहकारी वित्त अलोच, लाल फीता तथा अपर्याप्तता जैसे दुर्गुणों से ग्रसित रहती है।

जब तक उपरोक्त दोषों को दूर नहीं किया जायगा सहकारी समितियाँ ग्राम वित्त को प्रदान करने में सहायक नहीं हो सकतीं।

सरकार (The Government)

सरकार भी कई प्रकार से ग्रामीण वित्त को प्रदान करती है। १६वीं शताब्दी में किसानों को साख सुविधाएँ पहुँचाने के लिए सरकार ने दो महत्वपूर्ण अधिनियम पास किये—

(१) भूमि सुधार अधिनियम १८८३ (Land Improvement Act 1883), तथा

(२) कृषक ऋण अधिनियम १८८४ (Agriculturists Loans Act, 1884)।

प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत किसान को ऋण केवल भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए दिया जाता है और यह दीर्घ कालीन ऋण होता है। इस ऋण की अवधि अधिनियम के अनुसार अधिक से अधिक ३५ वर्ष की होती है पर तु व्यवहार में ऋण प्राय २० वर्ष से अधिक अवधि के लिए नहीं दिये जाते हैं। ऋण का भुगतान वार्षिक किस्तों में ब्याज सहित होता है।

द्वितीय अधिनियम के अन्तर्गत किसान की चालू आवश्यकताओं जैसे बीज खरीदना, खाद व पशु खरीदना, औजार खरीदना आदि के लिए अल्प तथा माध्यमिक काल के लिए ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों की अदायगी फसल कटने के बाद की जाती है।

उपरोक्त दोनों ऋणों को तकावी ऋण कहा जाता है। इस समय सरकार प्रति वर्ष लगभग ६५ करोड़ रुपये र तकावी ऋण देती है। इनमें से ३५ करोड़ रुपये प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत और ६० करोड़ रुपये द्वितीय अधिनियम क अन्तर्गत दिये जाते हैं।

तकावी ऋण के दोष

(१) तकावी ऋणों पर ब्याज की दर अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह प्राय ६½% वार्षिक होती है जब कि सहकारी संस्थाएं केवल ६% ब्याज लेती हैं। आलोचकों का कहना है कि सरकार को सहकारी संस्थाओं से कम ब्याज की दर पर ऋण देने चाहिए।

(२) ऋणों को प्राप्त करने में अनेक वैधानिक उपचार करने पड़ते हैं।

(३) ऋण मिलने में समय भी बहुत लगता है। प्रायः ऋण ऐसे समय पर मिलता है जब ऋण की आवश्यकता नहीं रहती।

(४) ऋण वसूल करने में सरकारी कर्मचारियों द्वारा कठोरता का व्यवहार किया जाता है।

उपरोक्त दोषों के कारण किसान को अपनी कृषि साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन की शरण में ही जाना पड़ता है जो उनका शोषण करने में नहीं चूकता।

तकावी ऋणों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए दो सुझाव दिये जा सकते हैं:—

(१) तकावी-ऋणों के प्रशासन की कठोरता को कम करना चाहिए तथा ऋण देने में विलम्ब एवं ऋण वापस लेते समय की जाने वाली कठोरता को दूर करना चाहिए।

(२) सरकार द्वारा दी जाने वाली ऋण सम्बन्धी शर्तों एवं सुविधाओं को अधिक से अधिक जनता में प्रसारित करना चाहिए जिससे वे अधिकतम उपयोग कर सकें।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया

(Reserve Bank of India)

हमारी कृषि अर्थ व्यवस्था में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का प्रारम्भ से एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है और जब से बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से उसका महत्व और भी बढ़ गया है। यद्यपि बैंक ग्रामीण साख-सुविधाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रदान नहीं करता है परन्तु इसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से दी जाने वाली सहायता कम महत्व पूर्ण नहीं है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य उसके द्वारा विभिन्न सहकारी संस्थाओं को उनकी ऋण नीति एवं संगठन के सम्बन्ध में सलाह देना है।

प्रारम्भ से लेकर आज तक बैंक ने ग्रामीण वित्त प्रदान करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जो कार्य एवं सेवाएँ की हैं उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) कृषि साख विभाग की स्थापना—बैंक की स्थापना के समय ही रिजर्व बैंक आफ इन्डिया, अधिनियम, १९३४ के अन्तर्गत यह आयोजन किया गया था कि वह ग्रामीण एवं कृषि साख प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यों का समुचित संगठन एवं एकीकरण करे। इसी उद्देश्य से एक विशेष विभाग—कृषि साख विभाग खोला गया, जिसके दो उद्देश्य है:—

(१) कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को राज्य सहकारी बैंकों अथवा अन्य बैंकिंग संस्थाओं को सलाह देना तथा उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करना।

(२) अपनी क्रियाओं को कृषि साख से सम्बन्धित रखना तथा कृषि साख से सम्बन्धित राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं को सगठित करना।

(२) रिजर्व बैंक और सहकारी साख—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट, १९३४ के अन्तर्गत कृषि को सहकारी आन्दोलन के द्वारा साख प्रदान करने का कार्य भी रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को ही सौंपा गया था। इसके अनुसार यह बैंक राज्य (प्रान्तीय) सहकारी बैंकों को दो प्रकार से अल्पकालीन साख प्रदान करता है :

(अ) राज्य सहकारी बैंकों या अनुसूचित बैंकों की प्रतिभूति पर अल्पकालीन अग्रिम (advances) देकर, तथा

(ब) राज्य सहकारी बैंकों या अनुसूचित बैंकों की विनिमय विपत्रों (B/E) अथवा वचन पत्रों (P N) को पुन भुना कर अथवा उनकी प्रतिभूति पर अग्रिम (advances) देकर, यदि ये प्रतिभूतियाँ (securities) १५ माह के अन्दर परिपक्व (mature) हो जायें और यदि ये मौसमी (seasonal) कृषि क्रियाओं या फसलों के विपणन को धन प्रदान करने के लिए लिखी गई हों।

सन् १९५१ के पश्चात्

सन् १९५१ के पूर्व उपरोक्त प्रावधानों का राज्य सहकारी बैंकों द्वारा बहुत कम प्रयोग किया जाता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि रिजर्व बैंक की ऋण देने की शर्तें बहुत कठोर थीं। स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रगतिशील कृषि नीति अपनाने और सन् १९४९ में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से तथा विशेष रूप से सन् १९५१ में हुए संशोधन के पश्चात् ग्रामीण साख पहुँचाने में रिजर्व बैंक का पार्ट अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक एक्ट में किये गये संशोधन के अनुसार —

(१) रिजर्व बैंक द्वारा मौसमी कृषि क्रियाओं और फसलों की बिक्री के लिए दी जाने वाली अल्पकालीन साख की अवधि ६ माह की जगह १५ माह कर दी गई है।

(२) अनुसूचित बैंकों को विनिमय विपत्रों (B/E) और वचन-पत्रों (P/N) को खरीदने, बेचने और पुन भुनाने की जो सुविधाएँ रिजर्व बैंक द्वारा दी जाती थीं वे अब राज्य सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी हैं।

(३) रिजर्व बैंक को मिश्रित खेती (mixed farming) तथा फसलों के विधायन (processing) के लिए अल्पकालीन साख देने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

(४) रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को साख देने की विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये हैं।

(५) यद्यपि नवम्बर, १९५१ में बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% और फिर

मई १६५७ में ३½% से बढ़ाकर ४% कर दिया गया था तब भी सहकारी संस्थाओं को कृषि के लिए पूर्ववत् २½% की दर पर ही ऋण दिये जा रहे हैं।

(६) ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव के अनुसार १ सितम्बर, १६५१ से कोषों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जाने की दर घटा दी गई है।

(७) देश के सभी राज्यों (जम्मू और कश्मीर छोड़कर) में सहकारी साख आन्दोलन के पुर्नसंगठन की योजना बनाने में रिजर्व बैंक द्वारा सहायता दी गई है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति, १६५१

(All India Rural Survey Committee, 1951)

अगस्त सन् १६५१ में श्री ए० डी० गोरेवाला की अध्यक्षता में ग्रामीण साख का पर्यवेक्षण करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने सम्पूर्ण भारत की ग्रामीण साख का पर्यवेक्षण (Random Sampling) के आधार पर किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १६५४ में प्रेषित की। प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

(१) रिजर्व बैंक का अधिक से अधिक सहयोग—ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख का विकास करने के लिए सरकार का रिजर्व का अधिक से अधिक सहयोग आवश्यक है। ग्रामीण साख को संगठित करने के लिए एक 'ग्रामीण साख समग्रीकरण योजना' (Integrated Rural Credit Scheme) होनी चाहिए। समिति के अनुसार योजना का उद्देश्य यह है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें सहकारी संस्थाएँ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली संस्थाएँ अपने व्यक्तिगत संकुचित दृष्टिकोण एवं लाभ को छोड़कर किसान की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में संलग्न हों। सरकार को इस योजना को सफल बनाने के लिए विभिन्न संस्थाओं के साझे में कार्य करना चाहिए। यह साझा इन क्षेत्रों में होगा—

(अ) सहकारी साख के क्षेत्र में,

(ब) खेती सम्बन्धी संग्रह, सन्तुलन तथा विपणन के कार्यों में,

(स) संग्रहालयों (Warehouses) तथा गोदामों की सुविधाएँ देने में, तथा

(द) व्यापारिक बैंकों के कार्य क्षेत्र में सहयोग देना।

(२) बैंकों का सुधार—बैंकों को सुधारने तथा उनके समुचित विकास के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं—

(अ) केन्द्रीय क्षेत्र में आर्थिक, प्रशासन तथा वान्त्रिक सहायता को सुसंगठित करना,

(ब) विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक प्रगति के अनुसार उक्त संगठन की जिलों में व्यवस्था करना,

(स) ग्रामीण क्षेत्रों में खोली गई बैंकों की शाखाओं को प्रत्येक स्तर पर भूमि बंधक बैंकों द्वारा पूर्ण सहयोग प्राप्त होना चाहिए।

(द) नवीन भूमि बंधक बैंक तथा ग्राम सहकारी समितियों का बड़े पैमाने पर पुनर्संगठन।

(३) विभिन्न कोषों का निर्माण—योजना को सफल बनाने के लिए तथा पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए समिति ने निम्न कोषों के निर्माण की सिफारिश की है,

(अ) रिज़र्व बैंक के अधीन

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ कालीन) कोष,

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष,

(ब) केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के अधीन

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायतार्थ तथा गारन्टी) कोष

(स) राष्ट्रीय सहकारिता एवं समग्रहालय विकास परिषद् (Board) के अधीन

(क) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष

(ख) राष्ट्रीय समग्रहालय विकास कोष

(द) स्टेट बैंक के अधीन

(अ) समग्रीकरण तथा विकास कोष

(य) राज्य सरकार के अधीन

(क) राज्य कृषि साख (सहायतार्थ तथा गारन्टी) कोष, तथा

(ख) राज्य सहकारिता विकास कोष।

(र) राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के अधीन

(क) कृषि साख स्थिरीकरण कोष

(४) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य राज्य बैंकों को मिश्रित करके एक 'स्टेट बैंक आफ इण्डिया' नामक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय।

(५) प्रत्येक स्तर पर तथा विभिन्न संस्थाओं में एक केन्द्रीय समिति द्वारा सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था करना जो सहकारी विभाग तथा सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों को उचित शिक्षा प्रदान करे।

समिति की सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही

(१) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—१६ अप्रैल सन् १९५५ को स्टेट बैंक आफ इण्डिया बिल लोक सभा में प्रस्तुत किया गया। यह दोनों सदनों (Houses) द्वारा पास कर दिया गया। राष्ट्रपति ने भी इस पर अपनी अनुमति ८ मई सन् १९५५ को दे दी। फलस्वरूप १ जुलाई १९५५ से स्टेट बैंक आफ इण्डिया कार्य करने लगा। इस बैंक को ५ वर्ष के अन्दर ४०० शाखायें ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

(२) विभिन्न कोषों की स्थापना—सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करके दो कोषों की स्थापना की गई—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ कालीन) कोष, तथा

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।

प्रथम कोष की स्थापना १० करोड़ रुपये से की गई है। यह धनराशि राज्य सरकारों तथा भूमि बंधक बैंकों को दीर्घ कालीन ऋण और अग्रिम (advances) देने के काम में लाई जा रही है।

द्वितीय कोष की स्थापना १ जुलाई १९५६ को एक करोड़ रुपये से की गई है, जिसमें ३० जून १९६१ तक वार्षिक एक करोड़ रुपये जमा होते जायेंगे। इसका उद्देश्य राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण की सुविधाएँ देना है।

(३) सहकारी प्रशिक्षण—सहकारिता की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए रिजर्व बैंक तथा सरकार के संयुक्त प्रयत्नों से एक केन्द्रीय सहकारिता प्रशिक्षण की स्थापना हुई है जिसमें सभी श्रेणी के कर्मचारियों के लिए एक विस्तृत योजना बनाई जायगी।

इस योजना के अन्तर्गत उच्च पदाधिकारियों की शिक्षा के लिए पूना में एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया है। मध्य श्रेणी के कर्मचारियों के लिए ५ प्रशिक्षण केन्द्र पूना, मद्रास, पूसा, इन्दौर तथा मेरठ में खोले गये हैं।

(४) पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में खातों की सुविधा—नये नये डाकखानों की स्थापना की जा रही है और उनमें सेविंग्स बैंक में खाते खोलने की सुविधा भी अधिक से अधिक दी जा रही है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और नई दिल्ली के प्रधान कार्यालयों में सेविंग्स बैंक के खातों में से प्रति सप्ताह दो बार रुपये निकालने और अधिकतम रकम १ सप्ताह में १००० रुपये तक निकालने की योजना चालू की गई है।

(५) ऋण पत्रों की मान्यता—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने यह निश्चित कर लिया है कि अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन कारपोरेशन (I F C) तथा राज्य अर्थ प्रबन्धन कारपोरेशनों (S F C) तथा भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्र सरकारी प्रतिभूतियों के समान, उधार लेने के सम्बन्ध में, प्रतिभूति समझी जायगी।

(६) बैंक के कर्मचारियों का प्रशिक्षण—देश में बैंकिंग कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा योग्य एवं कुशल व्यक्तियों की पूर्ति के लिए सन् १९५४ में बम्बई में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज स्थापित किया है।

देशी बैंकर

ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में देशी बैंकों का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। बड़ी बड़ी

संस्थाओं के होते हुए भी हमारे किसान अपनी धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देशी बैंकरों की सहायता लेते हैं। ये देशी बैंकर लगभग प्रत्येक गाँव, कस्बे तथा नगर में होते हैं। इनके द्वारा ऋण दिये जाने की शर्तें बहुत ही सरल एवं आकर्षक होती हैं। अनेक गुणों के साथ साथ इनकी पद्धति में बहुत से भयानक दोष भी आ गये हैं। इन दोषों का अध्ययन [redacted] विस्तार में 'महाजनों' के अन्तर्गत कर चुके हैं। सरकार ने भी इनकी पद्धति को सुधारने के लिए निष्फल प्रयत्न किये हैं। यदि इनके दोषों का निराकरण हो जाता है तो निस्सन्देह ये हमारी ग्रामीण वित्त व्यवस्था में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

व्यापारिक बैंक

देश में व्यापारिक बैङ्क, स्टेट बैङ्क आफ इण्डिया तथा विनिमय बैङ्क सहित प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण साख प्रदान करने में बहुत कम महत्व रखते हैं। अनुमान है कि कुल ग्रामीण साख की आवश्यकता का एक प्रतिशत भाग इनके द्वारा प्रदान किया जाता है। ये बैंकें ग्रामीण वित्त प्रदान करना अपने व्यापारिक क्षेत्र का अङ्ग नहीं समझते हैं, क्योंकि इनका संगठन ग्रामीण दीर्घ एवं अल्पकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं होता है। हाँ ये अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारियों तथा व्यवसायियों द्वारा ग्रामीण वित्त में सुधार करते हैं। परन्तु मध्यस्थों द्वारा यह प्रत्यक्ष वित्त-व्यवस्था बहुत महँगी पड़ती है। कभी-कभी इनकी शर्तें इतनी कड़ी तथा ब्याज की दर इतनी ऊँची होती है कि भारतीय किसान इनकी अपेक्षा महाजनों अथवा देशी बैंकरों से ऋण लेना अधिक हितकर समझता है।

ऋण कार्यालय

इस प्रकार के कार्यालय बंगाल में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये प्रारम्भ में भूमि बन्धक बैङ्कों के आधार पर संगठित किये जाते थे। इनकी संख्या लगभग १ हजार तथा पूँजी करीब १० करोड़ रुपये है। ये कार्यालय अपना कार्य जनता से प्राप्त राशि में ही करते हैं, तथा इस प्रकार की जमा पर ४% से ८% तक ब्याज देते हैं। ये कार्यालय भूमि, जेवर तथा कभी-कभी व्यक्तिगत साख पर भी जमींदारों तथा किसानों को ऋण दिया करते हैं।

निधियाँ तथा चिट कोष

इस प्रकार की संस्थाएँ मुख्यतः मद्रास राज्य में पाई जाती हैं। प्रारम्भ में ये संस्थाएँ पारस्परिक ऋण समितियों की भाँति थीं। परन्तु अब वे शनैः-शनैः अर्धबैङ्किंग संस्थाओं के रूप में विकसित हो गई हैं। इन संस्थाओं का रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत होता है। इनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों में बचत की भावना को जाग्रत करना, पुराने कर्जों से छुटकारा दिलाना तथा सदस्यों को दैनिक ऋण

सम्बन्धी आवश्यकताओं की ऋण पूर्ति के लिए एक कोष की स्थापना करना है। इन सस्थाओं में भी कुछ दोष हैं यदि ये दोष दूर हो जाते हैं तो निस्संदेह ये सस्थाएँ भी भारतीय ग्राम्य ऋण प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकेंगी।

पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण ऋण

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकारी तथा सरकारी सस्थाओं द्वारा ग्राम्य वित्त व्यवस्था में प्रति वर्ष १ अरब रुपये के वितरण का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। योजना के अन्तिम तीन वर्षों में योजना आयोग द्वारा ग्रामीण वित्त प्रदान करने वाली सस्थाओं को ५ करोड़ रुपये और अधिक देने की व्यवस्था की गई थी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण ऋण प्रदान करने के लक्ष्य पहली योजना की अपेक्षा में कहीं अधिक निर्धारित किये गये। इस योजना काल में सहकारी सस्थाओं द्वारा अल्पकालीन ऋणों की मात्रा पहली योजना में नियत ३० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १५० करोड़ रुपये, मध्यकालीन ऋण की मात्रा १० करोड़ रुपये से बढ़ा कर ५० करोड़ रुपये और दीर्घकालीन ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से बढ़ा कर २५ करोड़ रुपये कर दी गई है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की जाने वाली आर्थिक सहायता के अतिरिक्त सरकार भी ४८ करोड़ रुपये की सहायता प्रदान करेगी।

सहकारिता आन्दोलन का विभिन्न राज्यों में विकास*

सन् १९५७-५८ में रिजर्व बैंक आफ इन्डिया द्वारा देश के दस राज्यों म से ११ जिलों में आयोजित (First Rural Credit Follow Up Survey) की जाँच के अनुसार बम्बई, मैसूर, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, पजाब, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बगाल में ५०% से अधिक ग्राम प्रारम्भिक साख समितियों (Primary Credit Societies) के अन्तर्गत आ गये थे। राजस्थान, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में यह अनुपात क्रमशः १३% २७% तथा ३६% था। प्रारम्भिक साख समिति में औसत न्यूनतम कार्यशील पूँजी प्रति सदस्य ३८ रु० बिहार में थी और अधिकतम कार्यशील पूँजी २२१ रु० बम्बई में थी। मध्य प्रदेश, पजाब, आन्ध्र प्रदेश तथा मद्रास में यह १२० रु० और १६० रु० के बीच तथा उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, मैसूर तथा राजस्थान में यह ५० रु० और १०० रुपये के बीच थी।

दस राज्यों म राज्य सरकारों द्वारा सहकारी सस्थाओं को ऋण तथा अग्रिम देने में महत्वपूर्ण स्थान क्रमशः मद्रास (६ रु० प्रति व्यक्ति), बम्बई (७ रु० प्रति व्यक्ति) आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश (६ रु० प्रति व्यक्ति) आदि का था। साख न देने वाली

---

*रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया, 'बुलेटिन' मई १९६०, पृष्ठ ६८३-८४

समितियों (Non Credit Societies) को राज्य सरकारों द्वारा अधिकतम ऋण दिये गये। राज्य तथा केन्द्रीय बैंकों का स्थान इसके पश्चात् आता है।

प्रश्न

1. What are the main agencies at work in the provision of agricultural finance in India? Examine their adequacy, along with your suggestions, if any *(Rajputana, 1952, 1955)*

2. Examine the existing agencies for financing agriculture in India. What have been their limitations? What steps have been taken in recent years to remove them? *(Patna, 1956)*

3. What are your suggestions for the reorganisation of rural credit in this country? Has the role of the Reserve Bank of India in the provision of agricultural credit been satisfactory?



अध्याय १५

भारतीय कृषि नीति का विकास

(Evolution of Indian Agricultural Policy)

कृषि ही भारतवर्ष की आधार शिला है। यही उसकी विशाल जनसंख्या के लगभग ७०% भाग की रोटी रोज़ी की समस्या को हल करती है। दूसरे शब्दों में, भारत के राष्ट्रीय ढाँचे में कृषि का स्थान सर्वोपरि है और हमारी आर्थिक उन्नति उसके विकास पर ही निर्भर है। परन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है। डॉ० क्लाउस्टन के शब्द "भारत में दलित जातियाँ हैं, दलित उद्योग भी हैं, और दुर्भाग्य से कृषि उनमें से एक है" अक्षरशः सत्य हैं। भारतीय कृषि के विकास के प्रति विदेशी सरकार की नीति भी बहुत सराहनीय नहीं रही है। समय-समय पर जो कदम उठाये गये, वे केवल भारतीय कृषकों के आँसू पोंछने के तुल्य रहे हैं। विदेशी सरकार अपने शासनकाल में ऐसी कृषि नीति को अपनाती रही है जो उसके हित में थी।

प्लासी के युद्ध के ठीक ३० वर्ष पश्चात् सन् १७८७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने Dr. Hove को भारतीय कपास व्यापार तथा कपास के पौधों का अध्ययन करने के लिए भेजा क्योंकि कम्पनी भारत में उत्पन्न की जाने वाली कपास के गुण (quality) में रुचि (interest) रखती थी। कपास के गुण के अनुसार ही उसके द्वारा बनाये जाने वाले कपड़े के गुण का भी निर्धारण होता था। कम्पनी तथा तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार का यह दृष्टिकोण स्वतन्त्रता के पूर्व तक चलता रहा। यद्यपि ब्रिटिश शासकों द्वारा निर्मित कृषि नीति में अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य भी समय समय पर सम्मिलित होते गये। यह कहना गलत होगा कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगपतियों के हित में भारतीय हितों को हानि पहुँचाई। कम्पनी का उद्देश्य केवल लाभ कमाना था। अतः कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगपतियों के विरोध के बावजूद भी भारतीय उद्योगों को बढ़ाने की पूरी पूरी कोशिश की। जब ब्रिटेन में सूती वस्त्र उद्योग का पूर्णतया विकास हो गया और भारतीय वस्त्र उनका मुकाबला न कर सके, स्वभावतः कम्पनी को अपना रुख बदलना पड़ा।

सन् १८०५ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली (Lord Wellesley)

भारतीय सरकार के ऊपर खाद्यान्न की पूर्ति का दोहरा दायित्व आ गया। एक ओर तो देश के नागरिकों की और दूसरी ओर युद्ध में लगे हुए व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी। खाद्यान्न की पूर्ति के अभाव ने भारतीय सरकार को फरवरी सन् १९४२ में प्रथम खाद्य उत्पादन परिषद् को बुलाने के लिए विवश किया। इस परिषद् की सिफारिशों के आधार पर ही 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Campaign) १९४३-४७ का निर्माण हुआ। सन् १९४० में केन्द्रीय सरकार ने कृषि विकास तथा खोज की योजनाओं को चलाने के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक अनुदान (Financial Grants) देना प्रारम्भ कर दिया।

खाद्यान्न नीति समिति १९४४—खाद्यान्न नीति समिति जो कि Gregory Committee के नाम से प्रसिद्ध है, ने अपनी रिपोर्ट में तत्काल खाद्य उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक अन्न उपजाओ योजना की सिफारिशों के परिचालन पर जोर दिया। समिति ने तरकारियों तथा फलों के उत्पादन को बढ़ाने की भी सिफारिश की। खेती में सुधार करने के तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक तात्त्विक सुझाव दिये। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की कृषि सम्बन्धी योजनाओं में समन्वय स्थापित करने का सुझाव दिया जिससे खाद्यान्नों पर नियन्त्रण आसानी से रखा जा सके।

खरेगाट रिपोर्ट (The Kharegat Report 1944)—Imperial Council of Agricultural Research की एक विशेष समिति जिसके अध्यक्ष *Sir Pheroze Kharegat* थे, ने भारतीय कृषि विकास के सम्बन्ध में १९४४ में एक रिपोर्ट प्रदित की। इस समिति ने कृषि नीति के अतिरिक्त भूमि संरक्षण, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने तथा जल शक्ति के प्रयोग में भी महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सिंचाई तथा बहुउद्देशीय बाँधों के निर्माण पर अत्यधिक जोर दिया।

बंगाल अकाल जाँच आयोग १९४५—बंगाल अकाल जाँच आयोग १९४५ ने अपनी रिपोर्ट में सरकार को अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। सिफारिशों पर पूर्णतया विचार करने के पश्चात् सरकार ने जनवरी १९४६ में अपनी खाद्य एवं कृषि नीति को घोषित किया। नीति के अनुसार सरकार का उद्देश्य केवल अकाल के प्रकोपों को दूर करना ही न होगा बल्कि वह किसान की दशा को सुधार कर उपभोग के स्तर को ऊँचा करेगी तथा एक स्वस्थ एवं कुशल श्रम शक्ति का निर्माण करेगी।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास समिति रिपोर्ट १९४७ व ४८

सितम्बर १९४७ में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में खाद्यान्न नीति समिति नियुक्त की गई थी। इस समिति ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट नवम्बर १९४७ में तथा अंतिम (final) रिपोर्ट मई १९४८ में घोषित की। इस समिति का उद्देश्य देश के विभाजन द्वारा उत्पन्न कृषि एवं खाद्य संकट का अध्ययन करना था। अंतरिम

(३) बीज खाद व उर्वरकों की पूर्ति की योजनाएँ, और

(४) विविध योजनाएं।

(१) छोटे सिंचाई के कार्य (Minor Irrigation Works)—इसके अन्तर्गत कुंओं की मरम्मत कराना, नये कुएं खुदवाना, तालाब बनवाना, पुराने तालाबों की सफाई व मरम्मत करवाना तथा ट्यूब वेल लगवाना आदि हैं।

(२) भूमि सुधार के कार्य (Land Reclamation Work)—इसके अन्तर्गत ऊसर भूमि को खेती योग्य बनाना, भूमि संरक्षण के लिए मेड़ बनवाना तथा यान्त्रिक खेती करवाना आदि हैं।

(३) बीज खाद व उर्वरकों की पूर्ति की योजनाएं—इसके अन्तर्गत उन्नत बीजों, खाद, उर्वरक आदि को लोकप्रिय बनाने के लिए आर्थिक सहायता (subsidies) देते हैं। इसके अतिरिक्त अल्प कालीन ऋण दिये जाते हैं।

(४) विविध योजनाएँ (Miscellaneous Schemes)—इसके अन्तर्गत सरकार सहायक खाद्य पदार्थों जैसे चुकन्दर, केला, आलू तथा अन्य सब्जियों की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन देती है। फसलों को बीमारियों से बचाने, जंगली जानवरों से बचत करने आदि की योजनाएँ सम्मिलित हैं। ऐसी योजनाएँ भी अपनाई गई हैं जिससे किसानों को अपने खेतों पर उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिले।

'अधिक अन्न उपजाओ' का संशोधित पंचवर्षीय कार्यक्रम—इस प्रकार से 'अधिक अन्न उपजाओ' का संशोधित नया पंचवर्षीय कार्यक्रम लागू हुआ। अगस्त १९४९ में भारतीय सरकार के खाद्य आयुक्त ने कार्यक्रम की व्याख्या विस्तार में की। आयुक्त ने नवीन अधिक अन्न उपजाओ योजना को सरकार द्वारा निश्चित युद्ध स्तर पर चलाने पर जोर दिया और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्यक्रम व योजनाएँ बनाईं। प्रत्येक राज्य (State) में खाद्य आयुक्त (Food Commissioner) के साथ कैबिनेट की एक समिति होगी और इस समिति का मन्त्री खाद्य आयुक्त होगा। इस समिति का उत्तरदायित्व नवीन अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम को चलाने का होगा। प्रत्येक जिले में एक जिला अधिकारी (District Officer) होगा जिसका कर्तव्य विभिन्न विभागों की क्रियाओं का समन्वय करना होगा। गैर सरकारी संगठन भी होगा जो कि किसानों से व्यक्तिगत रूप में सम्बन्ध स्थापित करेंगे और उनके उत्तरदायित्व को निभाने की सलाह देंगे।

कृषि नीति की घोषणा में राज्यों (States) को 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत उदार अनुदान (grants in aid) देने की शर्तें भी बताई गईं। बेकार अथवा ऊसर भूमि को पुनः खेती योग्य बनाने के लिए ऋण देने की व्यवस्था भी की गई। केन्द्रीय सरकार ने स्वयं अपना 'केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन'

(Central Tractor Organisation) स्थापित कर लिया है और इसके परिणाम भी बहुत सन्तोषजनक रहे हैं।

'नवीन अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम लोचपूर्ण था और इसमें आवश्यकतानुसार समय समय पर उद्देश्यों तथा विधियों में संशोधन कर दिया जाता था। १६४९ में रुपये के अवमूल्यन (devaluation) तथा अन्य समस्याओं के कारण जूट कपास का संकट उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान से आयात लगभग बन्द हो गये। अब जून १६५० में खाद्य उत्पादन के साथ साथ जूट तथा कपास के उत्पादन को बढ़ाने की भी घोषणा की गई। कालान्तर में नवीन अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत समुद्री तथा आन्तरिक मत्स्य उद्योग (fishery) तथा सहायक खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने की योजनाएं भी सम्मिलित कर ली गईं। खाद्य पदार्थों के स्थानान्तरण (transportation) को सुगम बनाने के लिए एक विशिष्ट 'पूर्ति तथा गति संगठन' (Supply and Movements Organisation) (जैसा कि लार्ड बायड ओर ने सुझाव दिया था) स्थापित किया गया। लार्ड बायड ओर ने एक यह भी सिफारिश की थी कि व्यक्तिगत रूप से किसान को खाद्य उत्पादन बढ़ाने के उत्तरदायित्व को समझाना चाहिए। तदनुसार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए फसल उत्पादन प्रतियोगिता तथा पुरस्कार का आयोजन किया गया है। इस योजना ने आगे बढ़कर 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' (N E S) तथा अन्य सहायक योजनाओं का रूप धारण कर लिया।

'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के परिणाम तथा विवेचना

१६५०-५१ के अन्त में केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय ने 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के परिणामों की विवेचना (review) करवाई। Indian Council of Agricultural Research ने भी इस सम्बन्ध में जाँच की। केन्द्रीय सरकार ने उक्त संस्थाओं द्वारा की गई विवेचना के अनुसार 'अधिक अन्न उपजाओ' नीति में निम्न संशोधन किये —

(१) सुनिश्चित वर्षा तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों में बीज तथा खाद की योजनाओं का केन्द्रीयकरण।

(२) सिंचाई की छोटी योजनाओं तथा भूमि सुधार के लिए सघन (compact) क्षेत्रों का चुनाव।

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा चालित तथा अर्थप्रबन्धित (financed) नल कूपों (tub-wells) के निर्माण का विशेष कार्यक्रम।

(४) स्थायी परिणाम देने वाली योजनाओं पर जोर देना।

(५) राज्य अनुदान (subsidies) की अपेक्षा ऋणों के द्वारा भूमि सुधार-योजनाओं को बढ़ावा देना।

(६) 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत पशु तथा मछली उद्योग की योजनाओं को सम्मिलित करना।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि नीति

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने सरकार देश की खाद्य तथा कृषि नीति में, जो कि अब १९४८ में अपनाई जा रही थी, और विस्तार कर दिया। नीति का उद्देश्य सम्पूर्ण देश के लिए पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न करना था जो कि न केवल मात्रा में ही अधिक हो, बल्कि गुण (quality) में भी। योजना के आरम्भ होने से पूर्व देश में खाद्य व अखाद्य फसलों का उत्पादन आवश्यकता से कम होता था। प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य देश के आय और उपभोग के स्तर को द्वितीय महायुद्ध के समय प्रचलित स्तर पर लाना था। खाद्यान्न की समस्या के अतिरिक्त देश में युद्ध तथा विभाजन के कारण आधारभूत कृषि कच्चे माल की समस्या भी थी। अतः नीति के विस्तृत ढाँचे के अन्तर्गत योजना को देश के खाद्यान्नों के तथा कुछ मुख्य अखाद्य फसलों जैसे कपास, जूट, गन्ना तथा तिलहन के उत्पादन की ओर भी विशेष ध्यान देना पड़ा।

योजना के आरम्भ में देश में तीस लाख टन खाद्य पदार्थों की कमी थी। उस कमी को दूर करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये—

वस्तु	उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	७.६ मि० टन	१४
तिलहन	०.४ मि० टन	८
गन्ना	०.७ मि० टन	१२
कपास	१.३ मि० गाँठें	४५
पटसन	२.१ मि० गाँठें	६४

प्रथम योजना में कृषि और सामुदायिक विकास पर ३५७ करोड़ रुपये तथा सिंचाई और शक्ति पर ६६१ करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे, जो कुल व्यय के क्रमशः १५.१% और २८.१% थे। ये दोनों मिल कर प्रथम योजना के लगभग आधे व्यय के बराबर हो जाते हैं। इस प्रकार कहा जाता है कि प्रथम योजना एक कृषि प्रधान योजना थी। इस योजना में सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के साथ-साथ कृषि के विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई।

योजना की प्रगति—योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य योजना काल के पूर्व ही प्राप्त हो गये। निम्न तालिका में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि का स्पष्ट विवरण दिया गया है :—

वस्तु	इकाई	१६५१-५२	५२ ५३	५३-५४	५४ ५५	५५ ५६
खाद्यान्न	मि० टन	५.१२	५.८३	६.८७	६.५५	६.५०
तिलहन	मि० टन	०.४६	०.४७	०.५३	०.५६	०.५५
गन्ना (गुड़)	मि० टन	०.६१	०.५०	०.४४	०.५५	०.५८
कपास	मि०गाँठ	०.३१	०.३२	०.३६	०.४३	०.४२
जूट	मि०गाँठें	०.४७	०.४६	०.३१	०.२६	०.४०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—अनुमान है कि वर्तमान उपभोग की मात्रा के आधार पर द्वितीय योजना के अन्त में देश को लगभग ७०५ लाख टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील औद्योगीकरण के कारण अधिक कृषि सम्बन्धी कच्चे माल की भी आवश्यकता हुई। योजना काल में कृषि उत्पादन के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार निर्धारित किये गये —

वस्तु (Commodities)	इकाई (Units)	१६५५ ५६ में अनुमानित उत्पादन	१६६० ६१ में अनुमानित उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	लाख टन	६५०	७५०	१५
तिलहन	,,	५५	७०	२७
गन्ना (गुड़)	,,	५८	७१	२२
कपास	लाख गाँठ	४२	५५	३१
पटसन	,,	४०	५०	२५

उक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए द्वितीय योजना काल में कृषि तथा सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे, जो कि कुल व्यय के ११.८% है। इन ५६८ करोड़ रुपये में से ३४१ करोड़ रुपये कृषि कार्यक्रमों पर और शेष २२७ करोड़ रुपये सामुदायिक विकास योजनाओं आदि पर व्यय किये जायेंगे। योजना के प्रकाशित होते ही देश के कुछ अर्थशास्त्रियों ने योजना की आलोचना करते हुए कहा कि देश में कृषि की अपेक्षा उद्योगों पर अधिक जोर दिया गया। उद्योगों पर व्यय की जाने वाली धन-राशि ८८० करोड़ रुपये जो कुल व्यय की १८.५% थी। फलस्वरूप

राष्ट्र परिषद् ने कृषि उत्पादन पर अधिक जोर दिया। जब योजना की उपयुक्तता के सम्बन्ध में वादविवाद अधिक बढ़ने लगा तो नेहरू जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "वस्तु स्थिति हमारे सम्मुख है, हमें दो में से एक को चुनना है—कृषि उत्पादन बढ़ाकर योजना को सफल बनाना या योजना को ही छोड़ देना। इसके अलावा कोई तीसरा रास्ता नहीं है।"

फलस्वरूप योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्यों को पहले से २८ प्रतिशत बढ़ा दिया गया है। इसमें से खाद्यान्न का लक्ष्य पहले से २५% अधिक है और अखाद्य अथवा व्यापारिक (cash) फसलों का लक्ष्य ३८% अधिक है। संशोधित लक्ष्य प्रारम्भिक लक्ष्यों के साथ साथ निम्न तालिका में दर्शाये गये हैं—

वस्तु (Commodities)	इकाई Units	१९५५-५६ का उत्पादन	योजना के प्रारम्भिक कल्पनाओं लक्ष्य	संशोधित लक्ष्य	वृद्धि का प्रतिशत	
					योजना के अनुसार	संशोधित
खाद्यान्न	लाख टन	६५०	७५०	८०६	१६	२४ ६
तिलहन	,,	५५	७०	७६	२७	३७ ०
गन्ना (गुड़)	,,	५८	७१	७८	२२	३३ ९
कपास	लाख गांठ	४२	५५	६५	३१	५५ ६
पटसन	,,	४०	५०	५५	२३	५८ १

योजनाओं पर व्यय

प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत क्रमश: २४० करोड़ और ३४१ करोड़ रुपये कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। इस धन राशि में सामुदायिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के व्यय सम्मिलित नहीं हैं। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न मदों पर व्यय की जाने वाली धन राशि तथा उसका प्रतिशत निम्न तालिका से ज्ञात होगा—

विकास के मद	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	करोड़ रुपये	योग का प्रतिशत	करोड़ रुपये	योग का प्रतिशत
कृषि	१९६	८१'७	१७०	४९ ९
पशु पालन	२२	९ २	५६	१६ ४
वन और भूमि संरक्षण	१०	४ २	४७	१३ ८
मछली	४	१ ६	१२	३ ५
गोदाम एवं विपणन तथा सहकारिता	७	२ ९	४७	१३ ८
अन्य	१	० ४	९	२ ६
योग	२४०	१०० ०	३४१	१०० ०

द्वितीय योजना में कृषि विकास के उद्देश्य—प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि तथा ग्रामोत्थान करना था। द्वितीय योजना में खाद्यान्न के साथ व्यापारिक (cash) फसलों की वृद्धि तथा सहायक खाद्य वस्तुओं की वृद्धि पर भी जोर दिया गया है। योजना में कृषि विकास सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(१) कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है, जब कि प्रथम योजना में १५% था।

(२) कृषि उत्पादन में विभिन्नता।

(३) जब जैसे जीवन-स्तर में उन्नति होगी और औद्योगिक कलेवर विकसित होगा वैसे वैसे व्यापारिक फसलों और सहायक खाद्य वस्तुएँ जैसे तरकारी, फल, दूध के पदार्थ, मछली, अण्डे और मांस के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना होगा।

(४) आर्थिक कुशलता से भूमि का प्रयोग एवं प्रबन्ध करने के लिए संस्थात्मक (institutional arrangement) के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा, जिससे भूमि पर निर्भर जनसंख्या के साथ अधिकतम सामाजिक न्याय हो सके।

द्वितीय योजना में कृषि नियोजन की विशेषताएँ—प्रमुख विशेषताएँ निम्न लिखित हैं—

(१) भूमि के प्रयोग करने की योजना बनाना।

(२) कृषि उत्पादन के दीर्घकालीन व अल्पकालीन लक्ष्यों को निर्धारित करना।

(३) उत्पादन लक्ष्यों में सरकारी सहायता, विकास कार्यक्रम तथा भूमि प्रयोग योजनाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध करना।

(४) उपयुक्त मूल्य नीति का निर्धारण करना।

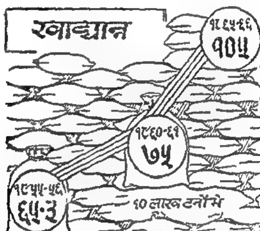
योजना के कार्यान्वन में जो बाधाएँ आई हैं उनसे योजना का पुनर्मूल्यांकन दो बार किया जा चुका है। सन् १९५८ के खाद्य संकट के पुनर्मूल्यांकन के समय खाद्य उत्पादन के लक्ष्य में संशोधन किया गया है, जिसके अनुसार १०० लाख टन की जगह अब ११५ लाख टन की वृद्धि की जायगी।

योजनाओं की सफलता

योजना के प्रथम दस वर्षों में कृषि के उत्पादन में आशातीत प्रगति हुई है जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। कृषि उत्पादन का सूचनांक भी वर्ष प्रति वर्ष बढ़ता ही चला गया है। अग्रलिखित में १९५०-५१ से १९६०-६१ तक की कृषि उत्पादन की वृद्धि दिखाई गई है—

कृषि उपज का सूचनांक (१९४९-५०=१००)

१	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१
सभी जिन्स	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
फसलें	९०·५	११५·३	१३०·[illegible]	१३१·[illegible]
अन्य फसलें	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४३·०



चित्र १०—प्रथम व द्वितीय योजना में खाद्य उत्पादन

तृतीय पचवर्षीय योजना में कृषि नीति

• ५ जुलाई १९६० को योजना आयोग ने तृतीय पचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रकाशित की है, जिसके अनुसार देश के विकास में १०,२०० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। इनमें से ६२०० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में तथा ४०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में लगेंगे। योजना में कृषि को प्रथम स्थान दिया गया है। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता और उद्योगों तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की पैदावार बढ़ाना तृतीय योजना का मुख्य उद्देश्य है। अतः कृषि और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में १०२५ करोड़ रुपये तथा सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रुपये रखे गये हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान है कि जनता अपनी ओर से भी इन कार्यों पर ८०० करोड़ रुपये लगायेगी। खेती की पैदावार में ३० से ३३ प्रतिशत वृद्धि की जायगी अर्थात् खाद्यान्न का उत्पादन ७५ करोड़ टन से बढ़

कर १० करोड़ ५० लाख टन हो जायगा। प्रमुख फसलों के उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार हैं—

घरेलू व्यवहार की वस्तुएँ	वार्षिक उत्पादन	
	१९६० ६१ (अनुमानित)	१९६५ ६६ (लक्ष्य)
खाद्यान्न (लाख टनों में)	७५०	१०००-१०५०
तिलहन (,, ,, ,,)	७२	९२ ९५
गन्ना (गुड़ के रूप में) (ला० ट० में)	७२	९० ९२
कपास ,, ,, ,,	५४	७२
पटसन (लाख गाँठों में)	५५	६५

खाद्यान्न की पैदावार बढ़ाने का लक्ष्य इस हिसाब से रखा गया है कि प्रति-[illegible] प्रति दिन औसत १५ औंस अनाज और ३ औंस दाल, खाने को मिल सके और [illegible] के समय के लिये भी कुछ अनाज बच जाय। कपास की पैदावार का जो लक्ष्य है उससे प्रति वर्ष औसत १७½ गज के हिसाब से कपड़ा मिल सकेगा और निर्यात के लिए भी कुछ बचेगा।

इसके अतिरिक्त फल, शाक, दूध, मछली, मांस, अंडा, नारियल, सुपारी, काजू, कालीमिर्च, तम्बाकू, चमड़ा और लकड़ी आदि की भी पैदावार बढ़ाने की पूरी कोशिश की जायगी।

तृतीय योजना के अन्त तक सिंचाई का क्षेत्रफल ९ करोड़ एकड़ हो जायगा, जब कि दूसरी योजना के अन्त में वह ७ करोड़ एकड़ होगा।

प्रश्न

1 Write a short note on the 'State and Agriculture' (*Agra, 1957*)

2 State the role which the State should play in the agricultural development of India (*Agra, 1955*)

3 Describe the attempts made so far to meet the long term needs of agriculture To what extent have these been successful in achieving their objective ? (*Punjab, 1958*)

अध्याय १६

सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा

(Community Development Projects and National Extension Service)

भारत ग्रामों का एक देश है। कुल जनसंख्या का ८२ ७% भाग ५,५८,०८६ ग्रामों में रहता है और शेष १७ ३% नगरों में। इसीलिए महात्मा गाधी ने कहा था कि 'भारत ग्रामों में बसा है।' ग्रामों का बहुमुखी विकास देश की सुख समृद्धि के लिए उचित ही नहीं वरन् अनिवार्य है। ग्रामोत्थान की कल्पना से विहीन राष्ट्रीय विकास की किसी भी योजना का चित्र अधूरा ही रहेगा। भारत का ग्राम्य जीवन आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सभी दृष्टिकोणों से अत्यन्त पिछड़ा हुआ तथा नैराश्यपूर्ण है। निर्धनता, पूर्ण व आशिक बेकारी, निरक्षरता, अन्ध विश्वास तथा रूढ़िवादिता आदि भारतीय ग्राम्य-जीवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक प्रगतिशील मङ्गलकारी राज्य में इन दोषों को दूर कर सुखी तथा सम्पन्न समाज की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है। आज यह सर्वमान्य है कि भारत की समृद्धि ग्राम्य जीवन की उन्नति में है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने ग्रामोत्थान का बीड़ा उठाया और प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय-प्रसार सेवाएँ प्रारम्भ की। नि सदेह ये योजनाएँ साधारण भारतीय कृषक के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का उद्देश्य है कि "जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो और उसे जीवन के उच्चतम स्तर पर पहुचाने के लिए प्रेरणा मिले तथा भारतीय ग्रामों के सात करोड़ परिवारों में उच्च जीवन स्तर बनाने की इच्छा उत्पन्न हो।"

परिभाषा एव अर्थ

सामुदायिक योजनाओं को शब्दों की परिधि के अन्तर्गत बाँधना एक दुरूह

कार्य है यद्यपि आमतौर पर इसका अर्थ सभी समझते हैं। विभिन्न देशों में इसका अर्थ विभिन्न प्रकार से लगाया जाता है। कुछ लोग इसे 'भौतिक प्रगति का द्योतक' कहते हैं जब कि अन्य लोग इसका अर्थ 'आन्दोलन' तथा 'प्रशासन के पक्ष' (aspect of administration) से लगाते हैं। सामुदायिक विकास शब्द की उत्पत्ति सम्भवतः सामूहिक शिक्षा (mass education) शब्द से हुई है। सामूहिक शिक्षा (mass education) का प्रयोग सर्व प्रथम सन् १९४४ में अफ्रीका में हुआ था, जब कि वहाँ 'Mass Education in African Society' नामक रिपोर्ट सलाहकार शिक्षा समिति द्वारा प्रकाशित की गई थी। सामूहिक शिक्षा का तात्पर्य केवल विद्यालय के कक्ष के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा से नहीं था अपितु साक्षरता योजनाओं (mass literacy camps), फिल्मों, पोस्टरों, प्रदर्शनी, गश्ती पत्रों, समाचार पत्रों तथा रेडियो वार्तालाप के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा से था।

महत्वपूर्ण परिभाषायें

(१) "सामुदायिक विकास किसी समुदाय के लोगों के सक्रिय सहयोग तथा पहल (initiative) पर आधारित एक मूल आन्दोलन है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण समुदाय के लोगों के रहन सहन को ऊँचा उठाना है।"*

(२) "सामुदायिक विकास शब्द अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग में आ गया है और ऐसी विधियों की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार जन समुदाय के प्रयत्न स्वयं राजकीय अधिकारियों के प्रयत्नों से मिश्रित होकर समुदायों की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशाओं को सुधारते हैं तथा इन समुदायों को राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित करते हैं, जिससे वे पूर्णरूपेण राष्ट्रीय सहायक हो सकें।"**

योजना आयोग (प्रथम पंचवर्षीय योजना) के अनुसार, "सामुदायिक योजनायें ग्रामों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में काया पलट करने की योजनायें हैं और ग्राम विकास सेवा इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है।"

* 'Community development is a movement and designed to promote better living for the whole community with the active participation and on the initiative of the community."

(The Ashridge Conference of Social Development 1954)

**The term community development has come into international usage to devote the processes by which the efforts of the people themselves are united with those of governmental authorities to improve the economic social and cultural condition of the community to integrate the communities into the life of the nation and to involve them to contribute fully to national progress."

The 20th REPORT TO ECOSOC of the United Nations Administrative Committee on Co-ordination, 1956

सामुदायिक विकास योजनाओं का महत्व

सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक सजीव आन्दोलन है। इस कार्यक्रम के द्वारा राष्ट्रीय धन के असमान वितरण पर शान्त रूप से आक्रमण किया जा रहा है और अमीर और गरीब के बीच की खाई को पाटा जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के टेक्निकल को-आपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन (T C A) के उपसंचालक श्री लाशबॉ (Lochbough) के शब्दों में "यह एक गहन विकास की समस्या के लिए संगठित तथा नियोजित पहुँच है।" इस कार्यक्रम का उद्देश्य विशाल ग्रामीण समुदाय को वास्तविक स्वतन्त्रता का आभास कराने का संदेश है। हमारे देश की ग्रामीण जनता को नवीन योग्यता तथा नवीन जीवन की राहें प्राप्त होंगी और पूर्ण एवं समृद्धिशाली जीवन को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलेगी। वास्तव में इस कार्यक्रम का उद्देश्य अन्त तक ऐसी व्यवस्था को बनाना है जिससे संविधान में निहित लक्ष्य 'कल्याणकारी राज्य' को प्राप्त करना है। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी क्रान्ति को प्रारम्भ करना है जिससे लोगों के दृष्टिकोण तथा विधियों में शान्तमय परिवर्तन हो जाय। श्री नेहरू ने ठीक ही कहा है कि "सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक ऐसी क्रान्ति को लावेगा जिसके अन्तर्गत कोई उथल पुथल, कोई रक्तपात अथवा अराजकता न होगी। यह क्रान्ति सहकारिता के द्वारा होगी।*

सामुदायिक विकास मन्त्री श्री एस० के० डे ने इसका महत्व बताते हुए कहा था कि "सामुदायिक योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपालन एक चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना एक ऐसे जंगल के समान नहीं है जिसमें मुक्त व्यापार की तरह वृक्ष तथा वनस्पतियाँ भी हों।" प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू ने इसके महत्ता की व्याख्या करते हुए कहा है कि "समस्त भारत में मानव क्रियाओं के ये केन्द्र ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जो गहन अन्धकार में प्रकाश फैला रहे हैं। यह प्रकाश उस समय तक फैलता रहेगा, जब तक समस्त भारत भूमि आलोकित न हो उठे।" राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने भी आशा प्रकट करते हुए कहा है कि "ये योजनाएँ ऐसे छोटे बीज की तरह हैं जो एक दिन विशाल वृक्ष में परिणित हो जायगा।"

ऐतिहासिक विकास

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का प्रारम्भ सन् १९४४ से होता है जब कि मध्य प्रदेश में सेवाश्रम नामक स्थान पर, बम्बई में सर्वोदय केन्द्रों तथा मद्रास में फिरका

*Community development programme would usher in a revolution that would not see any upheaval any bloodshed or chaos It would be a revolution through co operation —*Sri Nehru*

विकास योजना (Firca Development Scheme) के अन्तर्गत तथा उत्तर प्रदेश में इटावा, फैजाबाद तथा गोरखपुर के Pilot Projects में सघन ग्रामीण विकास सम्बन्धी प्रयोग (experiments) किये गये। इन प्रयोगों के फल बहुत ही प्रेरणात्मक थे। फलतः राष्ट्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया।

स्वतन्त्रता के पश्चात्

सामुदायिक विकास कार्यक्रम जिसका उद्देश्य भारत की विशाल ग्रामीण जन संख्या का व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याण करना है, महात्मा गांधी के जन्म दिवस २ अक्तूबर, सन् १९५२ को चुने हुए ५५ योजना कार्य क्षेत्रों में आरम्भ किया गया था। प्रत्येक योजना कार्य में ५०० वर्ग मील के क्षेत्रफल में फैले हुए लगभग २ लाख की जनसंख्या के लगभग ३०० गाँव आते हैं। यह कार्यक्रम 'अपनी सहायता स्वयं करने' का कार्यक्रम है जिसका आयोजन तथा क्रियान्वन स्वयं ग्रामीणों को करना है। सरकार की ओर से केवल प्राविधिक मार्गदर्शन तथा वित्तीय सहायता मिलेगी। पंचायतों, सहकारी समितियों, और विकास मण्डलों जैसे लोक संगठनों द्वारा सामूहिक चिंतन तथा सामूहिक कार्य को प्रोत्साहन दिया जाता है।

इस कार्यक्रम में कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई है। इसकी गतिविधियों में उत्तम संचार साधनों की व्यवस्था करना, स्वास्थ्य तथा सफाई की सुविधाओं में सुधार करना, उत्तम आवास की व्यवस्था करना, शिक्षा का प्रसार करना, नारी तथा बाल कल्याण-कार्य करना और कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास करना सम्मिलित है।

यह कार्यक्रम खण्डों के रूप में कार्यान्वित किया जाता है। प्रत्येक खण्ड में सामान्यतः १५० वर्गमील में फैले तथा ६० ७० हजार की जनसंख्या से युक्त १०० गाँव आते हैं। कुछ ही समय पूर्व तक यह कार्यक्रम तीन अलग अलग चरणों में किया जाता रहा।

अप्रैल, १९५८ में इस पद्धति के स्थान पर दो चरणों में कार्य करना आरम्भ किया गया। पाँच वर्ष भरपूर विकास किये जाने के बाद प्रत्येक खण्ड के दूसरे चरण का कार्यकाल आरम्भ होता है। दूसरे चरण का विकास कार्य अगले पाँच वर्षों तक कुछ कम व्यय के साथ किया जाता है।

३१ दिसम्बर, १९५८ तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग १६.५० करोड़ की जनसंख्या के ३,०२,६४० गाँवों से युक्त २,४०५ खण्ड आ चुके थे। सामुदायिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की इस परिवर्तित पद्धति का प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप अक्तूबर, १९६३ तक सम्पूर्ण देश इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ जायगा।

सामुदायिक विकास योजनाओं के शुभारम्भ के ठीक एक वर्ष पश्चात् २ अक्तूबर १९५३ को 'राष्ट्रीय प्रसार सेवा' (National Extension Service) का सचालन हुआ। राष्ट्रीय प्रसार सेवा के भी उद्देश्य सामुदायिक योजनाओं की भाँति ही है, अन्तर केवल कार्यक्रमों के पैमाने का है।

सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं में अन्तर— चूँकि दोनों योजनाएँ एक दूसरे की पूरक, सहसम्बन्धित तथा सहगामी हैं अतः ये केन्द्रीय तथा राज्यीय दोनों ही स्तरों पर एक ही सस्था के अन्तर्गत हैं। योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन श्री वी० टी० कृष्णामाचारी ने दोनों योजनाओं का सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"राष्ट्रीय प्रसार सेवा एक स्थायी सगठन है और सम्पूर्ण देश को आच्छादित कर लेगा। इसके अन्तर्गत आधारभूत सगठन सरकारी तथा गैर सरकारी तथा विकासार्थ न्यूनतम अर्थ व्यवस्था का प्रावधान है। अधिक धन की पूर्ति केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के निजी साधनों के द्वारा की जायगी। राष्ट्रीय प्रसार सेवा खड जिनम सतोषजनक परिणाम रहे हैं और जिनमे अधिकतम जन सहयोग प्राप्त हुआ है, गहन विकास के लिए तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। इनको सामुदायिक योजनाएँ (Community Projects) कहते हैं। इन योजनाओं म विकास कार्यक्रम अधिक व्यापक होता है।"

योजना आयोग के शब्दों में "सामुदायिक विकास एक प्रणाली है और राष्ट्रीय विस्तार सेवा एक प्रविधि (process) है, जिससे ग्रामीण निर्माण के लिए सफल और सर्वाङ्गीण प्रयत्न किया जा रहा है। यह 'सेवा योजना' ग्रामीण निर्माण की सभी चालू योजनाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक और बहुमुखी है। निम्न स्तर से देहातों के उत्थान के लिए यह एक महत्वपूर्ण बुनियादी योजना है।"

अब राष्ट्रीय प्रसार सेवा तथा सामुदायिक विकास योजनाओं की क्रियाओं की इकाई एक समान (uniform) है, जिसको 'विकास खड' (Development Block) कहते हैं। इस खण्ड के अन्तर्गत औसतन १०० ग्राम आते हैं, जिनका क्षेत्र फल १२५ से १७० वर्ग मील तथा ६०,००० से ७०,००० तक की जनसख्या आती है। परन्तु राष्ट्रीय प्रसार खड उतनी गहनता से विकसित नहीं किये जाते जितना कि सामुदायिक विकास योजना के क्षेत्रों को किया जाता है। समय समय पर राष्ट्रीय विकास सेवा खडों का पर्यवेक्षण किया जाता है और इनम से सबसे अधिक विकसित खडों को चुन लिया जाता है। इन चुने हुए खडों को ही सामुदायिक विकास खड (C D Blocks) कहते हैं।

कार्यान्वित का समय (Timing of Operations)

एक सामुदायिक विकास योजना के पूरे होने के समय की अवधि ३ वर्ष है। इस अवधि को ५ अवस्थाओं (stages) में विभाजित किया गया है —

(१) **विचार निर्माण (Conception)**—इस अवस्था की अवधि तीन माह होती है। इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक विकास योजना (D P) की स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् उसकी प्रारम्भिक विकास रूपरेखा बनाई जाती है।

(२) **कार्यारम्भ (Initiation)**—इस अवस्था की अवधि ६ माह होती है। इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक विकास योजना (D P) में कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

(३) **कार्यान्वित (Operation)**—इस अवस्था के लिए ८ माह का समय है। इस अवधि में पूरे जोर शोर से काम किया जाता है।

(४) **सघनन (Consolidation)**—इस अवस्था की अवधि ६ माह होती है। इस अवधि के अन्तर्गत समस्याओं तथा अधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों को संगठित किया जाता है तथा उस क्षेत्र के प्रशासन को स्वावलम्बी बनाया जाता है।

(५) **परिरूपण (Finalisation)**—इस अवस्था की अवधि ३ माह है। इस क्षेत्र के प्रशासन में स्वावलम्बन आ जाता है तब केन्द्रीय और राज्य सरकार के निर्देशक तथा अधिकारी क्षेत्र के प्रशासन का स्थानीय अधिकारियों को सौंप कर दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं।

सामुदायिक विकास योजना के सम्पूर्ण कार्यक्रम को तीन चरणों (phases) में विभाजित किया गया है—

(१) विस्तृत विकास अवस्था (Extensive development stage),

(२) गहन विकास अवस्था (Intensive development stage), तथा

(३) गहन उत्तर विकास अवस्था (Post intensive development stage)

श्री बलवन्त राय मेहता समिति ने अपनी रिपोर्ट, जो कि नवम्बर १९५७ को प्रकाशित हुई, में उपरोक्त विभाजन का गम्भीर शब्दों में विरोध किया है। समिति ने विकास योजना को उक्त तीन अवस्थाओं (stages) में विभाजित करने की सिफारिश की है। समिति ने यह भी इंगित किया कि विकास योजनाओं का द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश में प्रसारित करना अनिवार्य है।

इन सिफारिशों को केन्द्रीय सामुदायिक विकास परिषद (N D C) द्वारा क्रमशः अप्रैल और मई १९५८ में कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया गया है। नवीन योजना, जो कि १ अप्रैल, १९५८ से लागू हो गई है, के अनुसार राष्ट्रीय

प्रसार सेवा (N E S) खडों और सामुदायिक विकास योजना (C D P) खडों म कोई अन्तर नहीं है और न अब गहन-उत्तर विकास अवस्था (post intensive development stage) ही है। कार्यक्रम को पाच पाँच वर्ष की दो अवस्थाओं में क्रियान्वित किया जायगा और उन पर क्रमश १२ लाख रुपये और ५ लाख रुपये व्यय किए जायँगे। पूर्ण विस्तार (coverage) अक्टूबर १९६३ तक हो जावेगा।

विकास कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Features of the Programme)

विशेषताएँ

(१) ग्रामों का सर्वाङ्गीण विकास,
(२) कृषि की उन्नति,
(३) जन सहयोग, श्रमदान, द्रव्यदान और स्वय सेवा, तथा
(४) ग्राम सेवक।

कार्यक्रम

कार्यक्रम के अन्तगत निम्न क्रियाए आती हैं —

(१) कृषि तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्र में

(अ) उपलब्ध ऊसर एव बेकार भूमि को उपजाऊ बनाना

(ब) सिंचाई के लिए नहरों, नलकूपों, कुओं, तालाबों तथा झील आदि के द्वारा पानी की व्यवस्था करना

(स) उन्नतिशील, कृषि सम्बन्धी प्रविधियों, बीजों, औजारों, विपणन तथा साख सम्बन्धी सुविधाओं, भूमि अनुसधान, खाद, तथा पशु चिकित्सा एव गर्भाधान केन्द्रों आदि की व्यवस्था करना

(द) आन्तरिक मछली उद्योग, फल तथा तरकारी की खेती तथा वृक्षारोपण आदि का विकास करना तथा

(य) प्रमुख ग्रामीण योजनाओं को चलाना।

(२) सहकारी समितियाँ

नवीन सहकारी समितियों को स्थापित करना तथा वतमान समितियों को सुदृढ़ बनाना, जिससे क्षेत्र का प्रत्येक सदस्य इसके अन्तर्गत आ जाए।

(३) रोजगार

(अ) सहकारिता के आधार पर नियोजित वितरण, व्यापार, सहायक तथा मगल कारी सेवाओं के द्वारा रोजगार को बढ़ावा देना

(ब) कुटीर, माध्यम तथा छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

(४) सवादवाहन एवं यातायात

(अ) कच्ची तथा पक्की सड़कों की व्यवस्था करना,

(ब) मोटर यातायात को बढ़ावा देना,

(स) पशु यातायात का विकास करना।

(५) शिक्षा

(अ) प्रारम्भिक, माध्यमिक एव सामाजिक शिक्षा की अनिवार्य तथा निःशुल्क व्यवस्था करना,

(ब) पुस्तकालय की व्यवस्था करना,

(स) व्यवसाय सम्बन्धी तथा प्राविधिक शिक्षा (technical) पर विशेष जोर देना।

) स्वास्थ्य

(अ) स्वच्छता तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था करना;

(ब) बीमारी, प्रसूतिका तथा दाइयों की सेवाओं की व्यवस्था करना।

(७) प्रशिक्षण

(अ) वर्तमान कार्यकर्ताओं के स्तर को ऊँचा करने के लिए रिफ्रेशर कोर्स (Refresher Courses) की व्यवस्था करना, तथा

(ब) विकास योजनाओं (D P) के लिए आवश्यक प्रशिक्षित व्यक्तियों को तैयार करना।

(८) आवास व्यवस्था

ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में भवन निर्माण के लिए उन्नत प्रविधियों (techniques) तथा डिजाइनों की व्यवस्था करना।

(९) सामाजिक कल्याण

(अ) व्यक्तियों की योग्यता तथा संस्कृति (culture) का प्रयोग करके तथा दृश्य एव श्रवणीय प्रणाली (Audio-Visual aids) की सहायता से सामुदायिक मनोरंजन की व्यवस्था करना, तथा

(ब) स्थानीय खेलों, मेलों, तमाशों तथा प्रदर्शनियों का सहकारिता के आधार पर सगठन करना।

उद्देश्य

योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन श्री० टी० टी० कृष्णमाचारी ने सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के निम्न चार उद्देश्य बतलाये हैं—

(१) ग्रामीण जनता को अर्ध बेकारी से रिहाई दिलाकर पूर्ण रोजगार दिलाना।

(२) वैज्ञानिक योग्यता का प्रयोग करके ग्रामीण जनता को कृषि के निम्न उत्पादन से बचाकर पूर्ण उत्पादन की ओर ले जाना।

(३) ग्रामीण परिवार को साख योग्य (creditworthy) बना के सहकारिता के सिद्धान्तों को अधिकतम प्रसारित करना।

(४) सार्वजनिक हितकारी कन्द्रों जैसे ग्रामीण सड़कों, तालाबों, कुँओं, स्कूलों, मनोरंजन केन्द्रों आदि के लिए सामूहिक प्रयत्नों को बढ़ावा देना।

संक्षेप म इन योजनाओं का उद्देश्य हमारे ग्रामीण भाइयों को तीन प्रकार के अधिकार देना है —

(अ) जीवित रहने का अधिकार,

(ब) जीविका कमाने का अधिकार, तथा

(स) अर्जित धन का पाने का अधिकार।

स्मरण रहे कि सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि हमारे ग्रामीण भाइयों को अधिक भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी विचारधारा म परिवर्तन हो, उनम श्रेष्ठतर जीवन बिताने की भावना का विकास हो तथा उनकी क्षमता को इस प्रकार विकसित किया जाय जिससे वे चीजों को स्वयं अपने हित में अपना सकें। उक्त योजनाओं को लोक योजना (*People's programme*) कहते हैं। यह योजना जनता की, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए है। हाँ! इसम सरकार भाग अवश्य लेती है परन्तु यह केवल पहल तथा प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से।

योजनाओं का प्रशासन

सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रशासन केन्द्रीय स्तर से लेकर ग्राम स्तर तक विभिन्न संस्थाओं एवं समितियों के द्वारा होता है। इसका सजीव चित्रण निम्न चार्ट म दर्शाया गया है —



राज्य स्तर



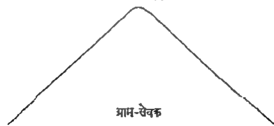
जिला स्तर



खण्ड स्तर



ग्राम स्तर



केन्द्रीय स्तर पर—शीर्ष पर योजनाओं के प्रशासन के लिए एक केन्द्रीय समिति होती है जिसके सदस्य योजना आयोग के सदस्य खाद्य एवं कृषि मंत्रालय तथा सामुदायिक विकास मंत्रालय के मंत्रीगण होते हैं। इस समिति का चेयरमैन प्रधान मन्त्री होता है। केन्द्रीय समिति का कार्य मुख्य नीतियों को बनाना तथा साधारण निरीक्षण करना होता है। २० सितम्बर १९५६ तक केन्द्रीय समिति के अन्तर्गत 'सामुदायिक योजना प्रशासन' (Community Projects Administration) होता था। २० सितम्बर १९५६ से सामुदायिक योजनाओं के लिए एक पृथक् मंत्रालय (सामुदायिक विकास मंत्रालय) बना दिया गया है। इसके मंत्री श्री० एस० के० डे हैं। पृथक मंत्रालय हो जाने पर भी 'सामुदायिक योजना प्रशासन' बनाये रखा गया है जिससे प्रशासन में कोई भ्रम न पड़े।

राज्य स्तर पर—विकास कार्यक्रम को वास्तव में चलाने का दायित्व राज्य सरकारों पर है। राज्य स्तर पर एक राज्य विकास समिति होती है। इस समिति का चेयरमैन मुख्य मन्त्री व इसके सदस्य विकास विभागों के मंत्रीगण होते हैं। विकास आयुक्त इस समिति का सचिव होता है। यह आयुक्त (commissioner) राज्य के सभी विकास विभागों की क्रियाओं का समन्वय करता है।

जिला स्तर पर—जिले के स्तर पर एक जिला नियोजन अथवा विकास समिति होती है। इसका चेयरमैन कलेक्टर होता है। कुछ राज्यों में जिला नियोजन अधिकारी होते हैं। कलेक्टर या जिला नियोजन अधिकारी ही मुख्य प्रशासक होते हैं। कलेक्टर की सहायता के लिए खंड विकास अधिकारी (Block Development Officers) होते हैं।

खण्ड स्तर पर—खण्ड स्तर पर एक खंड विकास अधिकारी (B D O) होता है जो अपने खंड के सम्पूर्ण विकास कार्य क्रम को संचालित करता है। इसकी सहायता के लिए कृषि, सहकारिता, पशुपालन, कुटीर उद्योग आदि के विशेषज्ञ होते हैं।

ग्राम स्तर पर—अन्त में ग्राम स्तर पर ग्राम स्तर कार्यकर्त्ता (Village level Worker) अथवा ग्राम सेवक होता है जो कि बहुउद्देशीय मनुष्य की भांति कार्य करता है। इसके अधिकार में सामुदायिक विकास खंडों के ■ ग्राम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के लगभग १० ग्राम होते हैं। विभिन्न तान्त्रिक विशेषज्ञ उसका निर्देशन तथा सहायता करते हैं। यह व्यक्ति राष्ट्रव्यापी ग्राम-विकास के प्रशासन की कड़ी का अन्तिम प्रशासन अधिकारी होता है।

उपरोक्त संगठन के अनुसार यद्यपि सामान्य प्रशासन होता है परन्तु राज्यों में स्थानीय दशाओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार इस संगठन में कुशलता तथा स्निग्धता लाने के लिए उपयुक्त परिवर्तन कर दिया जाता है। यही नहीं इस कार्यक्रम के परिचालन में गैर सरकारी सहयोग का भी स्वागत किया जाता है।

योजना की अर्थ-व्यवस्था

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को चलाने के लिए आवश्यक आर्थिक साधनों की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों पर है। सरकार के अलावा जनता से भी आर्थिक साधन प्राप्त किये जाते हैं। प्रत्येक योजना क्षेत्र के लिए कार्यक्रम यह निश्चित करता है कि वहां के लोगों से एक निश्चित मात्रा में एच्छिक रूप में धन, श्रम और वस्तुओं को मिलना चाहिए। जनता का अंशदान एक राज्य से दूसरे राज्य तथा एक विकास खंड से दूसरे विकास खंड में भिन्न भिन्न होता है।

इन विकास योजनाओं के लिए जहां राज्य आर्थिक सहायता प्रदान करता है वहां अनावर्ती (non recurring) खर्चों का ७५% केन्द्रीय सरकार और २५% राज्य सरकार देती है तथा आवर्ती (recurring) खर्च का ५०% केन्द्रीय सरकार और ५०% राज्य सरकार देती है। ऋण पूर्णतया केन्द्रीय सरकार का देना होता है परन्तु इस ऋण का पुर्नभुगतान पूर्णतया ब्याज सहित होता है।

विदेशी सहायता

इस कार्यक्रम को चलाने के लिए भारतीय सरकार को, संयुक्त राज्य अमेरिका से सावधिक सहकारिता समझौते के अन्तर्गत तथा F rd Foundation से आर्थिक सहायता मिलती है। सन् १९५७ ५८ के अन्त तक संयुक्त राज्य अमेरिका से इस सम्बन्ध में १४ २७ करोड़ डालर की सहायता प्राप्त हो चुकी है।

योजनाओं के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम पंचवर्षीय योजना—जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्घाटन महात्मा गांधी के जन्म दिवस २ अक्टूबर १९५२ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस तिथि को ५५ विकास क्षेत्रों में एक साथ नियत तरह की भांति कार्य प्रारम्भ किया गया। सन् १९५३ ५४ में अतिरिक्त विकास खंडों को चुना गया और शनैः शनैः प्रति वर्ष इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। प्रारम्भ से लेकर योजना के अन्त तक प्रत्येक अवस्था पर लिये गये विकास खंडों का ब्यौरा अगले पृष्ठ की तालिका से ज्ञात होगा।

वर्ष	निर्धारित खंडों की संख्या	खंडों की संख्या जिन पर कार्य प्रारम्भ किया गया	खंडों के अंतर्गत आने वाले ग्रामों की संख्या	जनसंख्या (मिलियन)
सामुदायिक विकास				
१९५२-५३	१६७[1]	१६७	२७,३८८	१६·४
१९५३-५४	५३	५३	८,६८२	४·४
१९५५-५६	१५२	१५२	२०,८१७	१२
राष्ट्रीय प्रसार योग				
१९५३-५४	११२[2]	११२	१५,३३६	८·६
१९५४-५५	२५५	२५५	३४,७०४	१७·४
१९५५-५६	२५९	२५९	३३,२२०	१८·५
	१७२		१७,२००	११·३
योग	११६०	९८८	१,५७,३४७	८८·८

विकास कार्यक्रमों के लिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में ९० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था। लगभग १० करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण विकास के लिए व्यय किये जाने थे। प्रथम योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं पर कुल ४६·०२ करोड़ रुपये व्यय किये गये। विभिन्न मदों के अन्तर्गत प्रथम योजना काल में किये गये व्यय का ब्यौरा इस प्रकार है :—

	करोड़ रुपये
१ कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र	४·२६
२. सिंचाई	७·३४
३. स्वास्थ्य एवं ग्रामीण स्वच्छता	४·५२
४. शिक्षा एवं सामाजिक शिक्षा	४·६०
५. संवादवाहन	६·६४
६. ग्रामीण कला, दस्तकारी तथा उद्योग	१·७८
७. राज्य तथा प्रोजेक्ट हेडक्वार्टर्स	९·६२
८. आवास (प्रोजेक्ट कर्मचारी एवं ग्रामीण)	·३६
९. आयात किये गये सामान की लागत	४·३०
१०. विविध	२·६०
	योग ४६·०२

1 Considered equivalant to 247 Blocks

2 88 Blocks of 1953-54 and 98 and Blocks of 1954-55 ere converted.

द्वितीय पचवर्षीय योजना—सितम्बर १६५६ में 'राष्ट्रीय विकास परिषद' ने निश्चय किया कि द्वितीय योजना काल में सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं का जाल बिछ जाना चाहिए और राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खडों का कम से कम ४०% भाग सामुदायिक विकास खडों में परिणत हो जाना चाहिए। द्वितीय योजना काल में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के अन्तर्गत ३,८०० अतिरिक्त विकास खडों को लिया जाना था और इनमें से १,२०० खडों को सामुदायिक विकास खडों में परिणत किया जाना था। विस्तृत ब्यौरा इस प्रकार है —

वर्ष	रा० प्र० सेवा खड	सा० वि० खडों में परिवर्तन
१६५६ ५७	५००	
१६५७ ५८	६५०	२००
१६५८ ५६	७५०	२६०
१६५६ ६०	६००	३००
१६६० ६१	१०००	३६०
योग	३,८००	१,१२०

उपरोक्त कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए योजना में २०० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इस धनराशि में से १२ करोड़ रुपये केन्द्रीय स्तर पर तथा १८८ करोड़ रुपये राज्य स्तर पर व्यय किये जायेंगे।

योजना की प्रगति

३० सितम्बर, १६५८ तक २९७३ विकास खडों की प्रगति सम्बन्धी प्रस्तुत आँकड़े योजना की सफलता को दर्शाते हैं —

कृषि

(अ) उत्तम बीजों का वितरण	१,५७,६८,००० मन
(ब) रासायनिक उर्वरकों का वितरण	३,००,३६,००० मन
(स) उत्तम औजारों का वितरण	११,७३,०००
(द) कृषि सम्बन्धी किये गये प्रदर्शन	४८,५१,०००
(य) कम्पोस्ट गड्ढे खोदे गये	५०,१५,०००
(र) हरी खाद के अन्तर्गत क्षेत्र	४०,१५,००० एकड़

पशुपालन

(अ) दिये गये उत्तम पशु	४५,६००
(ब) दी गई उत्तम चिड़ियाँ	६२७
(स) जानवर बधिया किये गये (Animals castrated)	४,३८१
(द) जानवर प्रयुक्त किये गये (Animals treated)	३०,०४२

सामाजिक सेवा

(अ) प्रौढ़ साक्षरता केन्द्र	८७
(ब) साक्षर बनाये गये प्रौढ़	२,६६८
(स) वाचनालय खोले गये	४५१
(द) सामुदायिक केन्द्र प्रारम्भ किये गये	१०३
(य) युवक एवं कृषक क्लब	८४७

महिला समितियाँ

(अ) संख्या	१६,१००
(ब) ग्राम शिविर	२०,५६२
(स) प्रशिक्षित ग्रामवासी	१०,१४,०००

ग्रामीण स्वास्थ्य एवं स्वच्छता

(अ) ग्रामीण शौचालय	५,०७,०००
(ब) नालियाँ बनाई गईं	१,८६,११,००० गज
(स) कुँए बनाये गये	१,२६,०००
(द) पुनर्निर्मित कुँए	१,६५,०००

यातायात

(अ) कच्ची सड़कें बनाई गईं	७८,६००
(ब) वर्तमान कच्ची सड़कें सुधारी गईं	६१,४००
(स) पुलियाँ बनाई गईं	५१,१००

सहकारिता

(अ) सहकारी समितियाँ	१,२७,०००
(ब) सहकारी समितियों के सदस्य	८७,८८,०००

सामान्य

(अ) सरकारी व्यय

(ग) जनता का अंशदान ६,५६८ लाख रु०

(घ) जनता के अंशदान का प्रतिशत ६४

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर में विस्तार सेवा शुरू करने का निश्चय किया गया।

दूसरी योजना के अन्त तक विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत विस्तार खण्डों तथा गाँवों में लगभग ३१ हजार ग्राम सेवक और लगभग २८ हजार विकास अधिकारी कृषि, पशुपालन तथा अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए काम कर रहे होंगे। लेकिन सामुदायिक विकास योजनाओं के नये मूल्यांकन से स्पष्ट है कि हम सन्तोषजनक प्रगति नहीं कर सके और जनता का बहुत कम सहयोग प्राप्त कर सके हैं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम से ग्रामीणों को लाभ

सामुदायिक विकास तथा सहकारी मंत्रालय (सामुदायिक विकास विभाग) की ... रिपोर्ट, १९५९-६० में कहा गया है कि इस वर्ष देश के गाँवों के लगभग १७ करोड़ ६० लाख व्यक्ति यानी ६१% जनता सामुदायिक विकास कार्यक्रम से लाभान्वित होने लगी।

१९५२ में इस कार्यक्रम के प्रारम्भ होने के बाद से ३० सितम्बर, १९५९ तक जनता ने श्रम, धन तथा सामग्री के रूप में ७८७८ लाख रुपये दिये। सरकार ने इस कार्यक्रम पर १ अरब ५ करोड़ ६७ लाख रुपये खर्च किये। इसमें से १०,७०६ लाख रुपये दूसरी पंचवर्षीय योजना के पहले ३½ सालों में व्यय किये गये। इस वर्ष सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सबसे स्मरणीय घटना पंचायती राज योजना का लागू होना है। खण्डों में पंचायत समितियों और जिलों में जिला परिषदों की स्थापना से धीरे-धीरे सामुदायिक विकास कार्य की योजना और अमल का सारा जिम्मेदारी ग्रामीण जनता के हाथ में सौंपी जा रही है। राजस्थान में पंचायती राज कानून लागू हो गया है और अन्य राज्यों में इस प्रकार के कानून शीघ्र ही बन जायेंगे।

इस वर्ष गाँवों में १ लाख २ हजार मील लम्बी कच्ची सड़कें बनाई गईं। ग्राम सहायकों की शिक्षा को व्यापक बनाने के लिए लगभग ५,८०० ग्राम-सहायकों को भारत-दर्शन की सुविधा दी गई। इसी प्रकार देश के भिन्न-भिन्न राज्यों के विकास खण्डों से लगभग २० हजार किसान विश्व-कृषि प्रदर्शनी देखने लाये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

तृतीय योजना में खेती को पहला स्थान दिया गया है। इसलिए खेती और सामुदायिक विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्रों में १,०२५ करोड़ रुपये तथा सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रुपये रखे गये हैं। इसके अलावा अनुमान है कि निजी क्षेत्र की ओर से इन कार्यों पर ८०० करोड़ रुपये लगाये जायेंगे।

सन् १९६३ तक ये योजनाएँ सम्पूर्ण देश म इस प्रकार फैल जायँगी—

	विकास खड (Development Blocks)	प्रसार पूर्व खड (Pre Extension Blocks)
१ ६ १९५९ तक आवटित खड	२५५२	३४७
अक्टूबर १९५९	१४५	१९८
अप्रैल १९६०	२०२	२५१
अक्टूबर १९६०	१९८	२५२
तृतीय योजना म	१६००	——

प्रश्न

1 What are the main features of Community Development Projects launched in the country? Examine their usefulness as an instrument of rural reconstruction (*Bombay 1953*)

2 What are community projects? How far have they succeeded in your state? (*Punjab, 1955*)

3 Write short notes on —

Community Development Projects
National Extension Service (*Punjab, 1958 Delhi, 1955*)



अध्याय १७

भूदान-यज्ञ की महिमा

(The Miracle of Bhoodan Yajna)

भूदान देश की सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक क्रान्ति का एक शान्तिपूर्ण तथा अनूठा प्रयास है। इससे न केवल भारत के भूमिहीन किसानों की समस्या हल है बल्कि भारतवासियों के जीवन में एक नये प्रकाश का उदय होगा। इस नवीन योजना ने न केवल भारत के लोगों को बल्कि संसार के लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया है। भारत में चलाये गये इस अहिंसात्मक आन्दोलन की प्रशंसा आज समस्त संसार में हो रही है। यह एक ऐसी क्रान्ति है जो भारत जैसे महान् एवं गौरवपूर्ण देश की प्राचीन सभ्यता एवं परम्परा की पुष्टि करती है। भूदान एक ऐसा हृदयस्पर्शी तथा शान्तिपूर्ण कार्यक्रम है जिसने देशवासियों को मानवता का एक नया सन्देश दिया है। आज विनोबा जी का यह महान् कार्यक्रम भारत में अति लोकप्रिय हो रहा है। उनके शब्दों में "यह काम साधारण दान का काम नहीं भूदान यज्ञ है। अगर हम किसी को एक रोज भी खाना खिलाते हैं तो बहुत पुण्य मिलता है। अगर एक रोज के अन्नदान का इतना मूल्य है तो एक एकड़ जमीन का—जिससे कि एक आदमी की सारी जिन्दगी बसर हो सकती है, कितना मूल्य होगा? इसलिए दरिद्र-नारायण के वास्ते सभी से कुछ न कुछ मिलना ही चाहिए।"

भूदान एक नई क्रान्ति—वैसे तो संसार के अन्य देशों में भी समय-समय पर क्रान्ति होती आई है परन्तु भारत में भूदान द्वारा होने वाली क्रान्ति सबसे भिन्न है। रूस, चीन तथा अन्य देशों में हिंसा के बल पर होने वाली क्रान्ति द्वारा देश में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाये जा सके परन्तु जो क्रान्ति इस समय भारत में हो रही है उसका आधार प्रेम तथा अहिंसा है। भारत में वर्तमान समय में जो सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएँ हैं, उनका निवारण ऐसा मार्ग अपनाकर भी हो सकता है जिन्हें संसार के अन्य देशों ने अपनाया है। परन्तु क्या यह मार्ग भारत जैसे देश के लिए उपयुक्त होगा? यदि हम भारत में सामाजिक एवं आर्थिक समानता लानी है, और यदि धनी एवं निर्धनों के अन्तर को मिटाना है तो उसके लिए एक नये रास्ते को अपनाना होगा। यह रास्ता कौन-सा है? यह रास्ता प्रेम का है। यह प्रेम का मार्ग

वही है जिसे हमारे राष्ट्रपिता बापू ने अपनाया था। विनोबा जी के शब्दों में "भगवान सबको समान बनाना चाहते हैं यह उनका प्रेम है– द्वेष नहीं। मैं जो काम करता हूं वह भगवान का काम है। मैं बड़ों का अहङ्कार दूर करना चाहता हूं और छोटों को ऊँचा उठाना चाहता हूं। बड़ों से जमीन लेकर भूमिहीन गरीबों को आजीविका के लिए देना चाहता हूं। इसका मतलब यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि बड़ों के साथ मेरी शत्रुता है मैं तो उनकी सम्मान-वृद्धि करना चाहता हूं, उनके पास से जमीन लेकर उन्हें गरीबों का पवित्र प्रेम दिलवाना चाहता हूं।'

भूदान यज्ञ का अर्थ—भारत में प्राचीन काल से यज्ञ का महत्व चला आ रहा है। कदाचित ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो इसके अर्थ व महत्व से परिचित न हो। यज्ञ, पूजा अथवा ईश्वर स्तुति का एक रूप है। भारत में समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ होते आये हैं—अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ। इसी प्रकार हम गीता में भी विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे द्रव्य-यज्ञ, तपो यज्ञ, योग यज्ञ ज्ञान-यज्ञ, इत्यादि। परन्तु भूदान यज्ञ भी ऐसा ही एक यज्ञ है, यद्यपि इसका उल्लेख हमें प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता। वरन् फिर भी वर्तमान समय में एक महान् आन्दोलन होने के कारण हम सभी इसके नाम से भली भांति परिचित हैं। आज हमारे देश में भूमिहीन किसानों की एक भारी संख्या है। जो खेती करना जानते हैं और उनकी खेती करने की इच्छा होते हुए भी इन भूमिहीन दरिद्रों के पास भूमि नहीं है और जिन्हें अपनी जीविका के लिए दूसरों के खेत जोतने पड़ते हैं जिससे प्राप्त होने वाली मजदूरी उनकी जीविका का साधन है। भूमिदान ऐसे ही लोगों के लिए एक अपार सुख एवं आनन्द का सन्देश लाता है और भूदान यज्ञ में प्राप्त भूमि इन निर्धनों में बाट दी जायेगी। विनोबा जी ने भूदान का प्रयोग अन्त शुद्धि के लिए किया है। उनके अनुसार जब कभी कोई सार्वजनिक यज्ञ प्रारम्भ किया जाता है तो उसमें हर एक को भाग लेना पड़ता है। इस भूदान यज्ञ में भी हर एक का हिस्सा होना चाहिए। कारण इसका उद्देश्य यह है कि सबकी अन्त शुद्धि हो जाये। इसलिए जिनके पास थोड़ी ही जमीन हो थोड़ी ही दें।

विनोबा जी द्वारा यज्ञ के तीन महान स्वरूप एवं उद्देश्य बताये गये हैं। जो हैं—क्षयपूर्ति, शुद्धि करण एवं समर्पण। भूदान द्वारा यज्ञ के इन तीनों महान् उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है। इसलिए सचमुच में महान्, शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी आन्दोलन का नाम भूदान यज्ञ रखा गया है। भूदान से देश में बेकारी, गरीबी, भूख की समस्याओं एवं प्राचीन कुटीर उद्योगों के विनाश तथा ऐसे लोगों के हाथों में भूमि चले जाने से जो स्वयं खेती नहीं जानते, इन कारणों से जो क्षति हुई है भूदान इस क्षति को पूरा करने का एक सफल साधन है। त्याग, प्रेम एवं समान सेवा की पवित्र भावनाओं का जन्म देकर भूदान यज्ञ दान देने वाले व्यक्ति का चित्त शुद्ध करने का एक प्रयास है। भूदान

एक ऐसा महानतम् संगठन का प्रयास है जिसके द्वारा समाज में समानता एवं त्याग की भावना लाई जा सकेगी।

भूदान का उद्देश्य—जैसा कि विदित है भूदान का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि ऐसे लोगों से जिनके पास भूमि अधिक मात्रा में है उनसे भूमि लेकर भूमिहीन किसानों में वितरित कर दी जाये वरन् भूदान यज्ञ एक महान प्रयोग है जिसका उद्देश्य भारत में एक वर्ग-रहित, शोषणहीन सर्वोदय समाज की स्थापना करना है। केवल भूमि हीन किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारना ही इस यज्ञ का उद्देश्य नहीं है। भूदान यज्ञ सम्पूर्ण देश में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, एवं नैतिक परिवर्तनों का एक शान्तिपूर्ण परन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन है। विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ के उद्देश्यों की विवेचना करते समय उसके सर्वव्यापी उद्देश्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वे हैं :—*

(१) गरीबी का नाश।

(२) भूमि के मालिकों के हृदय में प्रेम भाव का विकास करना और उसके फलस्वरूप देश का नैतिक वातावरण उन्नत करना।

(३) एक ओर भूमि स्वामियों और दूसरी ओर सर्वहारा भूमिहीन गरीबों—इन दोनों के बीच जो औद्योगिक विद्वेष दिखाई पड़ता है वह भूदान-यज्ञ के द्वारा दूर होगा, परस्पर प्रेम और सद्भावना का बन्धन दृढ़ होगा। परिणामस्वरूप समाज शक्तिशाली बनेगा।

(४) यज्ञ, दान, और तप—इन तीनों के अपूर्व दर्शन के आधार पर जो भारतीय संस्कृति तैयार हुई थी उसका पुनरुत्थान और उन्नति होगी। मनुष्य का धर्म एवं विश्वास दृढ़ होगा।

(५) देश में शान्ति स्थापित होगी।

(६) देश में शान्ति स्थापित होने से विश्व शान्ति स्थापना में बहुत सहायता मिलेगी।

(७) भूदान-यज्ञ के द्वारा विभिन्न राजनैतिक दल परस्पर निकट आयेंगे। और एक साथ मिलकर एक मिनजुल काम करने का सुअवसर पायेंगे। इसके फलस्वरूप देश सभी ओर से शक्ति प्राप्त करेगा।

भूदान यज्ञ का मूल तत्व (Essence of Bhoodan)

समाज में एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति लाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके अनुकूल विचार प्रचारित करें। विचार परिवर्तन ही क्रान्ति का लक्षण है। भूदान समाज में एक ऐसी विचारधारा प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा समाज में शोषण तथा आर्थिक

* C C Bhoodan, *Bhoodan Yajna-Kya aur Kyon*, p 29

और सामाजिक विषमता के अन्त करने में सहायता मिलेगी जो व्यक्ति भूमि का दान करता है उसके हृदय में परिवर्तन आता है। हृदय परिवर्तन के पश्चात् उसके जीवन में परिवर्तन आ जाता है इस प्रकार अन्य लोग जब भूमि दान के लक्ष्य तथा उसकी महिमा से प्रभावित होकर इस दान में भाग लेंगे तो जन समुदाय के जीवन में और अन्त में सम्पूर्ण समाज में यह विचारधारा प्रतिष्ठित हो जाती है। जिस प्रकार चोरी को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है वैसे ही यदि अधिक संग्रह करने को भी हम एक असामाजिक तथा अनैतिक कार्य समझ लें तो ऐसा करने वाले के प्रति समाज में वही भावना जाग्रत हो जायेगी जैसा कि इस समय किसी चोर के लिए। वास्तव में अधिक धन संग्रह करना चोरी जैसा ही पाप है यह धर्म विचार हमें ग्रहण करना पड़ेगा।" प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन में यह विचार करे कि संसार में सब कुछ ईश्वर का है और संसार की प्रत्येक वस्तु का ईश्वर ही एक मात्र स्वामी है। जब हमारे मन में ऐसा विचार आ जायेगा तब हम सब कुछ परमात्मा को अर्पित कर देंगे और जो कुछ ईश्वर की कृपा से हमें प्राप्त होगा उसे हम ईश्वर का प्रसाद समझ कर सन्तोषपूर्वक ग्रहण करेंगे। इस प्रकार के विचार रखने वाला व्यक्ति समाज का शोषण नहीं कर सकता। उसे किसी के धन की तनिक भी अभिलाषा न होगी फिर वह क्यों और किसके लिए धन संग्रह करेगा। विनोबा जी के शब्दों में "असंग्रह और अपरिग्रह केवल ऋषियों और साधु के लिए आचरणीय है ऐसा ही अब तक माना गया है किन्तु यह साधारण लोगों का भी, गृहस्थों का भी जीवन का मूल आधार होना चाहिए ऐसा न होने से शोषण का अन्त नहीं होगा। इस धर्म विचार को सामाजिक निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित करना होगा।

"मैं न्याय और प्रेम दोनों को एकत्र करना चाहता हूँ इन्हें सूर्य-चन्द्र कह लीजिए दोनों ही ईश्वर के दो नेत्र हैं। दोनों वस्तुओं के एक-साथ मिलने से ही सम्पूर्ण तेज प्रकट होगा।" विनोबा जी के इन शब्दों से भूदान यज्ञ का मूल तत्व स्पष्ट है।

भूदान आन्दोलन का क्षेत्र (Scope of Bhoodan Movement)

भूदान आन्दोलन का केवल यही लक्ष्य नहीं है कि कुछ लोगों से जमीन लेकर निर्धन भूमिहीन किसानों में वितरित कर दी जाये। बल्कि भूदान एक शान्तिपूर्ण ढंग से सद्भावना द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक क्रान्ति का एक साधन भी है। अतः इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसके अन्तर्गत ग्रामदान, सम्पत्ति दान जीवनदान, श्रम दान जैसी अनेक चीजें सम्मिलित हैं। जैसा कि स्पष्ट है केवल भूमि दान द्वारा ही देश की करोड़ों भूमिहीन किसानों के जीवन की भी समस्त समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। भूमि द्वारा वह अपने लिए एक जीविकोपार्जन का साधन तो अवश्य प्राप्त कर लेता है परन्तु किसी व्यक्ति अथवा समाज के सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण

विकास के लिए केवल भूमि दान का मन्त्र ही पर्याप्त नहीं। ग्राम दान द्वारा समस्त ग्रामीण भूमि को गांव के निवासियों में वितरित कर दी जायेगी। सर्वोदय के सिद्धान्त पर ग्रामदान द्वारा ग्रामीण जीवन का रूप ही बदल जायेगा।

सम्पत्ति दान द्वारा धनी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग निर्धनों में बाँट देंगे। इससे भूमि हीन कृषकों के पास भूमि प्राप्त करने के पश्चात् खेती के लिए आवश्यक यन्त्र तथा सुविधाओं को एकत्र करने की क्षमता हो जायेगी ही साथ में सम्पत्ति के उचित वितरण तथा गरीब और अमीर के बीच रहने वाली दूरी को कम करने का महत्व भी समझ में आ जायेगा।

निम्न तालिका में हम दिसम्बर सन् १९५७ तक हुई सम्पत्ति दान की प्रगति प्रदर्शित कर रहे हैं।

	प्रान्त	सम्पत्ति दान (रुपये)	सम्पत्ति दाता (संख्या)
१	आसाम	३५१७	१२४
२	आन्ध्र प्रदेश	५७१७३	६६८
३	उत्कल	४१२०६	२६८१
४	उत्तर प्रदेश	६६१३६	२४१८
५	केरल	६५६८	५०८
६	दिल्ली	१८८९६	३८
७	पंजाब हिमाचल	६२०८०	१६०५
८	बंगाल	३८७४६	१७४८
९	बम्बई	१४६०३५	१०११
१०	गुजरात	७५६१७	१०३८
११	महाराष्ट्र	८२१८२	८५४५
१२	बिहार	१७०११०	३४००४
१३	मद्रास	३४५३८७	—
१४	मध्य प्रदेश	२९६५२	१२८७
१५	मैसूर	१६७८१	३७६
१६	राजस्थान	८१५०८	३७१५
	कुल योग	१२७३८६५	६००९६

सम्पत्तिदान के पश्चात् श्रमदान का उदय होता है जिसका महत्व अधिक होने के साथ-साथ उसका अर्थ भी बड़ा गम्भीर है। जब कोई व्यक्ति इतना निर्धन होता है कि वह इस योग्य नहीं कि दूसरों को कुछ दे सके, अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग

से प्रत्येक को मिलने वाली भूमि के टुकड़े टुकड़े हो जावेंगे। अत ऐसी स्थिति में उनका उत्पादन कम हो जायेगा। विनोबा जी ने इस सम्बन्ध म उठने वाली आशंका को दूर करते हुए कहा है, "किन्तु भाइयो आज हृदय के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं यह क्या आपको अच्छा लग रहा है ? आज सब के हृदय खण्ड खण्ड हो गय हैं। यदि हृदय के टुकड़े जुड़ जावेंगे तो जमीन के टुकड़े भी सहज ही जुड़ जावेंगे। गरीबों को जब जमीन दी जा चुकेगी तब उन्हें सहकारिता की शिक्षा देना विशेष कष्ट साध्य नहीं होगा.. यदि हृदय जुड़ जाये तो क्या जमीन को जोड़ सकना कठिन होगा ? किसे पहले जोड़ना होगा यह तो बुद्धि की बात है।"

भूदान का आलोचनात्मक अध्ययन—भूदान यज्ञ के सम्बन्ध म अधिक जानकारी न होने के कारण कुछ व्यक्तियों ने आन्दोलन की वास्तविक प्रगति पर सन्देह प्रगट किया है। इन आलोचकों का कहना है कि प्राय भूदान म लोग ऐसी जमीन दान क रूप म दे देते हैं जो बजर अथवा खेती के लिए अयोग्य होने के कारण उनके लिए अनुपयोगी है। कभी कभी झगड़े की जमीन को भी दान म दे दिया जाता है। ऐसी स्थिति म जमीन पाने वाले को भूमि से क्या लाभ होगा ? कुछ व्यक्तियों ने भूदान यज्ञ की इसलिये भी आलोचना की है कि इससे भूमि का अनावश्यक खण्डीकरण होता है तथा खेती म सुधार एव उन्नत विधियों क प्रयोग क लिये प्रोत्साहन देने के बजाय खेती के पिछड़े हुए अथवा हानिकारक तरीकों को बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य आलोचकों ने भूदान की प्रगति पर भी सन्देह प्रगट किया है। उनके विचार से भारत एक विशाल देश है जिसकी भूमि समस्या अत्यन्त जटिल है जिसे सुलझाना भूदान का काम नहीं है। भूदान द्वारा हम इतनी भूमि कदापि नहीं प्राप्त कर सकते जो कि देश की सम्पूर्ण भूमिहीन निर्धन किसानों की समस्या को सुलझाने के लिए पर्याप्त हो। इतनी जटिल एव विशाल समस्याएँ केवल गाव-गाव के लोगों से भीख के द्वारा माँगी हुई भूमि से यह समस्या कदापि हल नहीं हो सकती। यदि इस तरह भारत की भूमि समस्या का हल किया गया तो शताब्दियाँ लग जायगी। परन्तु यदि हम आलोचकों की इन बातों का एव उनके मन म उठे इन सन्देहों को भली भाति सोच तो स्वय हम इस बात का अनुभव होगा कि य आलोचनाएँ क्रियात्मक है अथवा उनकी शकाएँ निराधार हैं।

यह कहना कदापि सत्य नहीं है कि भूदान म जो भी भूमि प्राप्त हुई है वह बजर होने या अन्य किसी कारण स खेती क लिए अनुपयुक्त है। विनोबा जी ने अपने अथक परिश्रम द्वारा अब तक लगभग ४४ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त किया है जिसकी अधिकाश भूमि ऐसी है जिस पर खेती करके भूमिहीन निर्धनों क जीवन म नये सुख एव आनन्द का सचार हुआ है। कुछ भूमि यदि बजर भी है तो इस कारण हम भूदान आन्दोलन क प्रति सन्देह नहीं करना चाहिए। रहा कर भूमि क खण्डीकरण की समस्या

का हल है यह स देह भी पूर्णतया निराधार है जैसा कि विनोबा जी ने कहा है कि "जब हृदय मिल जायेंगे तो भूमि के टुकड़े में भी कोई कठिनाई न होगी। इस कारण यदि भूमि का थोड़ा बहुत उपखण्डन भी हुआ है तो भूमि वितरण के पश्चात् लोगों में सहकारिता की भावना को जाग्रत कर सहकारी कृषि द्वारा इस समस्या को हल करने में कोई कठिनाई न होगी। और फिर यथासम्भव खण्डित भूमि को एक बड़े जोत में परिवर्तन करने के लिये आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने से यह समस्या हल होने मुश्किल नहीं दीखती। जिन लोगों ने भूदान की प्रगति पर सन्देह किया है उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे निराश न हों। भारत में इस समय जिस तेजी के साथ भूदान आंदोलन की प्रगति हो रही है उससे समस्या के सफल निवारण में बिल्कुल सन्देह नहीं करनी चाहिये।

आज भारत के समक्ष केवल भूमि हीन किसानों की ही समस्या नहीं है वरन् सम्पूर्ण देश में नैतिकता एवं चरित्र निर्माण की समस्या है। भूदान यज्ञ का सबसे बड़ा फल यही नहीं कि देश की भूमिहीन एवं निर्धन जनता को एक नये सुखी जीवन का सन्देश मिल रहा है और धीरे धीरे उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती जा रही है। आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह है कि आज सम्पूर्ण देश में प्रेम, सद्भावना एवं शान्तिपूर्ण क्रान्ति का एक सुखद वातावरण उत्पन्न हो गया है ऐसे वातावरण में भूमिहीनों की एक समस्या क्या भारत की अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओं का हल बड़ी आसानी से हो जायेगा। आवश्यकता थी पृष्ठभूमि की, वातावरण की और विचार परिवर्तन की, जो यह काम भूदान यज्ञ ने कर दिखाया। आज पूज्य गांधी जी द्वारा निर्देशित सर्वोदय के सिद्धान्त का जितना महत्व लोगों की समझ में आ रहा है उतना शायद इससे पहले कभी नहीं समझा गया था। आज देश में एक अनूठी शान्तिपूर्ण क्रान्ति सजग हो उठी है।

भूदान आन्दोलन की प्रगति—सन् १९५१ में आचार्य विनोबा जी द्वारा चलाये गये भूदान में निरन्तर प्रगति हो रही है। इस प्रगति ने देश को क्या सारे संसार को चकित कर दिया है हमारे देश में जून १९५८ तक दान में प्राप्त होने वाली कुल भूमि लगभग ४४ लाख एकड़ थी तथा ग्राम दान में प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण ग्रामों की संख्या ४५७० थी। सबसे अधिक भूमि लगभग २१ लाख १४ हजार केवल बिहार राज्य में ही प्राप्त हुई। इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश का नम्बर आता है। जिसमें ५.८८ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् राजस्थान और उड़ीसा का नाम उल्लेखनीय है जहाँ ४.१५ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त हुआ है। भूमि वितरण का कार्य अभी जोरों से नहीं चल रहा है। अत अब तक कुल भूमि का केवल १८ प्रतिशत भाग अर्थात ७ लाख ८३ हजार एकड़ भूमि ही को भूमिहीन किसानों में वितरित किया जा सका है। भूदान आन्दोलन एक विशाल आयोजन है इसके द्वारा लगभग एक करोड़ भूमिहीन किसानों के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि दान प्राप्त करने

का लक्ष्य रखा गया है। उद्देश्य यह है कि प्रत्येक भूमिहीन किसान को उसके तथा उसके परिवार के जीवन निर्वाह के लिए ५ एकड़ भूमि अवश्य प्राप्त हो। निम्न तालिका में हम जून १९५८ तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में भूदान आन्दोलन की प्रगति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं —

भूदान में प्राप्त भूमि तथा उसका वितरण

राज्य अथवा प्रदेश	दान में प्राप्त भूमि (एकड़)	वितरित की गई भूमि (एकड़)
असम	२२,१९६	२२५
आन्ध्र प्रदेश	२,४१,९५०	८३,०९०
उड़ीसा	४,२४,६२५	१,११,७८५
उत्तर प्रदेश	५,८७,६३०	७७,७५८
केरल	२९,०२१	२,१२६
दिल्ली	३९६	१५७
पंजाब	१९,९२९	५,६५३
पश्चिमी बंगाल	१२,६८१	३४६३
बम्बई		
(१) गुजरात	४७,४८६	११,५२७
(२) महाराष्ट्र	६४,३६०	१०,५६१
(३) विदर्भ	८६,७७८	४५,०००
(४) सौराष्ट्र	३१,२३७	८,१८५
बिहार	२१,१२,९३८	२,८७,२८६
मद्रास	७०,८२२	२,३४९
मध्य प्रदेश	१,७८,८१६	६२,४५०
मैसूर	१९,९७३	२,५२७
राजस्थान	४,२६,४८८	६९,३६२
हिमाचल प्रदेश	१,५६८	२१
योग	४४,००,९०५	७,८२,५२५

भूदान आन्दोलन की देन

(Contribution of Bhoodan Movement)

भारत में आचार्य विनोबा जी द्वारा चलाये गये भूदान यज्ञ से देश को अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक लाभ हुए हैं। वास्तव में यह शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी आन्दोलन सर्वथा भारत की सांस्कृतिक सभ्यता तथा परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। जिस प्रकार प्राचीन समय से हमारा देश आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्र में संसार का नेतृत्व

परता चला आ रहा है उसी प्रकार आज विनोबा जी के निर्देशन में भारत को अपने अतीत के गौरव को प्राप्त करने का अवसर मिल रहा है। भूदान यज्ञ ने जिस प्रकार भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक परिवर्तन का बीड़ा उठाया है, संसार के विचारकों एवं नेताओं को इससे आश्चर्य होना स्वाभाविक ही है। अब हम भूदान द्वारा प्राप्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक लाभों की विवेचना करेंगे।

आर्थिक लाभ—भूदान का सबसे पहला लाभ यह हुआ है कि इसने इस ओर जनता का ध्यान आकर्षित कराया है कि भूमि भी प्रकृति की अन्य स्वतन्त्र देनों (free gifts of nature) में से एक है। अतः जिस प्रकार वायु, प्रकाश तथा जल पर किसी का अधिकार नहीं है उसी प्रकार जमीन भी उनकी होनी चाहिये। भूमि व्यक्तिगत अधिकार की वस्तु (private property) नहीं है। भूदान ने आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण (concentration of economic power) विरुद्ध आवाज उठाकर धन के समान वितरण तथा आर्थिक विषमता की ओर आवश्यक प्रयत्न करने का महत्व दर्शाया है। देश की भूमि तथा भूमिहीनों की जटिल समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करके भूदान ने सहकारी कृषि तथा कृषि के सुधारों में महत्वपूर्ण योग दिया है। ग्राम व गाँवों में बसे हुए निर्धन तथा भूमिहीनों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को सुधारने की आवश्यकता पर बल देकर भूदान ने फिर इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में उसकी कृषि की उन्नति कृषिकों की आर्थिक एवं सामाजिक समृद्धि पर ही निर्भर करती है (The prosperity of agriculture depends upon the prosperity of the agriculturist)

सामाजिक लाभ—सामाजिक क्षेत्र में भी भूदान आन्दोलन का महत्वपूर्ण योग है। इसके द्वारा ग्रामवासियों में सद्भावना, प्रेम, सद्व्यवहार तथा भाई-चारे की भावना जाग्रत हुई है, प्रत्येक अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर दूसरे की उन्नति में भी सहायक हो, इसका पाठ फिर से भूदान ने पढ़ाया है। सम्पूर्ण ग्राम में प्रेम की दृढ़ भावना को जन्म देकर ग्रामवासियों को एक परिवार के रूप में रहने की प्रेरणा दी। ग्रामदान का उद्देश्य ही सारे गाँव को एक परिवार में परिणत कर देना है।

सांस्कृतिक लाभ—सांस्कृतिक दृष्टि से भी भूदान आन्दोलन का महत्व कम नहीं है। ग्रामवासियों में प्रेमपूर्वक सामूहिक जीवन की प्रेरणा देकर भूदान ने भारत के ग्रामों को स्वर्ग बना दिया है। समय समय पर गाँव में आयोजित होने वाले खेल-कूद, संगीत, प्रार्थना तथा प्रवचनों के आयोजन होने से देशवासियों के हृदयों में भारत के प्राचीन संस्कृति के अंकुर पुनः फूट उठे हैं। भूमि क्रांति के पश्चात् भारत के ग्रामों में चारों तरफ सुख शान्ति की वर्षा होने लगी है जिससे उनका सांस्कृतिक जीवन लहलहा उठा है।

नैतिक लाभ—भूदान आन्दोलन से भारत के नैतिक जीवन में क्रान्ति आ गई है। शान्तिपूर्ण तथा अहिंसा द्वारा भूदान यज्ञ ने भारतवासियों के हृदय में नैतिकता की तृप्ति कर दी है। प्रेम, त्याग एवं समाज सेवा की भावना जगाकर भूदान ने देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में बड़ा योग दिया है। धन संग्रह के विरुद्ध तथा अपनी आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु को न रखने का पाठ हमें भूदान ही ने दिया है। चोरी, डकैती, मारपीट तथा हिंसात्मक कार्यों से दूर रहने की प्रेरणा भूदान का प्रमुख नैतिक परिणाम है।

उपसंहार—भूदान सम्बन्धी उपरोक्त अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि यदि आधुनिक भारत में कोई सबसे महत्वपूर्ण एवं रचनात्मक कार्य हो रहा है तो वह है भूदान आन्दोलन जिसका उद्देश्य भारत की विशाल भूमिहीन, निर्धन जन संख्या के जीवन में आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति लाना है। इस क्षेत्र में वास्तव में काफी प्रगति भी हुई है जैसा कि इस अध्याय में स्थान-स्थान पर दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है। परन्तु हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या भूदान यज्ञ द्वारा हम भारत की कृषि तथा भूमिहीनों की समस्या हल कर सकेंगे? देश में जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे भूमि पर भार बढ़ता जा रहा है जिसके कारण एक ओर तो भूमिहीन किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है दूसरी ओर कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती जा रही हैं। इस स्थिति में भारत की समस्त आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के लिये हमें भूदान पर पूर्णतया निर्भर नहीं रहना चाहिये। इस समय भारत में लगभग एक करोड़ भूमिहीन निर्धन किसान हैं। तो क्या भविष्य में इनकी संख्या बढ़ती न जायेगी? इसलिये इस कारण जहाँ एक ओर इस समस्या के हल के लिये हम भूदान आन्दोलन की ओर निहार सकते हैं वहाँ दूसरी ओर हमें अन्य प्रयत्नों का भी सहारा लेना होगा। भूदान का महत्व केवल देश की ग्रामीण समृद्धि तथा भूमिहीन किसानों तक ही सीमित नहीं है वरन् हमें तो भूदान द्वारा उत्पन्न ऐसे वातावरण की सहायता प्राप्त है जिसमें ग्रामोत्थान तथा ग्रामीण जनता की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की अनेक योजनाएँ सफलतापूर्वक कार्यान्वित की जा सकती हैं। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के शब्दों में—"इस आन्दोलन के द्वारा एक ऐसा अनुकूल मनोवैज्ञानिक वातावरण समाज में होता जा रहा है जिसने हमारी भावी समस्याओं को बहुत कुछ सरल बना दिया है।"

प्रश्न

1. Assess the economic significance of the 'Bhoodan Movement' and indicate how it is going to help the landless labourers of the country. *(Patna, 1944)*

2. "The Bhoodan approach is unsuitable in the context of land policy appropriate to a plan of economic development" Comment *(Bombay, 1911)*

खण्ड ५

सहकारिता

१. भारत में सहकारिता आन्दोलन

अध्याय १८

सहकारिता आन्दोलन

(Co operative Movement)

ससार का प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ पूर्ति म लगा हुआ है। परन्तु क्या वह अपनी समस्त आवश्यकताओं तथा तथ्यों को पूरा करने की सामर्थ्य रखता है? उसके स्वार्थ पूर्ण इस जीवन म दो कठिनाइया आती हैं। पहला कठिनाइ स्वय उसकी शक्ति, समय तथा साधनों क सीमित होने से उत्पन्न होती है। दूसरी कठिनाइ तब आती है जब उसके सामने पारस्परिक विरोधी तत्त्व उपस्थित हो जात हैं। स्वार्थी व्यक्ति सहकारी जीवन को मानव प्रकृति क सर्वथा प्रतिकूल समझता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सहकारिता ही एक ऐसा साधन है जिसक द्वारा वह अपने सीमित साधनों एव सामर्थ्य के कारण उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइया पर विजय प्राप्त कर लेता है। अत सहकारिता व्यक्तिगत दुर्बलताओं पर विजयी होने और समाज क निर्बल, शक्तिहीन एव असहाय व्यक्तियों के लिए शक्ति का एक अपार स्रोत है।* सहकारिता पूर्ण मानव जीवन और सभ्यता के उच्चतम विकास क लिए अवश्यम्भावी है। अत पारस्परिक सहयोग एव साहचर्य क मार्ग म आने वाली समस्त बाधाओ को दूर करना अनिवार्य है। प्रसिद्ध विद्वान् एल्टन मेयो (Elton Mayo) क शब्दों म "Civilized society can destroy itself if fails to understand intelligently and to control the aids and deterrents to co operation"

सहकारिता का अर्थ

(Meaning of Co-operation)

सहकारिता का अर्थ मिलकर काम करना है। अत जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य उद्देश्य के लिए मिलकर कार्य करते हैं तो सहकारिता के अर्थ का

---

* Hence co operation is a method of conquering individual weaknesses and a source of profound strength to weaker strengthless and helpless members of society --*Dr J N Nigam, Economics Bulletin* 1954

कुछ निम्न परिभाषाओं से सहकारिता का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा। उदाहरण के लिए प्रो० सेलिगमैन (Prof Seligman) ने सहकारिता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ वितरण और उत्पादन में प्रतियोगिता का परित्याग करके समस्त प्रकार के मध्यस्थों को दूर करना है।"[1]

सर हारेस प्लंकेट के अनुसार "संगठन द्वारा प्रभावशील बनाया गया स्वावलम्बन" ही सहकारिता कहलाती है।[2] इसी प्रकार एल० एस० गार्डन (L. S. Garden) और सी० ओ० ब्रियन (C. O Bien) ने सहकारिता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "यह आर्थिक संगठन का विशिष्ट रूप है जिसके अन्तर्गत लोग सुनिश्चित व्यावसायिक नियमों के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए मिलकर कार्य करते हैं। सहकारिता का आधार व्यापार और नीतिशास्त्र का वह सम्बन्ध है जो हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रणाली की आवश्यक व्यावसायिक ईमानदारी से श्रेष्ठतर है।[3]

सहकारिता के मूल लक्षण

स्ट्रिकलैण्ड (Strickland) के अनुसार किसी सहकारी संगठन की दो प्रमुख विशेषताएं होती हैं—स्वेच्छापूर्ण सदस्यता एवं जनतांत्रिक संगठन। परन्तु विभिन्न विद्वानों तथा अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई सहकारिता की उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से सहकारिता के कुछ मूल लक्षणों का ज्ञान होता है जो इस प्रकार है—

---

1 'Co operation in its technical sense means abandonment of competition in distribution and production and elimination of middlemen of all kinds"—*Seligman*

2 'Self help made effective by organisation"—*Sir Horace Plunkett*

3 It is a special form of economic organisation in which the people work together for definite business purposes under certain definite rules The root of the co operative idea is a relation between business and ethics which is *greater than the necessary commercial honesty* of our present industrial system

सहकारिता की कुछ अन्य महत्वपूर्ण परिभाषाएं —

Co operation is a form of organisation wherein persons voluntarily associate together as human beings on a basis of equality for the promotion of the economic interests of themselves"—*H Calvert*

'Co operation brings in mutual help with a view to end in a common competence'—*Myrrch*

"Co operation is a resultant system of economy It is a synthesis combining the desirable qualities of the laissez faire economy and the planned economy In so far as it is possible, the undesirable features *inherent in the two older systems are not transmitted to the new system of co operation*"—*H H Bakken and M A Schaars*

(१) सहकारिता सामान्य आर्थिक हित की प्राप्ति का अमूल्य साधन है।

(२) स्वेच्छापूर्ण सदस्यता।

(३) प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार प्राप्त होते हैं।

(४) लोकतन्त्रात्मक प्रबन्ध एव व्यवस्था।

(५) इसम प्रतिस्पर्धा (competition) का कोई स्थान नहीं होता है। पारस्परिक सहयोग इसका आदर्श है।

(६) नैतिक पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इसका आर्थिक पक्ष।

(७) सहकारिता का शिक्षात्मक प्रभाव (educative effect) इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है।

सहकारिता का महत्व
(Importance of Co operation)

सहकारिता हमारे जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय जीवन को सुखी एव समृद्धिशील बनाने का सहकारिता एक सफल उपाय है। सहकारिता एक ऐसी प्रणाली है जिसके अन्तर्गत स्वार्थ तथा निजी सम्पत्ति की भावना को त्याग कर व्यक्ति पारस्परिक सहयोग एव सद्भावना द्वारा अन्य लोगों के साथ मिल जुल कर काय करके अपनी तथा समाज की उन्नति करता है। सहकारिता के सिद्धान्तों से सहमत होने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए इसके द्वार खुले रहते हैं। स्वेच्छा एव समानता के सिद्धान्त पर आधारित मानव का यह सहकारी सगठन आर्थिक लोकतन्त्र (economic democracy) का एक सुन्दर उदाहरण है। सहकारिता पूँजीवाद की निर्ममताओं से मुक्त है। इसके द्वारा समाज के निबल एव निर्धन व्यक्तियों की मध्यस्थों एव पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले शोषण से रक्षा होती है। सहकारिता गरीब, शक्तिहीन तथा साधनहीन व्यक्तियों म भी आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन जैसी महान् भावनाओं को जाग्रत कर, उन्हे अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी रक्षा अपने आप करने की प्रेरणा देती है। छोटे छोटे तथा सीमित साधन वाले उत्पादकों एव व्यवसायियों के लिए जैसे सहकारिता दैवी देन तुल्य है। पारस्परिक सहयोग एव मिल-जुल कर कार्य करने से इनमे सहयोग की भावना जाग्रत होती है जो विभिन्न उत्पादकों के द्वारा की जाने वाली प्रतियोगिता को चुनौती देती है।

भारत में सहकारिता की आवश्यकता
(Need of Co operation in India)

भारत म सहकारिता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। एक निर्धन एव विशाल जनसख्या वाले देश म उसकी आर्थिक सामाजिक एव नैतिक प्रगति के लिए सहकारी आन्दोलन अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। भारत जैसे शान्तिप्रिय,

अहिंसावादी तथा सहअस्तित्व के सिद्धान्तों पर चलने वाले राष्ट्र के लिए देश की शांतिपूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक क्रान्ति लाने के लिए सहकारिता से उत्तम और कोई माध्यम ही नहीं हो सकता। देश की जनसंख्या में निरन्तर प्रगति के कारण उत्पन्न होने वाली कृषि की अनेक समस्याएँ जैसे—खेती योग्य भूमि का विभाजन तथा भूमिहीन कृषकों की समस्याएँ इत्यादि जैसी समस्याओं को सुलझाने के लिए हम सहकारिता की ही शरण लेनी होगी।

एक अर्धविकसित राष्ट्र के लिए देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने, देशवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा कृषि व्यवसाय में लगी हुई जनशक्ति की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सहकारिता प्रणाली अपनाई जाती है। इसी कारण भारत में सहकारिता का एक विशेष महत्त्व है। कारण यह है कि हमारे देश में अधिकांश जनता खेती में लगी हुई है। कृषि व्यवसाय में लगी इस जनसंख्या का अधिकांश भाग छोटे छोटे किसानों का तथा ऐसे खेतिहर मजदूरों का है जो खेती करना जानते हैं परन्तु भूमि न होने के कारण दूसरों के खेतों पर मेहनत मजदूरी करके अपनी जीविका कमाते हैं। सहकारिता के आधार पर इन्हें भूमि प्रदान कर तथा अव शिष्ट भूमिहीनों को अनेक घरेलू उद्योगों एवं व्यवसायों में लगाकर उनकी बहुत सी समस्याओं का हल किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में किसानों को समय समय पर आवश्यक ऋण दिलाने का काम सहकारी समितियों द्वारा किये जाने से साहूकार द्वारा लिये गये अनुचित ब्याज की दर पर ऋण की समस्या दूर की जा सकती है। हमारे देश में ग्रामीण ऋणग्रस्तता, चकबन्दी तथा कृषि विपणन जैसे अनेक क्षेत्रों में सहकारिता ने महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है। इसी प्रकार छोटे छोटे उत्पादकों एवं कारीगरों को अच्छे किस्म का कच्चा माल दिलाकर, उन्हें समय समय पर वित्तीय सहायता प्रदान करके तथा उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का उचित मूल्य दिलाकर सहकारी आन्दोलन ने उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने में बड़ा सक्रिय भाग लिया है। सहकारिता हमारे देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रणाली है जिसके द्वारा भारत की अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक समस्याएँ सुगमता से हल की जा सकती हैं।

सहकारिता आन्दोलन का उदय
(Rise of Co operative Movement)

सबसे पहले सहकारिता आन्दोलन का उदय जर्मनी में हुआ था। इगलैंड के, औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव संसार के विभिन्न राष्ट्रों पर पड़ा। जर्मनी में श्रमिकों एवं छोटे छोटे कारीगरों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने से उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गयी थी। कम वेतन, काम की लम्बी अवधि, एवं प्रतिकूल कार्य की दशाओं के कारण मजदूरों के स्वास्थ्य एवं जीवन पर बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ा। इन समस्याओं को हल करने के लिए जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ था।

डेनमार्क के किसानों की अवस्था कुछ कम खराब न थी, उन्हें अपने खेती सम्बन्धी अनेक कार्यों के लिए समय समय पर ऋण की आवश्यकता होती थी जिसके लिए वे साहूकार एवं महाजनों की शरण में जाते थे। भारी ब्याज के कारण चतुर महाजन सीधे सादे किसानों को अपने चंगुल में फांस लेते थे। मजदूरों एवं किसानों के विभिन्न प्रकार से शोषण किये जाने से ही सहकारिता आन्दोलन के जन्म के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। अतः जर्मनी के शुल्जे डेलित्ज (Schulze Delitzsch) तथा रैफिसन (Raiffeisen) नामक व्यक्तियों ने अपने देश में सहकारिता आन्दोलन की नींव रक्खी। सहकारिता के इन अग्रदूतों (pioneers) ने—रायफसन ने ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शुल्जडेलित्ज ने शहरी क्षेत्रों में—सहकारी साख समितियों की स्थापना की जिनकी अपार सफलता ने सहयोग आन्दोलन को बड़ा लोकप्रिय बना दिया है। संसार के विभिन्न देशों में सहकारिता का जन्म तथा विकास सम्बन्धी अध्ययन बड़ा ही रोचक है। अतः हम नीचे कुछ प्रमुख देशों में सहकारिता आन्दोलन के सम्बन्ध में आवश्यक विवरण प्रस्तुत करेंगे जो इस प्रकार है —

इंगलैंड—इंगलैंड में सहकारिता आन्दोलन के प्रारम्भ करने का श्रेय सर राबर्ट ओवेन (Sir Robert Owen) को है जिन्होंने देश में सहकारिता के सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण काम किया। सहकारी आन्दोलन के क्षेत्र में इंगलैंड की प्रमुख देन उसके उपभोक्ता भण्डार (consumers' stores) हैं। सन् १८४४ में चार्ल्स हावर्थ (Charles Howarth) के नेतृत्व में 'राकडेल पायनियर्स' (Rochdale Pioneers) ने उपभोक्ता भण्डारों (consumer's stores) की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करना था।

फ्रान्स—सहकारिता के क्षेत्र में जो कार्य इंगलैंड में राबर्ट ओवेन द्वारा किया गया था फ्रांस में सम्भवतः वही काम चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) ने किया था। फ्रान्स में होने वाली क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का फोरियर तीव्र आलोचक था। उसको व्यक्तिगत स्वतंत्रता अति प्रिय थी। उसने एक ऐसी आदर्श बस्ती की रूपरेखा तैयार की था जिसमें लोग सहकारिता के सिद्धान्तों पर अपना जीवन व्यतीत करेंगे तथा उस बस्ती में रहने वाले परिवारों के सुख एवं शान्ति के लिए आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध होंगी। पारस्परिक प्रतियोगिता न होने के कारण लोगों में आपसी मतभेद तथा द्वेष की भावना न होगी। सहकारिता के क्षेत्र में चार्ल्स फोरियर की सबसे प्रमुख देन सम्बद्ध सहकारिता (Integral Co-operation) थी।

इटली (Italy)—औद्योगीकरण से पूर्व इटली की अर्थ व्यवस्था पूर्णतः कृषि पर आधारित थी। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों की आर्थिक दशा बड़ी मार्मिक थी। उनकी

जीवन कठिनाई एवं संघर्ष का एक दृष्टान्त था। कृषि की दशा पिछड़ी एवं दोषपूर्ण होने के कारण किसानों की दशा बिगड़ती जा रही थी। निर्धन किसानों को अपनी आवश्यकता के लिये भारी ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था। ब्याज की यह दर ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक थी। ऐसी अवस्था में इटली में लुज्जाटी (Luzzatti) तथा डा० वोलेनबर्ग (Dr.Wollerborg) ने देशवासियों को विभिन्न आवश्यकताओं के लिए ऋण देने की सुविधा प्रदान करने के लिए सहकारी साख समितियों तथा ग्रामीण बैङ्कों की स्थापना की परन्तु फासिज्म (Fascism) के आगमन के पश्चात् देश का सहकारी आन्दोलन फासिज्म के नवीन सिद्धान्तों पर संगठित किया गया।

रूस (Russia)—रूस के सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन विशेष महत्व का है। देशव्यापी क्रान्ति में सहकारिता आन्दोलन देश वासियों के जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रूस में सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलाई जाने वाली ग्रामीण ऋण समिति, (Rural Loan Society) १८६५ में स्थापित की गई थी। प्राचीन सहकारी समितियों में मजदूर एवं कारीगर संघ (Labour Cartels), कृषि समितियाँ, उपभोक्ता समितियाँ, साख एवं ऋण समितियाँ एवं सहकारी संघ (Co-operative Unions) विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १९१७ में होने वाली क्रान्ति के पश्चात् सहकारिता आन्दोलन का पुनर्संगठन हुआ और सहकारी उपभोक्ता समितियों पर विशेष महत्व दिया गया जिनके द्वारा देशवासियों में उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुओं को वितरित करने का कार्य किया जाता था। वर्तमान समय में रूस के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में सहकारिता आन्दोलन द्वारा महत्वपूर्ण कार्य हो रहे हैं।

रेफिसन तथा शुल्जेडेलिज प्रणाली—रेफसन तथा (Raiffeisen and Schulze Delitszch System) शुल्जे डेलिज नामक दो व्यक्तियों ने जर्मनी में सहकारी समितियों की स्थापना की थी। रफिसन ने अपने देश के ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शुल्जेडेलिज ने अपने देश के शहरी क्षेत्रों में सहकारी समितियों की स्थापना करके संसार के समक्ष दो प्रकार की सहकारी समितियों के प्रतिस्थापन सम्बन्धी सिद्धान्त रक्खे। इन्हीं सिद्धान्तों पर अन्य देशों में सहकारी समितियों की स्थापना की जाती है। अतः सहकारी समितियों के यही दो प्रमुख प्रकार जाने जाते हैं। रेफिसन तथा शुल्जेडेलिज पद्धति पर स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों में पर्याप्त अन्तर है। अगले पृष्ठ पर हम इन दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे —

रेफिसन तथा शुल्जे डेलिज समितियों की तुलना

	रेफिसन	शुल्जे डेलिज
क्षेत्र (Area)	(१) इस प्रकार की समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित की जाती हैं।	(१) यह समितियां शहरी क्षेत्रों में कार्य करती हैं।
कार्य क्षेत्र (Area of operation)	(२) समिति का कार्य क्षेत्र सीमित होता है।	(२) समिति का कार्य क्षेत्र व्यापक होता है।
दायित्व (Liability)	(३) समिति के सदस्यों का दायित्व असीमित (Unlimited Liability) होता है। इस कारण समिति को हानि होने पर किसी भी सदस्य से पूरी रकम वसूल की जा सकती है।	(३) इनका दायित्व सीमित (Limited Liability) होता है। अर्थात् हानि होने पर सदस्य अपने हिस्से तक का ही देनदार होता है।
अंश पूँजी (Share capital)	(४) इन समितियों में अंश पूँजी का अधिक महत्व नहीं होता है। अंश छोटे मूल्य के होते हैं।	(४) अंश पूँजी का अधिक महत्व होता है और अंशों का मूल्य प्रायः अधिक होता है।
ऋण का उद्देश्य (Object of loan)	(५) यह समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं। और यह दीर्घकालीन ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही देती हैं।	(५) ऐसी समितियां सदस्यों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी उत्पादक अथवा अनुत्पादक किसी भी कार्य के लिये अल्पकालीन ऋण प्रदान करती हैं।
रक्षित कोष (Reserve fund)	(६) संकट के समय में भी अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए यह समितियां रक्षित कोष रखती हैं। इस कारण लाभ सदस्यों में न वितरित होकर रक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है।	(६) यह समितियां प्रति वर्ष अपने सदस्यों में लाभ बाट देती हैं और लाभ का बहुत छोटा भाग ही रक्षित कोष में जमा किया जाता है।
पदाधिकारी (Office bearers)	(७) ऐसी समितियों में पदाधिकारी अवैतनिक होते हैं।	(७) इन समितियों में पदाधिकारियों को वेतन मिलता है।
उद्देश्य (Object)	(८) ऐसी समितियां सदस्यों के आर्थिक एवं नैतिक दोनों प्रकार की उन्नति करने के उद्देश्य से कार्य करती हैं। इस कारण समितियाँ उनके ऐसे कार्य करती हैं जिनसे सदस्यों का चरित्र निर्माण एवं नैतिक सुधार होता है, जैसे शिक्षा प्रसार आदि।	(८) यह समितियां व्यापारिक दृष्टिकोण से चलाई जाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य सदस्यों की आर्थिक उन्नति ही करना है, अतः वे नैतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान नहीं देती हैं।

सहकारी समितियों का वर्गीकरण

जर्मनी मे सहकारिता आन्दोलन के जन्म के पश्चात् संसार के अन्य देशों में सहकारिता का विकास बड़ी तेजी से हुआ। और मानव के आर्थिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में कृषि, उद्योग, उत्पादन एवं उपभोग, यही नहीं, देश के विभिन्न क्षेत्रों जैसे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में बसे हुए व्यक्तियों की समस्याओं को हल करने के लिए सहकारिता के सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा और समय समय पर विभिन्न देशों में अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जाने लगीं। इस कारण सहकारी समितियों के वर्गीकरण का कार्य बड़ा जटिल हो गया। विभिन्न देशों में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से सहकारी समितियों का वर्गीकरण किया है। इंगलैंड में केवल सहकारी उपभोक्ता समितियों की ही प्रधानता थी और इसी कारण इंगलैंड उपभोक्ता समितियों (Consumers' Co-operatives) के लिए प्रसिद्ध है। दूसरी ओर रूस में अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ कार्य कर रही है। जैसे सहकारी उपभोक्ता समितियाँ, सहकारी गृहनिर्माण समितियाँ, उत्पादकों की सहकारिता, इत्यादि) अतः सहकारी समितियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अध्ययन करने से सहकारी समितियों के उद्देश्य एवं कार्य का सही अनुमान लग जाता है। नीचे हम विभिन्न प्रकार से किये गये वर्गीकरण का अध्ययन करेंगे।

रोम की अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संस्था (International Institute of Agriculture at Rome) द्वारा सहकारी समितियों का वर्गीकरण :—

साख समिति, उत्पादन समिति, क्रय समिति, विक्रय समिति, बीमा समिति तथा अन्य समितियाँ।

प्रो० सी० आर० फे (Prof. C. R Fay) के अनुसार वर्गीकरण :—

(१) सहकारी बैंक (Co-operative Banks)
(२) सहकारी कृषि समिति (Co-operative Agricultural Society)
(३) सहकारी कारीगर समिति (Co-operative Workers' Society)
(४) सहकारी भंडार (Co-operative Stores)

प्रो० नाश (Prof Nash) का वर्गीकरण :—

(१) साधन समितियाँ (Resources societies)
(२) उत्पादन समितियाँ (Producers' societies),
(३) उपभोक्ता समितियाँ (Consumers' societies)
(४) गृह समितियाँ (Housing societies)
(५) साधारण समितियाँ (General societies)

भारत में सहकारिता
(Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारिता का विकास—जब कि संसार के अन्य देशों में सहकारिता के सूर्य का उदय बहुत समय पूर्व ही हो गया था, भारतवर्ष में २० वीं सदी के आरम्भ में ही सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हो सका। यद्यपि सहकारिता भावना के लिए कोई नई चीज नहीं है, क्योंकि प्राचीन भारत के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, पंचायत, जाति प्रथा जैसी अनेक ऐसी संस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान था जिनमें पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की भावना विद्यमान थी, तथापि एक आन्दोलन के रूप में हमारे देश में इसका जन्म सन् १९०४ में ही हुआ जब "सहकारी साख समिति अधिनियम" पास हुआ। वैसे तो एक कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत के कृषकों के समक्ष अनेक कृषि सम्बन्धी समस्याएँ आती रहीं किन्तु १९ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में हमारे ग्राम निवासियों और किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। किसानों को खेती सम्बन्धी अनेक आवश्यक कार्यों के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती थी। अन्य कोई साधन न होने के फलस्वरूप गाँव के साहूकार और महाजन ही उनके लिए ऋण का एकमात्र साधन थे जिनसे भारी ब्याज पर किसानों को ऋण मिलता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के किसान एवं ग्रामीण ऋणग्रस्त हो गये। उनकी इस दयनीय दशा ने न्यायमूर्ति रानाडे (Justice Ranade) तथा सर विलियम वेडरबर्न (Sir W Wedderburn) जैसे महानुभावों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जिन्होंने भारत की ग्रामीण ऋण की समस्या हल करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे बैंकों की स्थापना करने का सुझाव दिया जिससे किसानों को आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर ऋण की सुविधा प्राप्त हो सके। परन्तु भारत सरकार इस सुझाव को कार्यान्वित करने में असमर्थ रही। फलस्वरूप देश के कृषकों तथा ग्रामीण निवासियों की ऋणग्रस्तता की समस्या वैसी ही बनी रही। जैसा कि विदित है भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का सबसे प्रमुख लक्षण ग्राम निवासियों की चिन्ताजनक निर्धनता है जिसके कारण बराबर ऋण लेते रहने से किसान ऋण की बेड़ियों में पूर्णतया जकड़ जाता है। दुःख की बात यह है कि यह ऋण सदैव उत्पादक कार्यों तथा खेती में सुधार किये जाने ही के लिए नहीं लिये जाते वरन् अनेक बार निर्धन किसान को धार्मिक एवं सामाजिक रीति रिवाजों को पूरा करने के लिए भी अनुत्पादक ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। सन् १८७८ में पूना में होने वाले दंगों का कारण भी भारतीय किसान की ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उसकी बिगड़ती हुई आर्थिक एवं सामाजिक दशा ही था जिसने इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। परिणामस्वरूप १८८३ में भूमि

सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvements Loans Act 1883) पास किया गया। सन् १८९२ में सर फ्रेडरिक निकलसन (Sir Frederick Nicholson) ने भूमि तथा कृषि बैंकों (Land and Agricultural Banks) द्वारा ग्रामीण ऋण की समस्या के हल करने की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में मद्रास सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उनकी रिपोर्ट का सारांश था "रेफिसन को ढूँढ़ो" (Find Raiffeisen) जिसका अर्थ है कि ग्रामीण ऋण की समस्या के लिए रेफिसन पद्धति के आधार पर ग्रामीण साख सहकारी समितियों की स्थापना की जाय। परन्तु निकलसन की रिपोर्ट में निहित सुझाव मद्रास सरकार को प्रभावित न कर सके। उत्तर प्रदेश में समस्या के अध्ययन के लिए सरकार ने मिस्टर डुपरनेक्स (Mr Dupernex) नामक अधिकारी को नियुक्त किया था जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Peoples' Banks for Northern India" लिखकर पुनः ग्राम साख समितियों की स्थापना द्वारा ग्रामीण ऋण की समस्या हल करने का सुझाव दिया। इसी समय एडवर्ड मैक्लेगन (Edward Meclagan) ने भी सहकारी साख समितियों की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इन विद्वानों एवं विशेषज्ञों के अध्ययन तथा सुझावों के द्वारा देश में सहकारिता आन्दोलन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो गई। १९०१ में भारत सरकार ने कृषि बैंकों के संगठन सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए एक समिति नियुक्त की। सन् १९०४ का सहकारी साख समिति अधिनियम (Co operative Credit Societies Act of 1904) इसी समिति की रिपोर्ट का परिणाम है। अत हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन का शुभारम्भ २५ मार्च १९०४ को होता है।

उपरोक्त अधिनियम के अन्तर्गत समस्त देश में ग्रामीण साख समितियों की स्थापना का कार्य तेजी से आरम्भ हुआ। इस ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य किसानों एवं सीमित साधन वाले व्यक्तियों तथा कारीगरों में मितव्ययता, स्वावलम्बन तथा सहकारिता की भावना जाग्रत करना था। अत देश के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी छोटी साख समितियों की स्थापना की गई। इस ऐक्ट द्वारा जर्मनी की रेफिसन पद्धति के आधार पर असीमित दायित्व वाली ग्रामीण समितियों तथा शुल्ज़लिज पद्धति पर शहरी समितियों का संगठन किया गया। १९११ १२ तक भारत में लगभग ८ हजार समितियाँ स्थापित हो गई थीं जिनकी कार्यशील पूंजी तथा सदस्यों की संख्या क्रमशः ३ ३६ करोड़ तथा ४ लाख थी। आन्दोलन के संगठन और १९०४ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों के नियन्त्रण एवं कार्य संचालन की दृष्टि से प्रान्तीय सरकारों को विशेष अधिकारी की नियुक्ति की अनुमति प्रदान की गई थी। यह अधिकारी रजिस्ट्रार (Registrar of Co operative Societies) कहलाता था। परन्तु १९०४ के सहकारी समिति अधिनियम में अनेक दोष होने के कारण सहकारिता आन्दोलन की प्रगति न हो सकी। दोष इस प्रकार थे—

(१) अधिनियम के अन्तर्गत केवल साख समितियों की स्थापना की ही व्यवस्था है अत अन्य कार्यों जैसे वितरण पूर्ति आदि के कार्यों के उद्देश्य से स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों को कानूनी मान्यता प्राप्त न थी।

(२) इन प्राथमिक साख समितियों की देख भाल एवं निरीक्षण के लिये १९०४ के अधिनियम के अन्तर्गत कोई ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित नहीं की गई थी जो इस कार्य को कर सकता।

(३) समितियों का वर्गीकरण बड़ा अवैज्ञानिक एवं असुविधाजनक था। समितियों को "ग्रामीण" और "शहरी" समितियों में विभाजित करने से भी कठिनाई उत्पन्न होती थी।

(४) ग्रामीण समितियों के लाभ को सदस्यों में बाटे जाने पर प्रतिबन्ध लगा देने से १९०४ के अधिनियम ने सहकारिता आन्दोलन की प्रगति में बाधा उपस्थित की।

उपरोक्त दोषों के कारण एक नये अधिनियम की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे सहकारी आन्दोलन में आने वाली कठिनाइयों को दूर किया जा सके और साथ ही उसकी प्रगति के लिये उपयुक्त वातावरण उत्पन्न हो सके। इसी कारण १९१२ में दूसरा "सहकारी समिति अधिनियम" पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्न थीं —

(१) साख समितियों के अतिरिक्त अन्य कार्यों, जैसे क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा, आदि के लिए स्थापित होने वाली समितियों को भी वैधानिक मान्यता दे दी गई।

(२) इस अधिनियम के अन्तर्गत सहकारी समितियों की देखभाल निरीक्षण एवं वित्तीय सहायता के लिए निम्न तीन प्रकार की केन्द्रीय संस्थाओं की व्यवस्था की गई —

(१) प्राथमिक समिति के संघ (Union)

(२) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

(३) प्रान्तीय बैंक (Provincial Bank)

(४) समितियों का वर्गीकरण अब नये प्रकार से किया गया। ग्रामीण तथा शहरी समितियों के स्थान पर परिमित एवं अपरिमित दायित्व वाली समितियाँ स्थापित की जाने लगी।

(४) इस अधिनियम की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके द्वारा अपरिमित दायित्व वाली समितियाँ लाभ के २५ प्रतिशत भाग को रक्षित कोष में जमा कर शेष भाग को सदस्यों में लाभांश के रूप में बाँट सकती थीं और शिक्षात्मक कार्यों के लिए भी समितियाँ अपने लाभ के दस प्रतिशत भाग को अलग रख सकती थीं।

सहकारिता आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में आने वाली अनेक कठिनाइयों तथा बाधाओं को १९१२ के अधिनियम द्वारा दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया। उपरोक्त परिवर्तनों के फलस्वरूप भारत में सहकारिता आन्दोलन में पर्याप्त प्रगति हुई। परन्तु अब भी देश में आन्दोलन के मार्ग में अनेक बाधाओं के कारण होने वाली प्रगति अत्यन्त सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। सरकार ने आन्दोलन के विकास सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए सर एडवर्ड मैक्लेगेन (Sir Edward Meclegan) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने आन्दोलन की प्रगति के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये। जैसे—

(१) आन्दोलन को सुदृढ़ स्तर पर लाने के पश्चात् ही नई-नई समितियों को खोलने का प्रयत्न किया जाय।

(२) सहकारिता आन्दोलन में सरकारी हस्तक्षेप कम से कम हो और जनता स्वयं आन्दोलन की प्रगति में सक्रिय भाग ले। इसके लिए यह आवश्यक है कि सहकारिता के सिद्धान्तों का खूब विकास हो।

(३) समिति द्वारा दिये गये ऋण का दुरुपयोग न हो। इस कारण ऋण देने से पूर्व प्रार्थी की आर्थिक स्थिति की जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिए।

(४) सट्टा सम्बन्धी कार्यों के लिए समिति द्वारा ऋण न दिया जाय।

(५) समिति के कुशलतापूर्वक कार्य के लिए समय समय पर उसकी जाँच पड़ताल होते रहना आवश्यक है।

(६) जहाँ तक सम्भव हो ऋण केवल थोड़े समय के लिए ही दिये जायें।

Meclegan Committee के उपरोक्त सुझावों पर अभी सरकार पूर्णरूप से विचार भी न कर पाई थी कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और सरकार का ध्यान युद्ध सम्बन्धी कार्यों में केन्द्रित हो गया। १९१९ के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार (Mortagu Chelmsford Reforms) के कारण सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया। प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी आन्दोलन में काफी रुचि ली जिसके कारण सहकारी आन्दोलन में काफी प्रगति हुई। १९२९-३० में समितियों की संख्या लगभग ६४,००० थी जिनमें ३६.८ लाख सदस्य थे और जिनकी कार्यशील पूँजी लगभग ७५ करोड़ रुपये थी।

परन्तु सहकारी आन्दोलन में निरन्तर होने वाली प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा आ गई। देश में सन् १९२९ से १९३३ तक जैसी आर्थिक स्थिति रही उससे सहकारी आन्दोलन की प्रगति में बाधा आ गई। विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण कृषि पदार्थों के मूल्य में भारी कमी हो गई। किसानों की आय कम हो जाने के कारण वे अपने पुराने ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ हो गये। अब सहकारी समितियों के कार्य में बड़ी कठिनाई उपस्थित होने लगी। इस कारण यह आवश्यक समझा जाने

लगा कि आन्दोलन का पुनर्संगठन किया जाये जिससे सहकारिता के विकास में उपस्थित कठिनाइयों को दूर कर उसकी प्रगति में प्रोत्साहन मिल सके।

१६३५ में 'रिजर्व बैंक ग्राफ इंडिया' (Reserve Bank of India) की स्थापना हो गई जिसमें कृषि साख विभाग (Rural Credit department) के खोले जाने से सहकारिता आन्दोलन को अनेक प्रकार से सहायता मिली। १६३७ ई० में प्रान्तीय स्वायत्त शासन (Provincial Autonomy) के स्थापित होने से प्रान्तीय सरकारों ने सहकारिता आन्दोलन के विकास के लिये भारी प्रयत्न किए और आन्दोलन की बिगड़ी अस्त व्यस्त स्थिति सुधरने लगी।

१६३६ में द्वितीय महायुद्ध के कारण आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होने लगी। कृषि पदार्थों के मूल्य भी बढ़ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने से उनमें अपने पुराने ऋणों को चुकाने की फिर से सामर्थ्य आ गई। परिणामस्वरूप आन्दोलन को नवीन शक्ति एवं प्राप्त होने से निरन्तर सहकारिता का विकास होता गया। महायुद्ध के समय में सबसे बड़ी कठिनाई लोगों को अपने दैनिक उपयोग की वस्तुओं को प्राप्त करने में होती थी। इस कारण इस काल में सहकारी आन्दोलन के जिस क्षेत्र ने विशेष प्रगति की, वह थी उपभोक्ताओं की सहकारिता (Consumers Co operation)। इसी कारण उपभोक्ता सहकारिता समितियों का बहुत विस्तार हुआ।

सरकार ने १२ सितम्बर १६४४ को प्रो० डी० आर० गैडगिल (Prof D R Gadgil) की अध्यक्षता में एक कृषि वित्त उपसमिति (Agricultural Finance Sub committee) की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य ऋण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर सुझावों को प्रस्तुत करना था। १८ जनवरी १६४५ को रजिस्ट्रारों का १४ वाँ सम्मेलन बुलाया गया जिसने देश के सहकारिता आन्दोलन को संगठित करने की दृष्टि से सरकार से एक समिति नियुक्त करने की जोरदार सिफारिश की। फलस्वरूप श्री आर० जी० सरैया (Shri R G Saraiya) की अध्यक्षता में एक सहकारी आयोजना समिति (Co operative Planning Committee) की नियुक्ति की गई जिसने देश में सहकारी आन्दोलन की प्रगति एवं विकास के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत कीं। इस समिति ने प्राथमिक समितियों को केवल ऋण प्रदान करने के कार्य के बजाय बहुउद्देशीय कार्यों का सम्पन्न करने का सुझाव दिया। समिति के विचार में भारत के लिये बहुउद्देशीय समितियाँ अधिक उपयोगी होंगी। सरैया कमेटी तथा गैडगिल कमेटी की सिफारिशों पर विचार करने के लिए रजिस्ट्रारों का १५वाँ सम्मेलन बुलाया गया जिसमें इन समितियों के सुझावों के अतिरिक्त देश के सहकारी आन्दोलन संबंधी अन्य विषयों पर भी विचार किया गया।

१५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। देश के विभाजन से आन्दोलन के क्षेत्र में अनेक नई समस्याएँ प्रस्तुत हुईं। भारी संख्या में शरणार्थियों को बसाने के लिये भी सहकारी आन्दोलन की शरण लेनी पड़ी। राष्ट्रीय सरकार ने स्वतन्त्रता के पश्चात् सहकारी आन्दोलन की प्रगति के लिये अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। राष्ट्रपिता गाँधी ने ग्रामोत्थान एवं कृषि सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिये सहकारिता के महत्व पर जोर दिया।

निम्न तालिका में हम १९४७ से प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व तक होने वाली सहकारी आन्दोलन की प्रगति को स्पष्ट कर रहे हैं—

वर्ष	समितियों की संख्या (हजारों में)	प्रारम्भिक समितियों की सदस्य सं० (लाखों में)	समस्त प्रकार की समितियों की कार्यशील पूँजी (करोड़ रुपयों में)
१९४७-४८	१४६·७७	१०४·७	१७१·०६
१९४८-४९	१६३·८८	१२७·०७	२१६·४९
१९४९-५०	१७८·०९	११२·६१	२३३·१०

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारी आन्दोलन
(Cooperation in Planned Economy)

एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारिता आन्दोलन का क्या स्थान है? यह एक बड़ा रोचक विषय है। जैसा कि स्पष्ट है कि सहकारिता आन्दोलन की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि देश में जिम्मेदार लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना हो। एक स्वतन्त्र देश के निवासियों में ही व्यक्तिगत प्रयास एवं उत्तरदायित्व की भावना पाई जा सकती है जिसका होना सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत में भी स्वतन्त्रता के पूर्व देश के सहकारी आन्दोलन की स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार के अथक प्रयत्नों से सहकारिता के क्षेत्र में जो प्रगति हुई वास्तव में वह बड़ी सराहनीय है। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए एक नियोजित अर्थ व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था को सुधारने के प्रयत्न होने लगे। आर्थिक नियोजन में सहकारिता का क्या स्थान है? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। वैसे तो हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य आधार ही सहकारिता है परन्तु फिर भी एक नियोजित अर्थ व्यवस्था तथा सहकारिता में पारस्परिक मतभेद ध्यान रखने योग्य है। सहकारिता में किसी प्रकार का दबाव नहीं होता। यह एक स्वेच्छापूर्ण सदस्यता के आधार पर कार्य करने की प्रणाली है। उन

सभी व्यक्तियों के लिए सहकारिता के द्वार खुले रहते हैं तो सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के इच्छुक हैं। यह ऐसे निर्बल एवं शक्तिहीनों का संगठन है जिसके द्वारा वह अपने सामान्य हितों को प्राप्त कर सकते हैं। अतः प्रत्येक को सामान्य हित को दृष्टि में रखते हुए कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। सहकारिता व्यक्तियों में अनेक नैतिक एवं सामाजिक गुणों जैसे—सच्चाई, स्वावलम्बन, ईमानदारी, सद्भावना, साहस एवं पारस्परिक सहयोग के विकास में सहायता देती है। परन्तु आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत एवं केन्द्रीय सरकार द्वारा देश के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप होना अनिवार्य है। बिना केन्द्रीय नियन्त्रण एवं निर्देशन के कोई योजना सफल नहीं हो सकती। इस कारण एक नियोजित अर्थ व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छापूर्ण आर्थिक कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त छूट नहीं रहती।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता की प्रगति—प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्य सन् १९५१ में प्रारम्भ हुआ। १९५६ में यह योजना समाप्त हो गई। इस अवधि में देश के सहकारी आन्दोलन में काफी प्रगति हुई। प्रथम योजना* में इस क्षेत्र में होने वाला सबसे प्रमुख कार्य था रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त "अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति" (All India Rural Credit Survey Committee) द्वारा किया गया ग्रामीण के सहकारी आन्दोलन की प्रगति का सर्वेक्षण। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित की। सन् १९५९-६० के अन्त में भारत में सब प्रकार की केवल २,४४,०६६ सहकारी समितियाँ थीं जिनमें लगभग १,६०,००,००० सदस्य थे। १९५१-५२ में सहकारी समितियों की संख्या केवल १,८५,६५० थी। इससे स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में देश में सहकारी आन्दोलन ने काफी प्रगति की। प्रथम योजना काल में स्थापित होने वाली समितियों में अधिकांश समितियाँ प्राथमिक समितियाँ (primary societies) थीं जो किसानों को केवल छोटी रकम के ऋण देने का कार्य करती थीं। इस कारण किसानों को मिलने वाले ऋण का केवल ८ प्रतिशत भाग ही इन समितियों द्वारा प्राप्त होता था और अपनी आवश्यकता के ७० प्रतिशत भाग के लिए अब भी किसानों को ग्रामीण बनियों एवं साहूकारों की शरण लेना पड़ता है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के मुख्य सुझाव

(Main Recommendations of the All India Rural Survey Committee)

समिति ने ग्रामीण साख की समस्या के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाला उसका सारांश यह है कि देश में सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति का मुख्य कारण सरकार

*Under the Chairmanship of Mr. A. D. Gorwala I. C. S.

का सहकारी समितियों के साथ पर्याप्त सहयोग न करना है। अतः सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में मुख्य सुझाव यह हैं —

(१) विभिन्न स्तर पर स्थापित सहकारी संस्थाओं में सरकार को एक प्रमुख साझेदार के रूप में कार्य करना चाहिये।

(२) *साख, विपणन एवं अन्य समितियों में पूर्ण सहयोग होना चाहिये।*

(३) प्राथमिक समितियों का दायित्व सीमित हो और उनका आकार काफी बड़ा हो।

(४) राष्ट्रीय एवं प्रदेशीय गोदाम निगमों की सहायता से बहुत से गोदामों का निर्माण करा लेना चाहिये।

(५) सहकारिता के क्षेत्र में कार्य करने वालों के प्रशिक्षण के लिये पर्याप्त सुविधाएँ हों।

(६) इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया (Imperial bank of India) को स्टेट बैंक आफ इंडिया (State bank of India) में परिवर्तित कर दिया जाये।

भारत सरकार ने समिति के अधिकांश सुझावों को मान लिया तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिये अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये। सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक आफ इंडिया ऐक्ट में आवश्यक संशोधन किया गया। फरवरी १९५६ में एक राष्ट्रीय कृषि साख कोष (National Agricultural Credit Fund) की स्थापना की गई। १ जुलाई १९५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा उसके स्थान पर 'स्टेट बैंक आफ इंडिया' ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया जिसकी ४०० नई शाखाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने का लक्ष्य रक्खा गया। यह लक्ष्य प्राप्त किया जा चुका है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना में प्रगति— द्वितीय पचवर्षीय योजना में देश भर में १०,४०० बड़े आकार वाली सहकारी समितियों तथा १८०० प्राथमिक विपणन समितियों (primary marketing societies) के खोलने का लक्ष्य रक्खा गया। १९५७ ५८ तक ५९२५ बड़ी समितियां तथा ४५६ विपणन समितियां कार्य कर रही थीं। इसके अतिरिक्त १७५० गोदामों का निर्माण भी हो चुका था। जैसा कि स्पष्ट है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना का लक्ष्य भारत में एक समाजवादी ढंग के समाज (socialist pattern of society) की रचना करना है जिसमें सहकारिता का महत्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है। यही कारण है ग्रामोत्थान सम्बन्धी समस्त योजनाओं का लक्ष्य केवल यही है कि *भारत में सहकारी ग्राम प्रबन्ध* (co-operative village management) का स्वप्न साकार हो।

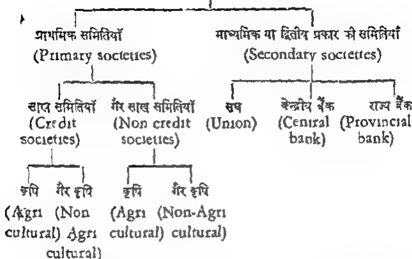
निम्न तालिका में दूसरी पंचवर्षीय योजना काल में सहकारिता के विकास [redacted] कार्यक्रम स्पष्ट किया गया है।

		लक्ष्य
साख सम्बन्धी (Credit)	बड़े आकार वाली समितियाँ (Large sized societies)	१०४००
	अल्पकालीन साख (Short term credit)	१५० क० रु०
	मध्यकालीन साख (Medium term credit)	५० क० रु०
	दीर्घ कालीन साख (Long term credit)	२५ क० रु०
विक्रय एवं परिनिर्माण सम्बन्धी (Marketing and Processing)	प्राथमिक विक्री समितियाँ (Primary marketing societies)	१८००
	सहकारी चीनी फैक्ट्रियाँ (Co operative sugar factories)	३५
	सहकारी कपास जिनिंग फैक्ट्री (Co operative cotton gins)	४८
	अन्य (Others)	११८
माल गोदाम एवं भण्डार सम्बन्धी (Ware houses and Storage)	केन्द्रीय तथा राज्य निगमों के माल गोदाम (Warehouses of Central and State Corporations)	३५०
	विक्री समितियों के गोदाम (Godowns of marketing societies)	१५००
	बड़े आकार वाली समितियों के गोदाम (Godowns of larger sized societies)	४०००

जुलाई १९५६ [redacted] मसूरी में होने वाले राज्य मन्त्रियों के द्वितीय सम्मेलन में विक्रय तथा परिनिर्माण समितियों के क्षेत्र में और विस्तार किया गया। फलस्वरूप विक्रय समितियों की संख्या बढ़ाकर १९०८, चीनी मिलों की ६० तथा काटन जिनिंग फैक्ट्रियों की संख्या १०० कर दी गई। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि १९६०-६१ तक १०,४०० बड़े आकार वाली समितियों की स्थापना का कार्य पूरा हो जायगा।

भारत में सहकारी आन्दोलन का संगठन

भारत में सहकारी आन्दोलन के संगठन को समझने के लिए देश में सहकारी समितियों के वर्गीकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अग्र पृष्ठ पर दिये गये रेखा चित्र में हम सहकारी समितियों का वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—



जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है भारत में सहकारी समितियों का वर्गीकरण उनके द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर किया गया है। इस प्रकार भारत में सहकारी आन्दोलन के दो पक्ष (aspects) हैं। पहला तो साख सम्बन्धी सहकारिता, जिसके अन्तर्गत साख अथवा ऋण देने का कार्य सम्पन्न होता है। दूसरे, गैर साख सम्बन्धी सहकारिता, जिसके अन्तर्गत साख अथवा ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य आर्थिक एवं सामाजिक कार्य किये जाते हैं। इस उद्देश्य से विभिन्न समितियों की स्थापना की जाती है। इन समितियों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। पहले तो वह सहकारी समितियाँ जिनके सदस्य मुख्यतया खेती सम्बन्धी व्यवसाय में संलग्न होते हैं। ऐसी समितियों को हम 'कृषि समिति' (Agricultural societies) कहते हैं। दूसरे प्रकार की समितियों के सदस्य अन्य आर्थिक कार्यों द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। ऐसी समितियों को गैर कृषि समितियाँ (Non agricultural societies) कहते हैं। इस प्रकार समस्त सहकारी समितियाँ निम्न प्रकार की होती हैं—

(१) कृषि साख समितियाँ (Agricultural credit societies)

(२) कृषि गैर साख समितियाँ (Agricultural non credit societies)

(३) गैर कृषि साख समितियाँ (Non agricultural credit societies)

(४) गैर कृषि गैर साख समितियाँ (Non agricultural non credit societies)

प्राथमिक समितियाँ

(Primary societies)

कृषि समितियाँ (Agricultural societies)—कृषि समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—(अ) कृषि साख समितियाँ, (ब) कृषि गैर साख समितियाँ।

कृषि साख समिति—हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन का जन्म किसानों की आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर ऋण देने के लिये प्रारम्भ किया गया था। इसी कारण प्रारम्भिक काल से ही भारत में सहकारिता का ध्यान मुख्यतः साख सम्बन्धी कार्यों में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि गत कुछ वर्षों में आन्दोलन ने अन्य समस्याओं को हल करने का भी प्रयास किया। परन्तु अब भी भारत का सहकारी आन्दोलन एक साख प्रधान आन्दोलन कहा जा सकता है।

निर्माण—प्राथमिक कृषि साख समिति की स्थापना (constitution) के लिये कम से कम १० और अधिक से अधिक १०० सदस्यों की आवश्यकता होती है। ऐसी समिति अपना कार्य ग्राम एक या कस्बे में ही सीमित रखती है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक गाँव में रहने वाले व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क के साथ साथ समिति के कार्यों के नियन्त्रण में भी सरलता होती है। समिति की स्थापना के पश्चात् सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार (Registrar of Co operative Societies) द्वारा समिति का पंजीयन (registration) करा लेना चाहिये। ऐसी समितियों का दायित्व असीमित होता है। इसका मुख्य लाभ यह होता है कि प्रत्येक सदस्य समिति के कार्यों में रुचि लेता है। इस पारस्परिक नियन्त्रण के फलस्वरूप समिति के कार्यों में कुशलता आ जाती है।

पूंजी—समिति कार्यशील पूँजी (working capital) दो साधनों से प्राप्त करती है—आन्तरिक साधन, जिसमें समिति के सदस्यों द्वारा दिया गया प्रवेश शुल्क (enterance fee), हिस्सा पूँजी (share capital) तथा सदस्यों द्वारा जमा की गई धन राशि अर्थात् जमा पूँजी, (deposits) सम्मिलित होते हैं। समिति की पूँजी का दूसरा स्रोत बाह्य साधन है—जिसमें सरकार—केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा किसी बैंक द्वारा प्राप्त पूँजी सम्मिलित है। जहाँ तक हिस्सा पूंजी का सम्बन्ध है, इसका महत्त्व पंजाब मद्रास, पंजाब और उत्तरप्रदेश जैसे प्रान्तों में अधिक है जहाँ सहकारी समितियों के लिये हिस्सा पूँजी एक प्रमुख स्रोत है। अन्य प्रान्तों में हिस्सा पूँजी पर इसलिये अधिक जोर नहीं दिया जाता जिससे निर्धन एवं सीमित साधन वाले व्यक्ति भी सहकारी समितियों की सदस्यता से वंचित न रह जायें। जो कि सहकारिता की भावना के सर्वथा प्रतिकूल होगा।

ऐसी समितियों में रक्षित कोष का महत्त्व अधिक होता है। सहकारी अधिनियम

के अन्तर्गत प्रत्येक सहकारी समिति एक रक्षित कोष बनाती है जिसमें अपने लाभ का कम से कम २५ प्रतिशत भाग जमा करना पड़ता है।

ऋण तथा ब्याज (Loan and interest)—प्राथमिक साख समितियां जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने सदस्यों को ऋण दे सकती हैं वे हैं—

(१) उत्पादक कार्यों के लिए।

(२) अनुत्पादक कार्यों के लिए।

(३) पुराने ऋण को चुकता करने के लिए।

सदस्य खेती तथा कृषि भूमि में सुधार करने, अनेक सहकारी नकदों के भुगतान इत्यादि कार्यों के लिए उत्पादक ऋण लेने की आवश्यकता का अनुभव करता है। अनुत्पादक कार्यों के लिए, लिये जाने वाले ऋण अनेक सामाजिक रीति रिवाज, शादी, विवाह, आदि के लिए लिये जाते हैं। पुराने ऋण के भुगतान के लिये प्राप्त ऋण मुख्यतया भूमिबन्धक बैंकों ही से प्राप्त होते हैं परन्तु प्राथमिक सहकारी समितियाँ भी इस प्रकार के ऋण देने का कार्य करती हैं। सदस्यों द्वारा लिये गये ऋण तीन प्रकार की अवधि के होते हैं—

(१) अल्पकालीन,

(२) मध्यकालीन,

(३) दीर्घकालीन।

जहाँ तक सम्भव हो समितियों द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए तथा अल्प समय के लिए ही दिये जाने चाहिए। परन्तु ग्रामीण जनता को साहूकार के कठोर पंजों से मुक्त कराने के लिए समय-समय पर उनके अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए भी ऋण देना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा करने पर ही उनके आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन में वास्तविक सुधार की आशा की जा सकती है। समिति द्वारा दिये गये ऋण *की कितनी मात्रा हो?* यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारत में प्राथमिक सहकारी साख समिति की कार्य प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनकी कार्यशील पूँजी कम होने के कारण वह सदस्यों को बड़ी थोड़ी मात्रा में ही ऋण दे सकने की क्षमता रखती है। सहकारिता के उद्देश्य को पूरा करने तथा साख से वास्तविक लाभ पहुँचाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समिति द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा इतनी पर्याप्त हो जिससे किसान को अपनी आवश्यकता के लिए साहूकार का मुँह न ताकना पड़े। सदस्यों को ऋण देते समय उसकी साख प्राप्त करने की योग्यता (credit-worthiness) की भली भांति जानकारी कर लेना चाहिए और जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत जमानत के आधार पर ही ऋण देना चाहिए।

ऋण लौटाने के सम्बन्ध में समितियों को सख्ती से कार्यवाही करनी चाहिए।

कारण, समिति के सफलतापूर्वक कार्य संचालन के लिए ऋण का ठीक समय पर भुगतान करना अत्यन्त आवश्यक है। कृषि साख समितियों का प्रबन्ध लोकतन्त्रीय ढंग से किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार होता है। समिति के कार्यकर्ता तथा अधिकारियों को वेतन नहीं दिया जाता। प्रत्येक समिति में एक साधारण समिति होती है, जिसमें सब सदस्य सम्मिलित होते हैं। इस समिति का मुख्य कार्य होता है समिति की कार्य सम्बन्धी नीति निर्धारित करना। एक वैतनिक मन्त्री भी नियुक्त की जाती है, जो समिति के अनेक दैनिक कार्यों को करता है। साधारण समिति के अतिरिक्त एक प्रबन्ध समिति अथवा कार्यकारिणी समिति भी होती है जिसकी सदस्य संख्या ५ से ६ तक होती है। साधारण समिति की वार्षिक सभा में कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन होता है। यही समिति साख समिति के प्रबन्ध का कार्य करती है।

लाभ का वितरण—वैसे तो लाभ के बँटवारे के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में एक से नियमों की व्यवस्था नहीं है। फिर भी १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार प्रत्येक सहकारी समिति को प्रत्येक वर्ष अपने विशुद्ध लाभ का कम से कम एक चौथाई भाग रक्षित कोष में जमा कर देना पड़ता है। यदि रजिस्ट्रार की अनुमति प्राप्त हो जाय तो शेष का १० प्रतिशत भाग धर्मार्थ एवं शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में व्यय किया जा सकता है। लाभ के शेष भाग को समिति अपने सदस्यों में लाभांश के रूप में वितरित कर सकती है।

सहकारी समितियों को सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलाने तथा ठीक से काम करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है, कि समय-समय पर सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार द्वारा उनका निरीक्षण एवं लेखा परीक्षण (audit) होता रहे जिससे उनके कार्य प्रणाली में आये हुए दोषों एवं त्रुटियों की ओर समिति का ध्यान आकर्षित किया जा सके।

प्रगति—निम्न तालिका में प्राथमिक सहकारी साख समितियों की प्रगति का विवरण दिया जाता है —

	१९५१-५२	१९५६-५७
प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ	१,०७,९२५	१,६१,५१०
इन समितियों की सदस्यता	४७,७६,८[illegible]	६०,१६,८[illegible]

कार्य प्रणाली में दोष—भारत के ग्रामीण जीवन में प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन समितियों द्वारा ही किसान को अपनी

अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट के अनुसार किसान के कुल ऋण का केवल तीन प्रतिशत भाग ही इन समितियों द्वारा प्राप्त हो रहा है जिससे भी इनकी साख प्रणाली के पुनर्गठन की महान् आवश्यकता स्पष्ट होती है अत उपरोक्त समिति (Sri A D Gorwala Committee) ने भी सब समितियों के पुनर्गठन के लिए कुछ सुझाव दिये हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान समितियों के स्थान पर बड़े आकार वाली समितियां बनाई जायें जो कई गांव को अपनी सेवाओं द्वारा लाभ पहुंचायें। इनमें सदस्यों की संख्या तथा हिस्सा पूंजी में भी पर्याप्त वृद्धि की जाये तथा साख और गैर साख समितियों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर दिया जावे। सरकार ने समिति के सुझाव को मानकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में नए आकार वाली १०,४०० समितियों को संगठित करने का लक्ष्य रक्खा है। आशा है ग्राम्य साख सर्वे समिति द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर संगठित यह नए आकार वाली साख समितियां भारत के ग्रामीण जीवन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी तथा जिन उद्देश्यों के लिए उनका संगठन किया जा रहा है उन्हें पूरा करने में वे सफल होंगी।

कृषि गैर-साख समिति

(Agricultural Non credit Society)

जैसा कि बताया जा चुका है भारत में सहकारिता का जन्म मुख्यतया किसानों को साख सम्बन्धी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से ही किया गया। इस कारण हमारा देश कृषि गैर-साख समितियों के क्षेत्र में काफी पीछे है। संसार के अन्य देशों में गैर-साख समितियों की स्थापना पर अधिक जोर दिया जाता रहा है। इंगलैण्ड, रूस, डेनमार्क तथा देशों में ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक प्रकार की गैर-साख-समितियां कार्य करती हैं। एक कृषि प्रधान देश की आर्थिक सम्पन्नता तथा उन्नति कृषि के विकास पर निर्भर करती है। अत किसानों को केवल साख सम्बन्धी सुविधाएँ पहुंचाकर ही उनकी दशा को सुधारना सम्भव नहीं है। हम तो उनके सम्पूर्ण जीवन में सहकारिता का प्रकाश लाना है। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनके समस्त कार्यों को सहकारिता के सिद्धान्तों पर संगठित किया जाय। अनेक प्रकार के मध्यस्थों तथा साहूकारों से उन्हें मुक्त कराकर ही उनकी आर्थिक स्थिति में वास्तविक सुधार हो सकता है। डेनमार्क के कृषकों का सारा जीवन सहकारिता के आधार पर संगठित है। इंगलैण्ड में भी किसानों को साख के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सहकारी समितियों से लाभ पहुंचता है जिनके द्वारा किसानों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए वस्तुएं प्राप्त होती हैं तथा अपने उत्पादन का उचित मूल्य भी मिलता है।

भारत में कृषि गैर-साख समितियों की मन्द प्रगति का मुख्य कारण यही रहा है

कि हमारे अधिकांश देशवासी निरक्षरता के कारण उनका महत्व नहीं समझते। परन्तु विगत कुछ वर्षों से सहकारिता के इस क्षेत्र की ओर भी उन्नति होना प्रारम्भ हो गई है। और अब ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक प्रकार की कृषि और सहकारी साख-समितियों की स्थापना करके किसानों को कृषि सम्बन्धी अनेक सुविधाएँ जैसे अच्छे प्रकार के बीज बढ़िया खाद प्राप्त हो जाते हैं, और अपनी फसल के लिये उचित मूल्य भी मिल जाता है। आजकल हमारे देश म ग्रामीण क्षेत्रों म अनेक प्रकार की गैर साख समितियाँ की स्थापना हो गई है। जैसे सिंचाई समिति, चकबन्दी समिति, ग्राम सुधार समिति, कृषि-पूर्ति समिति, पशुपालन समिति, दुग्ध समिति, उत्तम कृषि समिति इत्यादि। इसके अतिरिक्त ग्रामों में सहकारी बीमा समितियों की भी स्थापना हो गई है जिनके अन्तर्गत पशु तथा फसल का बीमा कराया जाता है। ससार के अनेक क्षेत्रों म सहकारी फसल बीमा समितियों ने उल्लेखनीय प्रगति की है परन्तु हमारा देश अभी इस क्षेत्र में काफी पिछड़ा है। सहकारी बीमा विशेषतया पशुओं का ही होता है। फसलों आदि का बीमा अभी अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ है। अब हम इन विभिन्न प्रकार की समितियों का विवरण नीचे दे रहे हैं।

सिंचाई समिति

(Irrigation Society)

कृषि के लिये सिंचाई अत्यन्त आवश्यक है। भारत में खेती मुख्यतया वर्षा या मानसून पर निर्भर करती है परन्तु अनिश्चित तथा अपर्याप्त एवं वर्षा के समय पर न होने के कारण सिंचाई की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है। सहकारी सिंचाई समितियों द्वारा किसानों को सिंचाई सम्बन्धी सुविधा प्रदान की जाती है जिसके लिए ये समितियाँ सदस्यों के लिए कुएँ खोदने, नलकूप लगाने तथा बाँध बनाने म सहायता देती हैं। गाँव का प्रत्येक किसान सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से इन समितियों का सदस्य बन सकता है। इस प्रकार की समितियाँ अधिकतर पंजाब, बंगाल, बम्बई, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश म महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। सन् १९५३ से ५४ के अन्त तक भारत में कुल ६३७ सिंचाई समितियाँ थी जिनमें से उत्तर प्रदेश म ४१४, बम्बई में २८७ तथा पंजाब म १५६ सहकारी सिंचाई समितियाँ थी।

सहकारी चकबन्दी समिति

(Co operative Consolidation of Holdings Society)

भारत मे खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों मे बँटे हुए तथा बिखरे हुए होने के कारण खेती की उपज बहुत कम होती है। सहकारिता के आधार पर चकबन्दी का कार्य किया जा रहा है परन्तु सहकारी चकबन्दी समितियों ने देश मे कोई विशेष

प्रगति नहीं की। किसानों को अपनी भूमि से अत्यधिक लगाव होने से वह सहकारी समितियों को चकबन्दी के कार्य के लिए भी अपनी भूमि को देने के लिये तत्पर नहीं होता। इस कारण चकबन्दी समितियों के कार्य में बड़ी अड़चन होती है। कुछ प्रान्तों में चकबन्दी सम्बन्धी कानून के पास हो जाने से चकबन्दी के कार्यों में कुछ प्रगति हुई है। सर्वप्रथम १९२० में पंजाब में सहकारिता द्वारा चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ किया गया था। परन्तु कुछ कारणों से सहकारिता द्वारा चकबन्दी के क्षेत्र में अग्रसर होने के कारण भी वहाँ इससे कोई प्रगति न हो सकी। १९४५-४६ में वहाँ लगभग २००० सहकारी चकबन्दी समितियाँ थीं। देश के विभाजन के बाद इनकी संख्या केवल १५७२ रह गई। उत्तर प्रदेश में १९४७-४८ में लगभग ३५९ समितियाँ थीं जबकि मद्रास में उस समय इनकी संख्या केवल २२ थी।

ग्राम सुधार समिति

(Better Living Society)

भारत के किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में तभी कोई वास्तविक सुधार हो सकता है और सहकारिता आन्दोलन में सफलता भी तभी मिल सकती है जब उनका सम्पूर्ण जीवन ही सहकारिता के सिद्धान्तों पर निर्धारित हो। इस कारण सहकारी समितियों को केवल साख एवं कृषि सम्बन्धी अनेक सुविधाओं को प्रदान करने तक ही अपने कार्य को सीमित नहीं रखना चाहिये वरन् उनके जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने के लिये निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने वाली सहकारी समितियों की स्थापना कर लेनी चाहिये। हमारा किसान केवल आर्थिक संकटों में ही ग्रस्त नहीं है वरन् अनेक ऐसी सामाजिक एवं धार्मिक रीति रिवाजों में फँसे होने के कारण उसकी दशा बिगड़ती जा रही है। विवाह, जनेऊ, गौना, मृत्यु आदि ऐसे अवसरों पर किसानों के लिये अपनी हैसियत से अधिक खर्च कर देना तो बिलकुल साधारण सी बात है जिसके लिये बाद में कई वर्षों तक उन्हें अपना ऋण चुकाना पड़ता है। अशिक्षा एवं कठिन परिश्रम के पश्चात् मनोरंजन का कोई साधन न होने के कारण प्रायः उन्हें अनेक नशीली वस्तुओं, गाँजा, शराब, अफीम आदि के प्रयोग की आदत पड़ जाती है जिस पर अधिक धन व्यय होने के साथ-साथ उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है। इस कारण ग्रामीण जीवन में सुधार करने तथा किसानों के रहन-सहन को अच्छा बनाने के लिये ग्राम सुधार समितियों की आवश्यकता उत्पन्न होती है जो किसानों में उपरोक्त धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर मितव्ययतापूर्वक खर्च करने की आवश्यकता का महत्व बताती हैं। इस प्रकार की समितियाँ बम्बई, बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश में कार्य कर रही हैं। उड़ीसा, बिहार और दिल्ली में भी ऐसी समितियाँ पाई जाती हैं।

कृषि पूर्ति समिति

(Agricultural Supply Society)

भारतीय कृषि के पिछड़े होने का एक कारण यह है कि हमारे किसान अच्छे बीज, बढ़िया खाद तथा सुधरे हुए खेती के औजारों का प्रयोग नहीं करते। कारण यह है कि या तो उनको उस सम्बन्ध म जानकारी नहीं होती या ऐसी संस्थाओं का अभाव होता है जिनसे वे इन वस्तुओं को प्राप्त कर सकें। इस कारण उन्हें उन्नत बीज, कृषि औजार तथा खाद दिलाने का कार्य विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों द्वारा किया जाता है। जैसे बहुद्देशीय समितियाँ विपणन तथा साख समितियां इत्यादि केवल कृषि सम्बन्धी आवश्यक सामग्री पूर्ति के उद्देश्य से स्थापित सहकारी समितियाँ बम्बई प्रदेश में ही पाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश में अच्छे बीजों की पूर्ति के लिए बीज भण्डार (Seed Stores) की स्थापना की गई है। १९५३ ५४ म उत्तर प्रदेश में लगभग ऐसे १००० बीज भंडार थे।

पशुपालन समिति

(Cattle breeding Society)

खेती की प्रगति के लिए स्वस्थ एवं अच्छी नस्ल के पशुओं का होना अनिवार्य है। वैसे तो भारत म पशु सम्पत्ति (Cattle Wealth) अपार है। परन्तु उनके कम जोर एवं अस्वस्थ होने के कारण उनकी वास्तविक आर्थिक उपयोगिता बहुत कम है। इस कारण उनकी नस्ल म सुधार करना और उन्हें स्वस्थ दशा म रखना एक राष्ट्रीय महत्व की बात है। विदेशों की भाति भारत म भी पशुओं की नस्ल म सुधार करने का कार्य सहकारिता के आधार पर किया जा रहा है जिसके लिये भारत के विभिन्न प्रदेशों म सहकारी पशुपालन समितियों की स्थापना की गई है। इन समितियों का मुख्य कार्य अच्छे प्रकार की नस्ल के पशुओं की संख्या म वृद्धि करना है। यह समितियां पशुओं के लिये चारे का प्रबन्ध करती हैं और नस्ल सुधारने के कार्य के अतिरिक्त सदस्यों को पशुपालन सम्बन्धी उपयोगी बातें बता कर पशुओं को स्वस्थ रखने की दशा म उनका मार्ग प्रदर्शन करती हैं। इस प्रकार की समितिया की भारी संख्या पंजाब में है जहाँ पर पशु अभिजनन समितियों द्वारा नस्ल सुधार का कार्य सम्पन्न होता है।

दुग्ध समिति

(Co operative Dairy and Milk Society)

प्राचीन काल से ही दुग्ध भारतवासियों का सर्वाधिक प्रिय भोजन रहा है। हमारे ऋषि, मुनि फलों और दूध पर ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया करते

थे। परन्तु दुख की बात है कि इस समय भारत में दूध का उत्पादन बहुत कम है। फलस्वरूप भारत में प्रति व्यक्ति दूध का उपभोग संसार के अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है जबकि एक सन्तुलित खुराक (Balanced diet) के लिए १० औंस दूध की आवश्यकता होती है। भारत में वर्तमान प्रति व्यक्ति का उपभोग केवल ५ औंस ही है। इसका मुख्य कारण देश में दूध का उत्पादन कम होना है। सहकारी दुग्ध समितियाँ द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। यह समितियाँ निकटवर्ती गाँव से दूध एकत्र करके उसे उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। ऐसी समितियाँ बम्बई, उत्तर प्रदेश, मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल में बड़ा उपयोगी कार्य कर रही हैं। यहाँ भारी जनसंख्या होने के कारण नागरिक जनसंख्या को दूध सम्बन्धी कठिनाई से मुक्त करने का श्रेय इन्हीं समितियों को है। सन् १९५३-५४ में भारत में ऐसी कुल १४७३ समितियाँ थीं जिन्होंने उस वर्ष लगभग २ करोड़ रुपये से अधिक मूल्य का दूध बेचा।

उत्तम कृषि समितियाँ

(Better Farming Societies)

ऐसी समितियों का मुख्य कार्य खेती सम्बन्धी उन्नतशील तरीकों का प्रचार करना है। यह समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में अपने सदस्यों को बढ़िया बीज, उन्नत कृषि औजार और अच्छी खाद के प्रयोग की प्रेरणा देते हैं। इस कारण ये समितियाँ कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा किसानों की स्थिति सुधारने के लिये खेती के उन्नतशील तरीकों के सम्बन्ध में जानकारी कराने का कार्य करती हैं। ऐसी समितियों का वास्तव में देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बड़ा महत्व है। वैसे तो इन समितियों की अधिकांश संख्या पंजाब में ही है परन्तु मद्रास, बम्बई तथा मध्य प्रदेश में भी ये समितियाँ बड़ा महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

सहकारी विपणन समिति

(Co-operative Marketing Society)

यदि कृषक को अपनी फसल का उचित मूल्य मिल जाय तो उसकी आर्थिक स्थिति में बहुत हद तक सुधार हो सकता है। कारण यह है कि कृषक को अपनी फसल बेचने के लिये अनेक प्रकार के मध्यस्थों का सामना करना पड़ता है जो उसकी आय का एक बड़ा भाग हड़प कर लेते हैं। इन मध्यस्थों से मुक्ति दिलाने तथा अपने उत्पादन को उचित मूल्य पर बेचने के लिये उसे सहकारिता की सहायता लेनी पड़ेगी। यह कार्य सहकारी विपणन समिति द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इन समितियों ने बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश में किसानों के लिये बड़ा उपयोगी कार्य किया है। सन् १९५४ में भारत में लगभग ६२४० प्रारम्भिक विपणन समितियाँ थीं, जिनके द्वारा

५० करोड़ से अधिक का क्रय विक्रय किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लगभग १८०० सहकारी प्रारम्भिक विक्रय समितियों की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है।

सहकारी बीमा समितियाँ
(Co operative Insurance Society)

सहकारिता के क्षेत्र में बीमा का कार्य किसानों के लिए दो प्रकार से उपयोगी हो सकता है। पहला तो अपने पशुओं का बीमा कराकर दूसरे अपनी फसल का बीमा कराकर। वैसे तो बीमा का इसलिये बड़ा महत्व है कि यदि फसल खराब होने के कारण कुछ किसानों को हानि पहुचती है तो यह हानि समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा बट जाय जिससे केवल कुछ ही लोगों को आर्थिक कठिनाई का सामना न करना पड़े। परन्तु सहकारिता के आधार पर बीमा की योजना का महत्व और भी बढ़ जाता है। कारण यह कि सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित बीमा योजनाओं में प्रत्येक सदस्य को पूर्ण अधिकार होगा तथा योजना का संचालन लोकत त्रीय ढङ्ग पर किया जायगा। सहकारिता द्वारा पशु बीमा की योजना को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। इस कारण भारत में क्या संसार के अन्य देशों में भी सहकारी पशु बीमा की योजना को अधिक सफलता नहीं मिली। जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि जिन देशों में यह योजना प्रारम्भ की गई, अनेक कठिनाइयों के कारण इसका कार्य सन्तोषजनक न हो सका। परन्तु भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहां कृषकों की दशा ऐसी नहीं है कि वे बार बार खेती के लिए आवश्यक पशुओं को खरीद सकें, आकस्मिक क्षति को पूरा करने का कार्य सहकारी पशु बीमा समिति द्वारा किये जाने से उन्हें बड़ी सहायता मिल सकेगी।

उपज बीमा (crop insuranc) का भी हमारे देश में कुछ कम महत्व नहीं है। जहां किसानों को अनेक प्राकृतिक घटनाओं जैसे बाढ़, टिड्डियों का आना, वर्षा न होना इत्यादि के कारण भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ती है वहां उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए तथा अनेक प्राकृतिक प्रकोपों से उनकी रक्षा करने के उद्देश्य से उपज बीमा का कार्य बड़ा महत्व रखता है। इन सहकारी उपज बीमा समितियों का मुख्य कार्य यह होगा कि वह किसान के समक्ष आने वाले अनेक जोखिमों को सहन कर प्राकृतिक प्रकोपों के कारण होने वाली क्षति को पूरा करे। अत बीमा बचाव (Prevention) का एक सफल साधन है परन्तु भारत में सहकारी उपज बीमा का अभी सन्तोषजनक विकास नहीं हुआ है। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश ग्रामीण जनता अपनी फसल के बीमा कराने का महत्व नहीं समझती।

गैर-कृषि समितियाँ

(Nor-Agricultural Societies)

कृषि समितियों की भाँति गैर-कृषि समितियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—(१) गैर-कृषि साख समितियाँ, (२) गैर कृषि गैर साख समितियाँ।

गैर-कृषि साख समितियाँ

(Nor-Agricultural Credit society)

अब तक हमने कृषि सम्बन्धी अनेक प्रकार की समितियों का अध्ययन किया है। अब हम नगरवासियों तथा शहरों में रहने वालों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों का अध्ययन करेंगे। जिस प्रकार ग्रामीण जनता को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए साहूकार एवं महाजनों से ऊँचे ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है और जिनकी सहायता के लिये कृषि साख समितियों की स्थापना की गई है, उसी प्रकार शहरों में भी ऐसी ही समितियों के स्थापना की आवश्यकता है। नगरों में यह समितियाँ 'शुल्जेडेलीज' के सिद्धान्तों पर संगठित की जाती हैं। इस कारण इन समितियों की सदस्य संख्या बड़ी होती है। इन समितियों का दायित्व सीमित होता है और कर्मचारियों को उनके कार्य के लिए वेतन दिया जाता है। भारत में यह समितियाँ बम्बई, मद्रास तथा बंगाल में अधिक पाई जाती हैं। इन समितियों के मुख्य कार्य होते हैं—(१) सदस्यों को समय पड़ने पर साख सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना। (२) सदस्यों में बचत तथा मितव्ययिता (Economy and thrift) की भावना को जाग्रत करना।

इस प्रकार की समितियाँ संसार के अन्य देशों में भी सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। भारत में यह समितियाँ मुख्यतया बड़े-बड़े शहरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में ही स्थापित की गई हैं जहाँ उनके द्वारा कम ब्याज पर वित्तीय सहायता प्राप्त होने से सदस्यों को बड़ी सुविधा होती है। इन समितियों में नगर बैंक (Urban Bank) तथा बम्बई व मद्रास के जनता बैंक (People's Banks) विशेष उल्लेखनीय हैं। जो बैंक सम्बन्धी अनेक सुविधायें देने के साथ-साथ चाँदी सोने के आभूषणों की आड़ पर सदस्यों को ऋण देने का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त मिल मजदूरों तथा अन्य कारीगरों की सहायता के लिए भी इस प्रकार की समितियाँ खोली गई हैं। सन् १९५५-५६ में भारत में गैर-कृषि साख समितियों की संख्या लगभग १० हजार थी जिनकी सदस्यता ३०·७३ लाख थी। अब तालिका में हम गैर कृषि-साख-समिति की प्रगति दिखा रहे हैं :—

	१९५१-५२	१९५६-५७
गैर-कृषि साख समितियाँ	७,६६२	१०,१५०
इनकी सदस्य संख्या	२३,३६,२४८	३२,३८,७२७

गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ

(Non-Agricultural Non Credit Societies)

आश्चर्य की बात है कि जब भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्यतया कृषि साख समितियों ने ही विशेष सफलता प्राप्त की है तो भारत के नगरों एवं शहरी क्षेत्रों में गैर साख की सहकारिता (Non-Credit Cooperation) ने भी सन्तोषजनक प्रगति की है। फलस्वरूप गैर साख समितियों की अधिक मात्रा में स्थापना हुई है। गैर कृषि गैर-साख समितियों में ३ प्रमुख प्रकार की समितियाँ अध्ययन योग्य हैं :—

(१) सहकारी गृह निर्माण समितियाँ,

(२) औद्योगिक सहकारी समितियाँ, तथा

(३) सहकारी उपभोक्ता समितियाँ।

(१) सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ (Co operative Housing Societies)—भारत के असन्तुलित औद्योगीकरण के फलस्वरूप बड़े-बड़े शहरों एवं विशाल औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना हो गई है। जिनके अनियोजित विकास का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि शहरों तथा बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में आवास की जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है। मिलों तथा कारखानों में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक गन्दी बस्तियों (Slums) तथा चाल्स (Chawls) में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पर्याप्त आवास सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध न होने के कारण उनके परिवार के अन्य सदस्य गाँव में ही रहते हैं। इस समस्या ने जटिल रूप धारण कर लिया है और अभी समस्या पूरी तरह हल भी न होने पाई थी कि एक और घटना ने उसे और भी जटिल बना दिया। यह घटना थी भारत-विभाजन के परिणामस्वरूप भारी संख्या में आने वाले शरणार्थी। आवास सम्बन्धी इस कठिन समस्या को हल करने के लिए बड़े-बड़े शहरों में सहकारी गृह निर्माण समितियों की स्थापना की गई जिनका मुख्य कार्य था अपने सदस्यों के आवास सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना तथा गृह-निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री की प्राप्ति में सहायता प्राप्त करना। हमारे देश में दो प्रकार की सहकारी समितियाँ पाई जाती हैं :—

(१) गृह निर्माण समितियाँ, तथा

(२) किरायेदार सहकारी समितियाँ।

गृह निर्माण समितियाँ की सबसे अधिक संख्या बम्बई में थी जहां सर्वप्रथम १६१५ में पहली गृह निर्माण समिति की स्थापना की गई थी। उत्तर प्रदेश में १६१६ में जो पहली गृह निर्माण समिति स्थापित हुई थी वह प्रदेश के सबसे प्रमुख औद्योगिक केन्द्र कानपुर में ही हुई थी। इस प्रकार की समितियों की संख्या दूसरे प्रकार की समितियों की संख्या से अधिक है। इनका मुख्य कार्य गृह निर्माण के इच्छुक सदस्यों को ऋण प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त यह समितियाँ भूमि खरीदने तथा निर्माण सामग्री के खरीदने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। **किरायेदार सहकारी समितियों** का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए घर का निर्माण करना अथवा उनके लिए बनाये घर खरीदना है। इस प्रकार की समितियों की कार्य प्रणाली यह है कि मकान पर सहकारी समिति का अथवा उसके सदस्यों का सामूहिक रूप से अधिकार होता है। सदस्य उसमें किरायेदार की हैसियत से रहता है और किराया देते देते जब खरीदे अथवा बनवाये हुए मकान के पूरे मूल्य का भुगतान हो जाता है तो मकान पर सदस्य का पूरा अधिकार हो जाता है। इस प्रकार की समितियाँ हमारे देश में अधिकतर मद्रास में पाई जाती हैं। सहकारिता के सिद्धान्त पर ही आवास सम्बन्धी जटिल समस्या का हल सम्भव हो सकता है। आधुनिक कठिनाई के इस युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए मकान बनवाने के स्वप्न को साकार रूप देने में सफल नहीं हो सकता। अब सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा सीमित साधन तथा कम आय वाले व्यक्तियों को भी गृह निर्माण सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

भारत में १६५५-५६ में सहकारी गृह निर्माण समितियों की कुल संख्या लगभग ३००० थी जिनमें से २२८ ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शेष शहरों में कार्य कर रही थीं। उत्तर प्रदेश में कुल ३३० समितियाँ थीं।

(७) **औद्योगिक सहकारी समितियाँ** (Industrial Co-operative Societies)—एक अर्द्ध विकसित देश की आर्थिक प्रगति के लिए उसका औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक है। वैसे तो संसार के अन्य देशों में विशाल स्तरीय उद्योगों का अधिक महत्व है। परन्तु भारत जैसे निर्धन एवं सीमित पूँजी वाले देश के औद्योगिक विकास के लिए हमें बड़े बड़े उद्योगों के अतिरिक्त कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। हमारे देश में अपार जन शक्ति के कारण प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार की सुविधा प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए। छोटे छोटे उत्पादकों एवं कारीगरों की सहायता के लिए नगरों में सहकारी समितियों का नाम औद्योगिक सहकारी समिति होता है। ऐसी समितियों का प्रबन्ध जनतंत्रात्मक ढंग से होता है तथा सदस्यों का उत्तरदायित्व परि-

मित होता है। समिति द्वारा अर्जित लाभों को सदस्यों के लाभांश के रूप में बाँट दिया जाता है। परन्तु लाभ का कुछ भाग समिति अपने रक्षित कोष में भी रख लेती है। यह समितियाँ दो प्रकार से अपना कार्य करती हैं।

(१) समिति के कार्य की एक प्रणाली यह होती है कि समस्त उत्पादन सहकारिता के आधार पर किया जाता है। समिति के सब सदस्य उत्पादन का कार्य करते हैं। वे ही कच्चे माल (raw material) तथा आवश्यक औजार खरीदते हैं तथा विभिन्न वस्तुओं की बिक्री का कार्य भी करते हैं।

(२) दूसरी प्रकार की समितियाँ अपने सदस्यों को आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर उधार देकर अथवा उनके द्वारा उत्पादित वस्तु के उचित मूल्य प्राप्त कर उनकी सहायता करती हैं। इन समितियों द्वारा छोटे छोटे उत्पादकों को कच्चे माल तथा आवश्यक यन्त्र को खरीदने में भी सहायता प्रदान की जाती है।

इन समितियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल कुटीर उद्योगों अथवा छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले उद्योगों के क्षेत्र में ही सफलतापूर्वक अपना कार्य कर सकती हैं। अपने सीमित साधनों तथा विशेष औद्योगिक कुशलता के अभाव के कारण विशाल स्तरीय उद्योगों के क्षेत्र में इन समितियों के संगठन से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। सहकारिता वास्तव में सीमित साधनों वाले व्यक्तियों का शस्त्र है।

सहकारी उपभोक्ता समितियाँ

(Co operative Consumers Societes)

सहकारी उपभोक्ता समितियों के संगठन का सबसे सफल प्रयास राकडेल पायनियर्स द्वारा किया गया था। इंगलैंड, जहाँ उपभोक्ता समितियों का जन्म हुआ था संसार में उपभोक्ताओं की सहकारिता के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम १८४४ में सहकारी उपभोक्ता भंडारों की स्थापना की गई। इन सहकारी भंडारों की प्रगति के फलस्वरूप संसार के अन्य देशों में भी सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थापना की जाने लगी। इन भंडारों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्रदान करना है। एक तो इनके द्वारा प्राप्त वस्तुओं की प्रकृति बढ़िया होती है, दूसरे थोक भाव पर समिति द्वारा खरीदे जाने के कारण उपभोक्ताओं को यह वस्तुएं कुछ कम मूल्य पर भी मिल जाती हैं। हमारे देश में भी सहकारी भंडारों ने काफी प्रगति की है। सहकारी उपभोक्ता समिति अथवा भंडारों का संचालन भी जनतान्त्रिक प्रणाली द्वारा होता है तथा समिति द्वारा अर्जित लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है। हमारे देश में इन भंडारों की प्रगति विशेषतया द्वितीय महायुद्ध के काल में हुई, जब लड़ाई के कारण आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति

सीमित होने के कारण वस्तुओं की दिल्ली में चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी का बोल बाला हो गया था। जन साधारण को अपने उपयोग की वस्तुएँ प्राप्त होने पर अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस कारण इन समितियों के विकास में काफी प्रगति हुई और उनकी सदस्यता में आश्चर्यजनक वृद्धि हो गई। परन्तु महायुद्ध के समाप्त होने के बाद ही उनकी संख्या एवं सदस्यता फिर कम होने लगी—इस प्रकार उपभोक्ता समितियों की प्रगति मुख्यतया उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, आसाम तथा मैसूर प्रदेशों में ही हुई है।

वैसे तो इन उपभोक्ता समितियों ने प्रायः सभी प्रान्तों में थोड़ी बहुत प्रगति की है परन्तु मद्रास में सहकारिता भण्डारों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। मद्रास के ट्रिप्लीकेन स्टोर (Triplicane Store) ने इस क्षेत्र में सबसे बढ़िया कार्य किया है। भारत में समस्त प्रान्तों में उपभोक्ता भण्डारों में इस स्टोर ने सबसे अधिक लोकप्रियता अपने क्षेत्र में प्राप्त की है जिसके कारण इसकी सदस्य संख्या तथा बिक्री प्रायः देश के सभी भंडारों से अधिक रही है। इस स्टोर की स्थापना सन् १९०४ में हुई थी तब से इसके कार्य में निरन्तर प्रगति होती जा रही है। इस समय इसकी २० से अधिक शाखाएँ कार्य कर रही हैं जिनमें सदस्यों को उनकी आवश्यकता की प्रायः प्रत्येक वस्तु प्राप्त होती है। जैसे—अनाज, मसाले, तेल, घी, मक्खन और साबुन आदि।

भारत में सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की प्रगति अधिक नहीं हो पाई। इनकी असन्तोषजनक प्रगति के कई कारण बताये जा सकते हैं—जैसे भण्डारों द्वारा अन्य आवश्यकताओं के लिये दूसरे दूकानदारों से वस्तुएँ खरीदना पड़ता था। इसके अतिरिक्त इन समितियों की सदस्यता केवल मध्यमवर्ग तथा अमीर वर्ग तक ही सीमित रही जो सीमित साधनों के कारण सहकारी उपभोक्ता समिति का एक भी हिस्सा नहीं खरीद सकते। इसके अतिरिक्त इन भण्डारों को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए ऐसे प्रबन्धकों की आवश्यकता होती है जिनमें पर्याप्त व्यावसायिक कुशलता हो जिसकी हमारे देश में बहुत कमी है। अनेक कारणों से भारतवर्ष में इन उपभोक्ता भंडारों की संख्या कम होती जा रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहकारी उपभोक्ता भण्डारों के विकास के लिये विस्तृत योजना रखी गई है।

उपभोक्ता भंडारों की प्रगति के लिए हमें उनके दोषों को दूर करना होगा तथा उनके विकास के लिए एक योजना बनानी होगी। उपभोक्ता भंडारों की सफलता बहुत कुछ सदस्यों की कुशलता एवं उनके पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करती है। सरकार द्वारा इन उपभोक्ता भंडारों के कुशल संचालन एवं प्रबन्ध के लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जायें। प्रारम्भिक काल में इन भंडारों को चलाने के लिए सरकार द्वारा वित्तीय सहायता भी मिलना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त

केन्द्रीय बैंकों से समय समय पर आवश्यक ऋण प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। इन भंडारों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार इनके द्वारा बेचे गये माल पर बिक्री कर की छूट प्रदान कर सकती है।

माध्यमिक समितियाँ

(Secondary Societies)

जैसा कि विदित है सन् १६०४ के सहकारी अधिनियम का मुख्य दोष यह था कि इसके अन्तर्गत ऐसी केन्द्रीय संस्थाओं जैसे संघ, केन्द्रीय बैंक आदि के संगठन की कोई व्यवस्था नहीं थी जिससे प्राथमिक सहकारी समितियों की देखभाल की जा सकती तथा उन्हें आवश्यकता के समय वित्तीय सहायता भी प्रदान की जा सकती। इस कारण १६१२ के सहकारी अधिनियम के द्वारा इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया गया। भारत में इस समय ३ प्रकार की माध्यमिक सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं। जिनका मुख्य कार्य है प्राथमिक सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता देना और उनके कार्य पर नियन्त्रण रखना। इनके द्वारा प्रारम्भिक समितियों का पथ प्रदर्शन होता है जिसके फलस्वरूप कार्य कुशलतापूर्वक चलता रहता है यह समितियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ (Union)

(२) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

(३) प्रादेशिक अथवा राज्य सहकारी बैंक (Provincial Bank)

संघ (Union)—सहकारी प्राथमिक समितियाँ ही केवल इन संघों की सदस्य बन सकती हैं। अतः बहुत-सी प्राथमिक समितियों के मिल जाने से संघ बन जाता है। इनका कार्य क्षेत्र बहुत सीमित होता है। प्रायः ३० से ५० तक प्राथमिक समितियाँ एक संघ बनाने के लिये पर्याप्त हैं। अतः जिले के एक छोटे से क्षेत्र में ही अपना कार्य करती हैं। इनके प्रबन्ध का भार प्राथमिक समितियों के प्रतिनिधियों पर भी होता है। इन्हीं संघों द्वारा प्राथमिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके तीन प्रमुख प्रकार हैं—

(१) गारन्टी अथवा जमानती संघ (Guarantee Union)—इन संघों का मुख्य कार्य प्रारम्भिक सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंक से समय समय पर ऋण दिलाना है तथा उनके लौटाने के लिये उत्तरदायी होना है। भारत में ऐसे संघ बम्बई प्रान्त में कार्य कर रहे हैं।

(२) साहूकारी संघ (Banking union)—ये संघ अधिकतर पंजाब में हैं। इन संघों तथा केन्द्रीय बैंकों के कार्य बहुत कुछ एक से होने के कारण उनमें समानता है। परन्तु केन्द्रीय बैंकों की अपेक्षा इनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित होता है।

(३) निरीक्षक संघ (Supervising Union)—भारत में इस प्रकार के संघ अधिकतर मद्रास बम्बई में ही देखने में आते हैं। इनका मुख्य कार्य अपनी सदस्य समितियों का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करना होता है। अतः ये संघ प्राथमिक समितियों के सलाहकार, निरीक्षक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनको समय समय पर वित्तीय सहायता तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं पहुँचा कर उनके कार्य में सहायता प्रदान करते हैं।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

(Central Cooperative Bank)

महत्व (Importance)—इन बैंकों का संगठन १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार हुआ है। भारत के सहकारी साख आन्दोलन में इन बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक सहकारी साख समितियां की कार्य कुशलता बहुत कुछ केन्द्रीय बैंकों पर निर्भर रहती है। अपनी आवश्यकता के लिये ये समितियाँ इन्हीं से धन प्राप्त करती हैं। इनका सबसे अधिक महत्व इस कारण है कि ये समितियों के बीच साख के प्रवाह में सन्तुलन स्थापित करती हैं।

प्रकार (Kinds)—केन्द्रीय बैंक के मुख्य दो प्रकार हैं—

(१) शुद्ध केन्द्रीय बैंक
(२) मिश्रित केन्द्रीय बैंक

(१) शुद्ध केन्द्रीय बैंक (Pure Central Bank)—इस प्रकार के बैंक अधिकतर उत्तर प्रदेश और पंजाब में मिलते हैं। इन्हें बैंकिंग संघ (Banking Union) भी कहते हैं। सहकारिता के क्षेत्र में केन्द्रीय बैंक को आदर्श बैंक माना जाता है। इनके सदस्य केवल प्राथमिक सहकारी समितियाँ ही बन सकती हैं अर्थात् कोई व्यक्ति इनका सदस्य नहीं बन सकता। इनका एक बड़ा दोष यह है कि अधिक मात्रा में जमा (Deposits) नहीं कर पाते।

मिश्रित केन्द्रीय बैंक—(Mixed Central Bank) प्राथमिक समितियों के अतिरिक्त इन बैंकों की सदस्यता के द्वार व्यक्तियों के लिये भी खुले रहते हैं। इस कारण इन बैंकों में प्रभावशील एवं अन्य अनुभवी व्यक्ति सदस्य बनकर बैंक के कार्य सचालन में महत्वपूर्ण योग देते हैं। इन बैंकों में पूँजी अधिक जमा होती है जिससे बैंक का काम अधिक कुशलता से चलाया जा सकता है।

कार्यक्षेत्र (Area of Operation)—वैसे तो इन बैंकों का कार्यक्षेत्र एक जिले तक ही सीमित होना चाहिये। परन्तु भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं जिनमें बैंकों का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है जिसके कारण एक जिले में प्रायः एक से अधिक भी बैंक कार्य

करते हैं, अतएव आर्थिक दृष्टि से उनका कार्य सन्तोषजनक नहीं हो पाता। जहाँ तक सम्भव हो, एक जिले में एक ही केन्द्रीय बैंक संगठित किया जाए।

इनके कार्य (Functions)—केन्द्रीय बैंक अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं जैसे—

(१) सदस्य समितियों का निर्देशन एवं निरीक्षण।

(२) सदस्य समितियों को वित्त प्रदान करना।

(३) अनेक प्रकार के बैंक सम्बन्धी कार्य जैसे चेक, विनिमय पत्र, हुण्डी आदि जमा करना। सदस्यों एवं अन्य लोगों को पर्याप्त जमानत पर ऋण देना आदि।

कार्यवाहक पूंजी (Working capital)—केन्द्रीय बैंक अपने लिये आवश्यक कार्यशील पूंजी चार प्रमुख साधनों से प्राप्त करते हैं जिन्हें निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) निजी कोष—इसमें सदस्यों के अंश तथा रक्षित कोष सम्मिलित होते हैं।

(२) ऋण द्वारा एकत्रित कोष—इसमें सदस्यों का जमा किया हुआ धन तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा लिया गया ऋण प्रमुख हैं। इनमें से प्रमुख स्रोत सदस्यों द्वारा की गई जमा (Deposits) है। जिसका मुख्य कारण है बैंक की सदस्यता व्यक्तियों के लिये खुली होना। इसके फलस्वरूप नगर के व्यक्ति तथा बड़े व्यवसायी इन बैंकों में रुपया जमा करते हैं।

प्रबन्ध (Management) केन्द्रीय बैंक के प्रबन्ध के लिये दो समितियाँ होती हैं—१—साधारण सभा
२—कार्यकारिणी समिति

बैंक का प्रत्येक सदस्य साधारण सभा का सदस्य होता है और प्रत्येक को एक वोट देने का अधिकार होता है। बैंक के कार्य को चलाने के लिए यही सभा एक प्रबन्ध समिति का निर्माण करती है। इसके संचालक अवैतनिक होते हैं।

ऋण देने की विधि व लाभ का बँटवारा (Distribution of Profits and Loans)—केन्द्रीय बैंक मुख्यतया अपनी सदस्य समितियों को ही ऋण देता है। यह ऋण दो प्रकार के होते हैं—१. अल्पकालीन और २ मध्यकालीन। परन्तु कभी कभी व्यक्तियों को भी उनसे उधार मिल सकता है। जिसके लिए बैंक का सदस्य होना आवश्यक है। केन्द्रीय बैंक अपने लाभ का २५ प्रतिशत भाग रक्षित कोष में जमा करते हैं और शेष को सदस्यों में लाभांश के रूप में बाँट देते हैं। इनके द्वारा लिये गये ब्याज की दर अन्य प्रान्त में भिन्न है। जैसे बिहार में ५$\frac{3}{4}$ से ७ प्रतिशत तक, उत्तर प्रदेश में ७ प्रतिशत और मध्य प्रदेश में ४ से १२ प्रतिशत।

इनके दोष (Defects)—यद्यपि अपने कार्यों के कारण केन्द्रीय बैंकों का

महत्वपूर्ण स्थान है। फिर भी इनके कार्य में कुछ दोष आ गये हैं जिन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। ये दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) भारत में केन्द्रीय बैंकों के पास प्रायः पूंजी के अभाव की समस्या बनी रहती है।

(२) इन बैंकों के पास आने वाली जमा का अधिकांश भाग सहकारी समितियों से नहीं वरन् व्यक्तियों से प्राप्त होता है।

(३) इन बैंकों के लिये कुशल कर्मचारियों का अत्यधिक अभाव है।

सन् १६५१-५२ में भारत में केन्द्रीय बैंकों तथा साहूकारी सर्घों की संख्या कुल ५२६ थी। यह १६५६-५७ में घट करके केवल ४५१ ही रह गई। इनके द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाने के कारण यह आवश्यक है कि हम उनके अनेक दोषों को दूर कर पुनर्संगठन करें।

प्रान्तीय बैंक

(Provincial Bank)

महत्व—यह प्रान्त के सहकारी बैंकों के शिखर पर होता है। इस कारण इसे सर्वोपरि या शीर्ष बैंक (Appex Bank) भी कहते हैं। प्रान्तीय बैंकों में सबसे उच्च स्थान होने के कारण प्रान्त के सहकारी आन्दोलन में इन बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। फलस्वरूप राज्य में स्थापित विभिन्न प्रकार की साख समितियों तथा बैंकों के कार्य का नियन्त्रण तथा पथ-प्रदर्शन करना इसका मुख्य उत्तरदायित्व है। इसके द्वारा ही केन्द्रीय बैंकों को वित्त प्राप्त होता है।

वर्तमान स्थिति—भारत में सन् १६५१-५२ में प्रान्तीय सहकारी बैंकों की संख्या कुल १६ थी। १६५६-५७ में यह संख्या बढ़कर २३ हो गई जिनकी कार्यशील पूंजी लगभग ६३॥ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १६५६ में इनके कुल सदस्यों की संख्या ३६३६४ थी।

रचना एवं कार्य—भारत में ऐसे प्रान्तीय बैंक बहुत कम हैं जिनमें केवल सहकारी संस्थाएँ ही सदस्य हों और व्यक्ति सदस्य न हों। अधिकांश बैंकों की प्रकृति मिश्रित है अर्थात् जिनमें विभिन्न सहकारी संस्थाओं जैसे केन्द्रीय बैंक तथा प्राथमिक सहकारी समितियों के अतिरिक्त अधिकांश संख्या में व्यक्ति भी सदस्य हैं। इन बैंकों को रिजर्व बैंक की मान्यता प्राप्त होती है और अन्य अनुसूचित बैंकों में प्रान्तीय बैंकों की भी गणना की जाती है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में यह बैंक बड़े उपयोगी कार्य करने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हो गये हैं।

इन बैंकों के द्वारा भी अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं। इनमें से मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं :—

(१) सर्वोपरि बैंक होने के कारण प्रान्तीय सहकारी बैंक राज्य के सहकारी आन्दोलन का निर्देशन एवं संगठन करते हैं।

(२) ये बैंक केन्द्रीय बैंकों के कार्यों में समन्वय स्थापित करते हैं तथा उन्हें आवश्यकता के समय ऋण प्रदान करते हैं।

(३) ये बैंक पूँजी में प्रवाह तथा गतिशीलता लाने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं अर्थात् केन्द्रीय बैंकों की पूँजी इनके पास जमा रहने के कारण उसमें से कुछ भाग वे उन केन्द्रीय बैंकों को दे देते हैं जिनके पास पूँजी का अभाव होता है।

(४) प्रान्तीय बैंक अपने पास धन का पर्याप्त कोष एकत्र रखता है। सामान्य द्रव्य बाजार में अनुकूल परिस्थितियों तथा ब्याज की कम दर होने के समय यह आवश्यक कोष जुटा लेता है जिसे यह केन्द्रीय बैंकों तक पहुँचा देता है और प्राथमिक समितियाँ जिसे केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर लेती हैं। प्रान्तीय बैंक राज्य की अनेक प्रकार की सहकारी क्रियाओं को संगठित करके प्रदेश के सहकारी आन्दोलन के विकास एवं प्रगति में सहायता पहुँचाता है।

कार्यवाहक पूँजी तथा ऋण (Working Capital and Loans)—केन्द्रीय बैंकों की भाँति प्रांतीय सहकारी बैंकों की कार्यशील पूँजी भी चार मुख्य साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है। ये चार स्रोत हैं :—

(१) अंश पूँजी
(२) रक्षित कोष
(३) जमा पूँजी
(३) बैंक द्वारा लिये गये ऋण।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ३० जून, १९५६ तक देश के समस्त प्रांतीय बैंकों की कुल कार्यवाहक पूँजी ६३·३४ करोड़ रुपया थी। इस पूँजी का अधिकांश भाग (५७·६ प्रतिशत अर्थात् ३६.६७ करोड़ रुपया) सदस्यों तथा गैर सदस्यों द्वारा की गई जमा से प्राप्त होता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक मुख्यतया दो प्रकार के ऋण प्रदान करता है :—१. अल्पकालीन २. मध्यकालीन। प्राथमिक सहकारी समितियाँ, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा व्यक्तियों को समय समय पर राज्य सरकारी बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त होता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा प्रदेश के सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन एवं बल मिलने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि यथासम्भव ये बैंक विभिन्न प्रकार की बैंकिंग क्रियाओं की ओर अधिक ध्यान न देकर अपना पूरा ध्यान सहकारी संस्थाओं के संगठन, निर्देशन, मार्ग प्रदर्शन तथा उन्हें वित्तीय सहायता देने पर केन्द्रित करें। अतः इन बैंकों को अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने तथा अपने कार्यों में सफलता प्राप्त

करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति (गोरवाला समिति) तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के कृषि साख विभाग (Rural Credit Department) ने महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जिनके द्वारा साख प्रणाली में पर्याप्त सुधार होने की सम्भावना है।

दीर्घकालीन साख तथा भूमिबन्धक बैंक
(Long Term Credit and Land Mortgage Bank)

महत्व—भारतीय कृषक की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उसकी ऋणग्रस्तता को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे किसानों को अनेक आवश्यकताओं के लिए कई प्रकार के ऋण लेने पड़ते हैं। इस कारण केवल प्राथमिक सहकारी समितियाँ द्वारा उन्हें मुख्यतया अल्पकालीन ऋण दिलाकर यह समस्या हल नहीं की जा सकती। हम तो उसे ऋण से स्थायी एवं वास्तविक मुक्ति दिलाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए उसकी दीर्घकालीन ऋण की समस्या को सुलझाया जाना अनिवार्य है। अतः ऐसी किसी संस्था का संगठन होना आवश्यक है, जो उसे आवश्यकता के समय दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर सके। वैसे तो किसान को तीन प्रकार के ऋण लेने पड़ते हैं : अल्पकालीन ऋण, मध्यकालीन ऋण, तथा दीर्घकालीन ऋण। अल्पकालीन ऋण प्रायः फसल के लिए आवश्यक चीजें खाद, बीज इत्यादि के खरीदने, श्रमिकों को देने के लिए मजदूरी तथा पशुओं के लिए चारा आदि जुटाने के लिए ही लिए जाते हैं। अपने लिए बैलगाड़ी, आवश्यक कृषि औजार, बैल आदि के लिए मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। परन्तु दीर्घकालीन ऋण इन सबसे अधिक आवश्यक होता है। क्योंकि उस दीर्घकालीन ऋण कृषि भूमि के खरीदने, पैतृक ऋणों को चुकाने तथा अपने खेती की स्थायी सुधार करने जैसे कुआँ खुदवाना, बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना इत्यादि के लिए लेने पड़ते हैं, जिनके द्वारा ही कृषि उत्पादन सम्भव हो सकता है। इस कारण देश की कृषि व्यवस्था तथा भारतीय कृषकों की आर्थिक उन्नति बहुत हद तक दीर्घकालीन ऋण की सुविधाओं पर निर्भर करती है।

आवश्यकता (Necessity)—कृषि में विभिन्न प्रकार के स्थायी सुधार करने तथा उपरोक्त बताये हुए विभिन्न उद्देश्यों के लिए उचित ब्याज की दर पर दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। इस कार्य को न तो सहकारी समितियाँ ही कर सकती हैं और न व्यापारिक बैंकों द्वारा ही इसे पूरा किया जा सकता है। सीमित साधन होने के कारण इनके द्वारा अधिक से अधिक अल्पकालीन या मध्यकालीन ऋण ही प्राप्त हो सकता है और दूसरे इन संस्थाओं को अधिकतर अल्पकालीन पूँजी सदस्यों या जमा से ही प्राप्त होने के कारण दीर्घकालीन ऋण के लिए इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। भारतीय किसान को लम्बी अवधि के लिए मिलने वाला ऋण ऐसा होना चाहिए

जिसके ब्याज की दर कम हो और जिसे किसान अपनी सुविधा के अनुसार छोटी छोटी किश्तों में लौटा सके। इस दृष्टि से ऋण देने वाली प्राथमिक सहकारी तथा साहूकार संस्थायें सर्वथा अनुपयुक्त हैं। प्राथमिक साख समितियाँ तथा आमीर महाजन एवं साहूकार अपने सीमित वित्तीय साधनों को लम्बी अवधि के लिए उधार देने के अयोग्य हैं। लाभ की दृष्टि से चलाये जाने वाले व्यापारिक बैंक ऊँची ब्याज की दर पर ही लम्बी अवधि के ऋण देने के लिए तत्पर होते हैं। उनका उद्देश्य ही अधिक से अधिक लाभ कमाना है। इसके फलस्वरूप किसानों का नीची ब्याज की दर पर ऋण देने का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस कारण दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य किसी ऐसी संस्था द्वारा ही किया जाना चाहिए जो उसके लिए उपयुक्त हो अर्थात् ऐसी संस्थाओं में निम्न विशेषतायें होनी चाहिए :—

(१) उनका संचालन सहकारिता के सिद्धान्तों पर होना चाहिए।

(२) इनके प्रबन्ध में ऋण लेनदारों को भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए।

(३) इनके चलाने पर किये गये व्यय में मितव्ययिता होनी चाहिये।

(४) इनका संचालन लाभ के लिए न होकर कृषकों की सहायता के लिए होना चाहिये।

ये समस्त विशेषतायें भूमिबन्धक बैंक में पाई जाती हैं। इन बैंकों का संगठन किसानों को लम्बी अवधि के लिए ऋण देने के लिए होता है। इन्हें सहकारिता के सिद्धान्तों पर भी चलाया जा सकता है। ऋण लेने वाले इनके प्रबन्ध में सहयोग देते हैं। उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भूमि बन्धक बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है।

परिभाषा (*Definition*)—किसान तथा भू स्वामी अपनी भूमि को रेहन रखकर जिस संस्था से उचित ब्याज पर लम्बी अवधि के लिये ऋण प्राप्त कर सकते हैं उसे भूमिबन्धक बैंक कहते हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन (Historical Study)

भारत में सर्वप्रथम १९२० में पंजाब के झंग (Jhang) नामक स्थान में भूमिबन्धक बैंक की स्थापना हुई। इसके बाद सन् १९२५ में मद्रास में दो भूमिबन्धक बैंक खोले गये। तत्पश्चात् बम्बई में भी १९२९ में ३ भूमिबन्धक बैंक का संगठन किया गया। परन्तु भारत में भूमिबन्धक बैंक की प्रगति का इतिहास १९२९ में प्रारम्भ हुआ, जब मद्रास में एक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित हुआ था। वैसे तो १९२५ में ही वहाँ प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। भारत में भूमिबन्धक बैंकों के कार्य सफलतापूर्वक मद्रास, आन्ध्र प्रदेश,

मैसूर, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में चल रहे हैं। भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहाँ अभी भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना नहीं हो पाई है जिनके अभाव के फलस्वरूप किसानों को अपने दीर्घकालीन ऋण के लिये बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

वर्तमान स्थिति (Present Position)

यहाँ सन् १९५१-५२ तथा १९५६-५७ में प्राथमिक तथा केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों की स्थिति दिखाई गई है—

	१९५१ ५२	१९५६ ५७
केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक	५	१२
प्राथमिक भूमिबन्धक बैंक	२५५७६	११६५६१

प्रकार (Kinds)—मुख्यतया तीन प्रकार के भूमिबन्धक बैंक होते हैं जो निम्नांकित हैं—

(१) सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Cooperative Land Mortgage Bank)—इस प्रकार के भूमि बन्धक बैंक सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर चलाये जाते हैं। इस कारण यह सीमित साधनों वाले किसानों के लिये अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इन बैंकों का मुख्य आधार पारस्परिक सहयोग पर संगठन और ऋण लेने के लिये सदस्यों द्वारा रेहन रखी हुई भूमि अथवा सम्पत्ति की गारन्टी है।

(२) अर्द्ध सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Quasi Cooperative Land Mortgage Bank)—भारत में इसी प्रकार के भूमिबन्धक बैंक अधिक प्रचलित हैं। इन बैंकों का प्रबन्ध सहकारिता तथा व्यापार के मिश्रित सिद्धान्तों पर किया जाता है जिसके कारण इनमें दो प्रकार के लक्षण देखने में आते हैं। इनका संगठन सीमित दायित्व के सिद्धान्त पर किया जाता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी सदस्यता केवल बैंक से उधार लेने वालों तक ही सीमित नहीं होती वरन् अधिक संख्या में ऋण न लेने वाले व्यक्ति भी इनके सदस्य होते हैं जिसके फलस्वरूप बैंकों को अधिक मात्रा में पूँजी प्राप्त हो जाती है। पूँजी के साथ-साथ पूँजीपतियों एवं व्यवसायियों की सदस्यता के कारण इन बैंकों को व्यापारिक कुशलता तथा व्यावसायिक संगठन जैसी अमूल्य गुणों की प्राप्ति होती है। इन बैंकों को सरकार भूमि के मूल्यांकन सम्बन्धी कार्य के लिये विशेष प्रशिक्षित अधिकारियों की सेवायें प्रदान करती है।

बैङ्क सदस्यों को ऋण देने के पहले रजिस्ट्रार की अनुमति प्राप्त कर लेता है। सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलने तथा केवल लाभांश कमाने की प्रवृति को प्रोत्साहन न देने के लिये यह बैङ्क दो कार्य करता है—

(१) इसमें हर सदस्य को एक ही वोट देने का अधिकार होता है।

(२) इसमें लाभांश की दर अधिकतर नीची रखी जाती है।

(३) गैर सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Non-Co-operative Land Mortgage Bank)—जैसा कि नाम से विदित है यह बैङ्क सहकारिता के सिद्धान्तों पर नहीं चलाये जाते। व्यापारिक सिद्धान्तों पर चलाये जाने वाले इन बैङ्कों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। भारत में कृषि सहकारी आन्दोलन का मुख्य आधार सहकारिता ही है। इस कारण इन व्यापारिक भूमिबन्धक बैङ्कों की देश में अधिक प्रगति नहीं हुई है। परन्तु संसार के अन्य देशों में इस प्रकार के बैंक सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

४ **भूमि बन्धक बैंकों के कार्य (Functions)**—वैसे तो भारत में भूमि बन्धक बैङ्कों का संगठन तीन विभिन्न प्रकार से हुआ है। जैसे (१) कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ केवल केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क ही कार्य कर रहे हैं और किसानों को इनसे ही ऋण प्राप्त होता है। जैसे ट्रावनकोर कोचीन तथा उड़ीसा। (२) कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क की स्थापना नहीं हुई है जैसे उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा आसाम। (३) कुछ प्रान्तों में जैसे बम्बई, मद्रास, मैसूर इत्यादि में प्राथमिक एवं केन्द्रीय दोनों प्रकार के भूमि बन्धक बैङ्क संगठित किये गये हैं। परन्तु जहाँ तक इनके कार्यों का सम्बन्ध है इनमें बहुत कुछ समानता देखने में आती है। भारत में भूमि बन्धक बैंक मुख्यतया निम्न कार्य करते हैं—

(१) किसानों को कृषि भूमि खरीदने के लिये ऋण देना।

(२) अपने पैतृक तथा पुराने ऋणों के भुगतान के लिये रुपया देना।

(३) खेतों की चकबन्दी कराने में किसानों की मदद करना।

(४) गिरवी रखी हुई कृषि भूमि को रेहन से छुड़ाने तथा खेती में सुधार करने के उद्देश्य के लिये ऋण देना।

कार्य विधि—भूमि बन्धक बैंक अपने कार्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक पूँजी ४ प्रमुख स्रोतों से प्राप्त करते हैं—हिस्सा पूँजी, रक्षित कोष, ऋणपत्र तथा इनके द्वारा लिये गये ऋण। सदस्यों को बेचे गये हिस्सों से अधिक मात्रा में पूँजी प्राप्त नहीं होती। इस कारण भूमि बन्धक बैंकों को अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के लिये ऋण पत्रों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बैंक द्वारा निकाले गये ऋण पत्रों को सामान्य जनता खरीदती है। इसके बदले में उन्हें ब्याज मिलता है। जनता के अति

रिक्त ऋणपत्रों को रिज़र्व बैंक भी खरीदता है । सरकार इन ऋण पत्रों के मूल्य तथा उन पर दिये गये ब्याज की गारंटी लेती है। इन बैंकों में सदस्यों द्वारा जमा की गई पूँजी की मात्रा बहुत कम होती है।

इन बैंकों द्वारा दिया गया ऋण प्रायः २० साल की अवधि के लिये होता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में इससे अधिक समय के लिये भी दिया जा सकता है। ऋण देने के पूर्व भूमि बन्धक बैंक निम्न दो बातों की जानकारी प्राप्त करते हैं —

(१) गिरवी रखी भूमि का मूल्यांकन—किसान इन बैंकों द्वारा दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करने के लिये अपनी भूमि रेहन कर देता है। परन्तु इस भूमि का मूल्यांकन करना बड़ा जटिल कार्य है। मूल्यांकन अधिकारी (Apprasing officer) भूमि का मूल्य आँकने के पूर्व पूरी तरह से उसका निरीक्षण कर लेता है।

(२) ऋण भुगतान की क्षमता का अनुमान—ऋण देने से पहले बैंक ऋण लेनदार के ऋण भुगतान करने की क्षमता का पूरा अनुमान लगा लेता है। साधारणतया ऐसी भूमि की आड़ पर कोई ऋण नहीं दिया जाता जिसकी उपज का मूल्य ऋण की वार्षिक किस्त तथा ऋण लेने वाले के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त न हो। इस कारण व्यक्ति के ऋण भुगतान करने की योग्यता का अनुमान लगाना भी एक कठिन कार्य मालूम होता है।

इनकी सफलता की आवश्यक बातें—जैसा कि हम देख चुके हैं भूमि बन्धक बैंक भारतीय किसानों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी संस्था है जिनके द्वारा उन्हें उचित ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण प्राप्त होता है। अतः इन बैंकों की सफलता पर खेती की सफलता निर्भर करती है। भूमि-बन्धक बैंकों में सफलतापूर्वक अपने कार्य करने के लिए दो प्रमुख बातों की आवश्यकता होती है। (१) इन बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी का कोष हो जिन्हें वे कम ब्याज पर किसानों को दे सकें। इनकी उपयोगिता के कारण इन बैंकों द्वारा उधार दी गई पूँजी की माँग बढ़ना स्वाभाविक ही है। और फिर अपने दीर्घकालीन ऋण के लिए किसान के पास भूमि-बन्धक बैंक ही एकमात्र साधन है।

(२) अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तथा अपने उद्देश्य में सफल होने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन बैंकों को ईमानदार कुशल एवं उत्साही कार्यकर्ताओं की सेवाएँ उपलब्ध हों। भूमि के मूल्यांकन तथा किसान के ऋण चुकता करने की योग्यता जैसे जटिल कार्य करने के लिए एक कुशल प्रशिक्षित और साथ ही ईमानदार व्यक्ति की आवश्यकता है।

इनके कार्य में बाधायें—वैसे तो भूमि बन्धक बैंक भारतीय किसानों के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी कार्य कर रहे हैं। इन्होंने लम्बी अवधि के लिए उचित ब्याज दर पर ऋण देकर इन बैंकों ने भारतीय किसान की बड़ी सहायता की है। परन्तु अनेक

कठिनाइयों एवं बाधाओं के कारण भूमि बन्धक बैंक अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफलता नहीं प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से कुछ बाधाएँ निम्न हैं —

१. इन बैंकों के पास सीमित मात्रा में पूँजी होने के कारण किसानों को जितने अधिक दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। उसके केवल एक छोटे भाग को ही पूरा करने में यह सफल हो सके हैं।

२. इनके द्वारा कृषि में स्थाई सुधार करने के लिए बहुत कम ऋण दिया जाता है। बैंकों का अधिकांश ऋण किसानों को अपने पुराने ऋण को चुकाने तथा रेहन से अपनी भूमि छुड़ाने के लिए ही दिया जाता है।

३. किसानों को इन बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और ऋण मिलने में अधिक समय लग जाता है।

४. भारत के विभिन्न प्रदेशों के भूमि बन्धक बैंकों की कार्य विधि में एकरूपता नहीं है।

५. कुछ प्रदेशों में केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक नहीं स्थापित हुए हैं। इनके सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिए।

सुधार के लिए सुझाव
(Suggestions)

भारत की कृषि व्यवस्था में इन बैंकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण इनके सुधार के लिये प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति ने कुछ सुझाव दिये हैं। प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनका कार्य क्षेत्र ऐसा हो जिससे यह बैंक एक आर्थिक इकाई के रूप में अपना कार्य कर सकें अर्थात् इनका कार्यक्षेत्र न तो बहुत सीमित हो और न विस्तृत। यदि कार्य क्षेत्र सीमित होगा तो बैंक के लिए पर्याप्त कार्य नहीं प्राप्त हो सकेगा और यदि इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत होगा तो बैंक अपने कर्जदारों से पर्याप्त सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकेंगे जो इन बैंकों की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँ तक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों का सम्बन्ध है अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (गोरवाला समिति) के सुझाव हैं कि भारत के प्रत्येक राज्य में एक-एक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की स्थापना की जाये। केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक का अंश पूँजी का कम से कम ५२ प्रतिशत भाग राज्य सरकारों को देना चाहिए। इन बैंकों द्वारा भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए पर्याप्त धन देना चाहिए। ऋण देने में कम से कम विलम्ब लगाना चाहिए।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ
(Multi Purpose Co operative Societies)

भारत में सहकारिता आन्दोलन का जन्म मुख्यतया भारतीय कृषकों की साख सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिए हुआ था। इस कारण १९०४ के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत केवल ऐसी समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी जिनके द्वारा किसान को कम ब्याज पर अपने लिए ऋण मिल सकें। इसके फलस्वरूप उसे ग्रामीण साहूकार द्वारा अधिक ब्याज देने के लिये बाध्य न होना पड़े। परन्तु केवल साख सम्बन्धी सुविधाओं को पहुँचा कर भारत का सहकारी आन्दोलन कृषकों के जीवन से महाजन तथा साहूकार के प्रभाव को समाप्त न कर सका। भारतीय किसान के समक्ष केवल एक समस्या ही नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि उसकी सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता साख की है। परन्तु अपने उत्पादन के लिये आवश्यक पूर्ति, भूमि की चकबन्दी तथा कृषि-वस्तुओं की बिक्री जैसी अनेक समस्याओं के लिए भी सहकारिता की इन विभिन्न समस्याओं का हल असम्भव है। सहकारिता ही भारतीय कृषक के सुख एवं समृद्धि का सन्देश ला सकता है। हमारे देश में सहकारी आन्दोलन के अधिक सफल न होने का मुख्य कारण यह है कि प्रारम्भ ही से इसका ध्यान ऋण सम्बन्धी कार्यों पर ही केन्द्रित रहा है। १९१९ से भारत के सहकारी आन्दोलन में कुछ परिवर्तन आया है और सहकारिता के आधार पर साख के अतिरिक्त और भी अनेक कार्य सम्पन्न होने लगे हैं, जैसे किसान के लिए आवश्यक बीज, खाद, यन्त्रों की पूर्ति करने के कार्य, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री का कार्य, भूमि की चकबन्दी का कार्य इत्यादि। परन्तु इन समस्त कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जाने लगी थीं। इन समस्याओं की संख्या इतनी बढ़ गई कि किसान के लिए उनसे सम्बन्ध बनाये रखना एक अत्यन्त जटिल समस्या बन गई। जिसके कारण सहकारिता के आधार पर भी उसकी विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को संगठित करने के परिणामस्वरूप भी किसान की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में कोई वास्तविक लाभ न हो सका।

आवश्यकता (Necessity)—सहकारिता द्वारा किसान को वास्तविक लाभ पहुँचाने के लिए हमें उसकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से अलग अलग सहकारी समितियाँ स्थापित न कर केवल एक ही ऐसी सहकारी समिति हो जो उसकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इस कारण बहुउद्देशीय समितियों द्वारा उसकी केवल एक ही समस्या हल नहीं होती वरन् उसकी समस्त आर्थिक समस्याओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इन समितियों से किसान को समय-समय पर ऋण तो प्राप्त होता ही है साथ साथ उसे अपनी अनेक आवश्यक वस्तुएँ भी इन्हीं समितियों से प्राप्त होती हैं। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना करने की आवश्यकता दो कारणों से है—आर्थिक कारण तथा मनोवैज्ञानिक कारण।

आर्थिक कारण—बहुउद्देशीय समितियों के स्थापित करने का सबसे प्रमुख कारण आर्थिक है। किसान को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए जैसे खेती के लिए उत्तम बीज, खाद, उन्नत औजार की आवश्यकता होती है, जब फसल तैयार हो जाती है तब उसके सामने अपनी फसल का उचित मूल्य प्राप्त करने की भी समस्या उत्पन्न हो जाती है, अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए विभिन्न वस्तुओं को जुटाना तथा खेती में आवश्यक सुधार करने जैसी विभिन्न आर्थिक समस्याओं के लिए किसान बहुउद्देशीय समितियों की आवश्यकता अनुभव करता है। यह समितियाँ उसे साख देती हैं उसकी फसल की बिक्री या कार्य करती हैं तथा अन्य वस्तुओं की पूर्ति में सहायता करती हैं।

मनोवैज्ञानिक कारण—किसानों के लिए बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना करना केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक कारणों से भी अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न उद्देश्यों के लिए अलग-अलग सहकारी समितियों की स्थापना करने से उसे एक मानसिक क्लेश होता है। प्रत्येक से सम्बन्ध रखना उसके लिए असम्भव है। प्राचीन काल से ही भारतीय किसान अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए केवल एक ही संस्था से सम्पर्क बनाये चला आ रहा है। और वह है गाँव का महाजन एवं साहूकार। ऐसी स्थिति में यदि कोई ऐसी समिति हो जो उसकी सब आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है तो उसे ऐसी समिति से सम्बन्ध जोड़ने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी। यह काम बहुउद्देशीय समितियों का स्थापना का एक मनोवैज्ञानिक महत्व है।

बहुउद्देशीय समितियों के कार्य—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना पर बहुत बल दिया है। वास्तव में यदि सहकारिता को भारतीय कृषक की आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक प्रगति द्वारा उसके जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना है तो यह अनिवार्य है कि हमारे देश में बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना या कार्य बहुत तेजी से किया जाये। बहुउद्देशीय समितियों द्वारा अनेक कार्य किये जा सकते हैं। इन्हीं कार्यों के पूरा करने से ही भारतीय सहकारिता में नवीन स्फूर्ति तथा शक्ति का संचार सम्भव हो सकेगा। बहुउद्देशीय समितियों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) किसानों को साख सम्बन्धी सहायता देना।

(२) यह समितियाँ किसानों को कृषि विकास सम्बन्धी उन्नतिशील तरीकों को अपनाने की प्रेरणा दे सकती हैं।

(३) सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री द्वारा यह समितियाँ सदस्यों की आय में वृद्धि कर सकती हैं।

(४) बहुउद्देशीय सहकारी समितियों द्वारा किसानों को उनकी दैनिक आवश्यकताओं की अनेक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्राप्त हो सकती हैं।

(५) इनके द्वारा सदस्यों के दैनिक झगड़ों का मध्यस्थता (arbitration)

द्वारा निपटारा किया जा सकता है जिससे उनके मुकदमेबाजी (litigation) में होने वाले व्यय में कमी हो जायगी।

(६) इनके द्वारा चकबन्दी का कार्य भी किया जा सकता है।

(७) किसानों द्वारा विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर किये गये व्यर्थ व्यय को रोकने के लिए यह समितियां सबकी सम्मति द्वारा ऐसे नियम बनाकर उन्हें कार्यान्वित कर सकती हैं जिससे उनका आर्थिक एवं सामाजिक जीवन सुधर सकता है।

बहुउद्देशीय समितियों के गुण—भारतीय किसान के जीवन की आर्थिक एवं सामाजिक दशा सुधारने के लिए ही फसल सस्ती साख ही उपलब्ध करना पर्याप्त नहीं है। यदि उसके जीवन में विभिन्न सामाजिक एवं नैतिक गुणों का विकास न किया जायगा तो कम ब्याज पर मिलने वाले ऋण से उसमें फिजूल-खर्च तथा अपव्यय की मात्रा बढ़ जायगी। इस कारण विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ उसमें सामाजिक गुणों (Social virtues) के विकास के लिए बहुउद्देशीय सहकारी समितियों द्वारा बड़ा उपयोगी कार्य किया जा सकता है। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के मुख्य लाभ नीचे दिये जाते हैं —

(१) बहुउद्देशीय समितियों तथा सदस्यों में अधिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह समितियां अपना कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं।

(२) विभिन्न कार्यों के करने के फलस्वरूप गांव के लगभग सभी किसानों की कोई न कोई आवश्यकता इन समितियों द्वारा अवश्य पूरी होगी जिसके कारण सदस्य समितियों में अधिक रुचि एवं विश्वास रखने लगेंगे।

(३) बहुउद्देशीय समितियों की सदस्यता में निरन्तर वृद्धि होने से सहकारिता आन्दोलन के विकास एवं प्रगति में सहायता होगी।

(४) इन समितियों द्वारा भारतीय किसानों के जीवन में ग्रामीण साहूकार तथा महाजन का प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो सकता है। अपनी समस्त आवश्यकताओं को बहुउद्देशीय समितियों द्वारा ही पूरा कर लेने के पश्चात् उसके समक्ष महाजन की सहायता लेने की समस्या न होगी।

(५) बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना परिमित दायित्व के आधार पर की जायगी जिससे ग्रामीण क्षेत्र के सभी वर्गों को इसके सदस्य बनने का अवसर मिल सकेगा। इससे भी सहकारिता आन्दोलन विकास में सहायता मिलेगी।

(६) बहुउद्देशीय समितियाँ भारतीय कृषक के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन की प्रगति करके ग्रामीण जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

(७) समितियों द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों के संचालन एवं नियन्त्रण में मितव्ययिता होती है।

को हल करके उसका एक अभिन्न अंग बन सकती है। यह ग्रामोत्थान का एक अत्यन्त सरल एवं उपयोगी साधन है।

रिजर्व बैंक और सहकारी आन्दोलन

(Reserve Bank and Co operative Movement)

रिजर्व बैंक ने भारत के सहकारिता आन्दोलन के विकास में अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया है। इसका मुख्य कार्य ग्रामीण साख की सुविधाएँ पहुंचाकर किसानों की एक बड़ी आवश्यकता को पूरा करना है। इस विशेष कार्य के लिए रिजर्व बैंक ने कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना कर दी है जिसका मुख्य कार्य कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना तथा उससे सम्बन्धित कार्यों को पूरा करना है। केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंक को समय समय पर रिजर्व बैंक से उपयोगी परामर्श करने की भी सुविधाएँ प्राप्त हैं। ग्रामीण समस्याओं के अध्ययन एवं उनके साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को भली प्रकार समझने के लिए रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने श्री ए० डी० गोरवाला (Sri A D Gorwala I C S) की अध्यक्षता में एक अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की स्थापना की जिसकी विस्तृत रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में समिति ने सहकारी समितियों की साख सम्बन्धी कार्यों में होने वाले दोषों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है तथा कृषि साख संस्थाओं के पुनर्संगठन के लिये अत्यन्त उपयोगी सुझाव भी दिये गये हैं।

भारत में सहकारी आन्दोलन की मन्द प्रगति का उत्तरदायित्व बहुत कुछ कुशल प्रशिक्षित सहकारी कर्मचारियों के अभाव पर है। इसका मुख्य कारण उनके लिए प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं का न होना ही हो सकता है। इस कारण इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये १९५२ में रिजर्व बैंक ने बम्बई प्रदेश सहकारी संस्थान (Bombay Provincial Co operative Institute) की सहायता से अखिल भारतीय प्रशिक्षण योजना (All India Training Scheme) बनाई। इसका मुख्य उद्देश्य सहकारी संस्थाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों एवं अधिकारियों को उचित प्रशिक्षण प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने समय समय पर सहकारिता सम्बन्धी उपयोगी प्रकाशनों द्वारा आन्दोलन के विकास में योग दिया है।

सहकारी आन्दोलन में सफलताएँ—सहकारिता मानव प्रगति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। संसार के विभिन्न देशों ने सहकारिता द्वारा अपने देश का आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण बड़ी सरलता से किया है। इसके द्वारा व्यक्ति अपना कल्याण कर समाज के कल्याण के लिए सहायक हो सकता है। सहकारिता द्वारा उसमें सहयोग तथा स्वावलम्बन की भावनाओं का विकास कर सामाजिक जीवन मैत्रीपूर्ण तथा सुखमय बन

जाता है। आज जब संसार में प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा का बोलबाला है। सहकारिता व्यक्ति को सहयोग एवं सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। एक अर्द्ध-विकसित एवं कृषि प्रधान देश की कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं को हल करने के लिए सहकारिता से उत्तम और कोई मार्ग नहीं है। भारत में सहकारी आन्दोलन द्वारा ग्रामवासियों के जीवन में एक नये प्रकाश का उदय हुआ। इसका महत्व केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं है। वरन् अनेक शिक्षात्मक, नैतिक एवं सामाजिक प्रभावों के कारण भारत में सहकारिता एक अत्यन्त उपयोगी एवं रचनात्मक आन्दोलन रहा है। इसके इन विभिन्न लाभों की विवेचना नीचे दी जाती है।

आर्थिक प्रभाव—आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता का प्रमुख योग रहा है किसानों को समय समय पर अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए उचित ब्याज पर ऋण दिला कर सहकारिता ने ही उनकी ऋण-ग्रस्तता को दूर कर उन्हें ग्रामीण महाजन एवं साहूकार के निर्दयी पंजा से मुक्ति दिलाकर उनका आर्थिक जीवन सुखमय बनाया है। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा भारतीय किसान के जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने का प्रयास किया जा रहा है। कृषि के लिए आवश्यक उत्तम बीज, बढ़िया खाद तथा उत्तम यंत्रों तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं को प्रदान कर सहकारिता आन्दोलन ने देश में कृषि उत्पादन तथा खाद्य समस्या को हल करने में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

शिक्षात्मक प्रभाव—सहकारिता के अनेक शिक्षात्मक प्रभाव के कारण देश को सहकारी आन्दोलन से बहुत लाभ हुआ है। सहकारी समितियों के प्रबन्ध में भाग लेने का अवसर प्रदान कर सहकारी आन्दोलन ने ग्रामवासियों में लोकतन्त्रीय ढंग से कार्य करने की शिक्षा दी है। उनके सदस्यों को समय-समय पर अपने मत प्रकट करने का अवसर मिलता है। समिति के कार्यों में भाग लेने के लिए तथा उन पर उनके सफलतापूर्वक संचालन का भार होने के कारण ग्रामवासियों में शिक्षा तथा ज्ञान वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। इसका फल यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता में प्रगति होने लगी। उनमें अपने सामाजिक एवं राजनैतिक कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित ज्ञान कराकर सहकारिता ने नागरिक एवं राजनैतिक चेतना उत्पन्न कर दी। कुछ सहकारी समितियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूलों, पाठशालाओं तथा वाचनालयों को स्थापित करके जनता में शिक्षा का प्रसार कर उनके दृष्टिकोण को विस्तृत करने में सहायता दी है।

नैतिक प्रभाव—सहकारिता द्वारा देश में नैतिक गुणों के विकास में बड़ी सहायता मिली है। पारस्परिक नियन्त्रण द्वारा ग्रामवासियों के जीवन के अनेक दोष एवं बुराइयों को बड़ी सरलतापूर्वक दूर किया जा सका है जैसे मद्यपान, जुआ खेलना आदि। ग्रामवासियों के जीवन को सुखी एवं उन्नतिशील बनाने के लिए सबसे बड़ी

आवश्यकता इस बात की है कि इनमें सहयोग, आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन की भावनाओं का विकास हो। सहकारिता द्वारा किसानों में प्रगति के लिए आवश्यक इन गुणों का विकास हो गया है जिसके फलस्वरूप किसान बिना किसी की सहायता के स्वयं अपने प्रयत्न एवं पारस्परिक सहयोग द्वारा अपनी समस्याओं को हल करना सीख गया है।

सामाजिक लाभ—ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता द्वारा मैत्रीपूर्ण तथा पारस्परिक सहयोग का वातावरण उत्पन्न हो गया है। समिति के सदस्यों में आपसी मेल-जोल तथा सहयोग होने के कारण आपसी झगड़ों में काफी कमी आ गई है। बहुउद्देशीय समितियों द्वारा उनके झगड़ों में मध्यस्थता (arbitration) करने के फलस्वरूप ग्राम वासियों में मुकदमबाजी (litigation) तथा उस पर होने वाले अपव्यय की मात्रा में भी काफी कमी हो गई है। विवाह शादी जैसे अनेक धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों होने वाले फिजूल खर्चों में कमी होकर उनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में सुधार हो सका है। मितव्ययिता का यह गुण इन्हें सहकारिता द्वारा ही प्राप्त हुआ है। अतः भारत में सहकारिता आन्दोलन से ग्रामीण जीवन को अनेक सामाजिक, नैतिक एवं शैक्षिक लाभ प्राप्त हुए हैं।

सहकारिता आन्दोलन के दोष

सहकारी संस्थाएँ भारत के लिए वास्तव में बड़ा ही उपयोगी कार्य कर रही हैं परन्तु अनेक कारणों से देश में सहकारिता आन्दोलन ने पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की है। आन्दोलन के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं —

(१) भारत में सहकारी आन्दोलन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसने ग्रामीण जीवन की समस्याओं के केवल एक ही पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। भारत में सहकारिता का जन्म मुख्यतया किसानों को उचित ब्याज पर ऋण दिलाने का कार्य करने के लिए हुआ था और इसी पर सदैव अधिक बल भी दिया जाता रहा है।

(२) किसानों को कृषि साख समितियों तथा भूमिबन्धक बैंकों इत्यादि से ऋण प्राप्त होने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनकी चक्करदार गतिविधि प्रायः सरल स्वभावी तथा अशिक्षित कृषकों के समझ में नहीं आती।

(३) ऋण प्राप्त होने में अत्यधिक विलम्ब होने के कारण काश्तकार को आवश्यक विचार सहायता के लिए महाजनों तथा साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है।

(४) सहकारी समितियों द्वारा अधिक ब्याज लेने के कारण किसानों को सहकारी साख समितियों से वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त होता।

(५) सहकारी समितियों के प्रबन्ध के लिए कुशल अनुभवी तथा प्रशिक्षित

सकती है। समय समय पर नियुक्त किये गये विभिन्न कमीशनों तथा समितियों का यही मत रहा है कि भारत की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए सहकारिता आन्दोलन को सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सहकारिता में उत्पन्न विभिन्न दोषों को दूर करके ही हम भारतीय कृषक की दशा का सुधार कर ग्रामीण जीवन में एक नवीन चेतना एवं शान्तिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति लाने में सफल हो सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं —

(१) सर्वप्रथम हम सहकारिता के विकास एवं प्रगति के लिए उपयोगी वातावरण तैयार करना है। यह तभी सम्भव होगा जब देशवासियों में सहकारिता के सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा उनमें सहकारिता के प्रति रुचि उत्पन्न की जाये तथा सहकारिता की भावना का विकास हो।

(२) सहकारिता की सफलता के लिए सहकारी आन्दोलन को एक जन आन्दोलन के रूप में विकसित करना होगा। किसी भी देशव्यापी आन्दोलन एवं व्यापक शान्तिपूर्ण क्रान्ति के लिए आवश्यक है कि लोगों के हृदय में स्वयं उस आन्दोलन के अंकुर प्रस्फुटित हों। भारत में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप को दूर करके ही हम आन्दोलन के प्रति जनसाधारण की सहानुभूति एवं रुचि आकर्षित कर सकेंगे।

(३) सहकारी साख समितियों को अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने तथा ग्रामीण जनता के साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को अधिक से अधिक पूरा करने के लिए इन समितियों के पास पर्याप्त वित्तीय साधन हों। उनके इस कार्य के लिये रिजर्व बैंक द्वारा समय समय पर धन मिलता है।

(४) आर्थिक संकट के समय भी समिति द्वारा सफलतापूर्वक कार्य किये जाते रहने के लिये तथा उनकी आर्थिक दृढ़ता के लिए प्रत्येक सहकारी समिति के पास पर्याप्त रक्षित कोष (reserve fund) होना चाहिए।

(५) सहकारी संस्थाओं द्वारा ऋण मिलने में अनावश्यक विलम्ब नहीं होना चाहिये। इसके लिये उनकी कार्यप्रणाली में पर्याप्त सुधार होना आवश्यक है। किसान के लिये ऋण प्राप्त करने में समय का विशेष महत्व है। इस कारण यदि आवश्यकता के समय सहकारी समितियों से ऋण प्राप्त होने में विलम्ब होगा तो मजबूर होकर उन्हें महाजनों तथा साहूकारों की शरण लेनी पड़ेगी।

(६) सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये विभिन्न संस्थाओं से सम्बद्ध कर्मचारियों एवं अधिकारियों को सहकारिता सम्बन्धी प्रशिक्षण देकर उन्हें इस कार्य के लिये उपयुक्त बनाना आवश्यक है। प्रशिक्षित, सुयोग्य एवं अनुभवी कार्यकर्ताओं द्वारा ही सहकारिता के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति की आशा की जा सकती है।

(७) ग्राम निवासियों तथा कृषकों के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने के लिये तथा सहकारिता के आधार पर उनकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बहु

उद्देशीय समितियों की अधिक से अधिक संख्या में स्थापना की जानी चाहिये। केवल साख-समितियों को प्रोत्साहन देकर ही हम भारतीय कृषक की दशा सुधारने में असमर्थ रहेंगे।

(८) साख समितियों द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के ही लिये प्रदान किया जाना चाहिये। अनुत्पादक कार्यों के लिये भी ऋण दिया जा सकता है परन्तु इसके लिये पर्याप्त चौकसी की आवश्यकता है।

(९) भारत में सहकारिता के विकास का यह लक्ष्य होना चाहिये कि ग्राम्य जीवन तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का आधार ही सहकारिता हो। तभी हमारे 'सहकारी ग्राम प्रबन्ध' का स्वप्न साकार हो सकता है।

(१०) सहकारी साख समितियों द्वारा कृषकों को छोटी अवधि के लिये ही ऋण देने चाहिये। दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भारत में अधिक से अधिक भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना की जाये। जहाँ केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक नहीं हैं वहाँ उनकी स्थापना की जाय तथा इन बैंकों के वित्तीय साधनों में वृद्धि की जाय जिससे अधिक से अधिक लोगों को ऋण की सुविधा मिल सके।

आन्दोलन की वर्तमान प्रवृतियां
(Recent Trends in the Movement)

देश में सहकारिता का एक निश्चित स्थान समझा जाने लगा है। अतः सहकारी आन्दोलन के अनेक दोषों को दूर करके देश में सहकारिता आन्दोलन के विकास के लिये महत्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को जो स्थान प्रदान किया गया है। उससे यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक, सामाजिक एवं भौतिक प्रगति का मुख्य आधार सहकारिता ही होना चाहिये। सहकारिता सिद्धान्तों द्वारा ही हम अपनी कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं को हल करके देश में कृषि-उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं। इससे खाद्य तथा विदेशी मुद्रा जैसी वर्तमान जटिल समस्याओं को हल करने में सहायता मिलेगी और देश में औद्योगीकरण में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकेगा। भारत में सहकारी आन्दोलन की एक नई प्रवृत्ति यह है कि सहकारिता के क्षेत्रों में कम से कम सरकारी हस्तक्षेप की महान् आवश्यकता समझी जाने लगी है अतः सरकार ने आन्दोलन में अपने लिये केवल एक सहयोगी सलाहकार तथा पथ-प्रदर्शक का कार्य लेकर आन्दोलन की प्रगति सम्बन्धी शेष कार्य को जनसाधारण के कंधों पर ही छोड़ जाने का निश्चय किया है। इस कार्य में रिजर्व बैंक के सहयोग में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। ग्रामीण जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिये बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है। कुछ प्रान्तों में सीमित दायित्व के आधार पर सहकारी समितियों की स्थापना की नवीन प्रवृत्ति देखने में आ रही है। ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त देश के नागरिक क्षेत्रों में भी जनसाधारण की विभिन्न समस्याओं के लिये सहकारिता के

सिद्धान्तों पर समितियों की स्थापना की जा रही है। पिछले कुछ वर्षों में आवास सम्बन्धी जटिल समस्या को हल करने के लिये भारत के विशाल नगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में अधिक संख्या में सहकारी गृह निर्माण समितियों की स्थापना सहकारिता के विकास का शुभ प्रतीक है। अतः देश में सहकारी आन्दोलन की आधुनिक प्रवृत्तियों से सहकारिता का भविष्य उज्वल प्रतीत होता है।

भावी संभावनायें (Future possibilities)—भारत में सहकारी आन्दोलन की महान भावी सम्भावनायें है। भविष्य में सहकारिता के क्षेत्र में पर्याप्त विकास होगा। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन तथा वितरणों का कार्य सहकारिता के आधार पर किये जाने की सम्भावना है। देश में सहकारी आन्दोलन अब एक पक्षीय नहीं रह सकता। देशवासियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिता का प्रभुत्व तथा महत्व बढ़ने की आशा है। देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाओं में सहकारिता के सिद्धान्तों के उपयोग द्वारा आन्दोलन की प्रगति की निःसन्देह आशा की जा सकती है। देश के औद्योगीकरण में विशाल उद्योगों की स्थापना के साथ-साथ कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में अपार जनशक्ति को उपयोगी आर्थिक कार्य दिलाने तथा देश में फैली हुई बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर इन उद्योगों की स्थापना किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। लोकतन्त्रीय पद्धति एवं जनतन्त्रात्मक भावनाओं पर आधारित सहकारिता आन्दोलन द्वारा ही देशवासियों में सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना आने की आशा की जा सकती है। भारत में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना होने जा रही है। यही हमारी भावी आर्थिक योजनाओं का भी लक्ष्य रहेगा परन्तु यह तभी सम्भव हो सकेगा जब विभिन्न आर्थिक कार्यों का संगठन सहकारिता के आधार पर ही किया जाये।

प्रश्न

1 Explain the organisation and stucture of the co-operative movement in India (*Rajasthan, 1953, 1956*)

2 Attempt a lucid essay on the progress of the co-operative movement in India (*Agra, 1956*)

3 Distinguish between 'single purpose' and multi purpose' co-operative societies Discuss the importance of mult—purpose co-operative societies in our economy (*Allahabad, 1956*)

4 "Co operation is an indispensable instrument of planned economic action in a democracy" (Planning Commission) Discuss the above, bringing out clearly the part which co operative movement is expected to play in the economic development of India (*Delhi, 1955*)

5 Account for the slow progress of the co-operative movement in India Prescribe a plan for its improvement in Indian villages. (*Agra, 1952, (Punjab, 1952)*

खण्ड ६

श्रमिक समस्याएँ, कल्याण एवं सुरक्षा

अध्याय १६

भारतवर्ष में औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour in India)

किसी भी समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य, सम्पत्ति और समृद्धि का आधार उसका श्रम है। यही मानव जीवन की आर्थिक क्रियाओं का मूल, प्रारम्भिक तत्व और पूँजी का जन्मदाता है। इसीलिए अनेक बार पूँजी को पुँजीभूत या संचित श्रम कहा गया है। निस्सन्देह उत्पादन में भूमि के अतिरिक्त, श्रम का केन्द्रीय स्थान है। उत्पादन के अन्य साधनों—भूमि और पूँजी—की तुलना में, श्रम और उनमें कुछ मौलिक अन्तर है। श्रम उत्पादन का एक सजीव साधन है। उसका सम्बन्ध मानव से है, अतः उसमें मानवीय सुख-दुख और नैतिक तत्वों का समावेश स्वाभाविक है। मानव जाति आज जितनी भी प्रगति कर सकी है उसका रहस्य उसके पीछे अन्तर्निहित अध्यवसाय और श्रम में छिपा हुआ है।

आज भारतवर्ष शताब्दियों तक की शृंखलाएँ तोड़ कर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहा है। देश की आर्थिक प्रगति की गति, जो कि राजनैतिक परतन्त्रता व उत्पीड़न के कारण मन्द पड़ गई थी, आज दासता के बन्धन कट जाने पर पुनः समय की गति के साथ प्रभावित होने लगी है। तीव्र गति से बढ़ती हुई इस भारतीय अर्थ व्यवस्था में औद्योगिक श्रम का महत्व भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह बिल्कुल सत्य है कि किसी भी देश के आर्थिक जीवन की आधार शिला उसका औद्योगिक श्रम है। यह तथ्य भारतवर्ष के लिए और भी सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि समय के दुरूह एवं दीर्घतम मार्ग पर युगों से चला आने वाला भारत आज अपने आर्थिक मोक्ष के द्वार पर खड़ा हुआ भावी प्रकाश के दर्शन कर रहा है। दूसरे शब्दों में भारत इस समय अपने औद्योगीकरण के लिए पूर्ण साहस एवं जागरूकता से प्रयत्नशील है।

भारतवर्ष द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना, जिसमें देश के औद्योगिक विकास को प्रमुख स्थान दिया गया है, की सफल सम्पन्नता के लिए पहले से ही प्रयत्नशील है। परन्तु औद्योगीकरण की कोई भी योजना चाहे वह कितनी ही महत्वाकांक्षी एवं सुनियोजित क्यों न हो, बिना औद्योगिक श्रम की सहायता एवं सहयोग के उसका सफल हो[illegible] नहीं। इस कटु सत्य की महानता को स्वीकार करते हुए द्वितीय पञ्[illegible]

योजनाओं में श्रमिकों के कल्याण एवं उनकी दशा में समुचित सुधार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। श्रम एवं श्रम कल्याण से सम्बन्धित परियोजना पर द्वितीय योजना में २६ करोड़ रुपये की राशि का प्रावधान किया गया है, जिसमें से केन्द्रीय स्तर पर १८ करोड़ रुपये और राज्य स्तर (State level) पर ११ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख योजनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बढ़ती हुई कुशल श्रम (Efficient labour) की माँग की पूर्ति के लिए समुचित प्रशिक्षण सुविधाओं का प्रबन्ध करना,

(२) 'रोजगार सेवा संगठन' (Employment Service Organisation) की क्रियाओं का विस्तार करना तथा नवीन रोजगार के दफ्तरों की स्थापना करना,

(४) औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास (Housing) की व्यवस्था करना, तथा

(४) औद्योगिक केन्द्रों की गन्दी बस्तियों का उन्मूलन करना।

भारत में औद्योगिक श्रमिकों की वर्तमान स्थिति

सम्पत्ति तथा गृह विहीन एवं मजदूरी पर ही निर्भर रहने वाले एक विशेष श्रमिक या मजदूर वर्ग का आगमन भारतवर्ष में १९वीं शताब्दी के मध्य में हुआ जब सरकार ने अकाल निवारण के लिए बड़ी बड़ी नहरों, रेलों तथा सड़कों का सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department) द्वारा निर्माण करना प्रारम्भ किया। इसके बाद खानों, चाय, नील, कहवा, रबर आदि के बागानों तथा १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जूट तथा सूती कपड़े की मिलों के खुलने पर गाँव के कारीगरों तथा किसानों की एक बड़ी संख्या अपनी दरिद्रता, बेकारी तथा ऋणग्रस्तता के कारण नगरों की ओर रोजगार के लिए आकर्षित हुई और एक पृथक् विशेष श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

संगठित तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के धीरे धीरे विकसित होने पर औद्योगिक श्रमिकों की संख्या भी धीरे धीरे बढ़ने लगी और आज भारत में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या ५७ लाख से भी अधिक है जो अधिकतर मिलों या कारखानों, खानों, बागानों, रेलों, जहाजों, बन्दरगाहों, डाक एवं तार विभाग तथा ट्रामवेज में काम करते हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्न तालिका से होता है—

कारखाने (Factories) (१९५७)	३४,७९,८६५
खानें (Mines) (१९५८)	६,४६,३६०
बागान (Plantations)	१२,२८,०००
रेलवेज़ (Railways) (१९५८-५९)	११,४३,६१६

1 India 1960, *The Publications Division*, p 376

औद्योगिक श्रम की मूल विशेषताएँ

(Basic Characteristics of Industrial Labour)

भारतीय औद्योगिक श्रमिक वर्ग के विकास की परिस्थितियों का अवलोकन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। आइए, अब श्रमिक वर्ग की विशेषताओं के बारे में भी कुछ जान लिया जाय। भारतीय श्रमिक की कुछ अपनी ही विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य देशों के श्रमिकों से पृथक करती हैं। साधारण रूप से श्रमिक वर्ग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भ्रमणशील प्रवृत्ति (Migratory Character)

भारतीय श्रमिक वर्ग की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी भ्रमणशील प्रवृत्ति है। उद्योग धंधों में काम करने वाले श्रमिक अधिकतर गाँवों से आते हैं। शहरों में रहते हुए भी वे अपने गाँव के स्वच्छ वातावरण, प्राकृतिक सौंदर्यमय दृश्यों, सगे सम्बन्धियों तथा मित्रों को भूल नहीं जाते हैं। अवसर प्राप्त होते ही वे अपने गाँवों को वापस लौट जाते हैं। शहर का व्यस्त, स्वार्थी एवं कलिपाक्त वातावरण, आमोद प्रमोद के साधनों का अभाव उनको आकर्षित करने में असफल रहता है। इस प्रकार वे भ्रमणशील पक्षी की भाँति गाँव से शहर तथा शहर से गाँव तथा खेती से उद्योग और उद्योग से खेती में काम किया करते हैं। इस दोष के कारण औद्योगिक श्रमिकों का [redacted] पृथक वर्ग संगठित नहीं हो सका है।

(२) एकता का अभाव (Lack of Unity)

भारतीय श्रमिक उद्योगों में काम करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों एवं दूर से आते हैं। ऐसा शायद ही कोई उद्योग होगा जिसमें श्रमिक शहर के पास के स्थानों (Suburbs) से ही आते हों। अधिकतर वे भिन्न भिन्न स्थानों से ही काम करने के लिए आते हैं। फलस्वरूप उनकी चाल-ढाल, रहन सहन, रीति रिवाज, सम्प्रदाय तथा धर्म इत्यादि भिन्न भिन्न होते हैं। उनमें किसी भी प्रकार की समानता नहीं होती और वे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, आत्मीयता तथा प्रेम भी नहीं रखते। अतः उन लोगों में एकता (Unity) का भी अभाव रहता है।

(३) श्रमिक अनुपस्थितिवाद (Labour Absenteeism)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है श्रमिकों का अपने निवास स्थानों (गाँवों) के प्रति अत्यधिक प्रेम होता है। वे कृषि मौसमों (Agricultural Seasons) में जब कि फसल का काम अधिक होता है तथा विशेष उत्सवों पर मिलों का काम छोड़ कर अपने गाँव को चले जाते हैं और जब फसल का काम समाप्त हो जाता है अथवा जब उनके उत्सव त्यौहार आदि समाप्त हो जाते हैं तब वे शहरों को वापस चले आते हैं।

इस प्रकार श्रमिक अनुपस्थितिवाद (Labour Absenteeism) अथवा अनियमित उपस्थिति (Irregular Attendance) भारतीय उद्योगों में बहुत प्रचलित है, जिसका औद्योगिक उत्पादन एवं कार्यक्षमता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

भारतीय उद्योगों में औसत अनुपस्थिति १२ से १८ प्रतिशत तक होती है।

(४) भाग्यवादिता (Fatalistic Nature)

भारतीय श्रमिक जो अधिकतर गाँवों से मिलों में काम करने के लिए आते हैं वह भाग्यवादी होते हैं। ये लोग प्रत्येक कार्य की सफलता अथवा असफलता भाग्य की देन समझते हैं। भाग्य पर इन लोगों का इतना विश्वास होता है कि वे कर्म (Duty) करना भी छोड़ देते हैं। अपने कष्टों का निवारण करने के लिए ये कोई प्रयत्न नहीं करते। श्रमिकों के भाग्यवादी होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि उनका अथवा उनके परिवार के सदस्यों का पैतृक उद्योग कृषि है जिसे 'वर्षा का जुआ' Gamble of rain) कहा जाता है। अतः उनकी मानसिक प्रवृत्ति इसी प्रकार की बन जाती है।

(५) अज्ञानता तथा शिक्षा का अभाव (Ignorance & Illiteracy)

भारतवर्ष में शिक्षा का नितान्त अभाव है। अधिक से अधिक १६ या १८ प्रतिशत जनता साक्षर है। तान्त्रिक (Technical), यान्त्रिक (Mechanical) शिक्षा का तो और भी अभाव है। अतः श्रमिक अधिकतर अशिक्षित एवं अज्ञानी होते हैं और वे आधुनिकतम मशीनों का प्रयोग करने में असफल रहते हैं।

(६) अक्षमता (Inefficiency)

औद्योगिक मजदूर की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी अक्षमता अथवा अकुशलता है। विदेशी औद्योगिक मजदूरों की तुलना में तो भारतीय औद्योगिक मजदूर बहुत ही पिछड़ा हुआ है। सर अलेक्जण्डर मैक राबर्ट (Sir Alexander Mac Robert) ने औद्योगिक कमीशन के सम्मुख अपनी साक्षी में कहा था कि एक अंग्रेज मजदूर भारतीय मजदूर से चौगुना कुशल होता है। इसी प्रकार सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुसार लंकाशायर की सूती मिल में काम करने वाले २.६७ मजदूरों की योग्यता के बराबर है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I. L. O.) के द्वारा की गई जाँच से इस कथन की पुष्टि नहीं होती परन्तु फिर भी इसमें सत्यता का अधिक पुट है। इसका विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(७) कुशल कारीगरों की कमी

भारतीय श्रमिकों की एक विशेषता यह भी है कि कुशल कारीगर कम पाये जाते हैं। श्रमिकों की रुचि उद्योगों में कम होने के कारण तथा तान्त्रिक एवं यान्त्रिक (Technical and Mechanical) शिक्षा का अभाव होने के कारण, कुशल कारीगरों का

अभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देश के विभाजित हो जाने के कारण भी अधिकांश मुस्लिम कारीगर पाकिस्तान चले गये। कुशल कारीगरों के अभाव को दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार भारतीयों को विदेशों में तांत्रिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज रही है।

(८) निम्न जीवन स्तर (Low Standard of Living)

भारतीय श्रमिकों का जीवन स्तर, विदेशी श्रमिकों की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी भली-भाँति नहीं कर पाते हैं। आरामदायक तथा विलासितापूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति तो स्वप्न मात्र है। जीवन स्तर गिरा होने के कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं उनकी कार्यक्षमता पर बड़ा बुरा असर पड़ता है।

निम्न तालिका, जो देश के विभिन्न राज्यों (States) की औसत वार्षिक मजदूरी को स्पष्ट करती है, से ज्ञात होता है कि हमारे श्रमिक कितनी कम मजदूरी पाते हैं।

२०० रु० प्रति माह से कम वेतन पाने वाले श्रमिकों की आय[1]
(रेलवे कर्मचारियों के अतिरिक्त)

राज्य (States)	कुल आय	प्रति श्रमिक औसत वार्षिक आय
आन्ध्र	८४,४११	७८६.४
आसाम	४७,०५०	१,४२५.८
बिहार	१,६५,१४५	१,२३५.६
बम्बई	१०,९९,५२१	१,४५४.८
मध्य प्रदेश	३३,२५६	९८२.४
मद्रास	२,२२,५७६	९५०.१
उड़ीसा	१४,९२३	९४८.५
पंजाब	४८,७८६	९९१.०
उत्तर प्रदेश	२,३२,३६२	१,०१४.१
पश्चिमी बंगाल	४,४९,२८१	१,१४१.७
दिल्ली	६७,७६८	१,४६६.९
सब राज्य	२६,६५,०५५	१,२१२.७

यदि हम भारतीय प्रति व्यक्ति आय की अन्य देशों की प्रति व्यक्ति आय से तुलना

1 Indian Labour Gazette, July 1958 p 69

करें तो ज्ञात होगा कि भारतीय लोगों का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा कितना गिरा हुआ है।

विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय[1]

देश	राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय
	करोड़ रुपये	रुपये
(१) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१,६३,५५४	६,७३१
(२) कनाडा	१०,७८७	६,७४२
(३) संयुक्त राज्य (U K)	२१,६५३	४,१८७
(४) फ्रांस	१७,६४०	४,०४६
(५) भारतवर्ष	११,०१०	२८४

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता
(Inefficiency of Indian Labour)

श्रमिकों की कुशलता तथा उनके कल्याणकारी कार्यों का किसी भी देश के आर्थिक विकास से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर श्रमिक स्वाभाविक रूप से कार्यशील रहता है। उसकी कार्य क्षमता का ह्रास उसी समय होता है जब उसे दुर्दमनीय विषमताओं से संघर्ष करने को छोड़ दिया जाता है। दुर्भाग्य से भारतीय श्रमिक की परिस्थितियों की विषमता ने उसे दीर्घकाल से एक दीन व जर्जरित, शोषित व त्रस्त तथा असहाय बना डाला है। आज यद्यपि स्थिति में सुधार होता जा रहा है, और भारतीय श्रमिक अनुकूल परिस्थितियाँ पाने पर अपनी कार्य क्षमता का परिचय देने लगा है, तथापि विश्व के अन्य औद्योगिक देशों के श्रमिकों की अपेक्षा वह अब भी बहुत पिछड़ा हुआ है।

सर अलेक्जेण्डर मैक राबर्ट ने औद्योगिक कमीशन के सम्मुख अपनी साक्षी (Evidence) देते हुए कहा था कि एक अँग्रेज मजदूर भारतीय मजदूर से चौगुना कुशल होता है। इसी प्रकार सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुसार लंकाशायर की सूती मिल में काम करने वाला एक मजदूर भारतीय २.६७ मजदूरों की योग्यता के बराबर है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I L O) के द्वारा की गई जाँच से इस कथन की पुष्टि नहीं होती है परन्तु फिर भी इसमें सत्यता का अधिकांश पुट है।

विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों की कुशलता इस प्रकार है—

सूती वस्त्र उद्योग—१९२६-२७ में सूती मिल उद्योग के लिए नियुक्त टेरिफ

---

[1] Commerce, August 23, 1958

बोर्ड के अनुसार सूती कपड़े की मिलों में काम करने वाला एक श्रमिक जापान में २४०, योरोप में ५४० से ६०० तक, अमेरिका में ११२० तथा भारत में केवल १८० ही तकुओं (Spindles) की देखभाल करता है। काटन यार्न एसोसियेशन लि० के अनुसार जापान की मिलों में १८ श्रमिक १००० तकुओं (Spindles) की देखभाल करते हैं, जबकि भारतवर्ष में उतने ही तकुओं की देखभाल ३० से लेकर ३१ श्रमिक करते हैं।

इस सम्बन्ध में श्रीयुत एन० एच० टाटा द्वारा दिये गये आँकड़े भी महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार भारतवर्ष में औसतन प्रति १००० तकुओं (Spindles) पर १२ श्रमिक कार्य करते हैं जबकि अमेरिका में ४५ श्रमिक और लंकाशायर में ६७ श्रमिक कार्य करते हैं। यही हाल बिनवा (Weaving) के सम्बन्ध में भी है। बिनता में एक जुलाहा, योरोप में ४ से ६ तथा अमेरिका में ६, पर भारत में केवल २ करघों (Looms) को ही चलाता है।

उपरोक्त आँकड़ों एवं तथ्यों से हमें भारतीय श्रमिक की अपेक्षाकृत (Relative) अक्षमता की झलक मिलती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात जानने योग्य है कि पिछले कुछ वर्षों से कुछ सूती वस्त्र मिलों में श्रमिकों की कुशलता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सूती वस्त्र उद्योग के एक कार्यवाहक दल (Working party 1952) ने देखा कि दिल्ली की एक मिल में, तथा मद्रास की दो मिलों में एक जुलाहा (Weaver) क्रमशः ४, ६, ८ और अहमदाबाद की एक मिल में १८ तथा बम्बई की एक मिल में ६ करघों (Looms) पर कार्य करता है।

भारत की कुछ मिलों के श्रमिकों की कुशलता अथवा क्षमता में यह वृद्धि उनमें स्वचालित एवं आधुनिक मशीनरी के कारण हुई है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक जुलाहा अधिक काम कर सकता है। इतनी उन्नति होने पर भी कदाचित् भारतीय श्रमिक संयुक्त राज्य (U K), जापान और अमरिका के श्रमिकों की तुलना में कम कुशल है।

जूट उद्योग—'रायल कमीशन' के समक्ष साक्ष्य देते हुए कहा गया है कि जूट उद्योग में लगे हुए दो भारतीय श्रमिकों का काम डंडी या यूरोप के किसी अन्य देश का एक श्रमिक कर सकता है।

लोहा एवं इस्पात उद्योग—इस उद्योग में भी श्रमिकों की क्षमता अथवा कुशलता की दशा असंतोषजनक है। श्री जे० आर० डी० टाटा के अनुसार १६४१ में लौह एवं इस्पात का प्रति श्रमिक उत्पादन प्रति मास केवल ½ टन ही था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका (U S A) के लोहे एवं इस्पात उद्योग में प्रति श्रमिक औसत उत्पादन ५ टन प्रति मास था।

कोयला खनिज उद्योग—भारतीय 'ज्योलॉजीकल माइनिंग एंड मैटालर्जीकल सोसाइटी' की २८वीं वार्षिक सामान्य सभा में अध्यक्ष महोदय ने इस बात की ओर संकेत किया कि भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति पाली (Sh ft) उत्पादन केवल २ ७ टन है, जब कि संयुक्त राज्य (U K) में ६ २६, जर्मनी में ८ ६६ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका (U S A) में २१ ६८ टन है। नियोजन आयोग (Planning Commission) ने पता लगाया है कि कोयला खनिज उद्योग में १९४१ में लगे हुए २,१४,२४४ श्रमिकों की संख्या बढ़कर १९५१ में ३,४०,००० हो गई जबकि उसी समय में कोयले के उत्पादन में वृद्धि २५ ८६ मिलियन टन से बढ़कर ३४ मिलियन टन ही हुई। इन आँकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जब श्रमिकों की संख्या में ५८% की वृद्धि हुई, उत्पादन में वृद्धि केवल ३२% ही रही।

इसी प्रकार यदि हम देश के समस्त उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों की कार्य क्षमता एवं उत्पादन का विश्लेषण कर सकते तो अधिक लाभकारी होता, परन्तु इन उद्योगों से सम्बन्धित विस्तृत एवं आवश्यक आँकड़े उपलब्ध न होने के कारण यह सम्भव नहीं है। तथापि ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इन उद्योगों का 'प्रति व्यक्ति घन्टा' (Per man hour) उत्पादन अभी पिछले कुछ वर्षों से काफी गिर गया है और कुछ में तो ३०% से ५०% तक उत्पादन में अवनति हुई है। इसके विपरीत ब्रिटिश और अमरिकन श्रमिकों की क्षमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के कारण

(Causes for the Inefficiency of Indian Worker)

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का उत्तरदायित्व पूर्णतया स्वयं श्रमिकों पर ही नहीं है। यथार्थ इस चिन्ताजनक अवस्था के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं जो कि सामाजिक, राजनैतिक, प्राकृतिक तथा आर्थिक हैं। सरल अध्ययन के दृष्टिकोण से हम इन समस्त कारणों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—उद्योगों से सम्बन्धित आन्तरिक बातें

(१) कार्य के घण्टे (Hours of Work)

(२) कार्य की दशाएँ (Working Conditions)

(३) कच्चा माल एवं शक्ति (Raw materials and Power)

(४) विश्राम स्थल (Rest Houses)

(५) मशीनों और उपकरणों की प्रकृति (Type of machines and equipment)

(६) निरीक्षण एवं प्रबन्ध (Supervision and management)

(७) मजदूरी देने की रीतियाँ (methods of wage payment)

(८) अवकाश व छुट्टियाँ (Holidays)

(९) ऋणग्रस्तता (Indebtedness)

(१०) रहन-सहन का निम्न स्तर (Low Standard of living)

२—उद्योगों से सम्बन्धित बाह्य बातें

(१) जलवायु की दशाएँ (Climatic Conditions)

(२) कल्याणकारी योजनाएँ (Welfare measures)

(३) आवास एवं स्वच्छता (Housing and Sanitation)

(४) शिक्षा एवं प्रशिक्षण (Education and Training)

(५) कारखाने की स्थिति (Layout of Factories)

(६) श्रमिक प्रबन्ध (Personnel management)

(७) राजनीति (State Policy)

३—विविध बातें

(१) पैतृक गुण (Racial qualities)

(२) श्रमिकों की मनोवृत्ति एवं मनोबल (Attitude and morale of Workers)

(३) श्रमिकों की अकुशलता सम्बन्धी उपरोक्त कारणों में से कुछ प्रमुख कारणों का विस्तार से अध्ययन इस प्रकार है—

(१) काम करने के दीर्घ घंटे (Long Working Hours)

भारतीय कारखानों में श्रमिकों को दिन में लगातार कई घण्टों तक कार्य करना पड़ता है और उन्हें बीच में कोई अवकाश नहीं दिया जाता। दुर्भाग्यवश भारतीय उद्योगपतियों का यह विश्वास है कि श्रमिकों से जितनी अधिक देर तक काम कराया जाय, उत्पादन बढ़ता जायगा। भारतीय पूँजीपति के अन्दर अभी उस मानवीय उदारता अथवा आर्थिक वैज्ञानिकता, जिसे महोदय एफ० डब्लू० टेलर ने "मानसिक क्रान्ति" (Mental Revolution) की संज्ञा दी है, का उदय नहीं हुआ है, जिसके अनुसार वह सोच सके कि स्वस्थ व कार्य में रुचि रखने वाला श्रमिक अन्तत: अधिक उत्पादन करता है। दीर्घ घंटों तक कार्य करने वाला श्रमिक स्वाभाविक रूप से थक जाता है और उसके शरीर में शैथिल्य आ जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए विश्राम स्थलों (Rest houses) की भी कोई व्यवस्था नहीं होती है। फलस्वरूप श्रमिक जल्दी ही थक जाता है और वह क्षमता अथवा कुशलता से कार्य करने में असमर्थ रहता है।

(२) कार्य करने की दशाएँ (Working Conditions)

श्रमिक जिन स्थानों में कार्य करते हैं, उनकी अवस्था—सफाई, रोशनी, तार-

कम, साफ पानी, शौचालयों एवं मूत्रालयों की समुचित व्यवस्था, शिशुगृह, स्नानगृह, इत्यादि की सुविधाएँ—बहुत अंशों में श्रमिकों के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को प्रभावित करती हैं। भारतीय कारखानों के अन्तर्गत काम का वातावरण तथा कार्य करने की दशाएँ अच्छी और स्वास्थ्यकर नहीं होतीं और वे श्रमिकों की कार्यक्षमता में किसी प्रकार भी उत्साहवर्द्धक नहीं होतीं। लोक प्रसिद्ध कारखानों के अन्तर्गत अस्पतालों तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, नहाने धोने की सुविधाओं, ठंडे पानी की व्यवस्था, शुद्ध वायु तथा प्रकाश इत्यादि के अभाव में श्रमिकों की कार्य क्षमता कम हो जाना स्वाभाविक ही है।

पिछले पचास वर्षों में इस दृष्टि से कारखानों, खानों, बागानों, बन्दरगाहों, जहाजों इत्यादि में काम करने की दशाओं में पर्याप्त सुधार हुआ है। इसके लिए अनेक कानून बनाये गये हैं। परन्तु फिर भी उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में हमारे देश में कार्य करने की दशाएँ बहुत ही पिछड़ी हुई हैं। एक तो कानून केवल संगठित उद्योगों पर लागू होते हैं, दूसरे उनका प्रायः पूरी तरह पालन भी नहीं होता।

(३) कच्चा माल एवं यान्त्रिक साजसज्जा (Raw materials and Mechanical equipment)

भारतीय कारखानों द्वारा प्रयुक्त कच्चे माल की किस्म बहुत ही खराब होती है। इसके अतिरिक्त यान्त्रिक साज सज्जा जिस पर श्रमिक कार्य करता है, अत्यन्त पुरानी, अप्रचलित एवं जीर्णशीर्ण होती है। स्वभावतः भारतीय श्रमिक क्षमतापूर्वक काम नहीं कर पाता। अतः इसका दोष श्रमिकों पर न मढ़ा जाकर मालिकों पर ही मढ़ा जाना चाहिये।

(४) निरीक्षण एवं प्रबन्ध (Supervision & Management)

औद्योगिक कार्य क्षमता बहुत कुछ उद्योगों के निरीक्षण कर्मचारियों (Supervisory Staff) और वैज्ञानिक प्रबन्ध पर आधारित होती है, जिसका भारतवर्ष में नितान्त अभाव है। श्रमिकों की कार्य क्षमता निश्चय ही वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों, जिनका प्रतिपादन अमेरिकन इञ्जीनियर डॉ॰ एफ॰ डब्लू॰ टेलर ने १६११ में किया था, के द्वारा बढ़ाई जा सकती है।

भारतवर्ष में अभी पिछले कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया गया है और श्रमिकों को समुचित प्रशिक्षण देने के लिए कुछ महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी खोली गई हैं। जैसे खड़गपुर में डा॰ सर जे॰ सी॰ घोष के नेतृत्व में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालौजी', कलकत्ता यूनीवर्सिटी में प्रो॰ डी॰ के॰ सान्याल के नेतृत्व में 'स्कूल आफ सोशियल वर्क एण्ड बिजनेस मैनेजमेंट' तथा बैंगलोर में प्रो॰ एम॰ एस॰ ठक्कर के नेतृत्व में 'इन्स्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट' इत्यादि खोले गये हैं। परन्तु ये सब भारतीय आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम हैं।

(५) श्रमिकों की निर्धनता, निम्न जीवन-स्तर एव ऋणग्रस्तता (Poverty, Low Standard of Living and Indebtedness of Labourers)

भारतीय श्रमिकों की वार्षिक आय बहुत कम होती है। अन्य देशों की अपेक्षा में तो यह और भी कम है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति आय केवल २८४ रुपये है, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमरिका (U. S. A.) में ९,७३१ रुपये, कनाडा में ६,७४१ रुपये, संयुक्त राज्य (U. K.) ४,३८७ रुपये तथा फ्रांस में ४४०६ रुपये हैं।[1]

वार्षिक आय निम्न होने के कारण भारतीय श्रमिकों का जीवन स्तर भी बहुत निम्न है। श्रमिकों की आय का एक बहुत बड़ा भाग (कुल आय का ६० से ७० प्रतिशत तक) केवल भोजन पर ही व्यय हो जाता है और दुर्भाग्यवश उन्हें जो भोजन प्राप्त होता है, वह सामान्यत उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त होता है। कारखानों में कठिन एव दीर्घ घण्टों तक निरन्तर कार्य करने के लिए पौष्टिक एव सतुलित आहार की अति आवश्यकता है जोकि उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता है। फलस्वरूप वे अकार्यक्षम एव अनेक भयानक बीमारियों के शिकार बने रहते हैं।

यही नहीं भारतीय श्रमिक के आर्थिक जीवन का एक अन्य खेदजनक पहलू उनकी ऋणग्रस्तता है। अधिकांश उद्योगों में लगे हुए श्रमिक, प्रायः कर्जदार का जीवन यापन करते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में लगभग दो तिहाई मजदूर कर्ज के बोझ के नीचे दबे हुए हैं, और उनके कर्ज की औसत रकम प्राय उनके तीन महीने के वेतन के बराबर है।

इन सब दोषों की जड़ एक मात्र निम्न मजदूरी है। मजदूरी की समानता तथा न्यूनतम वेतन की गारटी और सहकारी ऋण व्यवस्था द्वारा मजदूरों की ऋणग्रस्तता का मुकाबिला किया जा सकता है।

(६) जलवायु सम्बन्धी दशाएँ (Climatic Conditions)

भारतीय प्रतिकूल जलवायु भी श्रमिकों की अकार्यक्षमता के लिए उत्तरदायी है। गर्म जलवायु में निरन्तर अधिक समय तक गम्भीर कार्य करना सम्भव नहीं। हमारे देश की जलवायु तो बहुत ही गर्म है। बगाल तथा मद्रास के प्रदेशों की जलवायु तो और भी खराब है। विदेशों की जलवायु ठण्डी होने के कारण वहाँ के श्रमिक अधिक कुशल हैं।

(७) कल्याणकारी तथा सुरक्षा सुविधाएँ (Welfare and Security Measures)

श्रमिकों के कल्याण कार्यों में वृद्धि और विस्तार करके उनकी कार्यक्षमता और अवस्था में पर्याप्त उन्नति की जा सकती है। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में श्रमिकों को

---

[1] Commerce, August 23 1958

प्रदान की जाने वाली कल्याणकारी सुविधाएँ भी अपर्याप्त हैं, जिनका कुप्रभाव श्रमिकों की कुशलता अथवा क्षमता पर भी पड़ता है। कल्याणकारी कार्यों से श्रमिकों का स्वास्थ्य एवं शरीर उन्नत होगा और मानवीय विचित्र प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण होने वाली थकान तथा नीरसता दूर होगी और श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ेगी।

कल्याणकारी-कार्यों के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा भी श्रमिकों की अवस्था सुधारने के लिए आवश्यक है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र और विस्तार भी अभी तक अत्यन्त सीमित है।

(८) आवास की दशायें (Housing Conditions)

श्रमिक किस प्रकार के घरों में रहते हैं, इसका उनकी कार्यक्षमता, स्वास्थ्य और सदाचार से सीधा सम्बन्ध है। जिन स्थानों में घरों की कमी होती है अथवा जहाँ गन्दा वातावरण होता है, वहाँ ऊँची मृत्यु दर तथा व्यभिचार का बाहुल्य होता है। निवास स्थान अथवा आवास की दृष्टि से भारतीय मजदूरों की दशा बहुत ही दयनीय है। अधिकतर श्रमिक ऐसे स्थानों में रहते हैं जहाँ पर पशुओं का रखना भी उचित न होगा। कानपुर के अहाते, हुगली की बस्तियाँ, दक्षिण की चेरियाँ, कोयले की खानों के धौरे, पत्थर की खानों के पत्तों के झोपड़े, बम्बई के चॉल (Chawls), बागानों की बस्तियाँ और बेरकें, श्रमिकों के रहने योग्य नहीं कही जा सकतीं।

अतः श्रमिकों के कल्याण की किसी भी योजना में गन्दी मजदूर बस्तियों और उनके स्थान पर, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर निवास स्थानों के निर्माण को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। हमारी राष्ट्रीय सरकार काफी प्रयत्नशील होते हुए भी इस समस्या को पूर्णतया सुलझा नहीं सकी है।

(९) शिक्षा एवं प्रशिक्षण (Education & Training)

साधारण एवं प्राविधिक (Technical) दोनों ही प्रकार की शिक्षा का प्रभाव श्रमिकों की कार्यक्षमता पर पड़ता है। भारतवर्ष में अभी तक दोनों ही प्रकार की शिक्षाओं का नितान्त अभाव है, यद्यपि राष्ट्रीय सरकार इस ओर काफी प्रयत्नशील है। अधिकांश अशिक्षित होने के कारण भारतीय श्रमिक स्वभावतः भाग्यवादी होता है। अपने कार्य को उचित ढंग से, कम से कम समय में तथा कुशलता से करने के लिए प्राविधिक (Technical) प्रशिक्षण की अति आवश्यकता है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध इञ्जीनियरों डा० एफ० डब्लू० टेलर तथा एफ० बी० गिलब्रेथ ने श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए, प्राविधिक प्रशिक्षण की ओर बहुत जोर दिया है।

(१०) अन्य कारण (Other Causes)

श्रमिकों का उपेक्षित व्यवहार (Indifference), मनोवृत्त, मनोधैर्य (Morale), नैराश्य एवं आशाहीन दृष्टिकोण जो उपरोक्त कारण के फलस्वरूप उत्पन्न होता है,

उनकी अकार्यक्षमता अथवा अकुशलता के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसा श्रमिक जो अनेक चिन्ताओं से ग्रसित हो, जीवन से हताश हो चुका हो, उससे कुशलता की आशा किस प्रकार की जा सकती है।

यही वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अन्तर्गत बेचारा अर्द्धनग्न एवं अर्द्ध उदरपोषित भारतीय औद्योगिक श्रमिक निर्धनता की जटिल शृङ्खलाओं में जकड़े हुए, अस्वच्छ एवं अमानवीय दशाओं में रहते हुए तथा प्रतिकूल अवस्थाओं में कार्य करते करते अपना जीवन समाप्त कर देता है। यही सब कारण उसकी अक्षमता के लिए भी मूल रूप से उत्तरदायी हैं।

क्या भारतीय श्रमिक वास्तव में अकुशल हैं ?

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिक की अकुशलता कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण है। यदि इन प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बना दिया जाय तो ये ही श्रमिक किसी भी देश के श्रमिक से मुकाबला कर सकते हैं। यह कहना कि भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता उनके राष्ट्रीय, जातीय एवं पैतृक गुणों के कारण कम है, कुछ असत्य सा प्रतीत होता है। यदि प्राचीन काल से भारतीय सैनिक अपनी बहादुरी व यश के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, तो समझ में नहीं आता कि किस प्रकार उन्हीं बहादुरों की सन्तान निर्जीव मशीनों के सामने नत मस्तक हो गई। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय श्रमिक अन्य किसी भी देश के श्रमिक से कम दक्ष नहीं हैं। उसकी अक्षमता के लिए अन्य बातें ही जिम्मेदार हैं।

इस कथन की पुष्टि 'श्रम जाँच समिति' (Labour Investigation Committee, 1946) जो 'रेगे' समिति के नाम से प्रसिद्ध है, के शब्दों से होती है* समिति के अनुसार भारतीय श्रमिक, किसी भी देश के श्रमिक से कम कुशल नहीं हैं। यदि उनको वे सब साधन व सुविधाएँ प्राप्त हो जायें जो अन्य देश के श्रमिकों को उपलब्ध हैं तो भारतीय श्रमिक, अन्य देशों के श्रमिकों से भी अधिक कुशल हो सकता है। अमेरिकन ग्रेडी मिशन जो भारतवर्ष में १६४२ में युद्ध उत्पादन का निरीक्षण करने के लिए आया था, भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता से काफी प्रभावित था। ग्रेडी मिशन के अध्यक्ष सर टामस हालैंड ने स्वीकार किया है कि भारतीय श्रमिक भी उतने ही कुशल

*We have come to the conclusion that the alleged inefficiency of Indian labour is largely a myth. Granting more or less identical conditions of work, wages, efficiency of management and of the mechanical equipment of the factory, the efficiency of Indian labour generally is no less than that of workers in most other countries. Not only this but whether mechanical equipment or efficiency of management are factors of any importance the skill of the Indian labourer has been demonstrated to be even superior in some cases to that of his prototypes in foreign countries. *Rege Committee*

हैं, जितने कि योरोपियन श्रमिक। अभी हाल में जिन उद्योगों में ये सुविधाएँ श्रमिकों को प्रदान की गई हैं, उनकी कार्यक्षमता भी बढ़ गई है। सरकार द्वारा भारतीय श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता के सम्बन्ध में इस कथन की पुष्टि १९५५ के आँकड़ों से होती है—*

(१) कोयला खनन उद्योग—१९५१-१९५४ तक के वर्षों में खनिकों तथा लदाई करनेवालों की उत्पादन-क्षमता में सामान्यतः ०.०७६ प्रतिमास की वृद्धि हुई।

(२) कागज उद्योग—१९४८-१९५३ में मजदूर की औसत आय में तो वृद्धि हुई, किन्तु उत्पादन क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(३) पटसन वस्त्र उद्योग—१९४८-१९५३ तक के वर्षों में उत्पादन-क्षमता में २.६% प्रति वर्ष तथा आय में ३.७% प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई।

(४) सूती वस्त्र उद्योग—१९४८-५३ तक के वर्षों में उत्पादन-क्षमता तथा आय में प्रतिवर्ष क्रमशः २.२८ प्रतिशत तथा १.१४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

श्रमिकों की क्षमता बढ़ाने के लिए सुझाव

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता विशेष परिस्थितियों के कारण है। कुछ भारतीय उद्योगों जैसे 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी', 'देहली क्लाथ मिल्स', 'बाटा शू कम्पनी' इत्यादि में श्रमिकों को पर्याप्त सुविधाएँ दी जाती हैं, और फलस्वरूप वहाँ के श्रमिकों की कार्यक्षमता किसी भी विदेशी श्रमिक से कम नहीं है।

अतः भारतवर्ष में श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनकी दशा व वातावरण में सुधार होना चाहिए। जीवन की सुख-सुविधाओं के समुचित प्रबन्ध, कार्य करने के घंटों में कमी तथा मालिकों के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से श्रमिकों की कुशलता के स्तर में वृद्धि निश्चित है। श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि निम्न उपायों द्वारा की जा सकती है—

(१) औद्योगिक नगरों में स्थायी श्रमिक वर्ग

भारतीय श्रमिक की अकुशलता का प्रधान कारण औद्योगिक नगरों में स्थायी श्रमिक वर्ग समुदाय का अभाव है। स्थायी श्रमिक वर्ग समुदाय को औद्योगिक नगरों में बनाये रखने के लिए निम्न सुविधाओं को प्रदान करना होगा—

(अ) उचित किराये पर श्रमिक व उसके परिवार के लिए आवास (housing) की व्यवस्था करना।

(ब) नगरों के जीवन की दशाओं में सुधार करना।

(स) बेरोजगारी के विरुद्ध प्रावधान।

---

*India 1959, P. 262

(द) श्रमिकों की बीमारी व असमर्थता के समय पर्याप्त चिकित्सा का प्रबंध।

(२) उचित पारिश्रामिक

श्रमिकों का वतन उनके कार्य व कार्य-क्षमता के अनुसार निश्चित कर देना चाहिए। उत्पादन के साथ मँहगाई, भत्ता व बोनस इत्यादि सम्बद्ध कर देना चाहिए। एक निश्चित कार्य को, निश्चित समय में कर लेने पर श्रमिक को पूर्व निर्धारित दर से मजदूरी व भत्ता इत्यादि दे देना चाहिए, जिससे श्रमिकों में विश्वास बना रहे।

(३) धीरे धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्राविधान (Provision against go slow Tactics)

यदि श्रमिक जान बूझकर शिथिलता से कार्य करते हैं अथवा काम से जी चुराते हैं तो इसको औद्योगिक संघर्ष (trade dispute) करार देना चाहिए और मालिक को इसका फैसला कन्सीलियेशन मशीनरी से करवा लेना चाहिए।

(४) श्रमिकों के विरुद्ध कार्यवाही

यदि कोई श्रमिक अकुशलता से कार्य कर रहा हो अथवा निश्चित मात्रा में उत्पादन न कर रहा हो तो मालिक का यह अधिकार होना चाहिए कि वह ऐसे श्रमिक को निकाल सके।

(५) निरन्तर प्रचार

श्रमिकों की अकुशलता, उत्तरदायित्वहीनता व अनुशासनहीनता के विरुद्ध सरकार, मालिक तथा श्रमिकों के नेताओं को निरन्तर प्रचार (प्रापेगेण्डा) करते रहना चाहिए।

(६) प्रशिक्षण एवं शिक्षण

श्रमिकों को प्रशिक्षण एवं शिक्षण—साधारण व तान्त्रिक—अनिवार्य रूप से देना चाहिए। श्रमिकों को आधुनिकतम मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रशिक्षण देना चाहिए जिससे वह कुशलतापूर्वक कार्य कर सकें।

(७) सुव्यवस्थित प्रबन्ध

प्रबन्धकों की मनोवृत्ति एवं कुशलता श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायक हो सकती है। जहाँ तक हो सके 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' को अपनाया जाय जिससे प्रबन्धकों की मनोवृत्ति श्रमिकों की ओर सहानुभूतिपूर्ण हो, और श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं तथा दैनिक जीवन की दशाओं में सुधार हो। मालिकों को श्रमिकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

(८) श्रमिकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन

श्रमिकों की दशा में सुधार विधानों (Legislations) के द्वारा अधिक सम्भव नहीं है, बल्कि एक ऐसे वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है जिससे श्रमिक अपने को देश की समृद्धि में हिस्सेदार (Co partners) समझने लगें। ऐसा

होने पर वे देश की आर्थिक व सामाजिक समृद्धि के लिए तन, मन, धन से कार्य करने लगेंगे। संक्षेप में श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए एक मनोवैज्ञानिक पहुँच की आवश्यकता है।

यह तो सर्वमान्य है कि हमारे श्रमिक कठिन से कठिन परिस्थिति में भी कार्य कर सकते हैं और अपने को किसी भी वातावरण के अनुकूल बना सकते हैं। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि पिछले कुछ वर्षों में जिन उद्योगों में सुधार कर दिया गया है वहाँ श्रमिकों की कुशलता अपेक्षाकृत काफी बढ़ गई है। बम्बई की कुछ मिलों में जुलाहे छः छः करघों (looms) को चलाने लगे हैं और प्रति व्यक्ति का औसत उत्पादन लंकाशायर के श्रमिक का ८६% तक अनुकूल वातावरण न होने पर भी हो गया है।

अतः श्रम जाँच समिति ने भी कहा था कि "यह विचार करते हुए कि इस देश में कार्य करने के घंटे अधिक हैं, आराम स्थलों (rest houses) का अभाव है, कार्य सिखाने की विधि व प्रशिक्षण का अभाव है, अन्य देशों की तुलना में भोजन व कल्याणकारी सुविधाओं तथा मजदूरी के स्तर में पर्याप्त कमी है, अतः श्रमिकों की कही जाने वाली अकुशलता का दोष उनके प्राकृतिक चातुर्य अथवा योग्यता पर नहीं मढ़ा जा सकता।"*

प्रश्न

1. State precisely what has been done in India in the direction of improving the conditions of life and work of the industrial labour (*Punjab, 1954*)

2. What are the chief characteristics of industrial labour in India? Discuss the causes responsible for its low efficiency

---

* Considering that in this country hours of work are longer, rest pauses fewer facilities for apprenticeship and training, rare standards of nutrition and welfare amenities far poorer and the level of wages much lower than in other countries, the so called inefficiency cannot be attributed to any lack of native intelligence or aptitude on the part of the workers" *Labour Investigation Committee*

अध्याय २०

श्रमिक कल्याण

(Labour Welfare)

श्रमिक कल्याण आधुनिक औद्योगिक प्रजातन्त्र (industrial democracy) की आधार शिला है, और इसकी सहायता के बिना एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण भी असम्भव है। इसके द्वारा श्रमिकों का जीवन आनन्दमय और औद्योगिक सुन्दर हो जाते हैं।

श्रमिक कल्याण का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न अर्थों में लगाया जाता है यद्यपि इसका अर्थ विभिन्न देशों में एक ही समान है। रायल कमीशन के शब्दों में "यह एक ऐसा शब्द है जो कि बहुत ही लचीला है। इसका अर्थ एक देश में दूसरे देश की तुलना में उसकी विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिकों की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के अनुसार भिन्न भिन्न लगाया जाता है।"[1]

इस प्रकार श्रमिक कल्याण की एक निश्चित परिभाषा के अन्दर बाँधना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि इसका अर्थ बहुत ही लचीला है। फिर भी श्रमिक कल्याण का अर्थ यूनाइटेड स्टेट्स ब्यूरो ऑफ लेबर स्टैटिस्टिक्स के शब्दों में "कर्मचारियों के आराम तथा बौद्धिक एवं शारीरिक प्रगति के लिए मजदूरी के अतिरिक्त ऐसा कोई भी कार्य किया जाय, जो कि न तो उद्योग के लिए आवश्यक है और न वाञ्छनीय ही है।"[2]

वाल्कर समिति के अनुसार "अति विस्तृत रूप में इसके (श्रमिक कल्याण के) अन्तर्गत श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, आराम एवं सामान्य कल्याण को प्रभावित

---

1 It is a term which must necessarily be elastic bearing a somewhat different interpretation in one country from another according to the different social customs, the degree of industrialization and the educational development of the workers." *Royal Commission*

2 "Anything for the comfort and improvement, intellectual and social, of the employees, over and above wages paid, which is not a necessity of the industry nor required." *United States Bureau of Labour Statistics*

करने वाली सभी शर्तों का समावेश होता है और शिक्षा, मनोरंजन, बचत योजनाओं तथा स्वास्थ्यप्रद गृहों इत्यादि का प्रावधान होता है।[1]

श्रम जांच समिति (१९४४) ने अपनी प्रमुख रिपोर्ट में श्रमिक कल्याण को इस प्रकार परिभाषित किया है "श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए किया गया कोई भी कार्य, जो वैधानिक कानून तथा मालिकों एवं श्रमिकों के मध्य हुए अनुबन्धित लाभों के अतिरिक्त हो, चाहे वह मालिकों, सरकार अथवा अन्य संस्थाओं के द्वारा किया गया हो, श्रमिक कल्याण कहलाता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अपनी फैक्टरियों के अन्दर तथा बाहर श्रम तथा रोजगार की सर्वोत्तम दशाओं की व्यवस्था करने के लिए मालिकों (employers) के स्वतः किये गये प्रयत्न श्रमिक कल्याण को निर्देशित करते हैं। इनमें उन सब प्रयासों का समावेश होता है जिनका उद्देश्य श्रमिक के स्वास्थ्य एवं बल में सुधार, उसकी सुरक्षा, उसकी मानसिक तथा नैतिक उन्नति, उसका साधारण कल्याण और उसकी औद्योगिक क्षमता में वृद्धि होती है। इन कार्यों का संगठन मालिक द्वारा, अथवा सरकार द्वारा, अथवा स्वयं श्रमिकों द्वारा प्रारम्भ व संगठित किया जा सकता है।

श्रमिक कल्याण के दो पक्ष या पहलू होते हैं—

(१) मानवीय (Humanitarian), तथा

(२) आर्थिक (Economic)।

मानवीय पक्ष—यदि श्रमिक कल्याणकारी कार्य मालिकों (employers) के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा किया जाता है तो इसका ध्येय मानवता तथा दयालुता से प्रेरित लोक सेवा होता है। ऐसे कार्य भारतवर्ष में 'भारत सेवक समिति' (Servants of India Society), 'नवयुवक क्रिश्चियन संघ' (Y M C A), 'बम्बई सामाजिक सेवा संघ' (The Bombay Soical Service League), 'सेवा सदन' इत्यादि सामाजिक संस्थाएं करती हैं।

आर्थिक पक्ष—यदि श्रमिक कल्याणकारी कार्य मालिकों या सेवायोजकों (Employers) द्वारा किया जाता है तो उसका ध्येय अधिकांशतः आर्थिक तथा

1 "In its widest sense it comprises all matters affecting the health, safety comfort and general welfare of the workmen and includes provision for education, recreation thrift schemes convalescent hom ." *Balfour Committ e*

2 "Anything done for the intellectual phys cal moral and economic betterment of the workers, whether by employer , by Government or by other agencies over and above what is laid down by law or what is normally expected as part of the contractual benefits for which the workers may have bargained" *Labour Investigation Committee (1954)*

उपयोगिता प्राप्त होता है। यह 'क्षमता कार्य' होता है जो श्रमिक की शारीरिक सामर्थ्य तथा क्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। अज्ञानी तथा अशिक्षित श्रमिकों में इससे उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य की भावना उत्पन्न होती है और वे अच्छे नागरिक बनते हैं।

श्रमिक कल्याण के अंग

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है श्रमिक कल्याण कार्यों का दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आभ्यन्तरिक या कारखानों के अन्दर कार्य (Intra mural)

(२) बाह्य या कारखाना के बाहर कार्य (Extra-mural)

आभ्यन्तरिक कार्य (Intra mural)

इसके अन्तर्गत निम्न कार्य आते हैं—

(क) वैज्ञानिक भर्ती पद्धति (Scientific method of recruitment)

(ख) स्वच्छता, प्रकाश एवं वायु (Sanitation light and ventilation)

(ग) औद्योगिक प्रशिक्षण (Industrial training)

(घ) दुर्घटनाओं की रोकथाम (Prevention of accident)

बाह्य कार्य (Extra mural)

इसके अन्तर्गत निम्न आयोजन किये जाते हैं—

(क) श्रमिकों के लिए सामान्य शिक्षण,

(ख) श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था

(ग) श्रमिकों के लिए चिकित्सा,

(घ) श्रमिकों के लिए भोजन सम्बन्धी व्यवस्था

(ङ) श्रमिकों के लिए मानसिक मनोरंजन की व्यवस्था तथा

(च) श्रमिकों के लिए प्राविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था।

श्रम कल्याण का उदय

औद्योगिक क्रान्ति, जिसका जन्म सर्वप्रथम अट्ठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में हुआ, ने समाज को दो वर्गों—सेवा योजक और सेवायुक्त (Employer and Employed) में विभक्त कर दिया। इन दोनों के बीच की खाईं दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली गई। सेवायोजक अपने स्वार्थ को सर्वोपरि महत्ता देते थे, परिणामस्वरूप 'सेवायुक्त' अर्थात् श्रमिकों में असन्तोष की भावना फैल गई। श्रमिक अपनी दशा के प्रति उदासीन थे और सेवायोजकों की नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी।

प्रथम महायुद्ध द्वारा उपस्थित क्रान्तिकारी परिस्थितियों ने श्रमिकों की समस्या को

और भी जटिल बना दिया। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति यह सोचने लगा कि श्रमिकों की दुर्दशा को सुधारना समाज का कर्तव्य है। यही नहीं कुछ साहसी सामाजिक व्यक्तियों ने तो श्रमिकों की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। धीरे धीरे समस्त जनता की सहानुभूति श्रमिक वर्ग के साथ हो गई। फलस्वरूप 'सेवायोजकों' को भी विवश होकर श्रमिकों के लिए कुछ कल्याणकारी कार्य करने पड़े।

इस प्रकार 'श्रम कल्याण कार्य' की भावना की जागृति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से होती है।

परन्तु यहां पर यह इंगित कर देना कि 'श्रमिक कल्याण' की भावना भारतवर्ष के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है, अनुपयुक्त न होगा। प्राचीन भारत में राज्य (state) कल्याणकारी राज्य (welfare state) होते थे और निर्धन, अयोग्य एवं असहाय लोगों की सहायतार्थ आवश्यक कार्यों को करते थे। ऋग्वेद में लिखा हुआ है कि सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना राज्य (state) का कर्तव्य होता था। निर्धन, असहाय, वृद्ध और निराश्रय से विनियों एवं श्रमिकों, जिनकी मृत्यु अपने कार्यस्थल पर काम करते हुए हो गई हो, के परिवारों की देखरेख का उत्तरदायित्व राज्य पर होता था।[1] महाभारत के 'शान्तिपर्व' में भी निर्धन, असहाय, वृद्ध एवं विधवा स्त्रियों की सुरक्षा एवं जीवन निर्वाह के सम्बन्ध में इंगित किया गया है।

श्रम कल्याणकारी कार्यों की महत्ता

ऐसे समय में जब श्रमिक स्वयं कारीगर, निरीक्षक (foreman), पूँजीपति, व्यापारी तथा दूकानदार सभी कुछ था, कल्याणकारी कार्यों की कोई महत्ता न थी। परन्तु आज जब कि श्रमिक केवल मजदूरी कमाने वाले (wage earner) के रूप में रह गया है और उसका वैधानिक उत्पादन के औजारों, कच्चे माल तथा निर्मित वस्तुओं का स्वामी बन गया है, 'श्रम कल्याण' का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हो गया है।

श्रम कल्याण की महत्ता उसके निम्न लाभों से और भी बढ़ जाती है—

(१) श्रम और पूँजी के सम्बन्धों को सुन्दर बनाना

श्रम और पूंजी औद्योगिक मशीनरी के दो पहियों के समान हैं। उद्योग की सफलता के लिए दोनों में सामञ्जस्य एवं सरलता (smoothness) होना आवश्यक है। श्रम कल्याणकारी कार्य श्रमिकों को सदैव सन्तुष्ट रखेंगे और उनके अन्दर सहकारिता एवं उत्तरदायित्व की भावना को जाग्रत करेंगे, जिसके फलस्वरूप औद्योगिक मशीनरी निर्बाध रूप से सरलतापूर्वक चलती रहेगी।

---

[1] ऋग्वेद १/११६/१६

(२) उचित सामाजिक व्यवस्था

आजकल प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतवर्ष ने भी समाजवादी ढङ्ग की रचना करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। यह सब उसी समय सम्भव है जब कि राष्ट्र की आय का लगभग समान वितरण हो और जनता में सतोष और सतुष्टि की भावना का सचार हो। अत उद्योगपतियों को अपना स्वार्थ पूर्ण सकुचित दृष्टिकोण त्यागकर सार्वजनिक कल्याण का विस्तृत दृष्टिकोण अपनाना होगा। दूसरे शब्दों म उद्योगपतियों को श्रम कल्याणकारी कार्यों को करना होगा जिससे देश का सामाजिक और आर्थिक कल्याण हो सके।

(३) स्थायी सतुष्टि तथा कुशल श्रमशक्ति

औद्योगिक नगरों म स्थायी सतुष्टि तथा कुशल श्रम शक्ति बनाए रखने के लिए श्रमिकों की दैनिक जीवन सम्बन्धी तथा कारखानों के भीतर कार्य करने की दशाओं में सुधार करना होगा। बिना इनम सुधार किये, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, श्रमिकों की कार्यक्षमता नहीं बढ़ सकती। भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की क्षमता तो और भी कम है। अत श्रम कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था अति आवश्यक है।

(४) उत्पादकता म वृद्धि

देश की सम्पन्नता एव समृद्धि उसके उद्योगों की उत्पादकता (productivity) पर निर्भर होती है। उद्योगों की उत्पादकता श्रमिकों के सहयोग एव कार्य क्षमता पर आश्रित होती है। श्रमिक उसी समय पूर्ण सहयोग एव सद्भावना से कार्य करेंगे जब वे समझने लगे कि उद्योगपति और सरकार दोनों ही उसके दैनिक एव भावी जीवन को उन्नत बनाने म क्रियाशील हैं।

(५) श्रमिकों की बौद्धिक एव नैतिक अभिवृद्धि

यह औद्योगीकरण से होने वाली सामाजिक बुराइयों को कम करके श्रमिकों के बौद्धिक एव नैतिक स्वास्थ्य म अभिवृद्धि करता है।

(६) श्रमकल्याण औद्योगिक प्रशासन के रूप म

प्रगतिशील देशों में श्रम कल्याण औद्योगिक प्रशासन के एक प्रमुख अग के रूप म स्वीकार कर लिया गया है। अब यह उद्योगपतियों की अनुकम्पा, सहृदयता एव दयालुता का प्रमाण नहीं रहा है, बल्कि उनका उत्तरदायित्व बन गया है। इससे श्रमिकों के अन्दर एक नवीन स्वाभिमान की भावना जाग्रत होती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष म श्रमिकों के हेतु कल्याणकारी कार्यों की अति आवश्यकता है। इन लाभों से प्रभावित होकर 'टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी' ने कहा था कि "कार्यक्षमता का उच्च स्तर केवल उसी समय हो सकता है जब कि श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ तथा मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हों। इसका तात्पर्य

यह है कि केवल वही श्रमिक कुशल हो सकते हैं जिनके लिए शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो।"

इस दृष्टि से हमारे देश में सरकारी एवं निजी साहस के द्वारा कुछ संस्थाएँ खोली गई हैं। उदाहरणार्थ—

बम्बई विश्वविद्यालय ने श्रम समस्या एवं कल्याण कार्यों के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया है। श्री टाटा ने 'इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइंसेज' (Institute of Social Sciences) की स्थापना की है। अभी हाल में उत्तरप्रदेश में लखनऊ तथा आगरा में क्रमशः 'जे० के० इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेज'* तथा 'इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेज' की स्थापना की गई है।

भारतवर्ष में आयोजित श्रम कल्याण कार्य

भारतवर्ष में अभी तक जितना भी श्रम कल्याण कार्य किया गया है, वह तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वैधानिक—केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा,

(२) स्वेच्छापूर्ण—उद्योगपति या नियोक्ताओं द्वारा, तथा

(३) पारस्परिक—श्रमिक संघों द्वारा।

केन्द्रीय सरकार द्वारा कल्याण कार्य

प्रथम महायुद्ध तक, श्रमिकों की अज्ञानता एवं निरक्षरता, स्वार्थी उद्योगपतियों की अनिच्छा, तथा सरकार एवं जनता की उदासीनता के कारण कोई भी श्रम कल्याण कारी कार्य नहीं किया गया।

द्वितीय महायुद्ध में औद्योगिक श्रमिकों की असन्तुष्टि एवं कलह के कारण श्रम कल्याणकारी कार्यों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः द्वितीय महायुद्ध से केन्द्रीय सरकार इस ओर ध्यान देने लगी। परन्तु स्वतन्त्रता के पूर्व तक विदेशी सरकार ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया, केवल हितकारी परामर्शदाता परिषदों इत्यादि की नियुक्ति करती रही।

सन् १९४२ में सरकार ने एक 'श्रम हितकारी सलाहकार' और उसकी सहायता के लिए अन्य श्रम हितकारी नियुक्त किये। सन् १९४४ में कोयला खानों के श्रमिकों के लिए एक हितकारी कोष खोला गया, जिसके द्वारा श्रमिकों के आमोद प्रमोद, चिकित्सा और शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४६ में अभ्रक खान श्रमिक हितकारी कोष एक्ट पास किया गया। १९४७ में कोयला खान श्रमिक हितकारी कोष एक्ट पास किया गया।

*J K Institute of Sociology and Human Relations

इन एक्ट्स के अन्तर्गत चिकित्सा, शिक्षा तथा आवास सम्बन्धी सुविधाएँ अभ्रक एवं कोयला खानों के श्रमिकों को प्रदान की जाती हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने तीन एक्ट्स पास किए—

(१) फैक्ट्रीज एक्ट १९४८,

(२) प्लान्टेशन लेबर एक्ट, १९५१, तथा

(३) माइन्स एक्ट, १९५२

इन अधिनियमों (एक्ट्स) के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए कैन्टीन, क्रेचेज (creches), आराम स्थलों, नहाने धोने की सुविधाओं, चिकित्सा तथा श्रमहित कारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। सन् १९५४ में स्थायी श्रम समिति ने श्रम हितकार्य कोष की स्थापना पर बल दिया। सरकार ऐसे कोषों की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है।

एक 'नेशनल म्यूजियम आफ इण्डस्ट्रियल हेल्थ, सेफ्टी एण्ड वेलफेयर' ने 'सेन्ट्रल लेबर इन्स्टीट्यूट' के भाग के रूप में स्थापित किया गया है। यह कार्यवाहक दशाओं (working conditions) के प्रमाप (standards) निश्चित करेगा। इन्स्टीच्यूट के अन्तर्गत इण्डस्ट्रियल हाईजीन लेबारेटरी, एक ट्रेनिंग सेन्टर तथा एक लाइब्रेरी कम इन्फारमेशन सेन्टर खोले गये हैं।

विभिन्न श्रम कल्याणकारी अधिनियमों (Acts) के अन्तर्गत प्रगति

कोयला खान श्रम कल्याण कोष (Coal Mines Labour Welfare Fund)

इस कोष के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए बहुतर चिकित्सा, शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त महिला कल्याण और बाल केन्द्रों तथा प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों आदि की भी व्यवस्था है।

इसके अधीन दो केन्द्रीय अस्पतालों, ६ प्रादेशिक अस्पताल तथा मातृ शिशु कल्याण केन्द्रों, दो दवाखानों तथा २ टी० बी० क्लिनिक की व्यवस्था है। मलेरिया विरोधी कार्यवाही तथा बी० सी० जी० द्वारा आन्दोलन भी जारी है। दूसरी ओर से प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों तथा नारी कल्याण केन्द्रों की भी व्यवस्था की जाती है।

एक सहायता ऋण योजना के अधीन १,७५६ मकान बनाये गए तथा ३६४ मकानों का निर्माण हो रहा है। कोयला-खान मजदूरों को १०,००० मकान दिये गए तथा २,४९४ मकानों का निर्माण आरम्भ किया गया। १९५८ में इस कोष को १,६४,६७,३५० रुपये प्राप्त हुए और इस निधि में से सामान्य कल्याण कार्यों पर ६०,५६,३५० रुपये तथा आवास पर १,५६,१०,६५० रुपये व्यय होने का अनुमान लगाया गया है।

बागान मजदूर आवास योजना—१९५१ के 'बागान मजदूर अधिनियम' के अनुसार प्रत्येक बागान मालिक के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वह अपने सभी मजदूरों के लिए आवास की व्यवस्था करे। द्वितीय योजना में ११,००० मकानों के निर्माण के लिए २ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। सितम्बर १९५८ के अन्त तक राज्य सरकारों ने ३०० मकानों के निर्माण के लिए ५·३ लाख रुपये की स्वीकृति प्रदान की थी। 'इण्डियन प्लान्टर्स एसोसियेशन' के ९२ सदस्यों ने सन् १९५८ में ७,२२५ मकानों का निर्माण किया, जिसमें से १०३५ आसाम में, १३८६ दोआर के क्षेत्र में तथा ८०४ पश्चिमी बंगाल के तराई के क्षेत्रों में निर्मित किए गए।*

सरकार के उपक्रमों (Undertaking) में श्रम-हितकारी कोष

इन श्रम हितकारी कोषों का निर्माण १९४६ में ऐच्छिक आधार पर किया गया था। इन कोषों का उद्देश्य रेल्वेज और बन्दरगाहों (dockyards) के कर्मचारियों को छोड़कर अन्य सरकारी उपक्रमों के कल्याण की सुविधाएँ प्रदान करना है। आन्तरिक एवं . खेलों, वाचनालयों एवं पुस्तकालयों, रेडियो, शिक्षण तथा मनोरंजन इत्यादि का ... मान भी किया जाता है।

रैल्वेज तथा बन्दरगाहों में श्रम कल्याणकारी कार्य

रेल्वेज अपने कर्मचारियों के लिए अस्पतालों व चिकित्सालयों की व्यवस्था करते हैं। कर्मचारियों की शिक्षा के लिए भी उचित प्रबन्ध किया गया है। बहुत-सी रेल्वेज ने आन्तरिक व बाह्य खेलों के लिए संस्थाओं व क्लबों का निर्माण किया है। कुछ रेल्वेज के द्वारा सस्ते गल्ले की दूकानें भी चलाई जाती हैं।

बन्दरगाहों में भी आधुनिकतम चिकित्सालय हैं। कलकत्ता, विशाखापट्टम तथा कलकत्ता के बन्दरगाहों में सहकारी समितियाँ भी हैं।

राज्य सरकारों द्वारा श्रम कल्याणकारी कार्य

सन् १९३७ तक राज्य सरकारें श्रम कल्याण के लिए केन्द्रीय सरकार पर आश्रित रहा करती थीं। सन् १९३७ में 'प्राविन्शियल ऑटोनॉमी' प्राप्त हो जाने से प्रान्तों (राज्यों) में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए। कांग्रेसी मन्त्रियों ने श्रम कल्याण के लिए योजनाएँ बनाईं। द्वितीय महायुद्ध काल में कुछ कल्याणकारी कार्य हुए। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर इस दिशा में काफी प्रयत्न किए गये हैं।

राज्यानुसार इनका विवरण इस प्रकार है—

बम्बई राज्य

सर्व प्रथम बम्बई की सरकार ने १९३९ में बम्बई राज्य में आदर्श केन्द्रों की

---

*India 1960 p 386

स्थापना की। उसी वर्ष इस कार्य के लिए स्वीकृत धनराशि १,२०,००० रु० थी जो कालान्तर में बढ़ती चली गई। सन् १९५३ में बम्बई की सरकार ने इन क्रियाओं को 'बम्बई लेबर वेल्फेयर बोर्ड' को स्थानान्तरित कर दिया। इस समय बोर्ड के अन्तर्गत ५३ श्रम कल्याणकारी केन्द्र हैं।

इन केन्द्रों में सिनेमा प्रदर्शन, ड्रामा, शारीरिक व्यायाम की सुविधाएँ, शिक्षा, तथा प्रशिक्षण, शिशु पालन तथा नर्सरी स्कूल, नशीली वस्तुओं के विरुद्ध आंदोलन, सिलाई गृह व स्त्रियों के लिए क्लबों इत्यादि का प्रबन्ध है।

राज्य सरकार ने कुछ चुने हुए कर्मचारियों के लिए 'ट्रेड यूनियनिज्म' तथा नागरिकता के प्रशिक्षण के लिए बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर में प्रशिक्षण विद्यालय खोले हैं।

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश की सरकार ने सर्वप्रथम १९३७ में लेबर कमिश्नर की अध्यक्षता में श्रम विभाग की स्थापना की और कानपुर में चार श्रम कल्याणकारी केन्द्रों को औद्योगिक श्रमिकों के लाभार्थ संगठित किया। इस समय तक ४७ स्थायी श्रमिक कल्याण केन्द्र और २ मौसमी श्रमिक कल्याण केन्द्र राज्य के विभिन्न प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में स्थापित किए जा चुके हैं।

यह सब केन्द्र चार वर्गों—अ, ब, स तथा द में विभक्त किये गये हैं—

'अ' वर्ग के केन्द्रों के अन्तर्गत अंग्रेजी ढंग के चिकित्सालय, वाचनालय तथा पुस्तकालय, स्त्रियों के लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण, घरेलू तथा बाहरी खेल, जिमनेजियम तथा अखाड़े, संगीत तथा रेडियो, प्रसूता तथा शिशु कल्याण की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

'ब', वर्ग के केन्द्रों में भी उपरोक्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, परन्तु इनमें होम्योपैथिक ढंग की चिकित्सा प्रदान की जाती है।

'स' वर्ग के केन्द्रों में पुस्तकालय एवं वाचनालय, घरेलू तथा बाहरी खेल तथा रेडियो सेट प्रदान किये जाते हैं।

'द' वर्ग के केन्द्रों के अन्तर्गत केवल बाहरी (out-door) खेलों का प्रबन्ध किया जाता है।

सन् १९५७-५८ में सरकार ने इन कार्यों के लिए १२·१६ लाख रुपये की व्यवस्था की थी, जबकि १९३७-३८ में इस काम के लिए केवल १०,००० रुपये रक्खे गये थे। सरकार ने कानपुर में श्रमिकों के लिए तपेदिक (T. B.) के एक अस्पताल की व्यवस्था भी की है।

अन्य राज्यों में श्रम कल्याण

अन्य राज्यों में भी अनेक श्रम कल्याणकारी केन्द्र खोले गये हैं। विभिन्न राज्यों में (पुनर्गठन के पूर्व) केन्द्रों की संख्या इस प्रकार थी—

असम	१२
बिहार	३
मध्य प्रदेश	५
पंजाब	७
पश्चिमी बंगाल	२६
हैदराबाद	१
मध्य भारत	३
मैसूर	२
राजस्थान	१२
सौराष्ट्र	२१
ट्रावनकोर कोचीन	३
दिल्ली	१
त्रिपुरा	२

सेवा योजकों (Employer) द्वारा कार्य

अभाग्यवश सेवायोजकों अथवा मिल मालिकों ने श्रमिक कल्याणकारी कार्य की महत्ता का बहुत देर में समझा है। वे बहुत समय तक श्रमिक कल्याणकारी कार्य को अनार्थिक विनियोग समझते रहे। परन्तु पिछले १० वर्षों से वे समझने लगे हैं कि श्रमिकों को प्रसन्न रखकर ही उद्योग में उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अतएव उन्होंने गत कुछ वर्षों से श्रम कल्याण के लिए मनोरंजन, शिक्षा 'क्रैचेज', भोजनालयों, चिकित्सा तथा गल्ले की सस्ती दुकानों का प्रबन्ध किया है।

उद्योगपतियों में से कुछ प्रगतिशील उद्योगपतियों जैसे इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन, इण्डियन टी एसोसियेशन, टाटा संस्थान, सिंघानियाँ संस्थान इत्यादि ने इस क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

उद्योगों के अनुसार इनकी क्रियाओं का ब्योरा इस प्रकार है—

सूती वस्त्र उद्योग

इस उद्योग के श्रमिकों के कल्याण के लिए 'इम्प्रैस ग्रुप आफ मिल्स, नागपुर,' 'देहली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स, देहली', 'बिरला काटन मिल्स, देहली', 'जियाजी राव काटन मिल्स, ग्वालियर', 'बकिंघम एण्ड कर्नाटिक मिल्स, मद्रास', 'बंगलौर ऊलन, काटन एण्ड सिल्क मिल्स', तथा मदूरा मिल्स कम्पनी', इत्यादि ने प्रशंसनीय कार्य किये

हैं। इन मिलों के द्वारा प्रसूतिकागृहों, शिशु गृहों, घरेलू तथा बाहरी खेलों, सहकारी समितियों, शिक्षण केन्द्रों, प्राविडेंट फण्ड की योजनाओं तथा सस्ते आवासगृहों की सुव्यवस्था की गई है।

लगभग सभी मिलों ने सुयोग्य डाक्टरों सहित औषधालयों का प्रबन्ध किया है।

जूट मिल उद्योग

इस उद्योग के क्षेत्र में 'जूट मिल्स एसोसियेशन' ने, जो कि सेवायोजकों (employers) का एक संगठन है, अपने सदस्य उद्योगों के श्रमिकों के लिए प्रत्यक्ष रूप से सुविधाएँ प्रदान की हैं। इस एसोसियेशन ने पाँच श्रम कल्याणकारी केन्द्रों का संगठन किया है। इन केन्द्रों के द्वारा घरेलू तथा बाहरी खेलों, मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं तथा प्राइमरी स्कूलों का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ केन्द्रों में स्त्री श्रम कल्याणकारी संस्था तथा स्त्री क्लबों का संगठन भी किया जाता है।

व्यक्तिगत मिलों ने भी इस सम्बन्ध में कुछ कार्य किया है। लगभग सभी मिलों में श्रमिकों की चिकित्सा के लिए औषधालय हैं। कुछ मिलों ने प्रसूतिकागृहों, शिशुगृहों तथा जलपान गृहों की व्यवस्था भी की है।

इञ्जीनियरिंग उद्योग

इस क्षेत्र के उन उद्योगों में जहाँ एक हजार से अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं, औषधालयों का प्रबन्ध किया गया है। इन उद्योगों में श्रमिकों तथा उनके बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गई है। लगभग सभी उद्योगों में जलपान गृह भी हैं।

'टाटा लौह एवं स्पात कम्पनी, जमशेदपुर', में एक बहुत बड़ा चिकित्सालय है। इसमें ४१६ शय्याओं (beds) तथा ५१ डाक्टरों का प्रबन्ध है। इसके अतिरिक्त जमशेदपुर में २ हाई स्कूल, ११ मिडिल स्कूल, १६ प्राइमरी स्कूल तथा कुछ रात्रि पाठशालाओं का भी प्रबन्ध है। यहाँ पर खेल के बड़े बड़े मैदान तथा अन्य मनोरंजन स्थल भी हैं।

शक्कर उद्योग

लगभग सभी शक्कर मिलों में औषधालय हैं। अधिकतर मिलों ने श्रमिकों के मनोरंजन के लिए क्लबों व घरेलू तथा बाहरी खेलों का प्रबन्ध किया है परन्तु जलपान गृहों एवं सहकारी समितियों का प्रबन्ध केवल कुछ मिलों के द्वारा ही किया गया है।

बागान उद्योग (Plantations)

असम तथा पश्चिमी बंगाल के चाय बागानों में औषधालयों का प्रबन्ध है। बहुत से बड़े बागानों द्वारा श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा के लिए प्रारम्भिक स्कूल खोले गये हैं। इस उद्योग के श्रमिकों के लिए 'सेन्ट्रल टी बोर्ड' सहायता देता है। काफी तथा रबड़ के बोर्डों ने भी अपने उद्योगों के श्रमिकों के लिए अनुदान देना स्वीकार कर लिया है।

— —

इसके अतिरिक्त कोलार गोल्ड फील्ड की सोना निकालने वाली कम्पनियों ने तथा एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनियों ने भी श्रमिकों के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

श्रमिक संघों द्वारा कल्याणकारी कार्य

भारतवर्ष में श्रमिक संघों द्वारा श्रम कल्याणकारी कार्य बहुत कुछ सीमित मात्रा में किये गये हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो श्रमिक संघ आन्दोलन अभी अपनी शैशव अवस्था में है और दूसरे इन संघों के पास आर्थिक साधन भी बहुत सीमित हैं।

परन्तु फिर भी कुछ श्रमिक संघों जैसे 'टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन, अहमदाबाद', 'मजदूर सभा, कानपुर' 'रेलवे मेन्स यूनियन' तथा कुछ अन्य संघों ने श्रमिकों के कल्याण के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किये हैं—अहमदाबाद का 'टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' अपनी कुल आय का ६०% से ७०% तक श्रम हितकारी कार्यों पर व्यय करता है। कानपुर की मजदूर सभा ने श्रमिकों की चिकित्सा के लिए औषधालय तथा वाचनालय एवं पुस्तकालय खोले हैं।

रेलवे कर्मचारियों के संघों में से कुछ संघों ने सहकारी समितियाँ खोली हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कर्मचारियों की वैधानिक सुरक्षा, मृत्यु तथा अवकाश लाभ, बेरोजगारी तथा बीमारी लाभ तथा जीवन बीमा इत्यादि का सुप्रबन्ध किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समस्या की गम्भीरता एवं गुरुता को देखते हुए, श्रमिकों के कल्याणार्थ विभिन्न संस्थाओं द्वारा जो कुछ भी किया गया है, अपर्याप्त है। वास्तविक दृष्टिकोण से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मिल मालिकों ने इस क्षेत्र में बहुत सीमित कार्य किया है। आशा की जाती है कि वे भविष्य में व्यापक दृष्टिकोण अपना कर, अधिक से अधिक प्रबन्ध करके श्रमिकों को अत्यधिक सुख-सुविधाएँ प्रदान करेंगे।

प्रश्न

1 Write a note on the working conditions in factories in India What has the government done to improve these in recent years? *(Rajputana, 1952 1956)*

2 Write a short note on the importance of labour welfare activities for industrial workers in India What has been done by different agencies in this connection in recent years?

3 State briefly the steps which have been taken in India since independence to improve the conditions of life and work of industrial labour *(Agra, 1960)*

अध्याय २१

सामाजिक सुरक्षा

(Social Security)

सामाजिक सुरक्षा कुछ वर्षों तक केवल नारा (slogan) मात्र ही था, परन्तु आज संसार के अधिकांश देशों में यह एक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्यक्रम हो गया है। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार के राज्य लोक हितकारी राज्य (welfare state) बनना चाहते हैं और लोक हितकारी कार्यों में सामाजिक सुरक्षा को प्रथम स्थान प्राप्त होता है। प्रारम्भ में सामाजिक सुरक्षा का आयोजन मूलतः औद्योगिक श्रमजीवियों के लिए किया जाता था, परन्तु आज प्रत्येक राष्ट्र अपने को लोक हितकारी राज्य (welfare state) कहलाने के उद्देश्य से सामाजिक सुरक्षा में केवल श्रमिकों को ही नहीं, वरन् समाज के सभी वर्गों को सम्मिलित करता है, जिससे सम्पूर्ण समाज को लाभ हो सके।

मनुष्य का जीवन अनेक आकस्मिक घटनाओं, खतरों एवं जोखिमों से परिपूर्ण है जिससे जीवन अत्यन्त नीरस, कष्टप्रद एवं दुस्तर हो जाता है। सामाजिक सुरक्षा का ध्येय ऐसे जोखिमों, खतरों एवं घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना है। इसमें श्रमिकों की क्षतिपूर्ति, बीमारी तथा स्वास्थ्य बीमा, बेकारी बीमा तथा वृद्धावस्था पेन्शन का समावेश होता है। बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था, निर्बलता, परिवार के उपार्जक सदस्य की मृत्यु इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जब मनुष्य की आय तो लगभग बन्द हो जाती है परन्तु व्यय समान रहते हैं या बढ़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में इन घटनाओं का उत्तरदायित्व पीड़ित मनुष्य पर कदापि नहीं है बल्कि समाज के ऊपर है। अतः समाज को ही किसी न किसी प्रकार से इन घटनाओं से पीड़ित मनुष्य की रक्षा करनी चाहिए। एक प्रगतिशील समाज भी वही है जो अपने सदस्यों को आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है।

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत तीन योजनाएँ आती हैं–

(१) सामाजिक सहायता (Social Assistance)

(२) सामाजिक बीमा (Social Insurance)

(३) सहायक कार्य (Ancillary Measures)

(१) सामाजिक सहायता वह है जिसमें लाभ पाने वाले व्यक्तियों को कुछ भी चन्दा नहीं देना पड़ता। सारा खर्च सरकार स्वय अपने पास से करती है, यद्यपि सरकार पर ऐसा करने के लिए कोई उत्तरदायित्व (Obligation) नहीं होता है। इसके अन्तर्गत निम्न कार्यों का समावेश होता है—

(१) बेकारी सुरक्षा (Unemployment Relief)

(२) डाक्टरी सहायता (Medical Assistance)

(३) अयोग्य एव बूढ़े व्यक्तियों की सहायता (Maintenance of Invalids and Aged)

(४) सामान्य सहायता (General Assistance)

(२) सामाजिक बीमा वह है जिसम लाभ पाने वाले व्यक्तियों को कुछ न कुछ चन्दे के रूप में देना पड़ता है। हा यह अवश्य है कि अधिकतर होने वाला व्यय सरकार और मालिक (employers) दोनों करते हैं। दूसरे शब्दों म 'सामाजिक बीमा' के अन्तर्गत एक 'बीमा कोष' (Insurance Fund) होता है जिसका निर्माण 'त्रिदलीय चन्दे' (Tripartite Contributions) से होता है। 'त्रिदलीय चन्दा' कर्मचारियों, मालिकों व सरकार के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक बीमा *कर्मचारी, मालिक और सरकार तीनों का सामूहिक प्रयत्न है।*

सामाजिक बीमा के अन्तर्गत निम्न कार्यों का समावेश होता है—

(१) स्वास्थ्य बीमा (Health Insurance)

(२) औद्योगिक असमर्थता के विरुद्ध बीमा (Insurance against Industrial Disability)

(३) बेकारी बीमा (Unemployment Insurance)

(४) प्रसूति बीमा (Maternity Insurance)

(५) वृद्धावस्था पेन्शन, प्राविडेण्ट फड तथा बीमा (Old Age Pensions, Provident Funds and Endowment Insurance)

(६) विधवा एव अनाथों की पेन्शन तथा उत्तर जीवियों का बीमा (Widows' and Orphans' Pensions and Survivors' Insurance)

(३) सामाजिक क्रियाऍ (Social Measures)—'सामाजिक बीमा' और 'सामाजिक सहायता' की परियोजनाऍ उस समय तक सफल नहीं हो सकतीं जब तक कि 'सहायक क्रियाओं' की सहायता न ली जाय। इन क्रियाओं का उद्देश्य विभिन्न जोखिम एव घटनाओं (Incidence) को कम से कम करना है। इन क्रियाओं में निम्नलिखित सम्मिलित हैं—

(१) प्रशिक्षण एव पुनर्स्थापन (Training and Rehabilitation)

(२) सार्वजनिक निर्माण कार्य एवं रोजगारी दफ्तर (Public Works and Employment Exchanges)

(३) पोषाहार तथा आवास सुधार (Nutrition and Housing Reform)

(४) बीमारियों तथा महामारियों की रोकथाम (Prevention of Diseases and Epidemics)

(५) दुर्घटनाओं की रोकथाम (Prevention of Accidents)

(६) रोजगार तथा मजदूरी निर्धारण सम्बन्धी विधान (Legislation regarding Employment and Wage Fixation)

सामाजिक सुरक्षा की परिभाषाएँ

श्री जी० डी० एच० कोल के अनुसार "सामाजिक सुरक्षा का विचार विस्तृत रूप में यह है कि राज्य (State) अपने सभी नागरिकों के लिए न्यूनतम भौतिक कल्याण प्रदान करने का भार लेता है जिससे उनके जीवन की सभी मुख्य आकस्मिक घटनाएँ सुरक्षित हो जायँ।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है "यह वह सुरक्षा है जो समाज किसी उपयुक्त सगठन द्वारा अपने सदस्यों की रक्षा उन जोखिमों के विरुद्ध करता है जिससे वे प्रभावित हो सकते हैं। ये जोखिम आवश्यक रूप से वे हैं जिनके विरुद्ध अल्प आय वाले लोग अपनी बुद्धिमत्ता या दूरदर्शिता से व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।"

सर विलियम बेवरिज ने अपनी सामाजिक सुरक्षा की रिपोर्ट में सामाजिक सुरक्षा के विस्तृत विस्तार पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "पुनर्निर्माण के पाच दैत्यों में से अभाव (want) केवल एक दैत्य है और जो कुछ अर्थों में आसानी से दूर किया जा सकता है।"[2]

सामाजिक सुरक्षा की विशेषताएँ (Characteristics of Social Security)

सामाजिक सुरक्षा योजना की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं—

(१) इसके अन्तर्गत कुछ लाभ (benefits) जैसे चिकित्सा लाभ, बीमारी लाभ इत्यादि तथा बलात बेरोजगारी (involuntary unemployment) के हो जाने पर आय की गारन्टी करना।

1 The idea of social security, put broadly, is that the state shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizens on a basis wide enough to cover all the contingencies of life' —*G D H Cole*

2 'Want is only one of the five giants on the road of reconstruction and in some ways the easiest to attack"—*Sir William Beveridge*

(२) इसके अन्तर्गत वैधानिक सुरक्षा होनी चाहिए अर्थात् ऐसी योजना को कार्यान्वित करने वाले संगठन को कुछ वैधानिक अधिकार तथा उत्तरदायित्व होने चाहिए।

(३) योजना को चलाने के लिए समुचित प्रशासन मशीनरी (administrative machinery) होनी चाहिए।

सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र (Scope of Social Security)

सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत 'गर्भ से मरण' तक की घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जाती है। गर्भ में बच्चे को प्रसूत सम्बन्धी सुविधाएँ और गर्भ के बाहर आने पर उसके पालन पोषण एवं भोजन की सुविधा होनी चाहिए, इसके बाद शिक्षण की सुविधा, फिर काम आदि की। इसमें उस समय की सुरक्षा भी सम्मिलित होती है जबकि मनुष्य काम पर न लगा हो अथवा वह बेरोजगार या निष्कासित हो। इसके अतिरिक्त उचित काम करने की प्रमाणित दशाओं की सुरक्षा, ... में आय की सुरक्षा, बेरोजगारी के समय आय की सुरक्षा, आमोद प्रमोद की सुरक्षा, आमोन्नति की सुरक्षा, चिकित्सा सुरक्षा, घटना, असमर्थता एवं मृत्यु हो जाने पर परिवार की सुरक्षा आदि भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम है। भारतवर्ष सम्पूर्ण देश के नागरिकों तथा विशेष रूप से औद्योगिक कर्मचारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा की महत्ता एवं उपयोगिता को अस्वीकार कर ही नहीं सकता है। और न सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों को भारतवर्ष की निर्धनता के आधार पर ठुकराया ही जा सकता है। लार्ड विलियम बेवरिज के शब्दों में "एक दृष्टिकोण से जितने ही आप निर्धन हैं, उतना ही अधिक आपको उसकी (सामाजिक सुरक्षा) आवश्यकता होगी, और आप स्वास्थ्य को ठीक रखकर आप अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं।"

भारतवर्ष में संयुक्त परिवार पद्धति जाति व्यवस्था द्वारा सहायता तथा जातीय अनुदान के समाप्त हो जाने से सामाजिक सुरक्षा का महत्व और भी बढ़ जाता है। भारतीय श्रमिकों के दयनीय स्वास्थ्य, अज्ञानता, बच्चों एवं माताओं की ऊँची जन्म एवं मृत्यु दर, अपर्याप्त पोषाहार (mal nutrition) तथा अनेक बीमारियाँ एवं महामारियों (epidemics) इत्यादि के कारण सामाजिक सुरक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई है।

सामाजिक सुरक्षा का विकास

सामाजिक बीमा यों तो बहुत प्राचीन इतिहास रखता है और वह प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में विद्यमान था। प्राचीन काल में राजा महाराजा लोग अपनी

जनता को अकाल, बाढ़ तथा अन्य दैवी प्रकोपों के समय अनुदान, छूट तथा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता दिया करते थे। भारतवर्ष में ऋग्वेद तथा महाभारत में सामाजिक सुरक्षा का प्रमाण मिलता है, किन्तु इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा असमान, अव्यवस्थित, अनिश्चित एवं अपमानजनक थी। दान पाने वाला लज्जा और संकोच का अनुभव करता था। अतः सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में यह आवश्यक समझा गया कि समाज के द्वारा प्रदान की गई सहायता सम्मानमूलक और विश्वसनीय हो। "बगैर दिये कुछ प्राप्त किया जा रहा है" ऐसा आत्मघाती भाव सहायता पाने वाले के मन में नहीं आना चाहिए। परन्तु यह सब दान के रूप में किया जाता था जो कर्मचारियों के स्वाभिमान के विरुद्ध था। परन्तु वर्तमान रूप में इसका विकास सर्वप्रथम जर्मनी में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ जिसमें श्रमिकों के लिए बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे तथा दुर्बलता इत्यादि के विरुद्ध अनिवार्य बीमा की व्यवस्था की गई। सम्राट् विलियम प्रथम ने १८८३ में चिकित्सा हितलाभ और १८८४ में श्रमिक क्षतिपूर्ति बीमा का श्रीगणेश किया। जर्मनी के इस कार्य की सफलता देखकर अन्य देशों ने भी इस दिशा की ओर कदम उठाये। सन् १९२४ में कुछ फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों ने अत्यन्त जोरदार शब्दों में कहा कि ये योजनाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व एवं उसकी दूरदर्शिता के लिए घातक हैं। अमेरिका में भी प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन के समय सामाजिक सुरक्षा विरोधी प्रचार में ७० लाख पौण्ड की रकम बहा दी गई। किन्तु इन विरोधों के बावजूद भी सामाजिक सुरक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हो चुका है। I. L. O. के प्रयत्न से अनेक ऐसे प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं जिनमें सदस्य देशों को अपने अपने क्षेत्रों में सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ कार्यान्वित करने के आदेश दिये गये हैं।

फलस्वरूप इस प्रकार की योजनाएँ डेनमार्क, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा रूस आदि देशों में इसी शताब्दी में विकसित हुईं। ग्रेट ब्रिटेन में १८९७ में कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९०८ में बुढ़ापा पेन्शन अधिनियम, १९११ में स्वास्थ्य बीमा अधिनियम, १९२० में बेकारी बीमा अधिनियम, १९२५ में विधवा-अनाथ सहायता इत्यादि सम्बन्धी अधिनियम बनाये गये। इसके अतिरिक्त यहाँ पर शिक्षा, अस्पताल, प्रसूति लाभ तथा बच्चों की समृद्धि के लिए भी सहायता दी जाती है। परन्तु सामाजिक सुरक्षा की ओर सबसे महत्वपूर्ण कदम ग्रेट-ब्रिटेन में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में उठाया गया जब ख्यातिपूर्ण सामाजिक योजना 'बेवरिज योजना' (Beveridge Plan) के नाम से चालू की गई जिसमें शिशु पालने से लेकर शव-संस्कार तक (from cradle to grave) की आर्थिक सहायता का सम्पूर्ण जनता के लिए प्रावधान है।

सन् १९४५ में ग्रेट ब्रिटेन में लेबर पार्टी (Labour Party) के सत्ता में

आ जाने के कारण अनेक सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये जैसे १६४५ में 'फैमिली एलाउन्स ऐक्ट', १६४६ में 'नेशनल इन्श्योरेंस (इण्डस्ट्रियल इन्जुरीज), एक्ट', तथा 'नेशनल इन्श्योरेंस एक्ट', 'नेशनल हेल्थ सर्विस एक्ट', तथा १६४८ में 'नेशनल असिस्टेन्स एक्ट' तथा 'चिल्ड्रेन्स एक्ट' पास किये गये।

अमेरिका में यद्यपि सामाजिक सुरक्षा की ओर कदम देर से उठाये गये, परन्तु फिर भी पिछले कुछ वर्षों में वहाँ की सरकार ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। सन् १६३५ में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, १६४४ में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा अधिनियम (Public Health Service Act), १६४६ में रोजगार अधिनियम (Employment Act), १६५० में सामाजिक सुरक्षा संशोधन अधिनियम (Social Security Amendment Act) तथा १६५१ में अनेक सामाजिक सुरक्षा कानून बनाये गये।

रूस में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में विशेष प्रगति हुई है। रूस की . . के द्वारा बेकारी की सुरक्षा के अतिरिक्त बहुत सा धन सामाजिक बीमा योजनाओं पर व्यय किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि वहाँ पर प्रति वर्ष लगभग २१४००० मिलियन रूबल्स (Roubles) इन योजनाओं पर व्यय किया जाता है। वहाँ के प्रत्येक कर्मचारी को सामाजिक बीमा कराना अनिवार्य है। प्रत्येक व्यवसाय को दी जाने वाली मजदूरी तथा वेतन का एक निश्चित प्रतिशत सामाजिक बीमा कोष में देना नियमतः अनिवार्य है। इस कोष का नियन्त्रण श्रमिक संघों द्वारा होता है। 'सोवियत ट्रेड यूनियन्स' की केन्द्रीय समिति सामाजिक सुरक्षा के कार्यों की देखभाल करती है। सामाजिक बीमा कोष का धन अस्थायी असमर्थता (temporary disablement), मातृत्व लाभ (maternity benefit) वृद्धावस्था लाभ, निःशुल्क चिकित्सा, पौष्टिक भोजन (dietic nourishment) तथा शारीरिक स्वास्थ्य इत्यादि पर व्यय किया जाता है।

इस प्रकार आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, स्वीडन, फ्रान्स, डेनमार्क, जापान, मिस्र इत्यादि देशों में भी सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ चल रही हैं। विभिन्न देशों की सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का वर्तमान स्थिति ब्यौरा इस प्रकार है।

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा—विभिन्न देशों में सामाजिक सुरक्षा की प्रगति देखते हुए हमारे देश में बहुत कम प्रगति हुई है। इसका मुख्य कारण यही था कि भारतवर्ष औद्योगिक प्रगति में काफी पिछड़ा हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे देश में औद्योगिक प्रगति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुई। फलस्वरूप सामाजिक सुरक्षा की प्रगति प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही सम्भव हो सकी। परन्तु फिर भी समय-समय पर विभिन्न समितियाँ सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करती रहीं। बम्बई-हड़ताल

जाँच समिति (१६२८-२६), शाही आयोग (१६३१), कानपुर श्रम जाँच समिति (१६४०) इत्यादि ने सामाजिक सुरक्षा योजना कार्यान्वित करने की दिशा में प्रयत्न किये, किन्तु विदेशी शासन की उदासीनता के कारण कोई विशेष प्रगति इस ओर नहीं हुई।

इस दिशा में सर्वप्रथम दो महत्वपूर्ण अधिनियम (Acts) 'श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम' (Workmen s Compensation Acts) १६२३ में तथा 'प्रसूति लाभ अधिनियम' (Maternity Benefit Act) कुछ राज्यों मे पास किये गये। 'प्रसूति लाभ अधिनियम' सर्वप्रथम बम्बई मे १६२६ मे पास किया गया। बाद मे यह अन्य राज्यों म पास किया गया जैसे १६३७ में उत्तर प्रदेश में, १६४४ में असम म, और १६४५ मे बिहार में। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा की नींव १६२३ में रखी गई जबकि श्रमिकों की क्षतिपूर्ति का अधिनियम पास किया गया।

द्वितीय महायुद्ध तक श्रमिकों की क्षतिपूर्ति, प्रसूति लाभ तथा कुछ मालिकों की स्वेच्छा पर आधारित बीमारी लाभ योजनाओं के अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा का और कोई स्वरूप भारत में नहीं था। पर वास्तव में इन दोनों म से एक ने भी सामाजिक बीमा के सिद्धान्त को चालू नहीं किया था। ये केवल सामाजिक सहायता के उपाय थे जिनके अन्दर इस प्रकार के भुगतानों का उत्तरदायित्व एकमात्र मालिकों पर ही था। परन्तु फिर भी भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O.) के आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की प्रथम सभा जो १६१६ में हुई थी, से लेकर १६४७ तक ८० सभाएँ हुई और ८० प्रस्ताव भी पास हुए। इनमें से भारत ने १५ प्रस्तावों को मान लिया है।

१६४४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की २६वीं सभा फिलाडेलफिया में हुई, जिसमें श्रम संघ ने सामाजिक सुरक्षा का एक कार्यक्रम बनाया तथा सब देशों से उसे अपनाने के लिए सिफारिश की। इस योजना के अन्तर्गत निम्न जोखिमों के विरुद्ध प्राविधान (provision) किया गया था—

(१) बीमारी लाभ (Sickness Benefit)

(२) प्रसूति लाभ (Maternity Benefit)

(३) अयोग्यता लाभ (Invalidity Benefit)

(४) वृद्धावस्था लाभ (Old Age Benefit)

(५) उपार्जक सदस्य की मृत्यु लाभ (Death of Bread-winner Benefit)

(६) बेकारी लाभ (Unemployment Benefit)

(७) आकस्मिक व्यय (Emergency Expenses)

(८) रोजगार सम्बन्धी हानि (Employment Injuries)

भारतवर्ष में 'शाही श्रम आयोग' (Royal Commission on Labour)

१६३० ३१ तथा १६४०, १६४१ एव १६४२ में श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन ने कुछ उद्योगों में अनिवार्य बीमारी योजना का आयोजन किया था।

मार्च सन् १६४३ म भारतीय श्रम विभाग ने श्रमिकों के हेतु एक अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा योजना बनाने क लिए प्रोफेसर बी०पी० अदारकर को नियुक्त किया। प्रो० अदारकर ने सरकार के आदेश पर औद्योगिक श्रमिकों क लिए स्वास्थ्य बीमा की व्यापक योजना तैयार की और १५ अगस्त १६४४ को अपनी रिपोर्ट में कपड़ा, इजीनियरिंग, खनिज तथा धातुओं क स्थायी कारखानों म उसे अनिवार्य रूप से लागू करने की सिफारिश की।

अदारकर योजना की जाँच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ (I L O) के दो निरीक्षकों—श्री मौरीस्टैन और रघुनाथराव—ने १६४५ म की और उसे स्वीकार किया तथा सिफारिश की कि उसमें प्रसूतिका सुविधा तथा काम करते समय क्षतिपूर्ति को भी सम्मिलित कर सभी स्थायी कारखानों पर लागू कर दिया जाय।

भारत सरकार क श्रम विभाग की सामाजिक सुरक्षा शाखा ने १६४५ में तीन योजनाएँ बनाई—

(१) प्रो० अदारकर की स्वास्थ्य बीमा योजना को स्थानापन्न करने क लिए फैक्ट्री श्रमिकों क लिए बीमारी दुर्घटना योजना,

(२) प्रसूति की सम्मिलित योजना, तथा

(३) भारतीय एव विदेशी जहाजों पर काम करने वाले भारतीय नाविकों के लिए बीमारी वृद्धावस्था व विरुद्ध बीमा योजना।

६ नवम्बर, १६४६ को इन सुझावों क आधार पर एक बिल पेश किया गया। अक्तूबर १६४७ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की 'एशियन रीजनल कान्फ्रेंस' का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इसमें भी श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए सिफारिश की गई। तत्कालीन भारत क उद्योग मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ३१ अक्तूबर १६४७ को कान्फ्रेंस में भाषण देते हुए कहा था कि 'फिलाडलफिया चार्टर' अवश्य पूरा होना चाहिए। उन्होंने कहा था कि "हम उस (चार्टर को) असफल नहीं होने देंगे क्योंकि उसकी असफलता से सामाजिक प्रगति के विकास सम्बन्धी सपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविक प्रयत्न समाप्त हो जायगे।" उन्होंने यह भी कहा था कि "किसी भी स्थान की निर्धनता कहीं पर भी समृद्धि नहीं होने देगी।"

फलस्वरूप विस्तृत स्वास्थ्य बीमा योजना को १६ अप्रैल १६४८ को कर्मचारी राज्य बीमा योजना अधिनियम क रूप में ससद् ने स्वीकृत किया तथा १६५१ में इसमें सशोधन किया गया। इसक पश्चात् सन् १६४८ में 'कोल माइन्स प्राविडेंट फड एक्ट' पास किया गया, जिसका सशोधन १६५१ में किया गया।

इस प्रकार सक्षेप में प्रारम्भ से अब तक इस दिशा में निम्न अधिनियम पास किये गये हैं—

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३,
(२) कोयला खान प्रावीडेंट फण्ड तथा बोनस स्कीम अधिनियम, १६४८,
(३) प्रसूति लाभ अधिनियम (राज्यों में),
(४) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १६४८,
(५) बागान श्रमिक अधिनियम, १६५१,
(६) कर्मचारी प्रावीडेन्ट फण्ड एक्ट, १६५२, तथा
(७) छँटनी और निष्कासन क्षतिपूर्ति अधिनियम।

इन अधिनियमों का विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम

'श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३' के अन्तर्गत बड़ी बड़ी मिलों में काम करने वाले श्रमिकों को काम के समय में लगने वाली चोट तथा बीमारी के फलस्वरूप होने वाली मृत्यु के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति की अदायगी की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम के अन्तर्गत ४००) मासिक तक की आय वाले कर्मचारी आते हैं। यह अधिनियम आज जम्मू और काश्मीर को छोड़कर सारे भारतवर्ष में लागू होता है। परन्तु जहाँ पर कर्मचारी राज्य बीमा योजना आरम्भ हो गई है, वहाँ यह अधिनियम लागू नहीं होता।

इस प्रकार के अधिनियम की माँग सर्वप्रथम सन् १८८४ में बम्बई में हुई थी। फलतः कुछ प्रगतिशील मालिकों ने क्षतिपूर्ति की योजनाओं को चालू भी किया था। सन् १८८५ की घातक दुर्घटनाओं के अधिनियम के अनुसार ऐसी दुर्घटनाएँ हो जाने पर मालिकों पर मुकदमा चलाया जा सकता था। परन्तु यह कभी लागू न हो सका। मजदूरों की अज्ञानता तथा अनुभवहीनता पर इन दुर्घटनाओं के उत्तरदायित्व को मढ़ कर मालिक अपने दायित्व को टालने का उपाय कर लेता था। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार ने १६२३ में एक प्रशस्त क्षतिपूर्ति अधिनियम बनाया, जो १ जुलाई १६२४ से लागू हुआ। इस अधिनियम को और अधिक प्रशस्त बनाने के लिए सरकार ने इसमें १६५६ में पुनः संशोधन किया है। संशोधित अधिनियम (१६५६) का विवेचन भी यहाँ पर किया गया है।

श्रमिकों की क्षतिपूर्ति (संशोधन) अधिनियम, १६५६

केन्द्रीय सरकार की एक अधिसूचना के अनुसार मजदूरों का मुआवजा (संशोधन) अधिनियम, १६५६, १ जून से लागू कर दिया गया है।

पहले मुआवजा देने के लिए वयस्कों और नाबालिगों में भी भेद किया जाता था, वह इस अधिनियम में समाप्त कर दिया गया है। आजकल अस्थायी रूप से अशक्त मजदूरों को ७ दिन के प्रतीक्षा समय में मुआवजा नहीं दिया जाता। अब वह समय घटा कर ३ दिन कर दिया गया है।

अगर मुआवजा देने में एक महीने से ज्यादा की देर हो तो मजदूरों के मुआवजा कमिश्नर यह निर्देश दे सकते हैं कि बकाया मुआवजे पर ६ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित रकम चुकाई जाय। अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि मजदूर चाहें तो वे फैक्ट्रियों अथवा कारखानों के इंस्पेक्टर को अपनी ओर से मुकदमा लड़ने के लिए कह सकते हैं। अगर मुआवजा देने के सम्बन्ध में कोई मुकदमा चल रहा है, और इस बीच या मुआवजा देने से पहले कोई मालिक अपनी पूँजी किसी और को दे देता है तो मुआवजा की राशि उस पूंजी में से ही काट ली जायगी।

मुआवजा देने के लिए चोटों और बीमारियों की जो सूची बनी हुई है, उसे भी इस अधिनियम में और बढ़ा दिया गया है।

बीमारी एवं स्वास्थ्य बीमा

(Sickness & Health Insurance)

बीमारी एवं स्वास्थ्य बीमा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने विशेष रूप से दो कन्वेन्शन और एक सिफारिश स्वीकार की है। इनमें से भारत ने किसी भी कन्वेन्शन पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। वास्तव में 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८' ही इस दिशा में यहाँ पहला प्रयत्न है।

१९२७ के प्रथम कन्वेन्शन ने बीमारी की समस्या को पहली बार उग्र रूप में हमारे सम्मुख पेश किया था। तब से लेकर अभी तक इस सम्बन्ध में हमारे देश में निरन्तर चर्चा होती रही है, परन्तु दुर्भाग्यवश इस ओर हमारी कोई ठोस प्रगति न हो सकी। बम्बई, पूना, मद्रास इत्यादि में राज्य सरकारों ने इस ओर कुछ प्रयास किये हैं, परन्तु उन्हें इसमें सफलता न मिल सकी। सन् १९३१ में शाही श्रम आयोग ने जोरदार शब्दों में सिफारिश की थी कि देश के प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में बीमारी बीमा के अभाव में श्रमिकों की कठिनाइयों की शीघ्रातिशीघ्र जाँच होनी चाहिए तथा उसके लिए एक योजना बनानी चाहिये,; परन्तु प्रान्तीय (राज्यीय) सरकारों की उदासीनता के कारण भारत सरकार इस ओर कुछ भी न कर सकी।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है सन् १९४३ में भारत सरकार ने बी० पी० अदारकर को भारत के लिए स्वास्थ्य योजना तैयार करने का काम सौंपा। १९४४ में उन्होंने 'औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य बीमा पर एक रिपोर्ट' प्रस्तुत की। १९४४ में त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन और १९४५ में स्थायी श्रम समिति द्वारा इस पर विचार हुआ।

अन्त में १६४८ में 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' में स्वीकृत योजना को अपनाया गया। इस 'योजना' में, वास्तव में देखा जाय तो, सम्पूर्ण सरक्षित जोखिमों में से बीमारी ही प्रमुख है।

मातृत्व-लाभ-अधिनियम

हमारे देश में मातृत्व लाभ की अदायगी के विषय में १६२४ तक कोई व्यवस्था न थी। यद्यपि देश में बच्चों तथा माताओं की मृत्यु दर काफी ऊँची थी। १६१६ में अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम संगठन के ड्राफ्ट कन्वेन्शन के अपनाये जाने पर इसकी महत्ता समझी गई। सन् १६२४ में श्री एन० एम० जोशी ने विधान सभा में शिशु जन्म के कुछ समय पूर्व तथा बाद कारखानों व खानों में स्त्रियों के रोजगार को रोकने के लिए, मातृत्व लाभ की अदायगी की व्यवस्था के लिए तथा शिशु जन्म से छः सप्ताह पूर्व व बाद में उन्हें अवकाश देने के लिए एक बिल प्रस्तुत किया। इस बिल में यह सुझाव रखा गया था कि प्रान्तीय (राज्य) सरकारों को चाहिए कि मालिकों से चन्दा द्वारा मातृत्व लाभ देने के लिए एक मातृत्व लाभ कोष (fund) का निर्माण करें। परन्तु अभाग्यवश उक्त बिल विधान सभा ने रद्द कर दिया।

बहुत काल तक इस ओर कोई ध्यान न दिया गया। अन्त में व्यक्तिगत राज्य सरकारों ने ही इस दिशा में कुछ कदम उठाये। सर्वप्रथम १६२६ में बम्बई में मातृत्व लाभ अधिनियम पास हुआ तथा १६३४ में इसमें संशोधन हुआ। बम्बई का अनुकरण करके मध्य प्रदेश ने १६३० में, मद्रास ने १६३४ में, उत्तर प्रदेश ने १६३८ में, व बंगाल ने १६३६ में, पंजाब ने १६४३ में, आसाम ने १६४४ में और बिहार ने १६४५ में उक्त अधिनियम को अपनाया तथा पास किया।

इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को उनके शिशु-जनन से कुछ सप्ताह पूर्व तथा कुछ सप्ताह पश्चात् तक अवकाश मिल जाता है और इस अवकाश के समय उनको लगभग आधा वेतन भी मिलता है। साथ ही साथ चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा भी उनको प्रदान की जाती है। सन् १६४१ में केन्द्रीय सरकार ने खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए भी इसी प्रकार का नियम बना दिया है। मातृत्व लाभ के भुगतान का नियमन ३ केन्द्रीय अधिनियमों के अनुसार होता है।

यू० पी० मातृत्व-लाभ अधिनियम १६३८—इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) अधिनियम का क्षेत्र—यह अधिनियम उन सब कारखानों में, जिनमें कि १० या उससे अधिक श्रमिक काम करते हैं, लागू होता है।

(२) योग्यता काल—मातृत्व छुट्टी से छः महीने पहले इसका योग्यता काल है।

(३) काम से अनिवार्य मुक्ति—प्रसव के चार सप्ताह पहले और चार सप्ताह बाद छुट्टी लेना अनिवार्य है।

(४) गर्भवती स्त्री को प्राप्त नक्द लाभ की दर—आठ आने प्रतिदिन अथवा औसत दैनिक आय से जो भी राशि अधिक हो, वह गर्भवती स्त्री को अवकाश काल में प्राप्त होती है।

(५) अतिरिक्त लाभ

(अ) प्रसव काल में यदि माता डाक्टरी सहायता का उपभोग करे तो ५ रुपये के बोनस देने की व्यवस्था,

(ब) शिशुगृह चालू करने पर वहाँ स्त्री परिचारिका की नियुक्ति, बच्चे वाली , के लिए अतिरिक्त आराम के लिए लघु अवकाश और स्वास्थ्य निरीक्षणों की न ,

(स) गर्भपात की दशा में गर्भपात के दिन से सवेतन तीन सप्ताह की छुट्टी, और

(द) मालिक द्वारा मातृत्व लाभ से बचने के लिए स्त्री मजदूर को निकाले जाने की दशा में १०० रुपये अथवा उसकी औसत आय से १८० गुना रकम में से, जो भी अधिक हो, देने की भी अतिरिक्त व्यवस्था है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना

(Employees State Insurance Scheme)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् की दो महत्वपूर्ण घटनाओं ने सामाजिक सुरक्षा की समस्या को उभार लाने में विशेष योग दिया। प्रथम घटना १९४७ के अन्त में होने वाली प्रारम्भिक 'एशियन प्रादेशिक श्रम सम्मेलन' द्वारा सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना तथा द्वितीय भारतीय संसद द्वारा 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' को अधिनियम के रूप में १९ अगस्त १९४८ को पास किया जाना। यह योजना सम्पूर्ण एशिया में सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास है, जिसके अनुसार भारतीय श्रम कानून के क्षेत्र में एक नये अध्याय का प्रारम्भ होता है। ६ अक्तूबर १९४८ को 'कर्मचारी राज्य बीमा निगम' (E. S. I. Corporation) का उद्घाटन आदरणीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

प्रारम्भ में इस योजना को कुछ स्थायी फैक्टरियों में लागू करने का विचार किया गया जिसके अन्तर्गत २५ लाख श्रमिक आते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश मालिकों तथा

श्रमिकों के विरोध के कारण यह योजना अगले तीन वर्ष तक चुने हुए औद्योगिक केन्द्रों में भी लागू न की जा सकी। इतनी बड़ी योजना को सारे देश में एकदम चालू करना उचित न था, अतः इसको केवल औद्योगिक केन्द्र कानपुर तथा दिल्ली में ही प्रारम्भ किया गया और २४ फरवरी १९५२ को कानपुर में इसका उद्घाटन भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

यह विधान सब स्थायी सरकारी तथा गैर सरकारी फैक्टरियों पर लागू होता है जिसमें बिजली द्वारा उत्पादन कार्य होता है, तथा जिनमें २० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं और जो ४००) प्रति मास या इससे कम वेतन पाने वाले हैं चाहे वे क्लर्क हों या श्रमिक। ठेके पर काम करने वाले श्रमिक भी यदि वे ठेकेदार की दुकान पर या उसके निरीक्षण में कार्य करते हों, इसमें शामिल किये जा सकते हैं तथा सरकार इसे सामयिक उद्योगों और अन्य वर्ग के श्रमिकों पर लागू कर सकती है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना का प्रबन्ध

कर्मचारी राज्य बीमा योजना का शासन प्रबन्ध करने के लिए तीन संस्थाओं की स्थापना की गई है—

(१) कर्मचारी राज्य बीमा निगम (E. S. I. Corporation)

(२) निगम की स्थायी समिति (Standing Committee of the Corporation)

(३) चिकित्सा लाभ परिषद (Medical Benefit Council)

कर्मचारी राज्य बीमा निगम

इसके अन्तर्गत ३१ सदस्य होते हैं जो कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, मालिकों, कर्मचारियों, डाक्टरों तथा संसद (Parliament) के सदस्य होते हैं। इनका निर्वाचन इस प्रकार होता है—

(१) केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि (इसमें चेयरमैन तथा वाइस चेयरमैन क्रमशः श्रम मन्त्री तथा स्वास्थ्य मंत्री होते हैं)	७
(२) 'अ' राज्यों के प्रतिनिधि	६
(३) 'स' राज्यों के प्रतिनिधि	१
(४) कर्मचारियों के प्रतिनिधि	५
(५) मालिकों के प्रतिनिधि	५
(६) डाक्टरों के प्रतिनिधि	२
(७) केन्द्रीय विधानसभा के प्रतिनिधि	२
कुल	३१

कार्पोरेशन की स्थायी समिति

यह कार्पोरेशन के साधारण प्रशासन तथा निर्देशन का कार्यभार सँभालती है। इसके अन्तर्गत १३ सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन कार्पोरेशन के सदस्यों में से होता है। प्रशासन सम्बन्धी दायित्व वास्तव म कार्पोरेशन के प्रमुख सचालक (Director General) पर होता है। प्रमुख सचालन की सहायता के लिए मुख्य अधिकारी (Principal officer) होते हैं।

चिकित्सा लाभ परिषद

इसमे २६ सदस्य होते हैं जो चिकित्सा सम्बन्धी विषयों पर कार्पोरेशन को सलाह देते है।

योजना को समुचित ढग से चलाने के लिए पाच क्षेत्रीय कार्यालय (Regional Offices) कानपुर, दिल्ली, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता—स्थापित किये गये हैं। इन कार्यालयों का दायित्व है कि वे अपने अपने क्षेत्र म योजना को सफलता पूर्वक चलावें। प्रत्येक स्थान पर सहयोग प्राप्त करने क लिए क्षेत्रीय बोर्ड (Regional Board) तथा स्थानीय समितिया (Local Committees) भी स्थापित की गई हैं जिनम श्रमिकों, मालिकों, राज्य सरकारों तथा कार्पोरेशन के प्रतिनिधि होते हैं।

श्रमिकों क झगड़ों का फैसला करने के लिए अधिनियम (Act) में राज्य सरकारों को अपने राज्यों में कर्मचारी बीमा न्यायालयों की स्थापना करने का अधिकार दिया है।

वित्तीय साधन (Financial Resources)

योजना को कार्यान्वित करने क लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध मालिकों तथा कर्मचारियों द्वारा अशदानों, सरकार द्वारा अनुदानों तथा स्थानीय सरकारों, व्यक्तियों व सस्थाओं से प्राप्त दानों, चन्दों या अन्य आर्थिक सहायताओं से किया जाता है। केवल उन्हीं क्षेत्रों क कर्मचारी जहा योजना चालू की गइ है और जिन्होंने बीमा करा लिया है, योजना के लिए कोष म अशदान देते हैं। कारपोरेशन क शासकीय व्यय के $\frac{2}{3}$ भाग के बराबर धनराशि केन्द्रीय सरकार प्रथम ५ वर्षों तक वार्षिक अनुदान क रूप में देगी। राज्य सरकारें भी श्रमिकों के स्वास्थ्य के लिए दवाइयों क खर्चे तथा बीमारों की देखभाल की व्यवस्था के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता देगी जो लागत का $\frac{1}{3}$ भाग होगा।

मालिकों तथा कर्मचारियों को अगले पृष्ठ पर दी गइ तालिका क अनुसार, साप्ताहिक अशदान देना होता है। मालिक कर्मचारियों का अशदान उनके वेतन से काट लेते हैं।

क्रम संख्या	कर्मचारियों का वर्ग	कर्मचारियों का अंशदान	मालिकों का अंशदान	कुल अंशदान
		रु०-न० पै०	रु० न० पै०	रु० न० पै०
(१)	१) से कम औसत दैनिक वेतन वाले कर्मचारी		०·४४	०·४४
(२)	१) से १।।) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·१२	०·४४	०·५६
(३)	१।।) से २) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·२५	०·५०	०·७५
(४)	२) से ३) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·३७	०·७६	१·१३
(५)	३) तथा ४) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·५०	१·००	१·५०
(६)	४) तथा ६) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·६६	१·३७	२·०६
(७)	६) तथा ८) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·६४	१·८७	२·८१
(८)	८) तथा अधिक दैनिक वेतन पाने वाले कर्मचारी	१·२५	२·५०	३·७५

सर्वप्रथम यह योजना प्रयोगात्मक रूप (experimental basis) में दिल्ली और कानपुर में चालू होने वाली थी। पर मालिकों (employers) ने विरोध किया कि केवल उन्हीं को अंशदान देना होगा, जबकि अन्य क्षेत्रों के नियोक्तागण उससे मुक्त रहेंगे। इससे उनको हानि होगी। अतः १६५१ में इस विधान में संशोधन हुआ और देश भर के सब मालिकों से अंशदान लेना तय पाया। यह निश्चय हुआ कि कानपुर और दिल्ली के मालिकगण (employers) अपनी कुल मजदूरी बिल का १¼% तथा अन्य स्थानों के मालिकगण ¾% देंगे।

योजना के अन्तर्गत लाभ

इस योजना के अन्तर्गत जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, श्रमिकों को पाँच प्रकार के लाभ प्राप्त हैं, और ये लाभ हैं—

(१) चिकित्सा लाभ (Medical Benefit)
(२) बीमारी लाभ (Sickness Benefit)
(३) प्रसूति लाभ (Maternity Benefit)
(४) अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit)
(५) आश्रितों का लाभ (Dependents Benefit)

(१) चिकित्सा लाभ—बीमा कराए हुए कर्मचारी को ही चिकित्सा लाभ प्राप्त हैं, पर ऐसे व्यक्तियों के कुटुम्बों के लिए भी, जब कारपोरेशन तथा राज्य सरकार इस योग्य हों इस लाभ की व्यवस्था की जा सकती है। इस चिकित्सा लाभ में औषधियों, अस्पताल में भरती, देखभाल तथा घर पर डाक्टर की सेवाओं की सहायता बीमार कर्मचारी या जच्चा को मुफ्त दी जाती है।

दिल्ली तथा कानपुर में पूरे समय के लिए डाक्टरों की सेवायें अस्पतालों में उपलब्ध हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर घर भी वे जाते हैं। औषधियाँ भी मुफ्त दी जाती हैं। दूर स्थित स्थानों के लिए गतिशील चिकित्सालयों का भी प्रबन्ध है। इस लाभ को पाने के लिए कर्मचारी को न्यूनतम ६ मास तक अंशदान देना होता है। तभी अगले ६ मासों में उसे लाभ मिलता है। कर्मचारी के अंशदान की न्यूनतम संख्या १२ होनी चाहिये।

(२) बीमारी लाभ—बीमा कराए हुए कर्मचारी को बीमारी में लगातार ३६५ दिनों की अवधि में अधिकतम ८ सप्ताह तक नगद बीमारी लाभ मिल सकता है। लाभ दर उसकी औसत मजदूरी के ७/१२ भाग के लगभग होता है। ६ मास तक इसके लिये भी न्यूनतम अंशदान आवश्यक है। दशा सुधरने पर कारपोरेशन को लाभ की अवधि बढ़ाने का अधिकार है।

(३) प्रसूति लाभ—स्त्री कर्मचारियों को १२ सप्ताह के लिए नकद प्रसूति लाभ १२ आने प्रतिदिन की दर से या बीमारी लाभ की दर से, दोनों में जो भी अधिक हो, दिया जाता है। जच्चा होने के ६ सप्ताह से अधिक पहले यह चालू नहीं किया जा सकता है। इसके लिए भी न्यूनतम अंशदान की संख्या १२ निश्चित की गई है।

(४) अयोग्यता लाभ—काम करने के समय में चोट लग जाने के कारण अयोग्यता के लिए बीमा कराए हुए कर्मचारियों को आर्थिक सहायता मिलती है। अस्थायी अयोग्यता के लिए अयोग्यता की अवधि तक एक वर्ष पूर्व की औसत मजदूरी के लगभग आधे तक नकद सहायता मिलती है।

इसे पूर्ण दर कहते हैं। स्थायी अयोग्यता के लिए, 'कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम' (Workers Compensation Act) में दी जाने वाली एक मुश्त (Lump sum) रकम के बजाय, कर्मचारी को जीवन भर पेंशन मिलती है। जो उनके उपार्जन शक्ति में हानि के अनुपात के अनुसार होती है।*

(५) आश्रितों का लाभ—बीमा कराये हुए कर्मचारी की मृत्यु होने पर उसके आश्रितों में निम्न प्रकार के लाभ की राशि का वितरण किया जाता है—

(अ) कर्मचारी की विधवा को उसके जीवन भर, या दूसरी शादी के समय तक

*साप्ताहिक मजदूरी के ७/१२ की दर से।

पूर्ण दर के ⅔ भाग के बराबर रकम दी जाती है। और यदि दो या उससे अधिक विध वाएँ हों तो इस रकम को उनमें बराबर बराबर बांट दिया जाता है।

(ब) प्रत्येक असल (real) या दत्तक (adopted) पुत्र को पूर्ण दर के ⅔ भाग के बराबर की रकम उसकी १५ वर्ष की आयु तक या उसकी शिक्षा जारी रहने पर १८ वर्ष की आयु तक दी जाती है।

(स) प्रत्येक असल अविवाहित पुत्री को पूर्ण दर के ⅔ भाग के बराबर रकम उसकी १५ वर्ष की आयु तक या उसकी शादी तक (दोनों में से जो पहले हो) या यदि उसकी शिक्षा जारी हो तो १८ वर्ष की आयु तक दी जाती है।

यदि किसी समय यह लाभ पूर्ण दर से अधिक होगा तो आश्रितों में से प्रत्येक का भाग अनुपातिक अंश में बदल दिया जायगा, जिससे देय उनकी पूरी रकम दर पर अयोग्यता लाभ की रकम से अधिक न होगी। यदि इन आश्रितों में से किसी का पता न चले तो आश्रितों का लाभ माता पिता या पितामह पितामही को उनके जीवन भर, तथा अन्य आश्रितों को सीमित काल तक दिया जा सकता है। पर भुगतान की दर कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालयों द्वारा निर्धारित होगी। तत्सम्बंधी झगड़ों के निबटारे के लिए 'कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालयों' तथा विशिष्ट ट्रिब्यूनलों (Special Tribunals) की स्थापना का भी विधान में आयोजन है। दिल्ली तथा कानपुर में ऐसे न्यायालयों की स्थापना हो चुकी है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना की क्रियाओं का विवरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम कानपुर व दिल्ली में लागू किया गया था। इसका उद्‌घाटन समारोह देश के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के कर कमलों द्वारा २४ फरवरी १९५२ को कानपुर में सम्पन्न हुआ। उस समय इस योजना से लाभान्वित होने वाले कर्मचारियों की संख्या कानपुर और दिल्ली में क्रमशः ८०,००० और ४०,००० थी। शनैः शनैः यह योजना देश के अनेक क्षेत्रों में लागू कर दी गई है और ऐसा अनुमान है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह योजना देश के उन सब क्षेत्रों में लागू हो जायगी जहाँ पर औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १५० से अधिक है। डाक्टरों को प्रति व्यक्ति के अनुसार फीस देने का समझौता हो जाने के कारण अहमदाबाद में भी योजना शुरू कर दी गई है। यहाँ योजना शुरू करने से डेढ़ लाख कर्मचारियों तथा लगभग ४½ लाख परिवारों को लाभ पहुँचेगा।

आरम्भ से लेकर अब तक इस योजना की प्रगति इस प्रकार है—

कर्मचारी राज्य बीमा योजना की प्रगति

राज्य	क्षेत्र	चालू होने की तिथि
दिल्ली	दिल्ली राज्य	२४ २ ५२
पजाब	पजाब क्षेत्र—अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला, जालन्धर, अब्दुल्लापुर, जगाधरी तथा बटाला	१७ ५ ५३
उत्तर प्रदेश	कानपुर	२४ २ ५२
	आगरा, लखनऊ तथा सहारनपुर	१५ १ ५६
मध्य प्रदेश	ग्वालियर, इदौर, उज्जैन, रतलाम तथा	२३ १ ५५
	बरहनपुर	२ ६ ५६
।न	जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, लखेरी पाली (मारवाड़) तथा मलियारा	२ १२ ५६
बम्बई	विशाल बम्बई (*Greater Bombay*)	३ १० ५४
	नागपुर	१६ ७ ५४
	अकोला तथा हिंगनघाट	२७ ५ ५६
पश्चिमी बङ्गाल	कलकत्ता शहर तथा हावड़ा जिला	१४-८ ५६
आन्ध्र	हैदराबाद, सिकन्दराबाद	१ ५ ५५
	विजयवाड़ा, विशाखापटनम, चित्तीवल्सा, गुत्तर नैलीपली, मङ्गलगिरी, तथा इलेरू	६ १० ५५
मद्रास	कोयम्बटूर	२१ १ ५५
	मद्रास शहर	२० ११-५५
	मदुराइ, अम्बासमुद्रम तथा तूतीकोरीन	२७ १० ५६
केरल	एलीपी, क्विलन, त्रिचूर, इर्नाकुलम अलवायी	१६ ६ ५६
मैसूर	बगलोर	२६ ७ ५८

कर्मचारी बीमा योजना की १९५८ ५९ की रिपोर्ट

कर्मचारी राज्य बीमा निगम की १९५८ ५९ की रिपोर्ट के अनुसार इस योजना के अन्तर्गत कर्मचारियों को मिलने वाली चिकित्सा सुविधाएँ इस वर्ष से उनके परिवारों को भी मिलनी शुरू हो गयीं। सबसे पहले ये निर्णय मैसूर राज्य ने किये। उसके बाद अन्य राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया और इस तरह इस वर्ष आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, पजाब और राजस्थान, इन सात राज्यों म २ लाख २६ हजार परिवारों को चिकित्सा सुविधाएँ दी जाने लगीं। इस निर्णय से कर्मचारियों के अतिरिक्त जिन लोगों को लाभ पहुचा, उनकी सख्या ६ लाख ३३ हजार है।

१९५८ ५९ मे ७८,००० अतिरिक्त कर्मचारियों को योजना म शामिल

किया गया और इस तरह वर्ष के अंत तक योजना से लाभ उठाने वाले कर्मचारियों की संख्या लगभग १४ लाख १४ हजार तक पहुँच गई। इस वर्ष १२ राज्यों तथा केन्द्र शासित क्षेत्र दिल्ली के ७६ केन्द्रों में योजना चल रही थी, जब कि पिछले वर्ष के अन्त तक दिल्ली तथा १० राज्यों म योजना के कुल ६० केन्द्र थे। डाक्टरों को प्रति व्यक्ति के अनुसार फीस देने का समझौता हो जाने के कारण अहमदाबाद में भी योजना शुरू कर दी गई। यहाँ योजना शुरू करने से डेढ़ लाख कर्मचारियों तथा लगभग चार लाख परिवारों को लाभ पहुँचेगा।

१९५८-५९ में मालिकों से अंशदान के रूप में २ करोड़ ६० लाख २४ हजार ८१ रुपये और कर्मचारियों से ३ करोड़ ८१ लाख ११ हजार ६५० रुपये प्राप्त हुए। पिछले वर्ष मालिकों से २ करोड़ ८३ लाख ४१ हजार ३२८ रुपये और कर्मचारियों से ३ करोड़ ५२ लाख ३५ हजार ६५४ रुपये प्राप्त हुए थे।

मार्च सन् १९५९ के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत १२ राज्यों के ७६ केन्द्रों में १४.१४ लाख मजदूर आ चुके थे।

भविष्य के लिए प्रावधान कोष

(Provident Fund Scheme)

कर्मचारियों को वृद्धावस्था में जब वे अवकाश ग्रहण कर लेते हैं सुख सुविधा पहुँचाने के लिए सरकार का ध्यान इस दिशा में कुछ प्रावधान करने के लिए आकर्षित किया गया। सरकार ने इस चीज की आवश्यकता को अनुभव किया और सर्वप्रथम सन् १९४८ में 'कोल माइन्स प्रॉविडेन्ट फण्ड एक्ट' पास किया। इस एक्ट के अनुसार बंगाल और बिहार के श्रमिकों को मई १९४७ से तथा उड़ीसा और मध्यप्रदेश के श्रमिकों को अक्टूबर १९४७ से लाभ प्राप्त होने लगा। यही योजना बाद में आसाम, विन्ध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा राजस्थान में लागू कर दी गई।

'कोल माइन्स प्रावीडेन्ट फण्ड' योजना की सफलता को देखकर अन्य उद्योगों में श्रमिकों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से मार्च १९५२ में 'एम्प्लाईज प्रॉवीडेन्ट फण्ड एक्ट' पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार यह योजना १ नवम्बर १९५२ से छः उद्योगों—सीमेंट, सिगरेट, इञ्जीनियरिंग, लौह एवं स्पात, कागज तथा वस्त्र—में लागू की गई है। यह योजना उन कारखानों म लागू होगी, जहाँ ५० या ५० से अधिक श्रमिक कार्य करते हों तथा इन कारखानों का निर्माण हुए ३ वर्ष से अधिक हो गये हों। मई १९५८ तक इस एक्ट के अन्तर्गत केवल निजी उद्योग ही आते थे।

श्रमिकों को प्रावीडेन्ट फंड उनकी १ वर्ष की नौकरी पूरी होते ही कटने लगता है। इस योजना से लाभ केवल वे ही श्रमिक उठा सकते हैं, जिनकी आधारभूत (basic) आय ३००) माह से अधिक न हो। नियोक्ता अपना व श्रमिकों का चन्दा

जमा करते हैं। श्रमिक तथा नियोक्ता श्रमिकों के वेतन का पृथक् पृथक् ६¼% देते हैं। यदि श्रमिक चाहें तो अपने वेतन का ८⅓% भी जमा कर सकते हैं। श्रमिक को मालिक द्वारा जमा किये गये भाग का आधा तथा २० वर्ष बाद पूरा भाग लेने का अधिकार है।

योजना का प्रबन्ध

इस योजना का प्रबन्ध केन्द्रीय प्रन्यासी मण्डल द्वारा होता है। इस मण्डल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं। योजना को कार्यान्वित करने के लिए २० क्षेत्रीय कार्यालय खोले गये हैं। प्रत्येक क्षेत्र का एक क्षेत्रीय कमिश्नर होता है। यह कमिश्नर केन्द्रीय प्रावीडेन्ट कमिश्नर के अधीन होता है। क्षेत्रीय कमिश्नर की सहायता के लिए निरीक्षक तथा अन्य कर्मचारी होते हैं।

प्रॉवीडेन्ट फण्ड्स (एमेंडमेंट) एक्ट १९५८

प्रॉवीडेन्ट फण्ड एक्ट १९५२ आरम्भ में केवल ६ अनुसूचित उद्योगों में ही होता था। मई १९५८ में इस एक्ट में संशोधन हो जाने के कारण यह एक्ट १८ मई १९५८ से सरकार के स्वामित्व वाले अथवा किसी स्थानीय सरकार (local authority) के स्वामित्व वाले अनुसूचित उद्योगों पर भी लागू हो गया है, यदि इन उद्योगों में ५० या ५० से अधिक श्रमिक कार्य करते हों तथा इन उद्योगों की स्थापना हुए ३ वर्ष से अधिक हो गये हों। इसके अतिरिक्त यह एक्ट समाचार-पत्रीय संस्थानों (News Paper Est. blishments) में भी, जहाँ कि २० या २० से अधिक लोग काम करते हों पर भी लागू कर दिया गया है।

यह एक्ट १९५२ के आरम्भ में केवल ६ अनुसूचित उद्योगों पर ही लागू होता था परन्तु उपरोक्त संशोधन के अनुसार यह ३० जून १९५९ को ३८ नये उद्योगों में लागू था, जिसके अंतर्गत ६८८१५ कारखानों के २४ ६ लाख श्रमिक लाभान्वित हो रहे थे।

संशोधित योजना के अनुसार श्रमिक अब अपने वेतन का ८⅓% तक जमा कर सकते हैं, यद्यपि मालिकों का चन्दा ६¼% ही रहेगा। विस्तार का क्रम बराबर जारी है। कालान्तर में कई प्रतिष्ठानों में भी इसको लागू किया जायगा। शीघ्र ही इसके अन्तर्गत व्यावसायिक रूप जैसे कार्यालय, बैंक, बीमा कम्पनी, सिनेमा, होटल तथा बड़ी-बड़ी दूकानें सभी आ जायेंगे।

कोयला खान मजदूरों को प्रॉवीडेन्ट फण्ड लाभ

कोयला खान मजदूरों की प्रावीडेन्ट फन्ड योजना की रिपोर्ट में बताया गया है कि १९५७-५८ में असम, प० बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बम्बई, आन्ध्रप्रदेश और राजस्थान के ३ लाख ४२ हजार कोयला खान मजदूरों को इस योजना से लाभ पहुँचा है।

१९५७-५८ में कोयला खान प्रावीडेन्ट फण्ड में ३ करोड़ ४० लाख रुपये से भी अधिक धन जमा हुआ।

१९५७-५८ में अवकाश प्राप्त करने वाले मजदूरों को तथा मजदूरों के नामजदों को फण्ड में से २० लाख ४० हजार रुपया दिया गया।

उत्तर-प्रदेश में वृद्धावस्था पेन्शन

दिसम्बर, १९५७ से उत्तर प्रदेश सरकार एक वृद्धावस्था पेंशन योजना को कार्यान्वित कर रही है जिसके अन्तर्गत उन ७० वर्ष से ऊपर के वृद्धों को मासिक पेंशन दी जाती है जिनकी आय का न तो कोई जरिया हो और न उनकी देख-भाल करने वाले रिश्तेदार ही हों।

अध्ययन मण्डल—वी० के० मेनन कमेटी के नाम से प्रसिद्ध अध्ययन मण्डल ने निम्न सिफारिशें की हैं :—

(i) वर्तमान श्रमिक प्रावीडेन्ट फण्ड योजनाओं को एक वैधानिक पेन्शन योजना में परिवर्तित किया जाय।

(ii) श्रमिक राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत मिलने वाले नकद लाभों में वृद्धि की जाय।

(iii) श्रमिक राज्य बीमा योजना तथा श्रमिक प्रावीडेन्ट फण्ड योजना को मिला कर दोनों का प्रशासनिक उत्तरदायित्व सम्हालने के लिए केवल एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाय।

(iv) बेरोजगारी लाभ चालू किये जायें।

आलोचनात्मक अध्ययन—उपरोक्त सुविधाओं में निम्नलिखित दोष हैं :—

(i) चिकित्सा का बहुत ही अपर्याप्त प्रबन्ध है।

(ii) ये लाभ केवल कुछ स्थानों के विशेष प्रकार के श्रमिकों को ही मिलते हैं।

(iii) वृद्धावस्था पेन्शन तथा बेरोजगारी लाभ की कोई व्यवस्था नहीं है। १·५ करोड़ मजदूरों में से केवल १५ लाख ही अभी तक श्रमिक राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत आ पाये हैं।

(iv) सभी योजनाओं के अन्तर्गत कृषि मजदूरों को बाहर रखा गया है। उन्हें क्यों शामिल नहीं किया गया है?

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार सामाजिक सुरक्षा को देश में शीघ्रातिशीघ्र लाने का प्रयत्न कर रही है। सरकार का यह भगीरथ प्रयत्न वास्तव में सराहनीय है क्योंकि एशिया में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ कि सर्वप्रथम इतने

वृहद् स्तर पर इस ओर कार्य किया गया है। अनुभवहीनता तथा असहकारिता के कारण इस योजना को पूर्ण सफलता से कार्यान्वित करने में अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ रहा है और योजना में वास्तव में कुछ दोष भी आ गये हैं। जितने लाभ प्रदान किये जाते हैं वे देश की आवश्यकताओं के अनुपात में बहुत कम हैं। परन्तु इससे हम लोगों को अधीर एवं असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि योजना को सफल बनाने के लिए यथासम्भव योग-दान देना चाहिए। भूतपूर्व श्रम मंत्री श्री खन्डू भाई देसाई (नन्दा) ने एक बार ७ अक्टूबर १९५४ को अपने भाषण में कहा था कि, "सामाजिक सुरक्षा का पथ लम्बा और दुरूह हो सकता है किन्तु आर्थिक एवं सामाजिक संघर्षों को रोकने और एक सुदृढ़ एवं सम्पन्न राज्य की स्थापना के लिए यही एक पथ है।" वास्तव में यह कथन किन्हीं अंशों में सत्य प्रतीत होता है।

प्रश्न

1 To what extent is social security guaranteed to industrial and agricultural workers in India? How would you proceed to extend its scope. *(Agra, 1958)*

2 Write short notes on

1 Maternity Benefits
2 Health Insurance in India
3 Workmen's Compensation Act
4 Provident Fund Act



अध्याय २२

श्रमिक-संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement)

आर्थिक उन्नति और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए विश्व का विशाल जन समुदाय जो संघर्ष कर रहा है वह मानव इतिहास में सम्भवतः सबसे अधिक फलदायक प्रयत्न सिद्ध होगा। इस संघर्ष का एक पहलू ऐसा भी है, जिसे अभी व्यापक रूप से मान्यता नहीं दी गई है, और वह है—इसमें श्रमिक संघों का महत्वपूर्ण योग। समस्त एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में लोग अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाएँ सुधारने के लिए श्रमिक संघों का अधिकाधिक मुँह ताक रहे हैं।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के बहुत से देशों में जनता पर सबसे ज्यादा प्रभाव श्रमिक संघों का है। उदाहरणार्थ प्रेसीडेंट एनक्रूमा और उनकी 'कान्वेंशन पीपुल्स पार्टी' ने सन् १९५४ में घाना में घरेलू राजनैतिक कारण तथा कम्युनिज्म के प्रभाव से उसकी रक्षा करने के लिए मजदूर आन्दोलन का सफलतापूर्वक सहयोग प्राप्त किया। जॉन टेटेगा का जीवन इस बात का साक्षी है कि विश्व के अनेक उदीयमान राष्ट्रों के मामलों में श्रमिक संघ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अनेक राज्यों में तो श्रमिक संघ राजनैतिक सत्ता को सँभाले हुए हैं।

वर्तमान युग में सर्व साधारण 'मजदूर संघ' अथवा 'श्रमिक संघ' से भली भाँति परिचित है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यद्यपि ये संस्थाएँ बहुत प्राचीन नहीं हैं परन्तु फिर भी इनका महत्व अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति से बढ़ गया है।

श्रम संगठन आन्दोलन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनका विकास मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं में जटिलता (complexity) आ जाने के कारण हुआ है। श्रम संगठनों का निर्माण समाज के व्यक्तियों के समूहों द्वारा अपने सदस्यों के आर्थिक जीवन को विपरीत समूहों के विभिन्न हितों (opposing groups with diverse interest) के विरुद्ध, सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। मशीन युग का प्रादुर्भाव, बड़े-बड़े कारखानों, शीघ्र तथा उन्नत यातायात तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तृत हो जाने के कारण, कर्मचारी, नियोक्ता (employer) तथा व्यापारी के लिए व्यक्तिगत रूप में आर्थिक जीवन की समस्याओं का सामना करना बहुत कठिन हो

गया। इन समस्याओं का उचित रूप से मुकाबला करने तथा उन्हें सुलझाने के उद्देश्य से उसे ऐसे व्यक्तियों का संयोजन करना पड़ा जिनके सम्मुख इसी प्रकार की समस्याएँ होती थीं। इस उद्देश्य से निर्मित 'संयोजन' को "श्रम संगठन" (trade unions) कहते हैं।

श्रम संगठन का अर्थ साधारण रूप से श्रमिकों या कर्मचारियों के परिषदों (associations) से लगाया जाता है परन्तु वास्तव में इस (trade union) के अन्तर्गत अन्य सभी वर्ग (classes) के कर्मचारी, मालिकगण (employer) स्वतन्त्र कारीगर तथा व्यापारी गण भी आते हैं।

श्रम संगठन की परिभाषा

सिडनी तथा वेब्ज महोदय के अनुसार श्रम संगठन "एक श्रमजीवियों की स्थायी परिषद (association) है जो उनके श्रमिक जीवन की क्रियाओं को बनाये रखने तथा सुधारने का उद्देश्य रखता है।"* यह परिभाषा अपूर्ण एवं बहुत पुरानी है क्योंकि श्रम संगठनों के अन्तर्गत केवल 'मजदूर' (wage earners) 'वेतन पाने वाले' (salary earners) तथा 'शुल्क पाने वाले' (fee earners) ही नहीं आते बल्कि सभी वर्ग के कर्मचारीगण आते हैं। इसके अतिरिक्त इन संगठनों (Unions) का ध्येय केवल कार्य करने की दशाओं को बनाये रखना या सुधारना ही नहीं बल्कि जीवन को सुखमय बनाने की अन्य क्रियाओं की ओर ध्यान देना भी है।

श्री 'शिवरनिक' (Shivernik) के शब्दों में "श्रम संगठन एक ऐसा संगठन है जिसका मुख्य ध्येय कर्मचारियों तथा मालिकों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करना है।"† यह परिभाषा यद्यपि पहली परिभाषा से उत्तम है परन्तु फिर भी पूर्ण रूप से श्रम संगठन के कार्यों का समावेश नहीं करती है। राज्य (states) तथा श्रम संगठन के सम्बन्ध भी आधुनिक युग में महत्वशील होते जा रहे हैं।

तीसरी परिभाषा 'ब्रिटिश ट्रेड यूनियन्स एक्ट १६१३' ने दी है। इसके अनुसार श्रम संगठन 'वे संयोजन हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों तथा मालिकों, या कर्मचारियों और कर्मचारियों या मालिकों तथा मालिकों के मध्य सम्बन्धों का नियमन' (regulation) करना, किसी व्यापार या व्यवसाय पर नियन्त्रण सम्बन्धी शर्तें लगाना,

* 'A continuous association of wage earners for the purpose of maintaining and improving the conditions of their working lives.' *Sidney and Webbs*, History of Trade Unionism

† 'An organisation the chief aim of which is the regulation of mutual relations between the workers and the employers.' —*Shivernik*

तथा सदस्यों के लाभों की व्यवस्था करना है।"* यह परिभाषा उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से उन्नत होते हुए भी आधुनिक श्रम संगठनों के सम्पूर्ण कार्यों को दर्शाने में असफल है। अतः श्रम संगठन की आधुनिक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है।

"एक श्रम संगठन मजदूरों, वेतन तथा शुल्क प्राप्तकर्ताओं का एक स्थायी स्वतः (voluntary) परिषद (association) है जिसके उद्देश्य (अ) श्रमिकों तथा मालिकों के सम्बन्धों को सुदृढ़ रखना, उनको (श्रमिकों) नौकरी तथा अन्य लाभों को दिलाना, (ब) आपसी मामलों में दोनों समूहों (groups) तथा राज्य के मध्य सम्बन्धों को नियमित (Regulate) करना, तथा (स) कर्मचारियों को उत्पादकों के लाभ तथा प्रबन्ध में भाग दिलाना है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि श्रम संगठनों का मुख्य ध्येय श्रमिकों का सङ्गठन कर सामूहिक रूप से सौदा करने तथा रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न करना है, श्रमिकों और मिल मालिकों में मेल मिलाप का अच्छा सम्बन्ध उत्पन्न करना और औद्योगिक शांति स्थापित करना है, तथा अपने सदस्यों की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करना, प्रचार करना उनके अधिकारों की रक्षा करना, श्रम सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन तथा मजदूरों के नैतिक सुधार करना है। श्रमिक सङ्घ मजदूरों को शिक्षित बनाते हैं। उनमें संगठन तथा अनुशासन की भावना उत्पन्न करते हैं जिससे श्रम नियम बनाने में सुविधा हो जाती है।

श्रम संगठनों के कार्य तथा उद्देश्य

प्रारम्भ में श्रम संगठनों का निर्माण सुरक्षात्मक (Defensive) आधार पर हुआ था। ये संगठन मालिकों द्वारा निर्धारित कठिन कार्य करने की दशाओं, कम मजदूरी, अधिक काम करने के घंटों इत्यादि के विरुद्ध श्रमिकों की रक्षा करते थे। परन्तु शनैः शनैः उनके कार्यों में विकास हुआ और आजकल वे राजनैतिक पार्टियों के रूप में आकर देश की बागडोर सम्हालते हैं। उदाहरणार्थ इंगलैंड में १९४५ में श्री क्लीमेंट एटली (Cleament Attlee) के नेतृत्व में लेबर पार्टी ने गवर्नमेन्ट बनाई थी।

श्रम सङ्गठन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) श्रमिकों को नौकरी सुरक्षित बनी रहने का विश्वास दिलाना

श्रम सङ्गठनों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य है कि वे अपने सदस्यों को उनकी

*Those combinations whose principal objectives are the regulation of relations between workmen and masters, or between workmen and workmen, or between masters and masters, for the imposing of restrictive conditions on the conduct of any trade or business, and also the provision of benefits for members."

—*The British Trade Unions Act*, 1913

नौकरी या रोजगार (employment) सुरक्षित बनी रहने का विश्वास दिलावें। सगठनों का जीवन अस्तित्व (Existence) ही उनके इस उद्देश्य की सफलता पर निर्भर करता है। अपनी माँगों को पूरा करने के लिए ये हड़ताल (strike) वगैरह करते हैं। यदि ये अपनी इस चाल में असफल हो जायें तो भविष्य में कोई भी मजदूर इसका सदस्य नहीं बनेगा। क्रेफ्ट यूनियन्स, (Craft Unions), जनरल यूनियन्स (General Unions) तथा बाद में इंडस्ट्रियल यूनियन्स सभी इस समस्या पर ध्यान देते हैं।

(२) सदस्यों को उचित वेतन दिलाना तथा उसकी वृद्धि करना

श्रम सङ्गठनों का द्वितीय प्रमुख उद्देश्य यह है कि ये अपने सदस्यों के वेतन को दिलावें, उसमें वृद्धि करें तथा उसको बनाये रक्खें। श्रम सङ्गठन इस उद्देश्य की पूर्ति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से करते हैं। व्यक्तिगत रूप से तात्पर्य है जब श्रमिक और मालिक के बीच उनकी मजदूरी, कार्य करने की शर्तें तथा अन्य सम्बन्धित विषयों के बारे में सीधा समझौता हो जाता है। इसके विपरीत यदि यह सम्भव नहीं होता है तो सभी सदस्य अपने सगठन (union) की अध्यक्षता में सामूहिक रूप से समझौता करने के लिए अपने मालिक को विवश कर देते हैं। ऐसा अधिकतर वे हड़तालों के माध्यम से करते हैं।

(३) सदस्यों की कार्यक्षमता को बढ़ाना

श्रम सगठनों का तृतीय उद्देश्य अपने सदस्यों की काम करने की दशाओं में सुधार करके उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि करना है। कार्य करने की दशाओं में सुधार से तात्पर्य कार्य करने के घंटों (working hours) को कम कराना, कारखाने के अन्दर सफाई इत्यादि कराना, मशीनों से होने वाली दुर्घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षात्मक कार्य कराना तथा सवेतन छुट्टियाँ दिलाने का प्रयास करना आदि से है।

(४) सदस्यों की वैधानिक कार्यवाही करने के लिए आर्थिक सहायता देना।

(५) सदस्यों की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक एवं शारीरिक उन्नति करना।

(६) सदस्यों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उनके हेतु चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, वाचनालय तथा आमोद-प्रमोद की सुविधाओं का प्रबन्ध करना।

(७) सदस्यों में एकता की भावना का निर्माण करना।

(८) सदस्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

(९) सदस्यों एवं मालिकों (Employers) के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना जिससे आपसी कलह कम से कम हो।

(१०) ऐसे सदस्यों की सहायता करना जो अपनी जीविका को बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था तथा अन्य किसी कारण से खो देते हैं।

श्रमिक संघ आन्दोलन का भारतवर्ष में इतिहास

वर्तमान 'श्रमिक संघों' का उद्गम भारतवर्ष में १६१८ में 'मद्रास टेक्सटाइल लेबर यूनियन' (Madras Textile Labour Union) के निर्माण से हुआ। परन्तु इससे पूर्व भी यत्र तत्र श्रमिकों को संगठित करने के प्रयास किये गये थे। सन् १८७५ में श्री सोराबजी शाहपुर जी बंगाली ने सर्व प्रथम सरकार का ध्यान औद्योगिक श्रमिकों (जिसमें बच्चे व स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं) की सोचनीय दशा की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। सन् १८८४ में श्री नारायण मेघजी लोखण्डे ने फैक्ट्री आयोग को एक स्मृति पत्र देने के लिए बम्बई में श्रमिकों को संगठित किया। सन् १८६० में श्री लोखण्डे तथा उनके साथियों ने गवर्नर जनरल को एक पेटीशन प्रस्तुत किया जिसमें श्रमिकों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई। इसी वर्ष श्री लोखण्डे ने बम्बई के १०००० मिल मजदूरों को संगठित किया और सामूहिक रूप से 'बाम्बे मिल ओनर्स एसोसियेशन' से सप्ताह में एक दिन छुट्टी देने के लिए माँग की। यह माँग सफलतापूर्वक पूरी कर दी गई। इस विजय के फलस्वरूप 'बाम्बे मिल हैण्ड्स् एसोसियेशन' (Bombay Mill hands Association) का निर्माण श्री लोखण्डे के नेतृत्व में हुआ। श्री लोखण्डे ने "दीन बन्धु पत्रिका" (journal) का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया। यह संगठन देश का प्रथम संगठन होते हुए भी सुदृढ़ नहीं था। इसका न तो कोई निश्चित संविधान (constitution) था और न चन्दा देने वाले सदस्यों की संख्या ही निश्चित थी।

तब १८६७ में इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड "दी अमैलगमैटेड सोसायटी ऑव रेलवे सरवेन्ट्स" (रेल कर्मचारियों की सम्मिलित समिति) का निर्माण हुआ। उसके बाद "दी कलकत्ता प्रिन्टर्स यूनियन" (१६०५), "दी बाम्बे पोस्टल यूनियन" १६०७ तथा बम्बई की "दी कामगार हितवर्धक सभा" (१६१०) में बनाई गयीं। इसके अतिरिक्त बंगाल में "दी मोहम्मडन एसोसियेशन" तथा "इण्डियन लेबर यूनियन" बने थे। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा श्रमिकों की दशाओं में सुधार कराने के लिए ही इन सब संस्थाओं का निर्माण हुआ था। ये अधिकांशतया भाई-चारे की भावना से प्रेरित थी तथा इनका संगठन ढीला था।

श्रम संघ आन्दोलन वास्तव में हमारे देश में महायुद्ध के बाद ही शुरू हुआ। इस युद्ध से श्रमिकों में वर्गीय जागृति हुई। युद्ध की तथा युद्धोपरान्त तेजी से मूल्यों तथा जीवन की लागत में वृद्धि तथा उद्योगपतियों को भारी भारी लाभ हुए, पर श्रमिकों की आय में काफी वृद्धि नहीं हुई। इसके कारण १६१८-२२ में मजदूरी बढ़ाने के लिए बड़े हड़तालें हुईं। अतः विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में एक बड़ी संख्या में श्रम या व्यापार संघों का निर्माण हुआ। देश में आम आर्थिक संकट, कांग्रेस का असहयोग तथा

औद्योगिक श्रम सगठन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में मनोनीत प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने के लिए एक केंद्रीय श्रम सगठन की आवश्यकता से श्रम सघों के निर्माण में प्रोत्साहन मिला तथा युद्धोत्तर काल में १६२० के बाद से उनके सघीकरण (Federation) को प्रेरणा मिली। इससे श्रम सघ आन्दोलन को भारत में बल मिला।

उपनिवेशों में भारतीय श्रम के साथ भेद भाव तथा रूसी क्रांति के फलस्वरूप समाजवादी तथा साम्यवादी विचारों के प्रचार द्वारा श्रम तथा राजनैतिक नेताओं ने श्रमिकों में एक नई जागृति तथा चुनौती की भावना पैदा कर दी थी। पूरे ससार में श्रमिकों में नये विचारों, नये भावों तथा नई उमगों व लहरों के कारण खलबली उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार की सामाजिक जागृति, राजनैतिक हलचल तथा क्रान्तिकारी विचार धारा से ओत प्रोत वातावरण में श्रमिक वर्ग पुरानी सामाजिक बुराइयों एवं नई आर्थिक ...ओं में और अधिक रहने के लिए प्रस्तुत नहीं था।

उपरोक्त तथ्यों के परिणामस्वरूप आन्दोलन द्रुत गति से देश में वर्तमान काल में बढ़ा। पहला श्रम सघ (औद्योगिक) मद्रास में जुलाई १६१८ में बकिंघम मिल के श्रमिकों ने बनाया और १६१६ में इसकी सख्या ४ हो गई, जिनके २०,००० सदस्य थे। मद्रास के नेतृत्व का बम्बई ने अनुकरण किया, जहाँ १६१७ १६ में औद्योगिक अशान्ति के कारण कई सघ बनाये गये। पर इनमें से अधिकांश केवल "हड़ताल समितियाँ" थीं न कि व्यापार या श्रम सघ। इनके सगठन में बल नहीं था, फलस्वरूप ये बहुत जल्दी समाप्त हो जाते थे तथा आपस में एकता नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलनों में प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने की आवश्यकता से एकीकरण को प्रेरणा मिली और आन्दोलन गतिशील बना।

स्थानीय सघों का सगठन कर उनका प्रसघीकरण किया गया और उसके बाद प्रान्तीय प्रसघों का निर्माण हुआ। एकीकरण के आन्दोलन के फलस्वरूप १६२० में एक अखिल भारतीय श्रम सघ कांग्रेस (A I T U C) का जन्म हुआ और उसके बाद से इसकी वार्षिक बैठक होती रही है। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के साथ व्यापार सघों का जन्म से ही सम्बन्ध स्थापित हो गया है। १६२० में ही महात्मा गांधी द्वारा अहमदाबाद में सूत कातने वालों का सघ तथा बुनकरों के सघ बनाये गये और १६२१ तक लगभग २० व्यापार सघ हो गये थे।

इसी बीच १६२० में बकिंघम मिलों में मजदूरी बढ़ाने के वास्ते श्रमिकों को हड़ताल करने के लिए बहकाने के कारण मद्रास श्रम सघ के विरुद्ध मद्रास के उच्च न्यायालय द्वारा विरोधाज्ञा (injunction) जारी हुई। इससे श्रम नेताओं को यह संकेत मिला कि श्रम सघों की रक्षा तथा रजिस्ट्री के लिए सनियम स्वीकृत करना परमावश्यक था। श्री एन० एम० जोशी के ५ वर्षों के अनवरत तथा अथक प्रयत्न के बाद १६२६ में व्यापार संघ विधान (Trade Union Act) स्वीकृत हुआ।

सन् १९२९ में इसके नागपुर के अधिवेशन में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट हो गई और तीन दलों का निर्माण हुआ—कम्युनिस्ट, नरमदल (लिबरल) तथा शेष। "श्रम पर शाही आयोग का बायकाट नहीं किया जायगा" इसी प्रश्न पर मतभेद हो गया। अस्तु श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन तथा गरम दलों के द्वारा अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का निर्माण हुआ और थोड़े से संघ इन दोनों में से किसी के साथ सम्बद्ध नहीं हुए। गरमदल तथा वाम पक्षियों (विरोधियों) का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इसके कारण १९३१ में फिर फूट हुई जब देशपाण्डे तथा रानादिवे के नेतृत्व में गर्म तथा उग्र वाम पक्ष ने अखिल भारतीय लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I R. T U C) का निर्माण किया। कम्युनिस्टों तथा आग उगलने वाले विरोधियों की कार्यवाहियों के फलस्वरूप ३१ नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों की गिरफ्तारी हुई तथा प्रसिद्ध मेरठ षड्यन्त्र मुकदमा चला। जाँच की वियरसन अदालत ने बम्बई में १९२९ की कपड़ा मिलों में हड़ताल कराने तथा उसे जारी रखने का 'गिरनी कामगार यूनियन' पर आरोप लगाया गया। पारस्परिक फूट तथा इन विध्वंसकारी कार्यवाहियों के कारण श्रम संघ एकता समिति १९३१ में बनी और 'प्लेटफार्म एकता' प्राप्त हुई।

सन् १९३५ में दो मुख्य विरोधी दलों, अर्थात् कांग्रेस तथा फेडरेशन की एक संयुक्त समिति बनाई गई जिसके प्रयासों के फलस्वरूप अप्रैल १९३९ में एकता प्राप्त हुई तथा १९४० में फेडरेशन कांग्रेस में सम्मिलित कर दिया गया। इस एकता प्राप्ति का श्रेय श्री वी० वी० गिरि को था। इस अस्थायी समझौते में १९४९ में संशोधन हुआ।

किन्तु सितम्बर १९४० में बम्बई के अधिवेशन में युद्ध प्रयत्न के साथ तटस्थता के प्रश्न पर एक बार फिर फूट हुई और श्री एम० एन० राय तथा जमुनादास मेहता के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन फेडरेशन का निर्माण हुआ। इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली में खुला। कलकत्ता के नाविकों के संघ (Seamen's Union) ने कांग्रेस से अपने को विलग कर दिया। इसके अतिरिक्त १९३७ में महात्मा गांधी की देखरेख में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के बाहर हिन्दुस्तान मजदूर सेवा संघ श्रमिकों को संगठित कर रहा था। १९४२ से कतिपय योग्य व यूनियन कांग्रेस नेताओं की देख रेख तथा पर्यवेक्षण में अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I N T U C) श्रमिकों के दुखों के कारणों का प्रतिकार बिना हड़तालों के, बातचीत, मेल मिलाप, मध्यस्थता तथा निपटारा व शान्ति पूर्ण ढंग से करना चाहती है।

इसके बाद दिसम्बर १९४८ में कांग्रेस से विच्छेद होने पर सोशलिस्ट पार्टी या समाजवादी दल ने हिन्द मजदूर सभा का सूत्रपात किया। इस फूट ने भारत

में श्रमिक संघवाद (trade unionism) को और भी निर्बल बना दिया है। अभी हाल में इन दोनों दलों ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I N. T. U C) तथा एक दूसरे प्रतिनिधि स्वरूप पर संदेह प्रकट किया था। १९४६ में मुख्य श्रम कमिश्नर की जाँच से यह प्रकट हुआ था कि श्रम की सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस थी, परन्तु हाल में सरकार ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I N T. U C) को भारत मे श्रमिकों की सबसे अधिक प्रतिनिधि संस्था घोषित किया है। १९४९ के पहले सप्ताह में श्री के० टी० शाह तथा श्री एम० के० बोस व नेतृत्व में यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U T U C) बनाई गई।

भारतवर्ष में श्रमिक संघों की वर्तमान स्थिति

निम्न तालिका देश के प्रमुख श्रम संघों से सम्बद्ध (affiliated) संघों व सदस्यों की संख्या को निर्देशित करता है। (अगले पृष्ठ में देखिये) ।

भारतवर्ष में कुल रजिस्टर्ड श्रम-संघों तथा उनके सदस्यों की संख्या सन् १९५७ ५८ तक इस प्रकार थी:

	केन्द्रीय श्रम संघ		राजकीय श्रम-संघ	
	१९५६ ५७	१९५७ ५८	१९५६-५७	१९५७-५८
(१) रजिस्टर्ड संघों की संख्या	१७३	२२३	८,१८०	६,८२२
(२) रिटर्न्स भेजने वाले संघों की संख्या ...	१०२	१३६	४,२६७	५,३८४
(३) रिटर्न्स भेजने वाले संघों के सदस्यों की संख्या	१,८७,२६५	३,४३,१६६	२१,८८,४६७	२६,७१,८८३

पर इन संस्थाओं के फैसले तथा निर्णय दोनों दलों पर अनिवार्य रूप से लागू नहीं होते थे और इनके निर्णय की शैली व क्रम अनिर्णयात्मक थे। अतः इस विधान में श्रम आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए १९३५ में संशोधन किये गये; इसे १९३४ में स्थायी बना दिया गया तथा १९३८ में पुनः संशोधन हुआ। नये विधान में अवैध हड़ताल की परिभाषा में परिवर्तन हुआ, जनोपयोगी सेवाओं की सूची में आभ्यन्तरिक स्टीमर, ट्रामगाड़ी तथा शक्ति पूर्ति करनेवाली संस्थाओं को सम्मिलित किया गया तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा समझौता अफसरों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

* Source: India 1960, P 383.

प्रमुख श्रम संघों की संख्या एवं सदस्यता*

विभिन्न संगठन	सम्बद्ध संघों की संख्या			सदस्यता		
	१९५६	१९५७	१९५८	१९५६	१९५७	१९५८
(१) इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T U.C.)	६१७	६७२	७२७	९,७१,७४०	९,३४,२८५	९,१०,२२१
(२) हिन्दू मजदूर सभा	११६	११८	१५१	२०३७९८	२३३९९०	१९२९४२
(३) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I.T U.C.)	५५८	—	८०७	४२२८५१	——	५३७५६७
(४) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U T U C)	२३७	—	१८२	१५६१०६	——	८२,००१
योग	१५३१	—	१८६७	१७५७४६८	——	१७२२७११

श्रम संघ अधिनियम १९२६

श्रम संघ अधिनियम १९२६ में पास हुआ। इस अधिनियम के अंतर्गत श्रम-संघों के रजिस्ट्रेशन का प्राविधान किया गया, परन्तु यह अनिवार्य न था। अर्थात् रजिस्ट्री कराना श्रम-संघों की इच्छा पर है। यदि किसी श्रम संघ की प्रबन्धक समिति के ५०% सदस्य उसके आधीन इकाइयों में नियोजित (employed) हों, तो कोई ७ या अधिक सदस्य रजिस्ट्रेशन के लिए आवेदन कर सकते हैं।

एक रजिस्टर्ड श्रम संघ को अपना नाम तथा उद्देश्य घोषित करना होता है, सदस्यों की सूची रखनी होती है, अपने कोषों का नियमित वार्षिक आडिट या अंकेक्षण कराना पड़ता है। इस अंकेक्षण का विवरण, नियमों की एक प्रति, पदाधिकारियों तथा प्रबन्धक समिति के सदस्यों की सूची इत्यादि श्रम संघों के रजिस्ट्रार को भेजना पड़ता है।

इस अधिनियम में १९२८ तथा १९४२ में कुछ परिवर्तन किये गये थे।

---

*India 1960, p 383.

श्रम-संघ अधिनियम १९४७

श्रम संघ अधिनियम १९२६ में श्रम संघों की नियोक्ताओं (employers) द्वारा मान्यता के सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं था। अतः श्रम संघ अधिनियम में, १९४७ में विशेष संशोधन करके, श्रम संघों को नियोक्ताओं द्वारा मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में आयोजन किया गया है। इसके अनुसार किसी श्रम अदालत की आज्ञा पर एक रजिस्टर्ड प्रतिनिधि श्रम संघ को नियोक्ताओं द्वारा मान्यता अनिवार्य कर दी गई है।

प्रारम्भ में श्रम संघों में रजिस्ट्रेशन के प्रति अरुचि व उदासीनता थी और वे वार्षिक विवरण, अंकेक्षित हिसाब व सूची आदि देने से हिचकिचाते थे। ऐसी मान्यता प्राप्त श्रम-संघ की प्रबन्धक समिति नियोक्ताओं के साथ नियोजन (employment) की शर्तों को निश्चित कर सकती है तथा शाखाओं में सूचनाएँ दिखा सकती हैं।

इस अधिनियम को कार्यान्वित करने का भार राज्य की सरकारों पर ही है जिसके लिये रजिस्ट्रारों की नियुक्ति करती हैं।

इस अधिनियम के दोषों को दूर करने के लिए भारतीय संसद में १९५० में एक विधेयक पेश किया गया था, जिसका उद्देश्य पूर्व के अधिनियमों को ठीक, ठोस व शुद्ध करना था। पर पुरानी संसद में यह विधेयक स्वीकृत नहीं हो सका। १९५२ में भारतीय श्रम सम्मेलन में उचित नियम बनाने पर विचार किया गया था। इसके अनुसार संघों के रजिस्टरों की जाँच के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति सदस्यों की सूची, चन्दे की रकम व नियम, सदस्यों के पृथक् करने की दशाओं, उन पर अनुशासन, बाहरी लोगों की संख्या का नियमन व नियन्त्रण, पञ्जीयन को रद्द करने की व्यवस्थाओं, संघों की उद्योगपतियों द्वारा अनिवार्य मान्यता तथा श्रम न्यायालयों द्वारा उनकी मान्यता की शर्तें, नियोजन की दशाओं पर मान्य संघ की प्रबन्ध समिति द्वारा उद्योगपतियों से सौदा करने के अधिकार तथा उद्योगपतियों पर जुर्माना करने की दशाओं आदि की व्यवस्था की गई थी। भारतीय राष्ट्रीय श्रम संघ कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य सब श्रम दलों ने इसकी तीव्र आलोचना तथा घोर विरोध किया था।

श्रम संघ तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना

श्रम संघों के दोषों को दूर करने के लिए श्रमिकों के प्रतिनिधिक प्रयोग (सन् १९५५) ने कुछ सुझाव दिये हैं जो कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कार्यान्वित किये जायेंगे :—

(१) श्रम-संघों में बाहरी व्यक्तियों का सम्मिलित न होने देना।

(२) श्रम संघों को आवश्यक शर्तों के पूरा करने पर वैधानिक मान्यता देना।

(३) श्रम संघों के कार्यकर्त्ताओं की उत्पीड़न (victimization) से रक्षा करना, तथा

(४) श्रम-संघों की व्यक्तिगत साधनों द्वारा उन्नति कराना।

प्रश्न

1 Survey briefly the development of trade union movement in India What are the main obstacles to its healthy growth

(Patna, 1955, Rajputana, 1953)

2. What are the basic functions of a trade union? Do you think our trade unions have discharged their functions satisfactorily?

(Agra, 1954)

अध्याय २३

श्रम सन्नियम

(Labour Legislation)

उद्योगों और उनमें काम करने की दशाओं पर पिछली सदी के लगभग अन्त तक राजकीय नियंत्रण नहीं था और फैक्टरी विधान के अभाव में नियोजक या मिल मालिक मजदूरों का और विशेषतः स्त्रियों और बच्चों का शोषण करने में स्वतन्त्र थे। फैक्टरियों में काम करने के घंटे लम्बे थे, मजदूरियाँ बहुत कम थीं, फैक्टरियों में काम करने की दशाएँ अस्वास्थ्यकर तथा असंतोषजनक थीं, बच्चों के रोजगार की उम्र का कोई नियम नहीं था, साप्ताहिक या सामयिक छुट्टियाँ नहीं थीं और बिना घेरे हुए मशीनों की दुर्घटना या अंग भंग से फैक्टरी में श्रमिकों के रक्षार्थ कोई प्रबन्ध नहीं था। यद्यपि औद्योगीकरण की दौड़ में भारत ने देर में भाग लिया तो भी भारतीय उद्योगपतियों ने फैक्टरियों की बुराइयों को दूर करने के लिए पाश्चात्य देशों के अनुभव से कोई लाभ नहीं उठाया। अभागे मजदूरों के स्वास्थ्य तथा शक्ति पर गन्दे अहातों तथा घनी बस्तियों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा था।

आधुनिक उद्योग धन्धों की असहनीय बुराइयों से कुछ भारतीय सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा मानववादियों का हृदय पिघल गया और फैक्टरियों के श्रमिकों की दयनीय अवस्थाओं में सुधार करने के लिए उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ किया। श्रमिकों के प्रति उनकी सहानुभूति जाग्रत हुई। इसके बाद सूती कपड़े की मिलों के विकास पर लंकाशायर के उद्योगपतियों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उनका विचार था कि फैक्ट्री विधान के अभाव में भारतीय बाजार में भारतीय उद्योगपति को उनके साथ प्रतिस्पर्द्धा करने में लाभ था। अतः उन्होंने भारतीय सूती मिलों पर फैक्ट्री कानून लागू करने के लिए सरकार पर दबाव डाला। अस्तु १८७५ में बम्बई सरकार ने एक फैक्ट्री आयोग की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप १८८१ में पहला फैक्ट्री एक्ट बना। फिर भी महायुद्ध तक श्रमिक सन्नियम का कोई महत्व नहीं था। इसके बाद देश के बढ़ते हुए औद्योगीकरण, श्रमिक वर्गों में वर्गीय जागृति की वृद्धि तथा उनको अपनी शक्ति के महत्व का ज्ञान, भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा उसके प्रस्तावों के प्रति उत्तरदायित्व की स्वीकृति तथा कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के आगमन के कारण अभी हाल में एक बड़ी संख्या में श्रम सन्नियम बनाये गये।

फैक्टरी अधिनियम
(Factory Acts)

१८८१ का अधिनियम

फरवरी सन् १८८१ में प्रथम भारतीय फैक्टरी ऐक्ट पास हुआ, जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) यह नियम उन फैक्टरियों पर लागू था जिनमें कम से कम १०० व्यक्ति नौकर थे तथा शक्ति का उपयोग किया जाता था।

(२) इसके अनुसार ७ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को नौकर नहीं रक्खा जा सकता था, तथा ७ और १२ वर्षों के बच्चों से १ घण्टे प्रति दिन विश्राम के साथ ६ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। माह में कुल ४ छुट्टियाँ दी जा सकती थीं।

अस्तु इसमें बच्चों की सीमित रक्षा की व्यवस्था थी पर वयस्क (adult) स्त्री, पुरुषों को कोई लाभ नहीं हुआ।

१८९१ का अधिनियम

स्त्री-श्रमिकों के नियमन के अभाव और बच्चे मजदूरों की रक्षा के लिए एक्ट के *अपर्याप्त प्राविधानों के कारण १८८१ के विधान में संशोधन की माँग हुई।* उधर लंकाशायर के सूती मिल मालिकों ने और अधिक नियमन के लिए भारत सचिव पर दबाव डाला। बम्बई फैक्टरी आयोग (१८८४) तथा फैक्टरी श्रम आयोग (१८९०) की सिफारिशों पर १८९१ में दूसरा फैक्टरी एक्ट पास हुआ जिसकी मुख्य विशेषताएँ यह थीं—

(१) यह एक्ट उन फैक्टरियों पर लागू किया गया जिसमें कम से कम ५० व्यक्ति काम करते थे तथा शक्ति का प्रयोग होता था।

(२) इसके अनुसार ९ साल से कम आयु वाले बच्चों को नौकर नहीं रखा जा सकता था तथा ९ और १४ वर्ष के बीच वाले बच्चों के काम के घण्टे ७ कर दिये गये।

(३) स्त्रियों के लिए प्रति दिन १॥ घण्टे विश्राम के साथ काम के अधिकतम घण्टे ११ निश्चित किये गये थे तथा ८ बजे रात से लेकर ५ बजे सबेरे तक उनको काम पर नहीं लगाया जा सकता था।

(४) पुरुष मजदूरों के लिए १ साप्ताहिक छुट्टी एवं ½ घण्टे मध्यान्तर की व्यवस्था की गई।

इन मुख्य प्राविधानों के अतिरिक्त और अधिक हवादार तथा साफ-सुथरी फैक्टरियों की और उनमें भीड़ रोकने की भी व्यवस्था करनी थी।

१९११ का अधिनियम

फैक्टरियों में बिजली के लग जाने तथा प्लेग के कारण काम के घंटों में काफी वृद्धि हो गई थी और स्वदेशी आन्दोलन की तेजी ने फैक्टरियों में काम करने की परिस्थितियों को और भी बिगाड़ दिया। लंकाशायर ने फिर दबाव डाला और समाचार पत्रों तथा कुछ प्रगतिशील मिलमालिकों ने काम के घंटों में कमी तथा काम की दशाओं में सुधार करने की माँग की। फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने १९०६ में 'फ्रियरसिथ समिति' तथा १९०७ में एक फैक्टरी श्रम आयोग को फैक्टरियों में काम की दशाओं की जाँच करने के लिए नियुक्त किया। इन्होंने १९०८ में अपनी रिपोर्ट में पहले के फैक्ट्री नियमों को रद्द करने की सिफारिश की क्योंकि इनका उल्लंघन किया गया था।

इनकी सिफारिशों पर १९११ का फैक्टरी विधान स्वीकृत हुआ जिसमें पहली बार वयस्क पुरुषों के काम के घंटों को निश्चित किया गया। इसकी मुख्य धाराएँ [illegible]लिखित हैं—

(१) फैक्ट्री श्रम आयोग ने पुरुषों के काम के घंटों में कमी तथा स्त्रियों के काम के घंटों को ११ से बढ़ाकर १२ कर देने की सिफारिश की थी, पर स्त्रियों के काम के घंटे ११ ही रहे, हालाँकि अधिकतम स्वीकृत घंटा तक काम करने वालों के लिए १॥ घंटे के विश्राम में कमी कर दी गई थी।

(२) टेक्सटाइल (कपड़े बनाने वाली फैक्ट्रियों) में प्रति दिन काम के घंटे पुरुषों के लिए १२ थे।

(३) बच्चों के लिए काम के घंटे ६ निश्चित किये गये।

(४) यह विधान ४ महीने से कम के लिए काम करने वाली अस्थायी (मौसमी) फैक्टरियों पर भी लागू किया गया।

(५) स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के लिए और व्यापक प्रावधानों की व्यवस्था की गई तथा आयु प्रमाण रखना अनिवार्य कर दिया गया।

१९२२ का नियम

१९२० में बम्बई मिल मालिकों के संघ ने वायसराय को भारत में सब कपड़ा बनाने वाली फैक्टरियों में काम के घंटों को १२ की अपेक्षा १० पर ही निश्चित सीमित कर देने के लिए एक 'स्मारक' पेश किया। अतः १९११ के विधान को संशोधित किया गया और १९२२ में एक संगठित फैक्ट्री एक्ट स्वीकृत हुआ। इसमें मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) यह ऐक्ट २० व्यक्तियों को नौकर रखने तथा शक्ति प्रयोग करने वाले सब संस्थानों पर लागू किया गया।

(२) १२ वर्ष के नीचे की आयु वाले बच्चों को, और एक दिन में दो फैक्टरियों में काम लगाने से रोक लगा दी गई।

(३) १२ और १५ वर्ष के बीच वाले बच्चों के लिए ४ घण्टे के काम के बाद १ ½ घण्टे के विश्राम के साथ काम के घण्टे ६ निश्चित किये गये।

(४) वयस्कों के लिए काम के घण्टे प्रतिदिन ११ तथा ६ दिनों के प्रत्येक सप्ताह के लिए ६० नियत किये गये।

(५) स्त्रियों और बच्चों को ७ बजे शाम से प्रातः ५ ½ बजे तक काम पर लगाने से मना कर दिया गया।

(६) प्रान्तीय सरकारों को १० व्यक्तियों को काम पर लगाने वाली संस्थाओं पर चाहे वे शक्ति का प्रयोग करती हों या नहीं, इस नियम को लागू करने, तथा खुली हवा व कृत्रिम उपायों द्वारा ठण्डक करने के स्तरों या प्रमापों के निश्चित करने का अधिकार भी उनको दिया गया।

(७) प्रत्येक ६ घण्टे काम के बाद एक घण्टे का विश्राम या ५ घण्टे लगातार कार्य करने के बाद श्रमिकों के अनुरोध पर दो आधे आधे घण्टे के विश्राम की व्यवस्था की गई।

(८) नियत समय से अधिक काम (overtime work) के लिए साधारण मजदूरी की कम से कम १ ½ गुनी मजदूरी नियत की गई।

१९२३, १९२६ और १९३१ के संशोधन विधानों द्वारा केवल छोटे सुधार तथा शासन सम्बन्धी परिवर्तन किये गये।

१९३४ का नियम

अब तक के फैक्टरी विधानों की त्रुटियों तथा मजदूर नेताओं और सामाजिक सुधारकों द्वारा भारत में श्रम सन्नियम को प्रगतिशील देशों के स्तर पर लाने के लिए आन्दोलन के कारण १९२९ में 'भारत में श्रम पर शाही आयोग (Royal Commission on Labour in India) की नियुक्ति हुई। फैक्टरियों में नियोजन (नौकरी) तथा काम की दशाओं में सुधार के लिए इस आयोग ने बड़ी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं जिनमें से अधिकांश की भारत सरकार द्वारा स्वीकृति के फलस्वरूप फैक्टरी विधान को बिल्कुल नये ढंग से तैयार कर एक संगठित फैक्टरी एक्ट १९३४ में स्वीकृत हुआ जो १ जनवरी १९३५ से लागू हुआ। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं —

(१) इस विधान ने स्थायी तथा सामयिक फैक्टरियों में विभेद किया।

(२) १५ और १७ वर्षों के बीच की आयु के युवकों का एक तृतीय वर्ग बनाया गया।

(३) सामयिक फैक्टरियों में प्रति दिन काम के ११ घण्टे तथा प्रति सप्ताह ६०

(४) सुरक्षा—श्रमिकों की सुरक्षा के लिए मशीनों के घेरे या बाड़, नई मशीनों पर कवच लगाने तथा भारी वजन व सामानों के उठाने के लिए क्रेनों, लिफ्टों, हायस्टों इत्यादि की समुचित व प्रचुर व्यवस्था होनी चाहिए। स्त्री तथा बच्चों को खतरनाक मशीनों से दूर रखना चाहिए। आग, भयानक धुआँ, विस्फोटक या शीघ्र जलने वाली धूल, गैस इत्यादि के विरुद्ध श्रमिकों की रक्षा के लिए सावधानीपूर्ण उपायों की व्यवस्था करना भी आवश्यक है।

(५) श्रमहितकारी कार्य—श्रमिकों के हितार्थ स्नानगृहों, कपड़ा धोने की सुविधाएं, बैठने के कमरे, प्रथम चिकित्सा के सामानों, विश्राम के कमरे, कपड़े रखने तथा भीगे कपड़े सुखाने की सुविधाएं, बाल पालनशालाओं (Creches) या बच्चों की देख भाल की व्यवस्थाओं का समुचित आयोजन होना चाहिए। ५०० या इससे अधिक श्रमिकों से काम कराने वाली प्रत्येक फैक्टरी का श्रमहितकारी अधिकारियों को नियुक्त करना आवश्यक है तथा २५० से अधिक श्रमिकों से काम कराने वाली फैक्टरियों में कैंटीनों या भोजन के कमरों की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

(६) काम के घण्टे तथा छुट्टियाँ—काम करने के दैनिक घण्टे ९ तथा साप्ताहिक ४८ तथा अधिकतम समय का फैलाव (spread over) १०½ घण्टे नियत किये गये हैं। ५ घण्टे के अनवरत या लगातार काम के बाद प्रत्येक श्रमिक को कम से कम आधे घण्टे का विश्राम अवश्य देना चाहिए। दैनिक तथा तिमाही निश्चित समय से अधिक काम की सीमाएं निर्धारित कर दी गई हैं और उसके लिए भुगतान मजदूरियों की साधारण दरों की दुगुनी राशि पर निश्चित किया गया है। स्त्रियों तथा बच्चों को ७ बजे शाम के बाद और ६ बजे प्रातः के पूर्व काम में नहीं लगाया जा सकता, पर राज्य सरकारों को विशेष दशाओं में इन सीमाओं में हेर फेर करने का अधिकार प्राप्त है। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी भी अनिवार्य कर दी गई है। बच्चों के काम के घण्टे ४½ से अधिक नहीं हो सकते। प्रत्येक प्रौढ़ श्रमिक को पूरे १२ मास अनवरत या लगातार एक फैक्टरी में काम करने पर आगामी १२ मासों की अवधि में मजदूरी तथा मँहगाई भत्ता के साथ न्यूनतम (कम से कम) १० दिन की अवधि तक छुट्टी मिलेगी। इस छुट्टी की अवधि की गणना पहले के १२ महीनों में उसके द्वारा प्रत्येक २० दिनों के काम करने पर १ दिन की दर पर की जायगी तथा बच्चों को काम के प्रत्येक १५ दिनों के लिए १ दिन की दर पर कम से कम १४ दिनों की छुट्टी मिलेगी।

(७) आयु तथा योग्यता का प्रमाण—१४ वर्षों से कम आयु वाले बच्चों को किसी फैक्टरी में नौकर नहीं रखा जा सकता। १४ वर्ष पूरा कर लेने वाले बच्चों तथा १८ वर्ष से कम आयु वाले युवकों को १८ वर्ष पूरा कर लेने पर अपनी आयु तथा योग्यता का एक प्रमाणपत्र सिविल सर्जन से लेकर फैक्टरी संचालक को देने पर ही काम में लगाया जा सकता है। यह प्रमाणपत्र प्रति वर्ष देना पड़ता है।

(८) बीमारी की सूचना—अधिनियम की अनुसूची या परिशिष्ट में उल्लिखित रोगों में किसी एक रोग से श्रमिक को ग्रसित होने पर फैक्टरी सचालक को एक विशेष प्रपत्र तथा सीमित समय में उपयुक्त अधिकारियों को सूचित करना पड़ता है तथा ऐसे श्रमिक के किसी डाक्टर द्वारा जाँच की लिखित रिपोर्ट फैक्टरियों के प्रमुख निरीक्षक को भेजना पड़ता है।

(६) जुर्माना—ऐक्ट के प्राविधानों का भग करने पर जुर्माना की व्यवस्था की गई है। यदि श्रमिक जानबूझ कर मशीनों को खराब करता है तो कारावास का दण्ड दिया जा सकता है और यदि थूकदानों के अतिरिक्त वह अन्य स्थानों में थूकता है तो उसे जुर्माना देना पड़ता है।

बागान श्रम नियम (Plantation Labour Laws)

भारत म सगठित उद्योग का प्रथम स्वरूप बागान था। श्रम की समस्याओं तथा बागान मालिकों और श्रमिकों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए १६०१ में असम श्रम तथा प्रवास नियम पास किया गया था। इसके अनुसार असम के चाय बागानों के लिए लाइसेन्सदार ठेकेदारों द्वारा मजदूरों की भरती होती थी। इन ठेकों में दासता निहित रहती थी अत स्वाभिमानी भारतीयों द्वारा इसकी तीव्र आलोचना तथा विरोध हुआ। अस्तु १६०८ तथा १६१५ में इसमें सशोधन हुआ और लाइसेन्सदार ठेकेदारों द्वारा भरती या पद्धति को रद्द कर दिया गया।

१६१५ के विधान ने कुलीगिरी की प्रथा को खत्म किया पर यह तभी प्रभावपूर्ण हुआ जब १६२६ और १६२७ म कामकरों के ठेका भग विधान (Breach of Contract Act) को रद्द कर दिया गया। ठेकेदार द्वारा भरती के स्थान पर अब श्रम बोर्ड (Labour Board) के अभिकर्ताओं द्वारा भरती होने लगी। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने बागानों के श्रमिकों की दशाओं की पूरी जाँच-पड़ताल १६२६ २८ म की तथा १६२६ म श्रम पर शाही आयोग ने भी ऐसा ही किया। इस आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने १६३२ म 'चाय जिला प्रवासी श्रम विधान' पास किया जो १ अक्टूबर १६३३ से लागू किया गया। इसकी प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं—

(१) पहले के बागान विधान का उद्देश्य बागान मालिकों के हितों की रक्षा तथा कुलियों की भरती करने म उन्हे अधिकाधिक सहायता देना था पर इस नये विधान का उद्देश्य असम चाय बागानों म प्रवास करने वाले श्रमिकों की भरती पर नियन्त्रण करना तथा बागानों तक श्रमिकों के पहुँचने की व्यवस्था में उचित सहायता देना था।

(२) केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण के अधीन प्रान्तीय सरकारों को प्रवासियों के भेजने में सहायता पर, या उनकी भरती तथा भजने दोनों पर नियन्त्रण करने का अधिकार था। अनुचित रोक-थामों से प्रवास को बचाने का भी उद्देश्य था। अधिकृत श्रमि

कर्ताओं द्वारा ही निर्देशित मार्गों से श्रम रंगरूटों को भेजना था तथा मार्ग में उनके भोजन, विश्राम, दवा, डाक्टरों द्वारा सेवा इत्यादि का पर्याप्त प्रबन्ध करना आवश्यक था।

(३) सोलह वर्ष से कम आयु के लड़कों को बिना उनके माता पिता या संरक्षक के साथ और विवाहित स्त्रियों को बिना उनके पतियों की आज्ञा के असम प्रवास के लिए नहीं भेजा जा सकता था।

(४) प्रत्येक सहायता प्राप्त प्रवासी को प्रथम तीन वर्ष की नौकरी के बाद मालिक के खर्चे पर अथवा पहुँचने के एक वर्ष के अन्दर भी बीमारी के कारण, उसकी शक्ति के अनुकूल काम की अनुपयुक्तता या अन्य पर्याप्त कारणों से नियन्त्रक द्वारा मालिक के पैसों से वापस लौटने का अधिकार था।

खानों के सन्नियम

खानों में काम की दशाओं को नियमन करने के लिए भारतीय खानों का पहला विधान १९०१ में बनाया गया, जिसमें काम के घण्टों का नियमन नहीं था, केवल सुरक्षा तथा निरीक्षण के लिए प्राविधान था। वाशिंगटन कान्फ्रेंस की सिफारिशों के कारण १९२३ में इस विधान का संशोधन किया गया और यह १ जुलाई १९२४ से लागू किया गया। इसकी प्रमुख बातें निम्न प्रकार थीं—

(१) इस विधान में पहले पहल काम के घण्टों की सीमा निर्धारित की गई, जो ६ दिन के प्रति सप्ताह में भूमि पर काम करने वालों के लिए ६० घण्टे तथा भूमि के भीतर काम करने वालों के लिए ५४ घण्टे थी।

(२) १३ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को भूमि के भीतर काम पर लगाने से रोक दिया गया।

१९२३ के विधान में भूमि के भीतर औरतों के रोजगार पर कोई रोक थाम नहीं लगायी गई थी। अतः भूमि के भीतर काम करने वाले श्रमिकों की कुल संख्या की ४५% स्त्रियाँ थीं। लोक समिति के इसके विरुद्ध होने तथा आन्दोलन के कारण भारतीय सरकार ने १९२३ के ऐक्ट के अन्तर्गत १९२९ में कुछ नियमों को पास कर भूमि के भीतर कुछ खानों में औरतों को काम पर लगाने की मनाही कर दी थी। पर बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रदेश की कोयले की खानों तथा पंजाब की नमक की खानों में औरतों का नियोजन प्रति वर्ष धीरे धीरे उनकी संख्या में कमी कर, १ जुलाई १९३९ से बन्द होने को था। वे भूमि के ऊपर तथा खुले मैदान में खानों में काम कर सकती थीं।

शाही श्रम आयोग की सिफारिशों तथा १९३१ की अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कान्फ्रेंस द्वारा कोयले की खानों में काम के घण्टों पर मसविदा कन्वेंशन (Draft Conven-

लेबर वेलफेयर फण्ड एक्ट' १६४६ के द्वारा एक श्रम हितकारी कोष की स्थापना की गई जिसे अभ्रक के निर्यातों पर मूल्यानुसार अधिकतम ६¼% का निर्यात कर लगा कर निर्माण किया गया।

इन अधिनियमों का विस्तारपूर्वक अध्ययन श्रम कल्याण वाले अध्याय में किया गया है।

पारिश्रमिक (मज़दूरी) का भुगतान नियम १९३६

मजदूरों की मजदूरी देने में देर तथा बड़ी आनाकानी की जाती थी जिसके कारण उन्हें अनेक बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं तथा अपने खर्चे के लिए उन्हें बड़ी ऊँची ब्याज दरों पर ऋण उधार लेना पड़ता था। मशीनों तथा सामान की क्षति के लिए तथा काम में टूट या गैरहाजिरी और बुरे आचरण के लिए, तथा भर्ती करने वालों की दस्तूरी के लिए, कटौती और आर्थिक दण्ड देना पड़ता था। प्रत्येक उद्योग व औद्योगिक केन्द्र में भुगतान की अवधि भी भिन्न भिन्न थी। अत मजदूरी भुगतान को नियमित तथा नियन्त्रित करने के लिए भारत सरकार ने १९३६ में इस विधान को पास किया जो २८ मार्च १९३७ से लागू हुआ।

यह फैक्टरियों तथा रेलों पर प्रारम्भ किया गया था पर प्रान्तीय सरकारों को अधिकृत किया गया था कि वे इसे ट्रामों, मोटर बसों, डाकों, घाटों तथा जेटियों, स्टीमरों, खानों तथा पत्थर की खाना, तेल के स्रोतों, बागानों, कारखानों तथा उत्पादन, निर्माण, यातायात व बिक्री सम्बन्धी अन्य संस्थाओं पर भी लागू कर सकें। औसतन २० या उससे अधिक व्यक्तियों को काम में लगाने वाले रेल के ठेकेदारों, कोयले की खानों, बागानों, मोटर बसों आदि में काम कराने वालों पर भी यह अधिनियम लागू किया गया है। मद्रास, कुर्ग, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, पंजाब, आसाम, उत्तर प्रदेश, दिल्ली इत्यादि राज्यों में यह अधिनियम लागू है।

२०० रुपया प्रति मास से कम वेतन वालों पर यह लागू होता है और पारिश्रमिक भुगतान की अधिकतम् अवधि एक मास निश्चित की गई है। सब वेतन (जोकि इत्यादि जो द्रव्य के रूप में आँके जाते हैं) नगद रुपयों या नोटों में ही चुकाया जाना चाहिए। १००० से कम मजदूरों वाले कारखानों या संस्थाओं में वेतन अवधि के अन्तिम दिन के बाद ७वें दिन की समाप्ति से पहले तथा १००० से अधिक मजदूर वालों में १० दिन के अन्दर ही मजदूरी का भुगतान हो जाना चाहिए। निकाल दिये गये मजदूरों का वेतन उनके काम से हटाये जाने के २ दिनों के भीतर हो हो जाना चाहिए। विधि ग्राह्य मुद्रा में दिये जाने वाले वेतन का वितरण छुट्टी के दिन नहीं किया जा सकता है। मकान, बिजली, पानी, औषधि की सुविधायें, भत्ता, पेन्शन प्रावीडेन्ट फण्ड में मालिकों का अंशदान वेतन में शामिल नहीं किया जायेगा।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम

श्रमिकों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि कर उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रगतिशील देशों में श्रमिकों के एक विशेष न्यूनतम जीवन स्तर के लिए न्यूनतम मजदूरियों के विधान बनाये गये हैं। यद्यपि १६२८ में जेनेवा के ड्राफ्ट कन्वेन्शन ने न्यूनतम मजदूरियों के स्तरों को विधान द्वारा निर्धारित करने की व्यवस्था के लिए एक साधन को अपनाने का निश्चय किया था, तथा १६३१ में श्रम पर शाही आयोग ने भी हमारे देश में न्यूनतम मजदूरियों को निर्धारित करने के प्रबन्ध के लिए सिफारिश की थी, फिर भी हमारे देश में औद्योगिक श्रमिकों के लिए एक विधिवत न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था विभाजन तक नहीं की गई थी।

अन्त १६४८ में भारत सरकार ने न्यूनतम मजदूरी विधान बनाकर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को इस विधान के दो वर्षों के अन्दर ही श्रमिकों की अति दयनीय दशा वाले उद्योगों में मजदूरियों के न्यूनतम दरों को नियत करने के लिए अधिकार दिया। उद्योग ऐसे हैं जहाँ मजदूरों का शोषण होता है, तथा अधिक काम होता है, वेतन बहुत कम है तथा व्यावसायिक संघ नहीं है। उदाहरणार्थ, ऊन, दरी तथा शाल के कारखाने, चावल, आटा तथा दाल की मिल, तम्बाकू बनाने तथा बीड़ी के कारखाने, तेल मिलें, बागान, सड़क या भवन बनाने के कार्य, लाख तथा अभ्रक के कारखाने, चमड़ा कमाने तथा बनाने के कारखाने, पत्थर तोड़ने तथा पीसने का काम, नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों की नौकरियाँ तथा कृषि। खेती में तीन वर्षों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाने की थी।

१६५० में एक संशोधन द्वारा सभी उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि ३ वर्ष की दी गई थी पर कृषि सम्बन्धी दशा के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न दशाओं के कारण यह उचित समझा गया कि कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के पहले उनम गाँवों के श्रमिकों की स्थिति की पूरी तौर जाँच किया जाय। १६४६ से १६५१ तक यह जाँच पूरी न हो पाई। अन्त सरकार ने खेती की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि मार्च १६५३ तक बढ़ा दी थी। यदि किसी उद्योग में १००० से कम श्रमिक हैं तो राज्य सरकार उसमें न्यूनतम मजदूरी निश्चित नहीं कर सकती।

प्रश्न

1 Describe the land marks in the history of factory legislation in India during the past forty years Discuss their influence on the efficiency of labour *(Agra 1953)*

2 Discuss the extent to which minimum wages have been fixed in India How are minimum wages determined ? *(Banaras, 1954)*

खण्ड ७

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक नियोजन

अध्याय २४

भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

कोई देश केवल इसलिये एक धनी तथा सम्पन्न राष्ट्र नहीं कहला सकता कि उस देश में प्राकृतिक साधन तथा प्रकृति की अन्य स्वतन्त्र देनें अपार मात्रा में उपलब्ध हैं। किसी देश का आर्थिक उन्नति एवं समृद्धि प्राकृतिक संसाधनों के उचित एवं आर्थिक पोषण पर निर्भर करती है। यही कारण है कि हमारा देश साधनों की दृष्टि से धनी होते हुए भी निर्धन है। देश की इस अपार प्राकृतिक सम्पत्ति के भंडार का यदि श्रम तथा पूँजी को लगाकर उपयोग किया जाये तो किसी निश्चित समय में उस देश में वस्तु तथा सेवाओं की एक नतुन बड़ी मात्रा उपलब्ध हो सकती है। इसी को हम देश की 'राष्ट्रीय आय' (National Income) कहते हैं। राष्ट्रीय आय का आँकन प्राय एक वर्ष के लिए होता है। इस दृष्टि से किसी देश में एक वर्ष के भीतर वस्तुओं तथा सेवाओं का जो कुछ भी उत्पादन होता है, वर्तमान मूल्य पर यदि उसका आँकन कर लिया जाये तो देश की राष्ट्रीय आय का ज्ञान हो जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले आर्थिक कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली आय तथा देश के सभी उत्पादक कार्यों तथा सेवाओं का मूल्य सम्मिलित होता है।

राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of National Income)

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व उसके अर्थ से अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया राष्ट्रीय आय में हम किसी देश के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये गये आर्थिक कार्यों तथा स्वयं देश में होने वाले उत्पादन कार्यों के परिणाम को ही सम्मिलित करते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों का मत भिन्न है। प्रत्येक अर्थशास्त्री ने किसी विशेष दृष्टि से ही राष्ट्रीय आय की परिभाषा दी है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आय सम्बन्धी तीन प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा देते समय भिन्न भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं जैसे मार्शल तथा पीगू

ने राष्ट्रीय लाभांश की व्याख्या उत्पादन की दृष्टि से (Production approach) की है जिसके अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश में एक वर्ष के भीतर उत्पन्न की हुई वस्तुओं तथा सेवाओं का एक प्रवाह है। इसके विपरीत प्रो० इर्विंग फिशर (Prof Irving Fisher) ने उपभोग की दृष्टि से राष्ट्रीय आय की व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय आय केवल वर्ष भर में अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं तक पहुँचने वाली सेवाओं तथा वस्तु के भण्डार को ही प्रदर्शित करती है।

परिभाषाएँ

प्रो० अल्फ्रेड मार्शल की परिभाषा—प्रो० मार्शल के शब्दों में—"किसी देश के श्रम और पूँजी उसके प्राकृतिक साधनों पर कार्य करते हुए वस्तुओं और सेवाओं (भौतिक एवं अभौतिक) का एक शुद्ध योग प्रति वर्ष उत्पन्न करते हैं। यही देश । वास्तविक शुद्ध 'वार्षिक आय', 'रेवन्यू' अथवा 'राष्ट्रीय लाभांश' है।"[1]

प्रो० ए० सी० पीगू (A C Pigou) की परिभाषा—प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार दी है जिस प्रकार आर्थिक कल्याण को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा में नापा जा सकता है "उसी प्रकार राष्ट्रीय लाभांश समाज की आय का वह भाग है जो मुद्रा में नापा जा सकता है। हाँ इसमें विदेश से प्राप्त हुई आय अवश्य सम्मिलित कर लेनी चाहिये।"[2]

ब्रिटेन के प्रमुख आधुनिक अर्थशास्त्री कॉलिन क्लार्क के अनुसार—किसी समय की राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत माल तथा सेवाओं का प्रत्यक्ष मूल्य शामिल है जो उस दौरान में उपभोग के लिये उपलब्ध है तथा जिसका विक्रय मूल्य चालू दर पर जोड़ा गया हो। इसके अन्तर्गत पूँजी पर होने वाले ये अतिरिक्त मूल्य भी हैं, जो नये पूँजीगत माल के लिए वास्तविक कीमतों के अनुसार लगाये गये हों। इसमें से उपस्थित पूँजी का मूल्य ह्रास आदि घटाना होता है तथा शुद्ध ह्रास को जोड़ना अथवा स्टाक में से शुद्ध निकलने वाले माल को घटाना होता है। (दोनों को चालू कीमत पर)। राज्य तथा स्थानीय प्राधिकार द्वारा लाभ लक्ष्यरहित सेवायें (डाक

---

1 'The labour and capital of the country, acting on its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities material—immaterial including services of all kinds This is the true net annual income or revenue of the country, or the national dividend" Alfred Marshall—*Principles of the Economics*, P 523

2 "National Income is that part of objective income of the community, including of course, income derived from abroad, which can be measured in money."Prof A C Pigou—*Economics of Welfare*

तथा नगरपालिका ट्राम सर्विस आदि) चार्ज (दियों) के अनुसार जोड़ी जाती है। जहाँ विशेष वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर लगाया जाता है जैसे माल पर सीमा शुल्क तथा शुल्क एव आमोद प्रमोद कर। ये सब बिक्री मूल्य में शामिल नहीं किये जाते।*

डा० वी० के० आर० वी० राव का मत– उपरोक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K. R V. Rao) जिन्हें राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन के लिये ख्याति प्राप्त है, ने राष्ट्रीय आय की एक बड़ी उपयोगी परिभाषा दी है, "राष्ट्रीय आय में किसी निश्चित समय में वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्यमूल्य सम्मिलित होता है जिसमें से उस समय होने वाले आयात का मूल्य घटा दिया जाता है तथा बिक्री योग्य वस्तु तथा सेवाओं का मूल्यांकन चालू मूल्य के आधार पर होता है और निम्नलिखित मदों को घटा दिया जाता है :—

(१) उस समय से स्टाक (stock) में होने वाली कमी का द्रव्य मूल्य।

(२) उत्पादन कार्य में उपयुक्त वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्य मूल्य।

(३) वर्तमान पूँजी को सुरक्षित (intact) रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्य मूल्य।

(४) सरकार को अप्रत्यक्ष करों (indirect taxes) द्वारा होने वाली आय।

(५) व्यापार का अनुकूल सन्तुलन (favourable balance of trade) जिसमें भंडार भी सम्मलित है।

(६) देश के विदेशी कर्जों (foreign indebtedness) में होने वाली वृद्धि तथा व्यक्तिगत अथवा सरकारी सम्पत्ति में होने वाली विशुद्ध ह्रास (net decrease) की मात्रा।"

राष्ट्रीय आय की विभिन्न अर्थशास्त्रियों तथा विशेषज्ञों द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषाओं से कुछ प्रमुख लक्षणों का ज्ञान होता है जो अगले पृष्ठ पर अंकित हैं।

---

*"The National Income for any period consists of the money value of the goods and services becoming available for consumption during that period reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods, minus depreciation, obsolescence of existing capital goods, and adding *the net accretion of, or deducting the net drawings* upon stocks also reckoned at current prices Services provided at non profit making basis by the state and local authorities (e g postal services and municipal tramway services) are included on the basis of charges made Where taxation is levied upon particular commodities or the entertainment tax, such taxes are not included in the selling value." Mr. Colin Clark—

"The National Income" p 1—2,

(१) राष्ट्रीय आय देश में हुए समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन की मात्रा प्रदर्शित करती है।

(२) इसमें वस्तु तथा सेवाएँ दोनों सम्मिलित हैं।

(३) राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रायः एक वर्ष के लिए होता है।

(४) कुल राष्ट्रीय आय निकालने के लिये उसके उत्पादन में किये गये व्यय तथा घिसावट (depreciation) को निकाल देना चाहिये।

(५) उस समय देश में होने वाले आयात (imports) तथा विदेशों से लिये गये ऋण को भी घटा देना चाहिये।

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण—राष्ट्रीय आय के अध्ययन का बड़ा महत्व होता है। किसी देश की राष्ट्रीय आय से उस देश की आर्थिक स्थिति का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। यदि अन्य बातें समान रहें तो देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से उस देश के निवासियों का आर्थिक जीवन सुखी एवं सम्पन्न हो जाता है। साधारण तौर पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि के फलस्वरूप किसी देश के सम्बन्ध में हम यह निष्कर्ष लगा सकते हैं कि उस देश की आर्थिक प्रगति हो रही है। परन्तु इस साधारण तर्क का कभी दुरुपयोग भी हो सकता है। इस कारण हमें अन्य बातों द्वारा इसकी जाँच कर लेनी चाहिये। उदाहरण के लिए यदि देश की राष्ट्रीय आय की वृद्धि लोगों से बेगार (forced labour) करवा कर प्राप्त हुई है तो ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि होना असम्भव है। इसी प्रकार यदि देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होने से यदि राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो, परन्तु इसका न्यायोचित वितरण न हो रहा हो, अर्थात् आय का अधिकांश भाग इने गिने हाथों ही में चला जाता हो, और देश की अधिकांश जनता वंचित रहती हो तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय की वृद्धि से देश के आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का महत्व

(Importance of National Income Statistics)

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का विश्लेषण अर्थशास्त्र में विशेष महत्व का है जिनका अध्ययन निम्न उद्देश्यों से किया जाता है :—

(१) देश की आर्थिक स्थिति जानने के लिए—किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश की आर्थिक स्थिति का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करती है। इनके आधार पर हम उस देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा भावी प्रवृत्तियों से भली भाँति अवगत हो जाते हैं। देश में होने वाले उत्पादन कार्य तथा आर्थिक विकास की योजनाओं की जानकारी

के अतिरिक्त उस देश की ऋणग्रस्तता अथवा व्यापार की दशा का भी ज्ञान हो जाता है।

(२) जीवन स्तर की जानकारी के लिए—देशवासियों के जीवन स्तर के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें प्रति व्यक्ति आय (per capita income) का सहारा लेना पड़ता है।

(३) राष्ट्रों की आर्थिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन—यदि हमें दो देशों की आर्थिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तो उसके लिए भी हमें उन देशों की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता लेनी पड़ेगी। अन्य साधनों के अभाव में देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिए राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से बढ़ कर और कोई माध्यम नहीं।

(४) देश के व्यवसायिक वितरण का पता लगाने के लिए—किसी देश की राष्ट्रीय आय के अनेक स्रोत होते हैं। अर्थात् देश में विभिन्न व्यवसायों में लगी हुई जनसंख्या के आर्थिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय आय प्रभावित होती है। इसी कारण राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हमें जनसंख्या के व्यवसायिक वितरण का ज्ञान होता है।

(५) देश के आर्थिक प्रयत्नों के पथ प्रदर्शन के लिए—देश की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से देश का कई प्रकार से पथ प्रदर्शन होता है। यदि कई साल के राष्ट्रीय आँकड़े एकत्रित कर लिये जायें तो उनके अध्ययन से हमें इस बात का समुचित ज्ञान हो सकता है कि आर्थिक प्रगति के मार्ग पर हमारा देश किस अवस्था पर है अर्थात् देश की आर्थिक दशा पहले से सुधरी है अथवा उसमें पतन हुआ है। इसी प्रकार यदि किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय में कमी हुई है तो हमें उस वर्ष देश की आर्थिक जलवायु (economic climate) का पता चलता है। जैसा कि विदित है राष्ट्रीय आय पर प्रभाव डालने वाले अनेक तथ्य हैं जिनके परिणामस्वरूप किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय बढ़ सकती है अथवा घट सकती है जैसे देश में आंतरिक शान्ति व सुरक्षा, जन साधारण के स्वास्थ्य की दशा इत्यादि।

(६) आर्थिक बाधाओं का ज्ञान होता है—राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हमें देश के आर्थिक अभावों तथा विकास के मार्ग पर आने वाली बाधाओं का भी ज्ञान होता है जिनके फलस्वरूप किसी वर्ष राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती है अथवा राष्ट्रीय आय की असन्तोषजनक प्रगति हो रही हो।

(७) आर्थिक नियोजन के लिए—एक अविकसित राष्ट्र में उसकी आर्थिक योजनाओं के निर्माण के लिए उसकी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का विशेष महत्व है। आर्थिक विकास के लिए निर्मित विभिन्न योजनाओं में किस प्रकार प्राथमिकता का निर्धारण हो? योजना का क्या आकार हो? तथा देश के विकास के लिए राष्ट्र के पास

आर्थिक साधन क्या हैं ? इन सबका ज्ञान राष्ट्रीय योजना की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो राष्ट्रीय आय के आँकड़ों के समुचित ज्ञान पर निर्भर करता है।

राष्ट्रीय आय एवं औद्योगीकरण

(National Income and Industrialization)

राष्ट्रीय आय का देश के औद्योगीकरण से भी सम्बन्ध है। कुछ लोगों का विचार है कि देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राष्ट्र का औद्योगीकरण अनिवार्य है। अर्थात् बिना औद्योगीकरण के कोई देश अपने नागरिकों के रहन-सहन का दर्जा ऊपर नहीं उठा सकता। परन्तु यह कथन सदैव सत्य नहीं, यह अवश्य है कि औद्योगीकरण द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से देशवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता मिलती है परन्तु आधुनिक काल में संसार में अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ औद्योगीकरण के बिना लोगों का रहन-सहन का दर्जा काफी ऊँचा है जिसके कारण उपरोक्त कथन पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए अर्जेन्टाइना, यूरुगुए (Uruguay), आयरलैंड तथा फिनलैंड कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जिनका औद्योगीकरण न होते हुए भी उनकी प्रति व्यक्ति आय रूस (U. S. S R.), जापान, इटली जैसे औद्योगिक देशों से अधिक है। इस प्रकार यदि सीरिया (Syria) के निवासियों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय ईरान या सऊदी अरबिया (Saudi Arabia) के लोगों से अधिक है तो इसका कारण यह नहीं कि इन देशों की अपेक्षा सीरिया का औद्योगीकरण अधिक हुआ है।[1] इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश का औद्योगीकरण ही देश के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने का एकमात्र साधन नहीं है।

राष्ट्रीय आय की गणना करने की रीति

(Method of Calculation of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिये कई रीतियाँ प्रयोग में आती हैं। जैसे :—

(१) आय प्रणाली अथवा आय रीति (Income Method)

(२) उत्पादन गणना रीति (Census of Production Method)

(३) मिश्रित पद्धति (Combination of Both)

आय प्रणाली—देश की राष्ट्रीय आय को आँकने की आय पद्धति के अन्तर्गत उस देश में विभिन्न व्यवसायों में लगी कुल जनसंख्या द्वारा प्राप्त की हुई आय जानने

1 D. Krishna—"*Power, Planning and Welfare*", p. 9.

की आवश्यकता होती है। इस कारण इस रीति को अपनाने के लिए आय कर के आँकड़ों की सहायता लेनी पड़ती है और प्रत्येक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की औसत आय निर्धारित कर ली जाती है परन्तु इस प्रणाली द्वारा देश की राष्ट्रीय आय के निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं जैसे—

(१) *यह रीति केवल उन्हीं देशों में अपनाई जा सकती है जहाँ अधिकांश जनता* आय कर देती है। भारत जैसे देश में जहाँ जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग आय कर देता हो यह रीति अपनाना उपयुक्त नहीं।

(२) *इस रीति के अनुसार देश की एक भारी संख्या की आय, जो आय कर की* सीमा से कम है, अनुमान नहीं लग पाता। इस कारण भारत जैसे निर्धन राष्ट्र में यह पद्धति अपनाना कठिन होगा।

(३) *आय रीति को अपनाने में एक और कठिनाई, देश की कृषि द्वारा होने* वाली आय का समुचित अनुमान न होने के कारण, उत्पन्न होती है। इस कारण भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस पद्धति द्वारा देश की राष्ट्रीय आय का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्पादन गणना रीति—उत्पादन गणना रीति द्वारा भी राष्ट्रीय आय निर्धारित की जा सकती है। इसके लिए सबसे पहले हमें देश की प्रत्येक उत्पादन की इकाई (Unit of Production) द्वारा वर्ष में किये गये कुल उत्पादन की जानकारी करनी होती है। फिर इस समस्त उत्पादन, तथा विभिन्न सेवाओं का प्रचलित दर के आधार पर मूल्यांकन कर लिया जाता है। *इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य* है कि इन वस्तुओं तथा सेवाओं का दोहरा मूल्यांकन न हो जाये अर्थात् यदि किसी वस्तु का मूल्य राष्ट्रीय आय में सम्मिलित कर लिया गया है तो उस वस्तु के लिए की गई सेवाओं का मूल्य नहीं जोड़ना चाहिये। परन्तु इस रीति को अपनाने के लिए देश में होने वाले समस्त उत्पादन तथा की जाने वाली सेवाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आँकड़े उपलब्ध हों। भारत जैसे देश में जहाँ आवश्यक आँकड़े पर्याप्त मात्रा में प्राप्य नहीं हैं इस रीति को अपनाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

मिश्रित पद्धति—इस पद्धति में आय रीति तथा उत्पादन गणना रीति का *मिश्रित प्रयोग होता है। देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के लिए उपरोक्त दो* प्रमुख पद्धतियों में आने वाली कठिनाइयों के कारण एक नई रीति का प्रादुर्भाव हुआ *जिसके आविष्कार का श्रेय भारत के प्रमुख अर्थशास्त्री एवं राष्ट्रीय आय सम्बन्धी* अध्ययन के विशेषज्ञ डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V. K. R V. R- को है जिन्होंने देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के लिए *प्रणालियों का बड़ी सफलतापूर्वक सम्मिश्रण किया है। डा० राव*

पद्धति को अपनाने के दो प्रमुख कारण थे : प्रथम भारत में आयकर देने वालों की संख्या नगण्य (एक प्रतिशत से भी कम) होने के कारण आय रीति का उपयोग असन्तोषजनक था। द्वितीय उत्पादन सम्बन्धी पद्धति आँकड़ों के अभाव में देश की राष्ट्रीय आय की गणना के लिए उपयुक्त नहीं थी।

इस पद्धति के अन्तर्गत डा० राव ने सरकार द्वारा प्रकाशित आँकड़ों का तो प्रयोग किया ही है, साथ साथ स्वयं जाँच तथा सर्वेक्षण द्वारा भी ऐसे क्षेत्रों के सम्बन्ध में आय का अनुमान लगाया है जिनके सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध नहीं थे।

उपरोक्त रीतियों का तुलनात्मक महत्व—राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए किस रीति का प्रयोग किया जाय? यह बहुत कुछ देश की आर्थिक स्थिति, सामाजिक प्रगति तथा प्रशासकीय क्षमता पर निर्भर करता है। विकसित तथा धनी देशों में जहाँ अधिकांश व्यक्ति आय कर देते हैं तथा जहाँ देश के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते हैं, उनमें आय रीति अथवा उत्पादन गणना रीति का प्रयोग ही सर्वथा उपयुक्त होगा। परन्तु भारत की स्थिति भिन्न होने के कारण मिश्रित पद्धति का अपनाना अधिक उचित है। इसके द्वारा ही राष्ट्रीय आय की सही गणना की जा सकती है अत. भारत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त रीति यही होगी।

भारत में राष्ट्रीय आय के पूर्व अनुमान
(Earlier estimates of national income in India)

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना सम्बन्धी कार्य विभिन्न अधिकारियों तथा सामाजिक विभूतियों द्वारा किये गये हैं। अत. इस क्षेत्र में अनेक सरकारी तथा गैर सरकारी अनुमान जानने योग्य हैं। राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध नेता तथा समाजसुधारक दादाभाई नौरोजी का कार्य विशेष महत्त्व का है। उन्होंने सर्वप्रथम १८६८ में यह अनुमान लगाया कि उस समय भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २० रु० थी। इसके पश्चात् सन् १८८२, १६०० तथा इसके पश्चात् किये गये अनुमानों को हम अग्र तालिका में प्रदर्शित करते हैं—

नाम	वर्ष	प्रति व्यक्ति आय		
		रु०	आ०	पाई
दादा भाई नौरोजी	१८६८	२०	०	०
लार्ड क्रोमर तथा बारबर	१८८२	२७	०	०
विलियम डिग्बी	१८९८-९९	१७	८	५
लार्ड कर्जन	१९००	३०	०	०
एफ० जी० एटकिन्सन	१८७५	३०	८	०
एफ० जी० एटकिन्सन	१८९५	३९	८	०
वाडिया तथा जोशी	१९१३-१४	४४	५	६
शाह तथा खम्बाटा	१९००-१४	३६	०	०
फिंडले सिराज	१९२१	१०७	०	०
" "	१९२२	११६	०	०
साइमन कमीशन रिपोर्ट	१९२९	११६	०	०
डा० वी० के०आर०वी०राव	१९२५-२९	७६	०	०
	१९३१-३२	६५	०	०
" "	१९४२-४३	११४	०	०

उपरोक्त तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी जो अनुमान प्रदर्शित किये गये हैं उनमें काफी अन्तर है। एक ओर जब कि १८६८ में दादा भाई नौरोजी द्वारा भारत की प्रति व्यक्ति आय २० रु० आँकी गई थी उसके बाद १९०१ में डिग्बी के अनुसार यह केवल १८ रु० से कुछ अधिक ही थी जब कि इससे एक वर्ष पूर्व १९०० में लार्ड कर्जन ने भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३० रु० बताई थी। इस प्रकार एक साल के अन्तर में दोनों अनुमानों में लगभग ११ रु० ७ आ० १ पा० का अन्तर है। राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों तथा अधिकारियों द्वारा जो अनुमान लगाये गये हैं उनमें पारस्परिक भिन्नता के अनेक कारण हैं जैसे वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य स्तर में निरन्तर परिवर्तन होना तथा राष्ट्रीय आय के अनुमान कर्ताओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना।

राष्ट्रीय आय की गणना का सामाजिक महत्व

(Social Importance of National Income Estimates)

राष्ट्रीय आय की गणना का किसी देश के लिए बड़ा सामाजिक महत्व है। किसी देश में राष्ट्रीय आय तथा उसके वितरण के स्वरूप द्वारा उसकी सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए यदि सामाजिक आय का वितरण न्यायोचित न किया गया हो तो वह देश में निर्धनता एवं लाचारी का कारण बन जाती है। प्रथम महायुद्ध के पहले जैसा कि सर लियोचियोजा मनी (Sir Leochiozza Mo-

ने इंगलैंड के सम्बन्ध में अनुमान लगाते समय कहा था कि इस देश की कुल राष्ट्रीय आय का आधा भाग १२ प्रतिशत जनता द्वारा उपभोग किया जाता है तथा राष्ट्रीय आय का एक तिहाई हिस्सा देश की जनसंख्या के दीसवें भाग द्वारा हड़प कर लिया जाता है।[1] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राष्ट्रीय आय का समान वितरण देश के लिए सदैव हितकर होता है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण का वास्तविक महत्व है। परन्तु किसी समय पूँजी व संचय पर इसका हानिकारक प्रभाव पड़ने से देश की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ सकती है क्योंकि राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण के परिणामस्वरूप देशवासियों के उपभोग स्तर (level of consumption) में परिवर्तन हो जायेगा।

भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन का जन्म सामाजिक कार्यों से हुआ। विदेशी शासन काल में भारतवासियों को अनेक सामाजिक, आर्थिक, राज कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देशवासियों का जीवन अत्यन्त निम्न था देश में सर्वत्र निर्धनता एवं गरीबी के कारण तत्कालीन विचारकों तथा विद्वानों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाय जिससे शासन का ध्यान भारत की दयनीय आर्थिक अवस्था तथा राष्ट्रीय पतन तथा धन के असमान वितरण की ओर आकर्षित किया जा सके।

राष्ट्रीय आय समिति

(National Income Committee)

डा० वी० के० आर० वी० राव द्वारा सन् १९४२-४७ में किये गये राष्ट्रीय अनुमान के पश्चात् भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया। परन्तु देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् इस बात की ओर राष्ट्रीय सरकार का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। भारत सरकार ने देश की राष्ट्रीय आय की गणना करने तथा इसके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से अगस्त १९४९ में 'राष्ट्रीय आय समिति' की स्थापना की जिसके सदस्य प्रो० पी० सी० महालनोबिस (Prof P. C Mahalonobis), प्रो० डी० आर० गैडगिल (Prof. D R Gadgil) तथा डा० राव थे। इस समिति ने कुछ विदेशी विशेषज्ञों जैसे प्रो० साइमन कुजनेट्स (Prof Simon Kuznets) की सहायता से भारत की राष्ट्रीय आय का १९४८-४९ के सम्बन्ध में पहला वैज्ञानिक आधार पर किया गया अनुमान प्रस्तुत किया। समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में जो सन् १९५४ में प्रकाशित हुई भारत की १९४८-४९ की कुल राष्ट्रीय आय १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर

1 *Riches and Poverty* (1910) pp. 47-48

है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी इस भिन्नता का मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक विशेषज्ञ ने अलग-अलग रीति तथा दृष्टिकोण अपना कर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है।

भारत में राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं वे निम्न हैं :—

(१) भारत की राष्ट्रीय आय आँकने में आने वाली सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देश में उत्पादन सम्बन्धी तथा अन्य आवश्यक आँकड़ों का अत्यधिक अभाव है। जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उससे देश की राष्ट्रीय आय का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं होता।

(२) देश की राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कृषि द्वारा प्राप्त होता है परन्तु कृषि उत्पादन तथा कृषि में लगी हुई जनसंख्या की आय व्यय तथा उनके द्वारा की गई बचत का समुचित ज्ञान न होने के कारण राष्ट्रीय आय की गणना करने में बड़ी कठिनाई होती है।

(३) भारत का अधिकांश भाग ऐसा है जहाँ मुद्रा का चलन अति सीमित मात्रा में होता है। फलस्वरूप उत्पादन के अधिकांश भाग का मूल्यांकन नहीं हो सकता। उत्पादन का बहुत बड़ा हिस्सा उत्पादक स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाता है जिसके कारण उसका मूल्य निर्धारित नहीं हो पाता और जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना बड़ा जटिल कार्य हो जाता है।

(४) राष्ट्रीय आय के अनुमान में देश का आकार भी कठिनाई का एक प्रमुख कारण है। एक विशाल तथा अत्यधिक जनसंख्या के कारण भारत जैसे देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में बड़े परिश्रम तथा व्यय की आवश्यकता होती है। अतः राष्ट्रीय आय का अनुमान एक कठिन समस्या है।

(५) हमारे देश के उत्पादन का अधिकांश भाग असंगठित दशा में होने के कारण राष्ट्रीय आय गणना सम्बन्धी कार्य में अत्यधिक असुविधा होती है। उत्पादन सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने तथा उनके सम्बन्ध में आवश्यक निष्कर्ष निकालना जटिल कार्य हो जाता है।

(६) भारत एक ऐसा देश है जिसकी अधिकांश जनता अभी अशिक्षित है। अतः अपनी अज्ञानता के कारण राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए वह आवश्यक सहयोग प्रदान करने में असमर्थ रहती है। अन्य देशों में जहाँ जनसंख्या शिक्षित है, वह राष्ट्रीय आय सम्बन्धी जाँच का महत्व समझती है तथा जिसके लिए हर प्रकार की सहायता देने को तत्पर रहती है।

(७) भारतीय अर्थ व्यवस्था की आधारशिला प्राचीन काल से इसके स्थिर

एवं घरेलू उद्योग रहे हैं। विविध कारणों से विभिन्न घरेलू उद्योग धन्धों के विनाश हो जाने के पश्चात् भी भारत में इस समय अधिक संख्या में लोग अपनी जीविका इस प्रकार के अनेक घरेलू उद्योगों से प्राप्त करते हैं जिनमें लगे हुए व्यक्तियों की आय, उत्पादन व्यय, तथा अन्य बातों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में भूमि पर अत्यधिक भार पड़ने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में अब काश के समय बहुत बड़ी संख्या में लोग शहरों तथा नगरों में जीविका के लिए आते हैं ऐसी अवस्था में एक व्यक्ति कई प्रकार के व्यवसायों से अपनी आय प्राप्त करता है। इस प्रकार व्यवसाय के आधार पर एकत्रित किये गये आँकड़ों द्वारा आँकी गई राष्ट्रीय आय सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त कठिनाइयों से स्पष्ट है कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना एक बड़ा ही जटिल तथा व्ययशील कार्य है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी राष्ट्रीय आय की गणना किसी देश के लिए बड़े महत्व का विषय है। राष्ट्रीय आय की गणना हो जाने के पश्चात् मनचाहे (arbitrary) निष्कर्षों का स्थान नहीं रहता। किसी देश की अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में यह जानने के लिए कि उसमें मुद्रा क्षेत्र (money sector) का कितना विकास हुआ है तथा देशवासियों ने विभिन्न समुदाय क्षेत्रों में विभिन्न करों के भार का सहन करने की कितनी सामर्थ्य है? इसकी जानकारी के लिए राष्ट्रीय आय की गणना अनेक कठिनाई तथा बाधाओं के होते हुए भी एक उपयोगी तथा महत्वपूर्ण कार्य है।

भारत की राष्ट्रीय आय की अन्य देशों की राष्ट्रीय आय से तुलना
(India's National Income compared with National Income of other Countries)

भारत की राष्ट्रीय आय का अन्य देशों की राष्ट्रीय आय से तुलनात्मक अध्ययन के लिए अगले पृष्ठ पर एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है जिसमें संसार के कुछ प्रमुख देशों की कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय दिखाई गई है।

कुछ प्रमुख देशों की राष्ट्रीय आय

देश	१९५०		१९५५	
	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)
भारत	९५३०.०	२६५	९९५०.०	२५२
आस्ट्रेलिया	३२५५.६	३६०६	४५२०.५	५६५१
कनाडा	६०६३.१	४३५२	९९१५.५	६१९७
सीलोन	३८४.०	५४८	५१७.२	७५५
फ्रांस	९९२८.५	२३०९	१६९२४.३	१९३६
पश्चिम जर्मनी	८१००.०	१६८८	१४३४०.०	२६८१
इटली	५२३०.०	१११३	८०००.०	१६८३
जापान	४४५०.०	५३६	८९९०.०	१०१०
संयुक्त राज्य	१४१६८.०	२८३३	२०३०१.३	१९८१
संयुक्त राज्य अमेरिका	११४२८५.७	७५६८	१५४२८५.७	९३५१

उपरोक्त तालिका में भारत की कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय का संसार के अन्य देशों की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के तुलनात्मक अध्ययन से भारत की आर्थिक प्रगति तथा अन्य देशों की अपेक्षा भारतवासियों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। जैसा कि स्पष्ट है भारत की राष्ट्रीय आय उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित सब देशों से कम है। तालिका से इस बात का भी ज्ञान होता है कि राष्ट्रीय आय की दृष्टि से संसार के राष्ट्रों में बड़ा अन्तर है। अमेरिका जैसे धनी देश की प्रति व्यक्ति आय भारत की प्रति व्यक्ति आय से लगभग ३७ गुना अधिक है। आस्ट्रेलिया की लगभग २२ गुना तथा सीलोन की लगभग ३ गुना अधिक है। इस कारण देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए हमें अपने देश के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए काफी प्रयास करना होगा। अधिक उत्पादन द्वारा ही देश की आर्थिक स्थिति सुधर सकती है तथा कुल राष्ट्रीय आय तथा देशवासियों के जीवन स्तर में सुधार हो सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय तुलना में राष्ट्रीय आय की कठिनाइयाँ

(Difficulties in the International Comparison of National Income)

यद्यपि राष्ट्रीय आय के तुलनात्मक अध्ययन का बड़ा महत्व है परन्तु इसकी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में बड़ी कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई

समस्त देशों की राष्ट्रीय मुद्रा (national currency) के एक सामान्य मुद्रा (common currency) में परिवर्तन करने से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ■ एक विकसित देश की राष्ट्रीय आय की तुलना एक अविकसित देश की राष्ट्रीय आय से की जाती है तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। एक धनी और निर्धन देश के आर्थिक जीवन में भिन्नता होने के कारण ही मुख्यतया ये कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। एक अविकसित देश में परिवार का बड़ा विस्तृत अर्थ लगाया जाता है। इस कारण परिवार के सदस्यों द्वारा की गई सेवाओं तथा कुल उत्पादन में उनके द्वारा किये गये उपभोग की मात्रा विकसित राष्ट्र की तुलना में अधिक होती है। धनी देशों के लोगों को अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की सेवाओं का उपयोग करना पड़ता है। इस कारण इन देशों की राष्ट्रीय आय में सेवाओं द्वारा उत्पन्न आय का अधिक महत्व है जब कि निर्धन देश के लोगों को दूसरों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं होती।

राष्ट्रीय आय प्राप्त करने के स्रोत
(Sources of National Income)

किसी देश में राष्ट्रीय आय के अनेक स्रोत होते हैं जिनके द्वारा देश अपनी राष्ट्रीय आय की प्राप्ति करता है। वर्ष भर में उत्पादन के इन समस्त क्षेत्रों में होने वाले कुल उत्पादन का मूल्य चालू मूल्यों के आधार पर निकाल लिया जाता है। हमारे देश में भी कृषि, खान, निर्माण तथा व्यापार इत्यादि से राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। निम्न तालिका में हम देश के मुख्य प्रकार की उत्पादन क्रियाओं द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय का प्रदर्शन करते हैं जिससे इस बात का पता चलता है कि भारत में राष्ट्रीय आय के विभिन्न साधनों का तुलनात्मक महत्व क्या है।

भारत की राष्ट्रीय आय का औद्योगिक वितरण
(प्रतिशत)

राष्ट्रीय आय के साधन	प्रतिशत			
	१९५३ ५४	१९५४ ५५	१९५५ ५६	१९५६ ५७
कृषि	४९ ७	४८ ९	४७ ९	४७ ८
खनिज, निर्माणकारी तथा छोटे उद्योग	१६ ४	१६ ५	१६ ८	१६ ७
व्यापार, यातायात इत्यादि	१८ २	१८ ६	१८ ८	१८ ९
अन्य साधन	१५ ७	१६ ०	१६ ५	१६ ५

उपरोक्त तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय के जो प्रमुख साधन प्रदर्शित किये गये हैं उसके अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रीय आय के प्रमुख साधन कृषि तथा कृषि सम्बन्धी उद्योग ही हैं और इसकी तुलना में अन्य साधनों द्वारा प्राप्त की गई राष्ट्रीय आय बहुत कम है। सन् १९५६-५७ की राष्ट्रीय आय का ४७.८ प्रतिशत भाग कृषि द्वारा प्राप्त हुआ है जब कि उद्योग तथा व्यापार द्वारा क्रमशः १६.७, १८.९ प्रतिशत ही आय प्राप्त हुई है। यह स्वाभाविक ही है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख साधन हो। परन्तु देश की आर्थिक प्रगति एवं समृद्धिशीलता औद्योगिक विकास पर निर्भर करती है। इस कारण हमें आगामी कुछ वर्षों में देश के औद्योगीकरण पर अधिक बल देना होगा। संसार के विशाल तथा विकसित राष्ट्रों की आर्थिक सम्पन्नता का रहस्य भी मुख्यतया यही है कि उन देशों में कुल जन-संख्या का बहुत छोटा भाग कृषि पर आश्रित होने के कारण राष्ट्रीय आय का बहुत ही सीमित भाग कृषि द्वारा प्राप्त होता है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

संसार के प्रमुख देशों में कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय—१९५५
(कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत)[1]

देश	कृषि तथा कृषि सम्बन्धी उद्योगों द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय
भारत	४३.७
कनाडा	१०.७
जापान	२१.८
संयुक्त राज्य	४.६
संयुक्त राज्य अमेरिका	४.३

प्रति व्यक्ति वास्तविक आय
(Per Capita Real Income)

राष्ट्रीय आय समिति के अनुमानों से स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। उदाहरण के लिए सन् १९४८-४९ में उस वर्ष के मूल्यों के आधार पर भारत की प्रति व्यक्ति आय २४६.९ रु० थी जब कि १९५६-५७ की अनुमानित राष्ट्रीय आय १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर २८४ रु० हो गई। परन्तु वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने के कारण राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ साथ देशवासियों के आर्थिक जीवन में

1 United Nations—"*Statistics of Nations Income*"—1957

कोई विशेष सुधार होता दिखाई नहीं देता है। यदि एक ओर प्रति व्यक्ति द्राव्यिक आय (money income) बढ़ती जा रही है तो दूसरी ओर वास्तविक आय में होने वाली प्रगति बड़ी असन्तोषजनक है। सन् १९५०-५१ को आधार वर्ष मान कर भारत की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की प्रगति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

वर्ष	प्रति व्यक्ति वास्तविक आय (आधार वर्ष = १९५०-५१)
१९५०-५१	१००
१९५१-५२	१०१५
१९५२ ५३	१०४ २
१९५३-५४	१०९.२
१९५४ ५५	१०९ २
१९५५ ५६	१११.१
१९५६-५७	११४.९

भारत की पचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय

(National Income During India's Five Year Plans)

राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने भारत की आगामी कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय में होने वाली प्रगति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुमान लगाये हैं। यदि देश में उत्पादन की वृद्धि के लिए बराबर प्रयत्न होता रहे तो देश की १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय लगभग २१ वर्ष के भीतर अर्थात् १९७१-७२ तक दुगुनी हो जाने की सम्भावना है। प्रथम पचवर्षीय योजना काल में देश की राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। परन्तु राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से पता चलता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में देश की कुल राष्ट्रीय आय १०,८०० करोड़ हो गई थी जिससे ११ प्रतिशत के स्थान पर देश की राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत की वास्तविक वृद्धि हुई। इसी प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना के पश्चात् देश की राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि हो जाने का अनुमान योजना आयोग द्वारा लगाया गया है। अग्र तालिका में हम भारत की आगामी वर्षों में होने वाली राष्ट्रीय आय की प्रगति का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

देश की राष्ट्रीय आय की प्रगति (१९५१—१९७६)[1]

काल	पंचवर्षीय योजना	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु०)	जनसंख्या (करोड़)
१९५१ ५६	प्रथम	१०८००	३८ ४
१९५६ ६१	दूसरी	१३४८०	४० ८
१९६१ ६६	तीसरी	१७२६०	४३ ४
१९६६ ७१	चौथी	२१६८०	४६ ५
१९७१ ७६	पाँचवीं	२७२७०	५० ०

जनसंख्या सम्बन्धी उपरोक्त विवेचन से इस बात का आभास होता है कि अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारत की आर्थिक स्थिति अभी सतोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के उत्पादन में निरन्तर प्रगति होती रहे, तभी देशवासियों के लिए पर्याप्त वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

प्रश्न

1 Write a short note on 'National Income of India' *(Agra 1960, 1955)*

2 What do you understand by National Income ? What is the National Income of India ? *(Agra, 1957)*

3 Describe the methods of calculating National Dividend in India ? Discuss the merits and demerits of each method ? *(Punjab, 1955)*

---

1 Ghosh—*Indian Economy*—p 110

अध्याय २५

आर्थिक आयोजन

(Economic Planning)

आर्थिक आयोजन का अर्थ

आयोजन का अर्थ है प्रतिस्पर्द्धी लक्ष्यों के साथ दुर्लभ साधनों का सजग सामंजस्य स्थापित करना। इसके अन्तर्गत, सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य निर्धारित करने पड़ते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम बंटन करके उन्हें अधिकतम् वान्छनीय दिशाओं में प्रवाहित करना पड़ता है। 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' के अनुसार प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत आयोजन का अर्थ "स्पष्टवादी विशेषज्ञों द्वारा राष्ट्र की प्रतिनिधिक संस्थाओं द्वारा निर्धारित उपभोग, उत्पादन, विनियोग, व्यापार एवं आय वितरण के प्राविधिक (technical) समन्वय को कहते हैं। इस प्रकार के आयोजन को न केवल आर्थिक एवं उच्चतर जीवन-स्तर के दृष्टिकोण से देखना है, बल्कि इसके अन्तर्गत जीवन के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय पक्ष का भी समावेश होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार आयोजन का अर्थ आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्यपूर्ण निर्देशन है। उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए और निर्देश कुशल केन्द्रीय अधिकारी के द्वारा दिये जाने चाहिए।

संसार के प्रायः सभी विचारों के लोग आज इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी भी देश की निर्धनता की समस्या और आर्थिक विकास की प्रगति को तीव्र करने के

---

1 Planning under democratic system may be defined as the technical co-ordination by the disinterested experts of consumption, production, investment, trade and income distribution in accordance with social objectives set by bodies representative of the nation. Such planning is not only to be considered from the point of view of economics and the raising of standard of living but must include cultural and spiritual values and the human side of life.—*National Planning Commission*

लिए किसी न किसी रूप में आर्थिक आयोजन अपनाना अति आवश्यक है। क्योंकि आर्थिक आयोजन का मुख्य उद्देश्य उपलब्ध साधनों का तीव्र स्तर पर योजनाबद्ध उपयोग है, जिससे देश के उत्पादन, राष्ट्रीय आय, रोजगार तथा जनता के सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सके। आज से ४० वर्ष पूर्व 'आर्थिक आयोजन' कुछ आर्थिक विवेचकों के एक काल्पनिक स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ न था। यहाँ तक कि सन् १९३० तक अनेक अर्थशास्त्री आयोजित अर्थ-व्यवस्था को एक हास्यास्पद वस्तु ही समझते थे। किन्तु द्वितीय महायुद्ध तक आर्थिक आयोजन लगभग सभी राष्ट्रों की आर्थिक नीति का एक आवश्यक अंग बन गया।

संसार में सोवियत रूस ही ऐसा देश था जिसने अपने आर्थिक विकास के लिए सर्वप्रथम 'आर्थिक आयोजन' का सहारा लिया। अप्रैल सन् १९१८ में बोल्शेविक रूस के प्रधान श्री लेनिन ने 'एकाडेमी ऑफ साइन्सेज' को रूस की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था तथा विशेषरूप से उद्योगों का पुनर्गठन करने के लिए एक योजना (plan) की रूपरेखा तैयार करने का कार्य सौंपा। लेनिन के इस प्रस्ताव के फलस्वरूप २१ फरवरी सन् १९२० में 'स्टेट कमेटी फॉर दी इलेक्ट्रीफिकेशन ऑफ रशा' (GOELRO) का निर्माण हुआ, जिसने दिसम्बर सन् १९२० में देश के २०० सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों की सहायता से २६,५०० मिलियन रूबल (रूसी मुद्रा) की लागत से एक योजना तैयार की। इस योजना का नाम Plan for the Electrification of the U S S R था। इस योजना के अनुसार रूस की 'समाजवादी अर्थ व्यवस्था' (Socialist Economy) की नींव पड़ी।

यह योजना पूर्णतया सफल रही। इसकी सफलता से प्रभावित होकर कॉमरेड स्टालिन ने देश (रूस) के अवसकट के सम्बन्ध में घोषित किया कि 'आयोजन के कार्य तथा महत्ता को कम करना भूल होगी।' और उन्होंने देश के भावी विकास के लिए तीन पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं। इन योजनाओं में क्रमश. ६४,६०० मिलियन १,३३,४०० मिलियन तथा १,९२,००० मिलियन रूबल व्यय करने का अनुमान लगाया गया था। सौभाग्यवश ये तीनों योजनाएँ पूर्णतया सफल रहीं और उनकी सफलता के फलस्वरूप रूस का सर्वाङ्गीण विकास हुआ, जैसा कि अग्र तालिका से स्पष्ट है—[1]

---

1 A Kursky, *The Planning of the National Economy of the U S S R*—p 80

	इकाई (Unit)	१९१३	१९४०	१९४० के उत्पादन का १९१३ से अनु० (१९१३ = १)
(१) राष्ट्रीय आय	ह० मि० रूबल	२१·०	१२८ ३	६·०
(२) सब उद्योगों का सकल (Gross) उत्पादन	"	१६ २	१३८ ५	८ ५
(३) उत्पादन के साधनों का उत्पादन	"	५ ४	८४ ८	१५·५
(४) उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन	"	१० ८	५३ ७	५ ०
(५) कच्चा लोहा (Pig Iron)	मिलि० टन	४ २	१५ ०	३·६
(६) इस्पात (Steel)	"	४ २	१८ ३	४ ४
(७) कोयला	"	२९ ०	१६६ [illegible]	५ ७
(८) तेल	"	९·०	३१·०	३·४
(९) विद्युत शक्ति	ह० मि० कि०	१·९	४८ ३	२६ ०
(१०) मशीन निर्माण तथा धातु कार्य	ह० मि० रूबल	१ ५	५० २	३३ ०
(११) विक्रयार्थ अतिरेक (Surplus) अनाज	मिलियन टन	२१ ६	३८ ३	१ ८
(१२) रुई (Raw cotton)	"	० ७४	२ ७	३ ६

उपरोक्त तीनों पचवर्षीय योजनाओं का आधार लेनिन तथा स्टेलिन द्वारा अपनाया हुआ सिद्धान्त—देश का समाजवादी औद्योगीकरण—था।

प्रोफेसर मारिस डॉब ने ठीक ही कहा—इसमें संदेह है कि पहले कभी भी, संसार के इतने विशाल भू खण्ड पर, इस प्रकार के गहन परिवर्तन, इतने अल्प समय में हुए हों जितना कि सोवियत रूस में हुआ।

रूस ने सिद्ध कर दिया कि (१) कोई भी देश विकास में इसलिए नहीं पिछड़ा कि वह गरीब था या वहाँ बचत और पूँजी निर्माण कम होता था। देश के पिछड़ेपन के कारण आर्थिक संगठन की कमजोरी और लापरवाही होती है। (२) कृषि प्रधान देशों में औद्योगीकरण से खेती का उत्पादन श्रम के अभाव के कारण कम नहीं होता क्योंकि इन देशों के ग्रामीण क्षेत्र पर आवश्यकता से बहुत अधिक आबादी रहती है। (३) विदेशी पूँजी की अत्यधिक सहायता लिये बिना भी विकास हो सकता है (४) राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का केन्द्रीय निर्देशन तथा संचालन, कम से कम समय में आर्थिक प्रगति सम्भव बना देगा। (५) ब्याज तथा लाभ बिना भी विशाल पूँजी तथा विनियोग किया जा सकता है। (६) मूल्य निर्धारण पर लागत, माँग तथा पूर्ति का प्रभाव, हटाया जा सकता है। (७) औद्योगिक मंदी आवश्यक नहीं है।

अमेरिका की राष्ट्रीय प्रगति के जो आँकड़े हमें सुलभ हैं उनसे पता चलता है कि पिछले ७५ वर्षों में हर २० वर्ष बाद अमेरिका का राष्ट्रीय उत्पादन बढ़कर दुगुना

हो गया है। इस प्रकार सन् १६८० की तुलना में इस समय अमेरिका का राष्ट्रीय उत्पादन १३ गुना अधिक है। यह सब आर्थिक आयोजन की ही देन है।

प्रारम्भ में राष्ट्र आर्थिक आयोजन अपनाने में हिचकिचाते थे, क्योंकि इन योजनाओं से 'समाजवाद की गंध' (Socialist flavour) आती थी। परन्तु रूस की योजनाओं की आश्चर्यजनक सफलता एवं विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (economic depression) ने विभिन्न देशों को आर्थिक आयोजन अपनाने के लिए विवश कर दिया। वाडिया एवं जोशी के शब्दों में, 'सोवियत रूस की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के उपरान्त आयोजन आर्थिक रागाधियो के लिए रामबाण औषधि समझी जाने लगी है। यहाँ तक कि पूँजीपति और व्यापारी वर्ग जो आयोजन के शत्रु और स्वतन्त्र व्यापार के पुजारी माने जाते हैं, वे भी आयोजन के पक्के अनुयायी बन गये हैं।' इस प्रकार अनियन्त्रित पूँजीवाद की आर्थिक कमजोरियाँ, युद्ध में अपनाया गया आशिक आयोजन, वर्तमान युद्धजनित भीषण बर्बादी, आर्थिक आयोजन पर अर्थशास्त्रियों की स्वीकृति, समस्त बड़े राष्ट्रों की आयोजन में बढ़ती हुई दिलचस्पी, आयोजन की ओर बढ़ती हुई दिलचस्पी के लिए उत्तरदायी हैं।

आज संसार के लगभग सभी राष्ट्र किसी न किसी प्रकार के आयोजन के पक्ष में हैं। अविकसित राष्ट्रों के लिए तो आर्थिक आयोजन 'जीवन संजीवनी' हो गया है।

भारतवर्ष में आर्थिक आयोजन

(Economic Planning in India)

यों तो भारतवर्ष में समय समय पर कुछ महान् विभूतियों ने अपनी दूरदर्शिता एवं उदारता के कारण जनता एवं सरकार का ध्यान तत्कालीन भारतीय दरिद्रता, पिछड़ी हुई अवस्था एवं अन्य गम्भीर समस्याओं की ओर अपनी विदुषी लेखनी द्वारा आकृष्ट किया है। यत्र-तत्र कुछ प्रयास भी किये गये। परन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक ऐसे कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये जिनको हम 'आर्थिक नियोजन' की संज्ञा दे सकें। इसके दो कारण रहे हैं—एक तो जनता की उदासीनता तथा दूसरे नियोजन से आने वाली 'समाजवादी गंध' (Socialist flavour) जो कि तत्कालीन सरकार को बिल्कुल पसन्द न थी।

सर्वप्रथम देश के माननीय जस्टिस रानाडे ने सन् १८६२ में जनता से भारतीय राजनैतिक अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक, वास्तविक एवं सापेक्षिक अध्ययन करने के लिए अनुरोध किया। इसके द्वारा देश के नेताओं एवं नागरिकों का ध्यान स्वतः भारत की तत्कालीन प्रमुख गम्भीर समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ।

देश के वयोवृद्ध श्रद्धेय डा० एम० विश्वेश्वरैया, जो कि सुप्रसिद्ध इंजीनियर, प्रशासक, राजनीतिज्ञ एवं उद्योगपति हैं, ने १६२० में 'भारत के लिए आयोजित अर्थ

व्यवस्था' (Reconstructing India) नामक पुस्तक प्रकाशित की। उन्होंने अपनी पुस्तक में आर्थिक जीवन के क्रमबद्ध तथा योजनाबद्ध विकास की आवश्यकता पर बल दिया और समस्त भारत के आयोजित विकास के लिए एक वर्षीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

इस प्रकार आयोजन के क्षेत्र में अग्रगणी अथवा अगुआ (pioneer) होने का श्रेय श्री विश्वेश्वरैया को ही है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् १९३८ में आदरणीय पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय आयोजन समिति' (National Planning Committee) नियुक्त की थी। १९३९ से १९४५ तक युद्धजनित परिस्थितियों के कारण उसका कार्य प्रगति न कर सका। युद्ध की समाप्ति पर समिति ने इस विषय पर एक पुस्तकमाला प्रकाशित की।

युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए भारत सरकार ने १९४४ में एक 'योजना तथा विकास विभाग' स्थापित किया। उसी वर्ष प्रान्तीय सरकारों को भी युद्धोत्तर विकास की योजनाएँ तैयार करने के लिए कहा गया।

द्वितीय महायुद्ध-काल में अनेक गैर सरकारी योजनाएँ भी तैयार की गईं, उनमें से प्रमुख ये थीं —

(१) बम्बई के अर्थशास्त्रियों एवं उद्योगपतियों द्वारा तैयार की गई 'बम्बई योजना (Bombay Plan)

(२) श्री एम० एन० राय द्वारा प्रस्तुत 'लोक योजना (People's Plan) तथा

(३) श्री श्रीमन्नारायण द्वारा तैयार की गई 'गांधीवादी योजना' (Gandhian Plan)।

परन्तु दुर्भाग्यवश ये योजनाएँ सफल न हो सकीं क्योंकि इनके पीछे कोई वैधानिक सत्ता नहीं थी।

सन् १९४७ में देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् पुनः आर्थिक नियोजन की ओर ध्यान दिया गया। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया, क्योंकि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता कोई महत्व नहीं रखती है। फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय सरकार ने देश की आर्थिक दशा सुधारने और देशवासियों का जीवनस्तर ऊँचा उठाने का बीड़ा उठाया। श्री श्रीमन्नारायण, सदस्य, प्लानिंग कमीशन, के शब्दों में 'भारत लोकतन्त्रीय व्यवस्था के भीतर आर्थिक आयोजन के महान् प्रयोग पर उतर पड़ा है। हमारे प्रयत्नों में तनिक भी ढिलाई होने से न सिर्फ हमारी आर्थिक प्रगति धीमी होगी बल्कि स्वयं लोकतन्त्र भी खतरे में पड़ जायगा। पंडित नेहरू ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि 'इस समय अगर तनिक

भी देर की गयी तो उसका मतलब यह होगा कि बाद में चलकर और भी ज्यादा मार उठाने पड़ेंगे।'

फलस्वरूप मार्च सन् १९५० में देश के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' की स्थापना हुई, जिससे वह हमारे साधनों का लेखा जोखा तैयार करे, और ऐसी योजना बनाये कि अधिक से अधिक असरदार तथा संतुलित ढंग से उनका उपयोग किया जा सके।

जुलाई १९५१ में योजना का मसविदा 'अधिक से-अधिक सार्वजनिक आलोचना और विचार' के लिए प्रकाशित कर दिया गया। यह मसविदा केन्द्रीय मंत्रालयों, राज्यों तथा जनमत के प्रतिनिधियों की सलाह से तैयार किया गया था। 'कमीशन' को इसके फलस्वरूप जो सुझाव प्राप्त हुए, उनकी रोशनी में मसविदे का सुधार किया गया। दिसम्बर १९५२ में भारतीय संसद के सामने प्रथम पंचवर्षीय योजना अपने अंतिम रूप में प्रस्तुत की गई, और उसे १६ दिसम्बर सन् १९५२ को संसद की स्वीकृति प्राप्त हुई। ३१ दिसम्बर सन् १९५२ को प्रधान मन्त्री ने राष्ट्र के नाम एक सन्देश ब्राडकास्ट किया। उन्होंने कहा कि 'जनता के विभिन्न हिस्सों में अधिक से अधिक मतैक्य का यह प्रतिनिधित्व करती है। ... नवीन भारत के निर्माण के इस महान् प्रयास में हम सब साझीदार बनें।'

उद्देश्य

इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश में विकास कार्य आरम्भ करना था, जिससे लोगों के रहन सहन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके और उन्हें उन्नत जीवन बिताने के लिए नये अवसर प्रदान किये जा सकें। योजना का उद्देश्य केवल संसाधनों का ही विकास करना नहीं, बल्कि मानवीय गुणों का विकास करना और लोगों की आवश्यकता तथा भावनाओं के अनुरूप एक समाज की रचना करना भी था।

सन् १९७७ तक प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करना एक दीर्घकालीन उद्देश्य रखा गया है। प्रथम योजना काल (१९५१ ५६) में राष्ट्रीय आय को ९० अरब रुपये से बढ़ाकर १ खरब रुपये करने का लक्ष्य रखा गया। बचत की दर में वृद्धि करके १९५५ ५६ तक इसे ६¾ प्रतिशत, १९६०-६१ तक ११ प्रतिशत तथा १९६७ ६८ तक २० प्रतिशत कर देने का विचार किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम योजना का उद्देश्य भविष्य में द्रुततर विकास की तैयारी करना था।

सार्वजनिक क्षेत्र के विकास-कार्यक्रम में प्रस्तावित व्यय के लिये प्रारम्भ में २,०६९ करोड़ रुपये रखे गये थे जो बाद को बढ़ाकर २,३५६ करोड़ रुपये कर दिये गये।

प्रथम योजना काल में सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के साथ साथ कृषि के

विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई। परिवहन (transport) तथा संचार साधनों के विकास को भी प्राथमिकता मिली। औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों की पहल तथा निजी साधनों पर छोड़ दिया गया।

व्यय

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में मुख्य मदों पर हुआ वास्तविक व्यय निम्न तालिका में दिया गया है :

मुख्य मदों पर वास्तविक व्यय (प्रथम योजना)

	वास्तविक व्यय (करोड़ रुपये)	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि तथा सामुदायिक विकास	२९९	१४.८
सिंचाई तथा विद्युत	५८५	२९.१
उद्योग और खनन	१००	५.०
परिवहन तथा संचार साधन	५३२	२६.४
समाज सेवाएँ	४२३	२१.०
विविध	७४	३.७
योग	२०१३	१००.०

२०१३ करोड़ रुपये के आँकड़े जो उपर्युक्त तालिका में दिये गये हैं, पाँचवें वर्ष के लिए संशोधित प्राक्कलन पर आधारित हैं। पुनर्विचार किये जाने के फलस्वरूप अन्त वास्तविक व्यय १९६० करोड़ रुपये होने का अनुमान लगाया गया है।

योजना के आर्थिक साधन

प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यय किये गये १९६० करोड़ रुपये की व्यवस्था निम्न साधनों के द्वारा की गई थी :

(करोड़ रुपयों में)

साधन	धनराशि
(१) रेवेन्यू एकाउन्ट से प्राप्त किये गये साधन (रेलवे के अंशदान सहित)	७५२
(२) जनता से प्राप्त ऋण	२०५
(३) अल्प बचत तथा अशोध्य ऋण (Unfunded Debt)	३०४
(४) पूँजीगत लेखों पर अन्य विविध प्राप्तियाँ	९१
(५) वाह्य सहायता	१८८
(६) घाटे की व्यवस्था से प्राप्त साधन	४२०
योग	१,९६०

योजना के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी नींव तैयार करना था जिस पर एक प्रगतिशील तथा विविधतापूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया जा सके। योजना के निर्माण के समय हमारे नवोदित स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र के सम्मुख अनेक महत्वपूर्ण समस्याएँ थीं जैसे खाद्य और कच्चे माल की कमी तथा मुद्रा स्फीति का निरन्तर दबाव। ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक था कि योजना का मूल उद्देश्य भविष्य में शीघ्र उन्नति के लिए भूमिका तैयार करना है। दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ यह भी ध्यान रखा गया कि सतुलित और व्यापक आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हो।

हर्ष का विषय है कि प्रथम योजना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। प्रथम योजना के लघुकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के उद्देश्यों की भरपूर पूर्ति हुई। देश के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई तथा अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई। मुद्रा स्फीति के प्रभाव लगभग समाप्त हो गये। योजना के अन्त में सामान्य मूल्य स्तर प्रारम्भ की अपेक्षा १५% कम था। राष्ट्रीय आय में १८%, कृषि उत्पादन में २०%, विद्युत-शक्ति में ८४%, पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में ७०%, औद्योगिक तथा उपभोगीय पदार्थों में ३४% तथा औद्योगिक उत्पादन में कुल मिला कर ३०% वृद्धि हुई। अनेक महत्वपूर्ण एव आधारभूत कारखाने खोले गये। कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन दोनों ही योजना के निर्धारित लक्ष्यों से कहीं आगे निकल गये। विनियोग की दर में भी प्रगति हुई। योजना के प्रारम्भ में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की ५% थी जो कि योजना के अन्त तक ७% हो गई। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य तथा उनकी प्राप्तियाँ द्वितीय योजना के साथ दी गई हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

उद्देश्य

द्वितीय पंचवर्षीय योजना १५ मई, १९५६ को संसद में प्रस्तुत की गई। इसके मुख्य उद्देश्य हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि;

(२) विशेषकर मूलभूत (बुनियादी) तथा भारी उद्योगों के विकास के साथ *द्रुतगति से औद्योगीकरण,*

(३) रोजगार के अधिक अवसरों की सुविधा; तथा

(४) आय और धन में पाई जाने वाली असमानता में कमी तथा धन का समान वितरण।

व्यय तथा आवंटन

द्वितीय योजनाकाल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा विकास कार्यों पर ४८०० करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया है, जब कि प्रथम योजना में लक्ष्य २३६५ करोड़ रुपये के व्यय का रखा गया था और वास्तविक व्यय १६६० करोड़ रुपये का हुआ। इसमें स्थानीय विकास कार्यों को कार्यान्वित करने में जनता द्वारा दिया गया योगदान सम्मिलित नहीं है। विकास के मुख्य मदों का व्यय-विभाजन निम्न तालिका में दिखाया गया है :

योजना के अन्तर्गत मुख्य विकास शीर्षकों के अनुसार व्यय-विभाजन

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना		प्रथम योजना पर द्वितीय योजना की प्रतिशत वृद्धि
	कुल व्यवस्था (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल व्यवस्था (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	
कृषि तथा सामुदायिक विकास	३५७	१५.१	५६८	११.८	५६.१
सिंचाई तथा विद्युत	६६१	२८.१	६१३	१९.०	३८.१
उद्योग तथा खनन	१७९	७.६	८९०	१८.५	३९७.२
परिवहन तथा सञ्चार साधन	५५७	२३.६	१३८५	२८.९	१४८.७
समाज सेवाएँ	५३३	२२.६	९४५	१९.७	७७.२
विविध	६६	३.०	९९	२.१	४३.५
योग	२,३५६	१००.०	४,८००	१००.०	

४,८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से २,५५९ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार तथा २,२४१ करोड़ रुपये राज्य सरकारें वहन करेंगी। कुल व्यय में से ३,८०० करोड़ रुपये का उपयोग विनियोग के लिए तथा १,००० करोड़ रुपये का उपयोग चालू विकास व्यय के लिए किया जायगा।

निजी क्षेत्र में विनियोग

द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये का विनियोग इस प्रकार होने की सम्भावना है :

	करोड़ रुपये
संगठित उद्योग तथा खनन	५७५
बागान, विद्युत तथा परिवहन (रेलों को छोड़कर)	१२५
निर्माण कार्य	१,०००
कृषि और ग्राम तथा छोटे पैमाने के उद्योग	३००
स्टॉक	४००
	२,४००

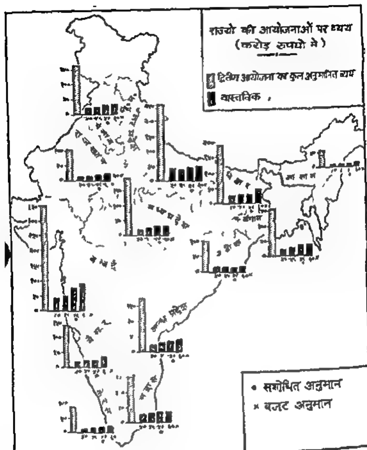
द्वितीय योजना में उद्योगों का स्थान

निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये के विनियोग की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है। इनमें से ७२० करोड़ रुपये औद्योगिक विकास के लिए (खनन, विद्युत उत्पादन तथा वितरण, बागानों और छोटे पैमाने के उद्योगों को छोड़ कर), ५७० करोड़ रुपये नये विनियोगों के लिए तथा १५० करोड़ रुपये आधुनीकरण के लिए उपयोग में लाये जाने का विचार है। ६६५ करोड़ रुपये की शेष राशि के विरुद्ध निजी क्षेत्र के वित्तीय साधन ६२० करोड़ रुपये होने का अनुमान लगाया गया है जो निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है :

निजी क्षेत्र के लिए वित्तीय साधनों के स्रोत (द्वितीय योजना)

(करोड़ रुपये में)

⊦	१९५१-५६	१९५६ ६१
(१) औद्योगिक वित्त निगम (I. F C.), राजकीय वित्त निगमों (S. F. C) और औद्योगिक ऋण तथा विनियोग निगम से ऋण	१८	४०
(२) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ऋण	२६	२०
(३) विदेशी पूँजी	४२—४५	१००
(४) नये निर्गमन (New Issues)	४०	७०
(५) आन्तरिक स्रोत (नये विनियोग आदि)	१५०	३००
(६) अन्य स्रोत (Other Sources)	६१—६४	८०
योग	३४०	६२०



चित्र १२

सरकारी क्षेत्र के लिए वित्तीय साधन

योजना के अन्तर्गत इस सार्वजनिक क्षेत्रों में ४,८०० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे, उनकी पूर्ति करने वाले वित्तीय साधन अगले पृष्ठ पर दिये गये हैं :—

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

(करोड़ रुपयों में)

वित्तीय साधन	धनराशि	धनराशि
चालू राजस्व की आय में से बचत	...	८००
१९५५-५६ के करों की दर पर	३५०	
नए करों से अतिरिक्त आय	४५०	
जनता से ऋण		१,२००
खुले बाजार से ऋण	७००	
अल्प बचतें	५००	
बजट के अन्य सूत्रों से आय		४००
रेलों से प्राप्त आय	१५०	
प्राविडेंट फंड तथा अन्य जमा खातों से	२५०	
विदेशी सहायता		८००
हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन द्वारा		१,२००
कमी जो पूरी की जायगी		४००
योग		४,८००

योजना आयोग द्वारा पुनर्विचार (Reappraisal)

प्रथम तीन वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के कारण योजना आयोग को द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में आवश्यक संशोधन करने पड़े हैं। योजना आयोग के पुनर्विचार के अनुसार वर्तमान योजना पर सार्वजनिक क्षेत्र में ८८० करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में ५७५ करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान लगाया गया है। खनिज विकास के लिए ११० करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया है। सिंचाई तथा शक्ति के लिए ४२० करोड़ रुपये आवंटित किये गये हैं। यदि इस व्यय [redacted] आधा अर्थात् २१० करोड़ रुपये अनुमानत. शक्ति (power) के लिए मान लिया जाय तो द्वितीय योजना में उद्योग एवं शक्ति पर होने वाला कुल व्यय लगभग १,७७५ करोड़ रुपये (८८०+५७५+११०+२१०) होगा।

जहाँ तक उद्योगों का सम्बन्ध है, बड़े उद्योगों पर होने वाला सार्वजनिक व्यय सङ्गठित उद्योगों पर होने वाले निजी व्यय का अधिकांश भारी उद्योग के लिए निर्धारित है। द्वितीय योजना में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास पर होने वाले मूल (original) सकल व्यय—१०६५ करोड़ रुपये—का ८०% भारी उद्योगों और शेष २०% उपभोक्ता वस्तु उद्योगों पर होना है। अतः लोगों का कथन है कि इस

योजना में उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की अपेक्षाकृत उपेक्षा की गई है। परन्तु वर्तमान स्थितियों को देखते हुए, यह स्वीकार करना पडेगा कि सन्तुलित भुगतान की समस्या के निराकरण के लिए उत्पादक वस्तु (producer goods) उद्योगों पर बल देना उचित है। साथ ही साथ मुद्रास्फीतिजन्य (Inflationary) भयानक प्रभावों को दूर करने के लिए, उपभोक्ता वस्तुओं की बढती हुई माँग को पूरा करने के लिए भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

योजना के लक्ष्य एव प्रगति

प्रथम पचवर्षीय योजना एक कृषि प्रधान योजना थी जब कि द्वितीय पचवर्षीय योजना एक उद्योग प्रधान योजना है। यद्यपि द्वितीय योजना में औद्योगीकरण को केन्द्र बिन्दु माना गया है तब भी कृषि एव सामुदायिक विकास योजनाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। प्रथम योजना का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास के लिए नींव डालना था और द्वितीय योजना का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास को आगे बढ़ाना है। द्वितीय योजना काल में कपड़े का प्रति व्यक्ति उपभोग २२ गज तक बढ़ा दिया जायगा तथा बिजली का उपभोग दुगना कर दिया जायगा। सिंचित क्षेत्र में ३१%, विद्युत शक्ति में १०३% तथा खाद्यान्न में १५% वृद्धि हो जायगी। समाजवादी समाज की व्यवस्था करने निर्धन तथा धनवान के अन्तर को कम किया जायगा, प्रादेशिक असमानताओं को कम करके विभिन्न क्षेत्रों का सतुलित विकास किया जायगा तथा राष्ट्र का सर्वाङ्गीय विकास किया जायगा। उत्पादन तथा विकास के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये गये हैं

मद	प्रथम योजना (करोड़ रु० में)	प्रतिशत	द्वितीय योजना (करोड़ रुपये में)	प्रतिशत
१ कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५ १	५६८	११ ८
कृषि	२४१	१० २	३४१	७ १
राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक योजनाएँ	९०	३ ८	२००	४ १
अन्य कार्य (ग्राम पचायत व स्थानीय विकास)	२६	१ १	२७	० ६
२ सिंचाई एव विद्युत	२६१	२८ १	९१३	१९ ०
सिंचाई	३८४	१६ ३	३८१	७ ६
विद्युत	२६०	११ १	४२७	८ ६
बाढ़ नियन्त्रण, अन्य योजनाएँ, जाँच पड़ताल आदि	१७	० ७	१०५	२ २

३ उद्योग और खानें	१७९	७.६	८९०	१८.५
बड़े और मँझले उद्योग	१४८	६.३	६१७	१२.९
खनिज विकास	१	—	७३	१.५
ग्राम तथा छोटे उद्योग	३०	१.३	२००	४.१
४ परिवहन एवं संचार	५५७	२३.६	१,३८५	२८.९
रेलवे	२६८	११.४	९००	१८.८
सड़कें	१३०	५.५	२४६	५.९
सड़क परिवहन	१२	०.५	१७	०.४
बन्दरगाहें	३४	१.५	४५	०.९
जहाजरानी	२६	१.१	४८	१.०
अन्तर्देशीय जल परिवहन	—	—	३	०.१
नागरिक वायु परिवहन	२४	१.०	४३	०.९
अन्य परिवहन	३	०.१	७	०.१
डाक तथा तार	५०	२.२	६३	१.३
अन्य संचार	५	०.२	४	०.१
प्रसारण	५	०.२	९	०.२
५ समाज सेवाएँ	५५३	२२.६	९४५	१९.७
शिक्षा	१६४	७.०	३०७	६.४
स्वास्थ्य	१४०	५.९	२७४	५.७
आवास	४९	२.१	१२०	२.५
पिछड़ी जातियाँ	३२	१.३	९१	१.९
समाज कल्याण	५	०.२	२९	०.६
श्रम व श्रम कल्याण	७	०.३	२९	०.६
पुनःसंस्थापन	७	०.३	२९	०.६
शिक्षितों की बेकारी सम्बन्धी योजनाएँ	—	—	५	०.१
६ विविध	३९	३.०	९९	२.१
योग	२३५६	१००.०	४,८००	१००.०

उपरोक्त लक्ष्यों को निर्धारित करने के कुछ समय पश्चात् तो यह अनुभव किया गया कि कृषि उत्पादन के लक्ष्य देश की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असफल रहेंगे। अतः कृषि उत्पादन के लक्ष्य का संशोधन किया गया यद्यपि आर्थिक साधनों

का आवंटन पूर्ववत ही रहा। कृषि उत्पादन के संशोधित लक्ष्य तथा उनकी मूल लक्ष्यों पर प्रतिशत वृद्धि निम्न तालिका में दी गई है :

	उत्पादन का मूल लक्ष्य	दोहराये गये लक्ष्य	द्वितीय योजना में वृद्धि का प्रतिशत (मूल)	(दोहराये गये)
खाद्यान्न (लाख टन)	७५०	८०५	१५	२३ ८
रुई (लाख गाँठें)	५५	६५	३१	५४ ८
जूट (लाख गाँठें)	५०	५५	२५	३७ ५
गन्ना (गुड़) (लाख टन)	७१	७८	२२	३४·५
तिलहन (लाख टन)	७०	७६	२७	३८ २
अन्य फसलें	—	—	६	२२ ४
सभी वस्तुएँ	—	—	१७	२७·१

योजना की प्रगति

द्वितीय योजना के प्रथम चार वर्षों में कुल ३६६० करोड़ रुपये व्यय किये जाने का अनुमान है। विभिन्न प्रमुख विकास की मदों पर विभिन्न वर्षों में किये गये व्यय का अनुमान निम्न तालिका से होगा :

	१९५६ ५७	१९५७ ५८	(दोहराया हुआ अनुमान) १९५८ ५९	प्रथम चार वर्षों का योग (१९५६ ६०)
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६७	८७	१२३	४१६
सिंचाई एवं विद्युत	१५५	१५८	१७१	६६६
लघु एवं ग्रामीण उद्योग	२८	३३	४१	१४६
उद्योग एवं खनिज पदार्थ	७५	१९४	२५७	७३५
यातायात एवं सन्देश वाहन	२१६	२७०	२६४	१,०६२
सामाजिक सेवाएँ	८६	१०८	१५८	५६६
अन्य	१३	१३	२०	७१
योग	६४१	८६३	१,०६४	३,६६०

तृतीय पंचवर्षीय योजना

विकास की ओर हम काफी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप जनसंख्या के एक विशाल समुदाय, लगभग ४० करोड़ व्यक्तियों के जीवन में चुपचाप धीरे-धीरे बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। हमारे जीवन और विचार का क्रम भी बदल गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना एक कृषि

प्रधान योजना थी, इसका उद्देश्य देश को कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाना था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना आगे आने वाली वृहद् योजनाओं का प्रारम्भ मात्र ही कही जा सकती है। और वास्तविकता तो यह है कि भारतीय गणराज्य के प्रथम दस वर्ष आयोजन की भूमिका (preamble) बनाने के थे। प्रगति चतुर्दिक हुई है। इन वर्षों से यह ज्ञात हुआ कि भारत किस द्रुत गति से पूर्व औद्योगिक युग से निकल कर औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहा है। जब समस्त संसार की विचारधारा औद्योगीकरण के फलस्वरूप परिवर्तित होती जा रही है और जब कि पश्चिम आज अणु युग नहीं स्पुतनिक युग की ओर अग्रसर हो रहा है, तब भारत किस प्रकार पीछे रह सकता है। इस समय देश के औद्योगीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है। तृतीय पंचवर्षीय योजना जिसमें सरकारी और निजी क्षेत्रों में १०,२०० (६२०० + ४०००) करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे, के अन्तर्गत देश के औद्योगीकरण पर अत्यधिक बल दिया गया है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य

(१) अगले ५ साल में राष्ट्रीय आय में वार्षिक ५ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि करना और हिसाब से देश के विकास में रुपया लगाना जिससे आगे भी वृद्धि का यही क्रम जारी रहे।

(२) अनाज की पैदावार में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढ़ाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरतें भी पूरी हों और निर्यात भी हो।

(३) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने स्थापित करना जिससे १० वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीन अपने देश में ही बनाई जा सकें।

(४) देश के जन या जनशक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगों को अधिक रोजगार देना, तथा

(५ धन और आय की विषमता को घटाना और सम्पत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

योजना में प्रस्तावित व्यय

ऊपर जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है, उनको पूरा करने के लिए तीसरी योजना की अवधि में १०,२०० करोड़ रुपये की कुल पूँजी लगाने का विचार है। इसमें से ६२०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में और ४००० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में लगाये जायेंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल खर्च ७२५० करोड़ रुपये होगा। २०० करोड़ रुपये की राशि सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र में तब्दील करने की सम्भावना है, जिससे निजी क्षेत्र में पूँजी का निर्माण हो सके। अग्रलिखित सारिणी में तीसरी योजना के कुल व्यय और पूँजी की दूसरी योजना से तुलना की गई है :—

(करोड़ रुपये में)

योजना का व्यय		चालू व्यय	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल पूँजी
दूसरी योजना	४,६००	६५०	३,६५०	३१००	६७,५१
तीसरी योजना	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

१—सरकारी क्षेत्र से जो १०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में दिये जायेंगे, वे इसमें शामिल नहीं हैं।

तीसरी योजना में उन पूँजी लगाई जायगी, जिस पर दूसरी योजना में लगाई गई है, परन्तु सरकारी क्षेत्र में कृषि, उद्योग, बिजली और कुछ सामाजिक सेवाओं पर अधिक जोर दिया जायगा। दूसरी और तीसरी योजना में सरकारी क्षेत्र में व्यय किस प्रकार बाँटा गया यह निम्नसारिणी में दिया गया है —

(करोड़ रुपये में)

	व्यय		प्रतिशत	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि और छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६६	८६
(२) सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४६	५५
(३) बड़ी और मध्यम सिंचाई योजनाएं	४५०	६५०	९८	९०
(४) योग (१ २ ३)	९८	१,६७५	२१३	२३१
(५) बिजली	४१०	९२५	८६	१२८
(६) ग्राम और लघु उद्योग	१८०	२५०	३६	३४
(७) उद्योग और खनिज	८८०	१,५००	१९१	२०७
(८) परिवहन और संचार	१,२९०	१,४५०	२८१	२००
(९) योग (५ ८)	२,७६०	४,१२५	६००	५६९

(१०) सामाजिक सेवाएँ	८६०	१,२५०	१८.७	
(११) उत्पादन में रुकावट न आने देने के लिए जमा माल	—	२००	—	२.८
(१२) कुल योग	४,६००	७,२५०	१००.०	१००.०

सरकारी क्षेत्र में खर्च किये जाने वाले कुल ७,२५० करोड़ रुपये में से ३६०० करोड़ रुपये केन्द्र और ३६५० करोड़ रुपये राज्य खर्च करेंगे। केन्द्र द्वारा राज्यों को २५०० करोड़ रुपये की सहायता देने का अनुमान है।

धन जुटाने की योजना

सरकारी क्षेत्र में तीसरी योजना में जो खर्च होगा, उसके लिए धन जुटाने की योजना निम्नलिखित सारिणी में दी गई है।

(करोड़ रुपये में)

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) वर्तमान करों के आधार पर चालू राजस्व से बचने वाला धन	१००	३५०
(२) वर्तमान आधार पर रेलों से मिलने वाला धन	१५०*	१५०
(३) वर्तमान आधार पर सरकारी उद्योगों से मिलने वाला धन		४४०
(४) सार्वजनिक ऋण	८१०	८५०
(५) अल्प बचत	३८०	५५०
(६) भविष्य निधि आदि से मिलने वाला धन	२१३	५१०
(७) अतिरिक्त कर और सरकारी उद्योगों के लाभ में से मिलने वाला धन	१,०००	१,६५०
(८) विदेशी सहायता जिसकी बजट में व्यवस्था की गई है	६८२	२,२००
(९) घाटे की अर्थ व्यवस्था	१,१७५	५००
योग	४,६००	७,२५०

*यात्रियों के किराये और माल भाड़े में हुई बढ़ती मिलाकर।

—तृतीय पंचवर्षीय योजना के स्मरणीय तथ्य—

*तीसरी योजना में देश के विकास में १०,२०० करोड़ रु० लगाये जायँगे।
*६,२०० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में और ४००० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में।
*सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागत ७,२५० करोड़ रुपये होगी।
*राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी।
*अनाज की पैदावार १०-१०॥ करोड़ टन कर दी जायगी।
*१ करोड़ टन इस्पात के ढाँचे बनाने की कार्यक्षमता पैदा की जायगी।
*बिजली बनाने की क्षमता ४८ लाख किलोवाट से बढ़ा कर १ करोड़ १८ लाख किलोवाट कर दी जायगी।
*१ करोड़ ३५ लाख आदमियों के लिए नये काम की व्यवस्था की जायगी।
*देश के सब गाँवों में सामुदायिक विकास योजना और सहकारिता का काम चालू कर दिया जायगा।
*६ वर्ष से ११ वर्ष तक की उम्र के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जायगी।
*सब गाँवों में पीने के पानी, रेल और मुख्य मार्ग तक सड़कें और पाठशाला भवन बनाये जायँगे, जो पंचायत और पुस्तकालय का भी काम देंगे।

प्रश्न

1 Write a brief essay on Economic Planning in India, covering not more than four pages of your answer book *(Punjab, 1955)*

2 Give in brief the main features of the Second Five Year Plan for India *(Agra, 1957)*

खण्ड ८

यातायात-साधन एवं समस्याएँ

१ रेल यातायात
२ सड़क यातायात
३ जल यातायात
४ वायु यातायात

अध्याय २६

भारत में यातायात

(Transport in India)

महत्व

यातायात तथा संवादवाहन के साधन किसी भी देश की सभ्यता के मापयन्त्र (barometer) होते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यातायात के साधनों ने मानवीय विकास के इतिहास में इतना महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया है कि इनके द्वारा हमारा सम्पूर्ण जीवन ही एकदम बदल गया है। दैनिक जीवन में इनका महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि आज हम यातायात विहीन जीवन की कल्पना एक क्षण के लिए भी नहीं कर सकते हैं। व्यापार व उद्योग धन्धे एकदम चौपट हो जायेंगे, दैनिक उपयोग की वस्तुएँ दुर्लभ हो जायेंगी, उच्च जीवन स्तर एक स्वप्न मात्र बन जायगा। आधुनिक सभ्य समाज पाशविक बन जायगा और अकर्मण्यता, अकुशलता, बेरोजगारी तथा दुर्लभता का साम्राज्य सर्वत्र छा जायगा। अतः किपलिंग ने ठीक ही कहा है कि "यातायात ही सभ्यता है।" डा० अल्फ्रेड मार्शल ने तो यहाँ तक कहा है कि "यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय आकार के शरीर एवं अस्थियाँ हैं, तो संचार के साधन इनके स्नायु हैं।"

प्रो० सैलिगमैन के अनुसार वह देश समस्त सुख सुविधाओं से सम्पन्न है जिसकी विकास योजना में निम्न तीन बातें सम्मिलित होती हैं :—

(१) मनुष्य और सामग्री यातायात,

(२) बिजली का समस्त राज्य में फैलाना, तथा

(४) एक मनुष्य के विचार दूसरे मनुष्य तक पहुँचाना।

उपरोक्त तीनों प्रकार के उद्देश्य उसी समय पूरे हो सकते हैं जब कि देश में सभी प्रकार के यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास हो।

मनुष्य सदैव से अपनी चतुर्दिक प्रगति के लिए प्रकृति के साथ जो संघर्ष करता रहा है उसी संघर्ष को हम मानव की आर्थिक उत्क्रान्ति कहते हैं। इस उत्क्रान्ति में यातायात साधनों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इन साधनों के द्वारा ही मनुष्य दो प्राकृतिक स्थानों की दूरी कम करने में सफल हो सका है।

विशाल समतल मैदान यातायात की उन्नति को प्रभावित करते हैं और यातायात का प्रभाव मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी पहलुओं पर पड़ता है। व्यापार एवं वाणिज्य पर यातायात का प्रभाव तो और भी महत्वपूर्ण होता है। डा० मार्शल ने तो यहाँ तक कहा है कि "हमारे युग का प्रधान लक्षण निर्माता उद्योगों की उन्नति नहीं बल्कि यातायात उद्योगों की उन्नति है।"

उद्गम

यातायात का उद्गम मनुष्य के विकास की भाँति अस्पष्ट है। इसका प्रारम्भिक इतिहास पौराणिक कथाओं (legends) से आच्छादित है। यातायात के प्रारम्भिक इतिहास तथा विकास का निर्देशन करने के लिए अभी तक कोई अधिकारपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ। अतः इसके प्रारम्भिक विकास के सम्बन्ध में अनुमान ही लगाया जा सकता है। काल की गति के अनुसार यातायात के साधन भी सम्भवतः परिवर्तित होते रहे हैं। अति प्राचीन काल में मनुष्य स्वयं ही अपना सामान एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते थे। शारीरिक संरचना के अनुसार मनुष्य और स्त्री में भार वहन भी विभाजित था। स्त्री अपने सिर पर सामान लाद कर चलती थी और मनुष्य अपने हथियार लेकर चलता था।* आवागमन स्थल मार्गों अथवा पगडंडियों पर ही होता था। धीरे धीरे बोझा ढोने वाले पशुओं का भी प्रयोग में लाया गया और सभ्यता एवं व्यापार की वृद्धि के साथ साथ पहिए वाली गाड़ियों का प्रयोग भी किया जाने लगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। तदनुसार भारी और मजबूत पहिएदार गाड़ियों को चलाने के लिए मजबूत और चौड़ी सड़कों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी और पक्की सड़कें बनाई जाने लगीं।

सभ्यता और ज्ञान के विकास ने यातायात के साधनों को और परिमार्जित किया। यान्त्रिक यातायात के साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। मोटर और रेलगाड़ियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। लागत, समय, दूरी तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए जल और वायु यातायात का भी आविष्कार किया गया।

यातायात के प्रकार

(Kinds of Transportation)

मनुष्य यातायात से लेकर आधुनिक वायु यातायात के मध्य अनेक विभिन्न प्रकार के यातायात के साधन दृष्टिगोचर होते हैं जिनका नीचे चार्ट में इनका स्पष्ट चित्रण किया गया है :—

*R J Eaton *The Elements of Transport*, p 4

(ख) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्

(१०) सन् १९४५ से १९४७ तक (स्वतन्त्रता के पूर्व);

(११) सन् १९४७ से १९५१ तक (स्वतन्त्रता के पश्चात्);

(१२) सन् १९५१ से १९५६ तक (प्रथम पंचवर्षीय योजना);

(१३) सन् १९५६ से १९६१ तक (द्वितीय पंचवर्षीय योजना);

(१४) सन् १९६१ से १९६६ तक (तृतीय पंचवर्षीय योजना)।

विचार काल (१८३२-१८४९ तक)

भारतवर्ष में रेल निर्माण करने का विचार सन् १८३२ में अंकुरित हुआ जब कि कावेरीपट्टन से लेकर करूर तक लगभग १५० मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाने का विचार किया गया था। इसी वर्ष यह भी निश्चय किया गया कि एक रेलवे लाइन मद्रास से लेकर बंगलौर तक बनाई जाय। इन योजनाओं के अतिरिक्त अनेक अन्य योजनाएँ रेल निर्माण के सम्बन्ध में बनाई गई परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १८५३ तक ये योजनाएँ केवल स्वप्न रूप में विचरण करती रहीं। सन् १८३२-१८५३ के काल को महोदय होरेस बेल (Horace Bell) ने 'रेल निर्माण का विचार काल' की संज्ञा प्रदान की है।

पुरानी गारंटी प्रथा (१८४९-१८६९ तक)

७ मई सन् १८४९ को तत्कालीन भारतीय गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत में रेलों के निर्माण की आवश्यकता पर अपनी स्वीकृति प्रदान की। रेलों के निर्माण के लिए E. I. R. तथा G. I. P. रेलवे कम्पनियों से १७ अगस्त १८४९ को प्रारम्भिक समझौते किये गये और गारंटी प्रथा को स्वीकार किया गया। इस प्रथा की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थीं:—

(१) रेलवे लाइन तथा स्टेशन बनाने के लिए आवश्यक भूमि सरकार द्वारा मुफ्त दी जायगी।

(२) समझौते की अवधि ९९ वर्ष होगी।

(३) लगाई गई पूँजी पर ब्याज की दर ४½ से ५% तक होगी और इसकी गारंटी सरकार द्वारा दी जायगी।

(४) रेलवे लाइन तथा तत्सम्बन्धी कार्यों पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रहेगा।

(५) सरकार को यह अधिकार होगा कि २५ या ५० वर्ष के बाद उचित क्षतिपूर्ति देकर किसी रेलवे लाइन को खरीद सकती है।

(६) कम्पनी को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय सरकार को रेलवे वापस दे सकती है और अपनी सम्पूर्ण पूँजी वसूल कर सकती है।

(७) अतिरेक लाभ का ½ भाग कम्पनी सरकार को देगी।

(८) विदेशी विनिमय की दर १ शिलिंग १० पेंस रहेगी।

गारंटी-प्रथा के अन्तर्गत किये गये निर्माण कार्य की कड़ी आलोचना की गई। धन का अत्यधिक अपव्यय किया गया क्योंकि रेलवे कम्पनियों को ब्याज की गारंटी मिल चुकी थी। स्वभावतः मितव्ययता की ओर कोई ध्यान न दिया गया। भारत सरकार को इस काल के अन्तर्गत रेलों से १२ करोड़ रुपये की आय हुई परन्तु ब्याज आदि के रूप में २४½ करोड़ रुपये देने पड़े। इतना अधिक ब्याज देने पर भी रेलवे कम्पनियों की कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई।

इस अवधि में कुल ४२५५ मील रेलवे लाइन का निर्माण किया गया।

(३) सरकार द्वारा रेलों का निर्माण (१८६९-१८८१)

गारंटी प्रथा के दोषपूर्ण साबित हो जाने पर यह सोचा गया कि रेलों के निर्माण तथा सचालन का कार्य भारत सरकार अपने हाथ में लेगी। रेलों के बनाने के लिए ४ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय करना निश्चय किया गया। इस काल में सरकार द्वारा निजी कम्पनियों की तुलना में कहीं नीची लागत पर रेल मार्गों का निर्माण किया गया। छोटी लाइन का प्रचलन भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ। देश में समय समय पर पड़ने वाले अकालों को रोकने के लिए तथा अफगानिस्तान से होने वाली लड़ाई में समर्थ होने के विचार से रेलों के निर्माण की गति तेज करना आवश्यक समझा गया। अतः पुनः सरकार को निजी कम्पनियों का सहयोग प्राप्त करना पड़ा। सन् १८८१-८२ में रेलों की कुल लम्बाई ९८७५ मील थी। इस काल में सरकार को रेल निर्माण में १५ करोड़ रुपये की हानि उठाना पड़ी।

(४) नई गारंटी प्रथा (१८८१-१९००)

इस काल को 'मिश्रित साहस का काल' भी कहते हैं। सरकार ने एक योजना बनाई जिसके अन्तर्गत सरकार ने केवल अनुत्पादक रेलों का निर्माण अपने हाथ में रखा और उत्पादक अथवा लाभदायक रेलों का निर्माण निजी कम्पनियों को सौंप दिया। नई गारंटी प्रथा की शर्तें सरकार के पक्ष में अधिक अनुकूल थीं। सन्-१९०० में रेलों की कुल लम्बाई २४,७५२ मील थी।

(५) प्रथम महायुद्ध के पूर्व (१९००-१९१४)

प्रारम्भ से १९०० तक रेल उपक्रम सरकार के लिए एक घाटे का उपक्रम था। सन् १९०१ में रेलों के सञ्चालन तथा प्रशासन की जाँच करने के लिए महोदय टामस राबर्टसन की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अनेक सुझाव दिये जिसमें से केवल एक माना गया। इसके अनुसार सन् १९०५ में एक रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई जिसको कि रेलों का सम्पूर्ण प्रशासन सौंप दिया गया।

सन् १९०७ ई० में सर जेम्स मैके की अध्यक्षता में एक और समिति नियुक्त की गई जिसके सुझाव के अनुसार सन् १९०८ में रेलवे बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया और उसके अधिकार पहले से अधिक विस्तृत कर दिये गये।

सन् १९१४-१५ में रेलों की कुल लम्बाई ३४,६५६ मील हो गई और कुल लागत ४९५·०८ करोड़ रुपया तक पहुँच चुकी थी।

(६) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९२०)

सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ जाने से रेलों के विस्तार को काफी क्षति पहुँची। एक ओर तो रेलों का निर्माण लगभग रुक गया और दूसरी ओर उन पर बहुत अधिक भार पड़ा। फलतः उनका अत्यधिक ह्रास हुआ और आयात की असुविधाएँ होने के कारण उनकी मरम्मत आदि भी ठीक से न हो सकी।

सन् १९२० तक रेलों की लम्बाई ३६,७३५ मील तक पहुँच गई थी और पूँजी व्यय ५६६·३८ करोड़ रुपया हो गया था।

(७) युद्धोत्तर काल (१९२०-१९२५)

सन् १९२० में सर विलियम एकवर्थ की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये, जैसे—

(१) भारत में रेलों का प्रबन्ध सरकार द्वारा होना चाहिए।

(२) सरकार के सामान्य वित्त (General Finance) से रेल वित्त को अलग कर देना चाहिए।

(३) रेलों के किराये की नीति पर विचार करने के लिए रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल स्थापित किया जाय।

(४) सलाहकार समितियों में जनता के प्रतिनिधि भी होने चाहिए।

(५) निजी कम्पनियों के ठेके, उनकी अवधि के समाप्त होते ही, समाप्त कर दिये जायँ।

(६) रेलवे कर्मचारियों में भारतीयों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए।

(७) रोलिंग स्टाक की मरम्मत और व्यवस्था के लिए संचित कोष और विकास कोष स्थापित किये जायँ।

उपरोक्त सिफारिशों को सरकार ने मान लिया और तदनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ कर दिया। अधिकांश रेलों का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और सन् १९२४ में रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया। सन् १९२५ में रेलों की लम्बाई ३८२७० मील और पूँजीगत लागत ७३३·३७ करोड़ रुपया थी।

(८) आर्थिक मन्दी का समय (१६२५ से १६३८ तक)

इस काल में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सन् १६२६ में दो समितियाँ क्रमश: सर आर्थर डिकेन्सन तथा सर रोबेन की अध्यक्षता में नियुक्त की गई। इन दोनों समितियों ने बड़े महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये जिनको सरकार ने अधिकाश में स्वीकार कर लिया। सन् १६२६ ३० में रेलों की लम्बाई ४१,७२४ मील और पूंजागत लागत ८५६ ७५ करोड़ रुपये थी। सन् १६३० से अवसाद अथवा मंदी का प्रकोप बढ़ा जिसने भारतीय रेलों पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। रेलवे की आय वर्ष प्रति वर्ष घटती चली गई। बजट को ■ तुलित करने के लिए सचित कोष और ह्रास कोष से रुपया निकाला गया। रेलों ने सामान्य बजट को अपना अश देना बन्द कर दिया। इस काल में ह्रास कोष से कुल ३१ १४ करोड़ रुपये निकाल कर व्यय किये गये और सामान्य कोष को दिया जाने वाला १० ७४ करोड़ रुपया रेलवे पर उधार हो गया।

इस काल में ११०० मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाई गई सन् १६३५ में भारत से बर्मा के अलग हो जाने से लगभग २००० मील लम्बा रेल मार्ग बर्मा में चला गया। सन् १६३६ ४० म रेलों की लम्बाई ४१,१५६ मील और पूँजीगत लागत ८५२ ५६ करोड़ रुपये थी।

(६) द्वितीय महायुद्ध काल (१६३६ १६४५ तक)

द्वितीय विश्व युद्ध काल में भारतीय रेलों को अनेक प्रकार के सकटों का सामना करना पड़ा। परन्तु इस काल में पिछले विश्वयुद्ध की अपेक्षा भारतीय रेलें अच्छी दशा में थीं। युद्ध छिड़ जाने के कारण रेलों पर ट्रैफिक अधिक बढ़ गया क्योंकि सैनिक तथा असैनिक दोनों ही प्रकार के यातायात में काफी वृद्धि हुई। रेलें इतना अधिक ट्रैफिक का भार उठाने में बिल्कुल असमर्थ थीं। ट्रैफिक बढ़ जाने से रेलों की आय म वृद्धि हुई, जिससे उन्होंने अपने पुराने ऋण चुका दिये और साधा य वित्त में भी अपना अश देना प्रारम्भ कर दिया। इस काल में रेलों की आय में १००% से भी अधिक वृद्धि हुई और रेलों ने साधा य कोष को १५८ करोड़ रुपये की धनराशि दी।

(१०) स्वतन्त्रता के पूर्व (१६४५ १६४७ तक)

सन् १६४५ म युद्ध के समाप्त होने ही विदेशी व्यापार की परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और रेलों को अपनी सम्पत्ति का नवीनीकरण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १६४६ म एक सुधारक कोष (Betterment Fund) की स्थापना की गई। अभी अधिक काल व्यतीत भी न हुआ था कि १५ अगस्त सन् १६४७ को भारत अपनी चिर दासता की बेड़ियों से मुक्त हुआ। स्वतन्त्रता के साथ ही साथ देश का विभाजन भी हो गया जिसने रेलवे के सम्मुख एक गम्भीर समस्या प्रस्तुत कर दी। विभाजन का रेलों पर क्या प्रभाव पड़ा इसका अध्ययन आगे किया गया है।

(११) स्वतन्त्रता के पश्चात् (१९४७-१९५१)

सन् १९४७ में देश का विभाजन हो जाने के कारण लाखों की संख्या में पाकिस्तानी क्षेत्र से हिन्दू भारत की ओर और भारतीय क्षेत्र से लाखों मुसलमान पाकिस्तान चले गये। इस आवागमन का प्रभाव भारतीय रेलों पर बहुत पड़ा, और रेलों ने इसे बड़ी कुशलता से निभाया। देश के विभाजन के साथ साथ रेलों का भी विभाजन हुआ। इसके साथ-साथ चलित स्टॉक व गाड़ियों आदि का भी बँटवारा हुआ। विभाजन के परिणामस्वरूप निम्न स्थिति हुई —

देश	इंजन	सवारी के डिब्बे	माल के डिब्बे	रेलमार्ग (मील)
भारत	७,२४८	२०,१६६	२,१०,०९९	३०,०१७·५५
पाकिस्तान	१,३३८	४,९८०	४०,२०१	६६५७·८८

यही नहीं कर्मचारियों का भी आदान प्रदान हुआ। पाकिस्तान में काम करने वाले १,२६,००० रेलवे कर्मचारियों ने भारत आने की इच्छा प्रकट की परन्तु इनमें से केवल १,८ ०० कर्मचारी ही आ सके। भारत से ८३,००० रेलवे कर्मचारी पाकिस्तान चले गये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में रेलों के विकास के लिए ४०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई। इस कुल धनराशि में से २५० करोड़ रुपये की धनराशि रेलमार्गों के पुनःस्थापन और विकास पर व्यय की जाने की व्यवस्था थी और १५० करोड़ रुपये रेलमार्ग प्रतिस्थापन तथा साधनों के चालू आधुनिकीकरण के लिए रखे गये। युद्ध काल में उखाड़ी गई रेलों को पुनः बनाना था। इसके अतिरिक्त तृतीय श्रेणी के यात्रियों के आवश्यक आराम के लिए १५ करोड़ रुपये अलग रखे गये। नई लाइनों को खोलने के लिए ५० करोड़ रुपये सुरक्षित किये गये।

योजना काल में रेलों के पुनःस्थापन तथा विस्तार पर ४२१·७३ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-१९६१)

द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय किये जाने वाले ४८०० करोड़ रुपयों में से ९०० करोड़ रुपये रेलों के निमित्त आवंटित किये गये हैं। १५० करोड़ रुपये रेलें स्वयं प्रदान करेंगी। इसके अतिरिक्त २२५ करोड़ रुपये रेलवे द्वारा कोष में लिये जायेंगे। ३·५ करोड़ रुपये विशाखापटनम् बन्दरगाह को स्थानान्तरित कर

दिये गये हैं। शेष ११२१५ करोड़ रुपये प्रमुख मदों पर इस प्रकार व्यय किये जायेंगे :—

द्वितीय योजना में रेलों पर व्यय

मदें (Terms)	करोड़ रुपये
रोलिंग स्टाक	३८०
मालगोदामों सहित लाइनों की क्षमता का विस्तार	१८६
लाइनों की मरम्मत	१००
विद्युतीकरण	८०
नवीन निर्माण कार्य	६६
कारखाना, प्लान्ट तथा मशीनरी	६५
कर्मचारी कल्याण तथा उनके लिए आवास	५०
पुल निर्माण (गंगा पुल सहित)	३३
सिगनलिंग तथा सुरक्षा कार्य	२५
यात्रियों को सुख सुविधाएँ	१५
रेलों का सड़क यातायात में भाग, अन्य कार्य, स्टोर डिपोज इत्यादि	१२१.५
योग	११२५.५

योजना काल में ६ नये रेलवे वर्कशाप और एक छोटी लाइन के डिब्बे बनाने वाली फैक्टरी स्थापित की जायगी। 'चितरंजन लोकोमोटिव वर्कशाप' का विस्तार किया जायगा। इन कार्यों के लिए ६५ करोड़ रुपये खर्च किये जायेंगे। चितरंजन लोकोमोटिव की उत्पादन शक्ति का लक्ष्य ३०० इंजन प्रति वर्ष और कोच बिल्डिंग फैक्टरी का लक्ष्य ३५० डिब्बे रखा गया है। टाटा इलेक्ट्रिक कम्पनी (TELCO) छोटी लाइन के १०० इंजन तैयार किया करेगी। योजना के अन्त तक सवारी गाड़ी के डिब्बों का उत्पादन १२६० से बढ़ कर १८०० प्रति वर्ष और मालगाड़ी के डिब्बों का उत्पादन १३५२६ से बढ़कर २५००० तक हो जाने की आशा है।

रेलों की वर्तमान अवस्था

भारतीय रेलवे वर्तमान समय में सबसे बड़ी राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इस समय भारतीय रेलों की लम्बाई ३५०८१ मील है जो कि एशिया में सबसे अधिक है और संसार में इसका चौथा नम्बर है। सन् १९५६ में प्रति दिन भारतीय रेलों ने औसतन

४० लाख यात्रियों को तथा २७ लाख टन सामान को ढोया। सन् १९५८-५९ के अन्त में रेलों में लगी हुई कुल पूँजी १२६३ करोड़ रुपये थी तथा कुल आय ३९२ करोड़ रुपये थी। रेलों में लगे हुए कर्मचारियों की संख्या ११,४३,६१८ थी और मजदूरी तथा वेतन के रूप में बाँटी गई कुल धनराशि १८३ करोड़ रुपये थी।

रेलों के प्रारम्भ (१६ अप्रैल १८५३) से लेकर इस समय तक इनकी आशातीत प्रगति हुई है। भारतीय रेलों का जीवन अभी एक शताब्दी से तनिक ही अधिक है। परन्तु समय की अपेक्षा में प्रगति कहीं अधिक हुई है। निम्न आँकड़े इस कथन की पुष्टि करते हैं —[1]

भारतीय रेलों की प्रगति

लाख रुपयों में

वर्ष	मील लाइन	लगी हुई पूँजी	कुल आय	चालू व्यय	शुद्ध आय
१८५३	२०	३८	० ६०	० ४१	० ४९
१८६३	२५०७	५३००	२२०	१३३	८७
१८७३	५६९७	९१७३	७२३	३७८	३४५
१८८३	१०४४७	१४८३१	१६३९	७९७	८४२
१८९३	१८,५९	२३३१८	२४०८	११३५	१२७३
१९०३	२६९५६	३४११९	३६०१	१७११	१८९०
१९१३ १४	३४६५६	४९५०९	६३५९	३२९३	३०६६
१९२३ २४	३८०३९	७१७९३	१०७८०	६८४५	३९३५
१९३३ ३४	४२९५३	८८४४१	९९५८	६९५८	३००४
[2]१९४३ ४४	४०५१२	८५८५४	१९९३२	११४११	८५२१
[3]१९४७ ४८	३२९८५	७४९२०	१८३६९	१६३९४	१९७५
१९५० ५१	३४०७९	८३८१८	२६४१२	२१४३९	५०२३
१९५५ ५६	३४७३६	९७५५०	३१७५१	२६१०७	५७१४
१९५८ ५९	३५०८१	१,२६,२८९	३९२३३	३२४५७	६७७६

रेलो का क्षेत्रिक सामूहीकरण
(Zonal Regrouping of Railways)

भारतवर्ष म रेलों के सामूहीकरण के हेतु समय समय पर विभिन्न समितियों द्वारा सुझाव प्रस्तुत किये गये थे। सन् १९२०-२१ में एकवर्थ समिति ने यह सुझाव दिया था कि सम्पूर्ण भारतीय रेलों को तीन क्षेत्रों—पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी—में

1 India 1960, p 349
2 Burma Railways separated in 1937
3 Following Partition on August 15, 1947

संगठित कर दिया जाय। इस प्रश्न पर सन् १९३६ में वेजवुड समिति ने भी विचार किया था। इस समिति ने भी सुझाव दिया कि समस्त रेलों को ८ समूहों में संगठित कर दिया जाय। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यह प्रश्न फिर उठाया गया और सन् १९४८-४९ में कुँजरू समिति को इस सम्बन्ध में अपने सुझाव देने के लिए नियुक्त किया गया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में सरकार को यह सलाह दी कि देश के सम्मुख अनेक गम्भीर समस्याएँ होने के कारण रेलों के सामूहीकरण को आगामी पाँच वर्ष के लिए स्थगित कर दिया जाए। परन्तु यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया और जून १९५० में रेलवे बोर्ड ने ३४,००० मील लम्बी रेलों को ६ समूहों में संगठित करने की योजना तैयार की। कालान्तर में इस योजना में संशोधन किया गया और दो समूह और बनाये गये।

सामूहीकरण के सिद्धान्त

रेलों के सामूहीकरण के सम्बन्ध में निम्न तीन सिद्धान्तों को अपनाया गया है —

(१) यथासम्भव प्रत्येक रेलवे प्रशासन एक सम्पूर्ण और सम्बद्ध क्षेत्र को यातायात सेवाएँ प्रदान करे।

(२) प्रत्येक क्षेत्र इतना बड़ा हो कि उसमें मुख्यालय (H. Q.) स्थापित किया जा सके और वहाँ प्रशिक्षण, अनुसंधान और तान्त्रिक सुधारों के लिए उच्चतम सुविधाएँ उपलब्ध हों।

(३) सामूहीकरण इस प्रकार से किया जाय जिससे रेलवे सेवा और व्यवस्था में कम से कम विस्थापन हो और रेलवे सेवाओं की कार्यक्षमता में बाधा न पड़े।

उपरोक्त के अतिरिक्त यह भी ध्यान रखा गया है कि यथासम्भव प्रत्येक क्षेत्र की आर्थिक एवं औद्योगिक आवश्यकता भी पूरी हो सके।

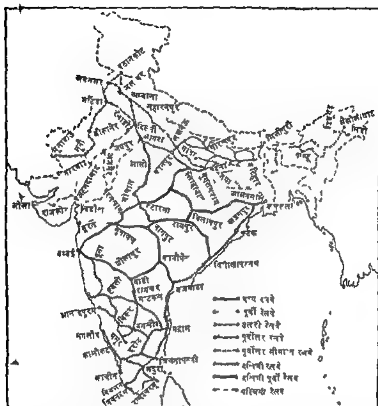
भारतीय रेलों का वर्तमान सामूहीकरण

रेलवे क्षेत्र (Railway Zones)*

क्रम संख्या	क्षेत्र (Zone)	निर्माण की तिथि	जो रेलें शामिल हैं	मुख्य कार्यालय	३१ ३ १९६० को रेल पथ की लम्बाई (मीलमें)
१	दक्षिणी	१४ ४ १९५१	मद्रास एण्ड सदर्न मरहट्टा रेलवे, साउथ इण्डियन एण्ड मैसूर रेलवे	मद्रास	६,१००
२	मध्य	५ ११ १९५१	जी० आई० पी० रेलवे, निजाम स्टेट रेलवे, सिंदिया रेलवे और धौलपुर रेलवे	बम्बई	५,२६६
३	पश्चिमी	५ ११ १९५१	बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे, सौराष्ट्र कच्छ रेलवे	बम्बई	६,०९१
४	उत्तरी	१४ ४ १९५२	राजस्थान रेलवे तथा जयपुर रेलवे ईस्टर्न पंजाब रेलवे, जोधपुर बीकानेर रेलवे, और ई० आई० रेलवे व तीन अपर डिवीजन	दिल्ली	६,३३६
५	उत्तर पूर्वी	१४ ४ १९५२	अवध एण्ड तिरहुत रेलवे, असम रेलवे, और बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे का फतेहगढ़ जिला	गोरखपुर	३,०६०
६.	उत्तर पूर्व सीमा (North East Frontier)	१५ १ १९५८		पण्डु	१,७३८
७	पूर्वी	१-८ १९५५	ईस्ट इण्डियन रेलवे (तीन अपर डिवीजनों को छोड़ कर)	कलकत्ता	१,०२१
८	दक्षिण पूर्वी	१ ८ १९५५	बंगाल नागपुर रेलवे	कलकत्ता	३,४२४

*Source —*India* 1960, p 350

रेलों के सामूहीकरण से निस्सदेह अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं जैसे सीधी गाड़ियों का चलना सरल हो गया है, रेलों के प्रशासन में कार्यक्षमता आ गई है। इसके अति-



चित्र १३—रेलवे चेत्र

रिक्त आर्थिक व्यवस्था, किराया भाड़ा, माल की खरीद, मजदूरी का स्तर आदि महत्वपूर्ण बातों में समान नीति अपनायी जाने लगी है और रेलो की कार्यशील पूँजी का सुन्दर उपयोग होने लगा है। परन्तु आलोचकों का कहना है कि रेलों के सामूहीकरण से कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है और रेलों के खर्चों में भी वृद्धि हो गई है। रेलों का चेत्र इतना बड़ा है कि उनकी देख-रेख करना कठिन हो गया है। आँकड़ों को देखने से स्पष्ट है कि सबसे बड़ा रेल समूह उत्तरीय रेलवे का है जिसके रेल मार्ग की लम्बाई ६३६८.४० मील है और सबसे छोटा चेत्र उत्तर पूर्वी सीमान्त रेलवे का है जिसके रेल मार्ग की लम्बाई १७३८ मील है। सामूहीकरण की योजना में बताया गया था कि प्रत्येक

क्षेत्र की लम्बाई लगभग ५,००० मील होगी परन्तु कुछ क्षेत्र तो ६,००० मील से भी बड़े हो गये हैं। ऐसी दशा में शासन प्रबन्ध कैसे उत्तम हो सकता है। इस योजना में अत्यधिक केन्द्रीकरण टालमटोल तथा लाल फीताशाही के दोष भी दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

उपरोक्त दोषों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतीय रेलों के हित में सामूहीकरण की योजना एक अचूक औषधि सिद्ध हुई है।

रेलों का प्रशासन

(Administration of Railways)

श्री टामस राबर्टसन के सुझाव के अनुसार सन् १९०५ में एक रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई थी। यही रेलवे बोर्ड आज भी भारतीय रेलों के सम्पूर्ण नियन्त्रण तथा प्रशासन के लिए उत्तरदायी है। इस बोर्ड में एक चेयरमैन जो कि केन्द्रीय रेलवे मन्त्रालय का मुख्य सचिव होता है, वित्तीय आयुक्त (Financial Commissioner) तथा ३ सदस्य होते हैं जो कि स्टाफ, यातायात तथा इंजीनियरिंग के अधिकारी होते हैं। इन सदस्यों की स्थिति (status) केन्द्रीय रेल मन्त्रालय के सचिवों के बराबर होती है।

जनता तथा रेलवे प्रशासन में निरंतर तथा निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए निम्नलिखित समितियाँ स्थापित की गई हैं —

(१) प्रादेशिक रेलवे उपभोक्ता सलाहकार समितियाँ,

(२) क्षेत्रीय रेलवे उपभोक्ता सलाहकार समितियाँ, (प्रत्येक रेलवे क्षेत्र के मुख्यालय में),

(३) राष्ट्रीय रेलवे उपभोक्ता सलाहकार परिषद् केन्द्रीय स्तर पर।

एक जनवरी १९५८ से प्रत्येक रेलवे विभाग के लिए विभागीय सलाहकार समितियाँ (D C C) स्थापित की गई हैं।

रेल वित्त व्यवस्था

(Railway Finances)

रेलों की वित्त व्यवस्था में प्रारम्भ से ही अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। महत्व पूर्ण परिवर्तनों के सम्बन्ध में हम यहाँ पर संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

सन् १९२४ २५ के पूर्व रेल वित्त व्यवस्था और सरकार की वित्त व्यवस्था एक में ही मिली हुई थीं। इससे रेलों को काफी हानि उठानी पड़ी। रेलों में स्थायी सुधार करने के लिए आवश्यक था कि सरकारी (सामान्य) वित्त और रेल वित्त को अलग अलग कर दिया जाय। एकवर्थ समिति (१९२०) के सुझाव पर सन् १९२४ २५ में एक समझौते (convention) के द्वारा रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया गया। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं :—

(१) रेलें प्रति वर्ष रेलवे बजट में से सामान्य बजट को व्यापारिक रेलों पर लगी हुई पूँजी पर १% तथा निश्चित रकम चुकाने के पश्चात् जो आधिक्य (surplus) बचेगा उसका $\frac{1}{5}$ भाग देगी।

(२) सामरिक रेलों (strategic lines) पर हानि होने की दशा में उनमें लगी हुई पूँजी पर ब्याज और हानि सरकार को मिलने वाली निश्चित रकम में से काट ली जाया करेगी।

(३) सरकार को उपरोक्त निश्चित रकम चुकाने के पश्चात् यदि कुछ आधिक्य शेष बचता है तो वह रक्षित कोष (reserve fund) में जमा कर दिया जायेगा। यदि यह रकम किसी वर्ष ३ करोड़ रुपये से अधिक हो तो अधिक भाग का $\frac{1}{3}$ भाग सरकार को दिया जायेगा और $\frac{2}{3}$ भाग रक्षित कोष में जमा होगा।

(४) प्रति वर्ष एक निश्चित रकम—रेलों में लगी हुई पूँजी के $\frac{1}{60}$ भाग के बराबर—ह्रास कोष (depreciation fund) में जमा की जायगी।

रेलवे समझौता (Convention) १९४९—सन् १९४९ में उपरोक्त समझौते की व्यापक रूप से परीक्षा की गई और इसके स्थान पर दिसम्बर १९४९ में एक संशोधित समझौता किया गया। इस समझौते की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थीं :—

(१) रेल वित्त सामान्य वित्त से अलग ही रखा जाय और रेलों में लगी हुई पूँजी पर ४% लाभ का विश्वास दिलाया जाय।

(२) प्रतिवर्ष ह्रास कोष (depreciation-fund) में कम से कम १५ करोड़ रुपया जमा किया जाय।

(३) एक 'रेलवे विकास कोष' (Railway Development Fund) स्थापित किया जाय। पूर्व स्थापित 'रेलवे सुधार कोष' (Railway Betterment Fund) को इस कोष (Development Fund) में इस शर्त पर मिला दिया जाय कि आगामी पाँच वर्षों में प्रति वर्ष ३ करोड़ रुपया यात्रियों की सुख सुविधाओं पर अवश्य खर्च किया जायगा।

(४) 'रेलवे रक्षित कोष' (Railway Reserve Fund) का नाम बदल कर 'राजस्व रक्षित कोष' (Revenue Reserve Fund) रखा जाय और इसकी रकम का प्रयोग सरकार को वार्षिक निश्चित रकम चुकाने में तथा रेलवे बजट का घाटा पूरा करने में किया जाय।

संशोधित प्रस्ताव १९५४—उपरोक्त प्रस्ताव ३० मार्च १९५५ को समाप्त हो गया। एक दूसरा प्रस्ताव (१ अप्रैल १९५५ से ३१ मार्च १९६० तक के लिए) पास किया गया। इसकी मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं :—

(१) सामान्य वित्त को दिया जाने वाला अंश (लगी हुई पूँजी पर) ४% पूर्ववत् दिया जाता रहेगा।

(२) ह्रास कोष में अब ४५ करोड़ रुपये वार्षिक जमा किये जायेंगे।

(३) अलाभकर (unproductive) रेलों का निर्माण पूँजीगत व्यय में सम्मिलित किया जाय।

(४) 'रेलवे विकास कोष' में से प्रति वर्ष कम से कम ३ करोड़ रुपये यात्रियों की सुविधाओं के हेतु व्यय किये जायें।

(५) नवनिर्मित रेलों की लागत पूँजी पर ५ वर्ष तक लाभांश न लिया जाय। यह स्थगित धन राशि ५ वर्ष के पश्चात् प्रथम वर्ष से जोड़ कर चुकाई जायगी।

निम्नलिखित तालिका में सन् १९५५ ५६ से रेलों की वित्तीय स्थिति को बताया गया है*—

			(करोड़ रुपयों में)	
वर्ष	कुल आय	कुल व्यय	बचत	सामान्य वित्त को अंशदान
१९५५ ५६	३१६ २९	२५८ २२	५० ३४	३६ ११
१९५६ ५७	३५० ००	२८५ ३६	२६ ६५	३७ ६६
१९५७ ५८	३६८ ५०	३०३ २८	११ ४३	४३ ७९
१९५८ ५९	३९० २१	३३० ८९	५९·३२	५० १९
१९५९ ६०	४२२ ०३	३५१ ७७	६९ २६	५४ ५१
१९६० ६१ (बजट)	४६४ ५०	३८८ ८०	७५ ७०	५७ २७

प्रश्न

1 Write a short note on Indian Railways since 1945

(Rajputana 1951)

2 Describe the importance and the present position of the Railways in India with reference to the need for rehabilitation and adequate equipment as stressed by the First Five Year Plan

(Patna, 1951)

3 Examine the necessity and importance of Rail road Co ordination in India Discuss the working of State Transport in U P from the above point of view *(Agra, 1955 Punjab, 1955)*

4 "Road transport is becoming more popular and causing loss to railway revenues

Comment on the above statement and give suggestions for rail road co ordination *(Agra, 1960)*

*Source —*India* 1960 p 351

अध्याय २७

सड़क यातायात

(Road Transport)

महत्व

एक अमरीकी सुप्रसिद्ध लेखक ने कहा है कि "यदि आप यह जानना चाहते हैं कि समाज की क्या अवस्था है, आप विश्वविद्यालयों तथा पुस्तकालयों में जाकर जान सकते हैं और कुछ धार्मिक स्थानों तथा गिरजाघरों में जाकर भी जाना जा सकता है परन्तु इतना ही ज्ञान वहाँ की सड़कों को देखकर प्राप्त किया जा सकता है।"[1] [illegible] प्रकार सड़कों को किसी देश की आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति का मापदंड समझा जाता है। किसी देश की सड़कों की तुलना साधारणतया मनुष्य के शरीर की धमनियों से की जाती है। जिस प्रकार धमनियाँ मनुष्य के शरीर [illegible] स्वस्थ एवं चैतन्य रखती हैं उसी प्रकार सड़कें भी मनुष्य एवं वस्तुओं के यातायात के द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था को स्वस्थ एवं चैतन्य रखती है। रस्किन ने तो यहाँ तक कहा है कि 'राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति अच्छी सड़कों के निर्माण में ही निहित है।'[2]

सड़क यातायात का महत्व यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक है। सड़क यातायात का महत्व सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामरिक सभी दृष्टिकोणों से सराहनीय है। यही कारण है कि आज संसार के प्रत्येक देश में 'सड़कें और अधिक सड़कें' (Roads & More Roads) का नारा लगाया जा रहा है।

भारत में सड़क यातायात का प्रादुर्भाव

भारत वर्ष में सड़कों का निर्माण ऐसे काल में भी होता था जो कि हमारी स्मरण शक्ति के परे है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से ज्ञात होता है कि

1 "If you wish to know whether society is stagnant, you may learn something by going into universities and libraries, something also by the work that is being done in cathedrals and churches, but quite as much by looking at the roads."—*An American writer*

2 "All social progress resolves itself into the making of good roads."—*Raskin*

भारतवर्ष में ईसा से ५०००.वर्ष पूर्व भी सड़कों का निर्माण बड़ी कुशलता से होता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र म भी मौर्यकाल की विस्तृत सड़कों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भी सड़कों के सम्बन्ध में सन्दर्भ मिलता है। उस समय सड़कों को महापथ के नाम से पुकारा जाता था। विदेशी यात्रियों, जिनमें से मेगस्थनीज और फाहियान, उल्लेखनीय हैं, ने भी अपने संस्मरणों में लिखा है कि उनके भ्रमण के समय में भारत वर्ष में बहुत अच्छी सड़कें पाई जाती थीं।

मुगल शासकों के समय में भी भारतवर्ष म बड़ी बड़ी सड़कें बनाई गईं। इन शासकों मे मुहम्मद तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर तथा औरंगजेब प्रमुख हैं। ब्रिटिश शासन काल में सड़कों की ओर विशेष ध्यान दिया गया, परन्तु उन्होंने भी मुस्लिम शासकों की भाँति केवल सामरिक एव शासकीय महत्व की दृष्टि से ही सड़कों की ओर ध्यान दिया। इस काल में सड़कों के प्रारम्भिक निर्माण का श्रेय तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी को प्राप्त है। सन् १९२७ में स्वर्गीय डा० एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में एक 'सड़क विकास समिति' स्थापित की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (१९२८) में सरकार को यह सुझाव दिया कि सड़क विकास का भार प्रान्तीय और एव स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक शक्ति के परे है। केन्द्रीय सरकार को इसमें अपना योग देना चाहिए। समिति ने और भी अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इन सुझावों के अनुसार सन् १९३० म केन्द्रीय सड़क संगठन तथा सन १९३५ में यातायात सलाहकार काउन्सिल की स्थापना हुई।

सन १९३४ में सरकार ने सड़कों सम्बन्धी उपलब्ध प्राविधिक ज्ञान तथा अनुभव एकत्रित करने के लिए 'भारतीय सड़क कांग्रेस' नामक एक अर्द्ध सरकारी संस्था की स्थापित किया। इस संस्था में वे सब सड़क सम्बन्धी इन्जीनियर तथा ऐसे व्यक्ति जो सड़कों के निर्माण कार्य म रुचि रखते हैं, सदस्य बन सकते हैं। इस समय इस संस्था के सदस्यों की संख्या १२५० के लगभग है। इसने अनेक उपसमितियाँ नियुक्त की हैं जो सड़कों पर पुल बनाने, मिट्टी की शक्ति पर खोज करने और सड़कों की जाँच करने में सहायता करती है।

द्वितीय महायुद्ध ने सड़कों के महत्व को और अधिक बढ़ा दिया और उन्नत सड़कों का विकास भी अच्छा हुआ। सामरिक दृष्टिकोण से सरहदों पर पुरानी सड़कों की मरम्मत और नई सड़कों के निर्माण पर अधिक जोर दिया गया।

नागपुर योजना

सन् १९४३ में देश के प्रमुख सड़क इन्जीनियरों का अधिवेशन नागपुर में बुलाया गया। इस अधिवेशन का उद्देश्य भावी सड़क विस्तार एवं विकास के साधनों तथा पद्धति के सम्बन्ध में योजना बनाना था। इस अधिवेशन में एक १० वर्षीय

व ग्रामीण सड़कें स्थानीय सरकारों के अधीन हैं। ३१ मार्च सन् १९५० तक इस योजना के अन्तर्गत सड़क विकास पर २७·११ करोड़ रुपये व्यय किये जा चुके थे।



चित्र १४—भारत की प्रमुख सड़कें

प्रथम पंचवर्षीय योजना

योजना के प्रारम्भ में सड़क विकास के लिए ९७ ६ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था। यह रकम बाद में बढ़ा कर १३१ ३ करोड़ रुपये कर दी गई। इसमें से २८ करोड़ रुपये राष्ट्रीय सड़कों के विकास के लिए और शेष राजकीय सड़कों पर व्यय किये जाने थे। योजना के अन्त तक केन्द्रीय सड़क कोष के अनुदान को मिला कर कुल व्यय लगभग १५५ करोड़ रुपये हुआ है।

योजना के अन्तर्गत १०,००० मील पक्की और २०,००० मील कच्ची सड़कों के निर्माण का लक्ष्य रखा गया था जो योजना के अन्त तक लगभग पूरा हो गया है। इसके अतिरिक्त १०,००० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत भी की जा चुकी है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत सड़क विकास के लिए केन्द्रीय और रा

स्तर पर २४६ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त २५ करोड़ रुपये केन्द्रीय सड़क कोष से अनुदान के रूप मे लेकर व्यय किये जायेंगे। केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय की जाने वाली धन राशि ८७ ५ करोड़ रुपये है। इसमें से योजना काल में ५५ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। राज्य सरकारों द्वारा सड़क योजना पर १६४ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे।

द्वितीय योजना के अंत तक राष्ट्रीय सड़कें १२,६०० मील से बढ़ कर १३,८०० मील हो जायगी और पक्की सड़के १,०७,००० मील से बढ़ कर १,२५,००० मील हो जायगी। राष्ट्रीय सड़कों मे वृद्धि ७% होगी जब कि पक्की सड़कों में १७%।

नागपुर योजना के काल से लेकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सड़कों का विकास इस प्रकार हुआ है*—

	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य	१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १९५१	९८,०००	१,५१,०००
मार्च ३१, १९५६	१,२२,०००	१,९८,०००
मार्च ३१, १९५८	१,३३,९१०	१,२३,६६६
मार्च ३१, १९६१ (अनुमानित)	१,४४,०००	२,३५,०००

बीसवर्षीय योजना

द्वितीय योजना के पश्चात् भारतीय सड़कों के और अधिक विकास के लिए 'सड़क कांग्रेस' ने एक २० वर्षीय योजना बनाई है। इसके प्रमुख लक्ष्य निम्न लिखित हैं —

(१) विकसित तथा कृषि क्षेत्र में कोई भी गाँव विकसित तथा पक्की सड़क से ४ मील की दूरी पर तथा कच्ची सड़क १½ मील की दूरी से अधिक दूर न हो।

(२) अर्ध विकसित क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से ८ मील की दूरी पर तथा किसी अन्य सड़क से ३ मील की दूरी से अधिक न हो।

(३) एक अविकसित तथा असेविहर क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से १२ मील की दूरी पर और किसी अन्य सड़क से ५ मील की दूरी से अधिक न हो।

इन लक्ष्यों के प्राप्त हो जाने पर देश में प्रति १०० वर्ग मील में औसत ५२

**India* 1960, p 563

मील सड़क होगी जब कि वर्तमान समय में प्रति १०० वर्ग मील में ७८ मील औसत सड़क है।

मोटर यातायात

भारतीय सड़क यातायात को दो भागों में विभाजित किया जाता है—एक तो शहरी यातायात और दूसरा ग्रामीण यातायात। शहरी यातायात के अन्तर्गत मोटर कार, ट्रक, बस, ट्राम, टैक्सी, मोटर, रिक्शा, साइकिल रिक्शा तथा साइकिल आदि आते हैं। इसके विपरीत ग्रामीण यातायात में बैलगाड़ी, इक्का, ठेला, ऊँट गाड़ी तथा घोड़ा गाड़ा आदि आते हैं। मोटर यातायात आज शहरी यातायात का एक सर्वप्रिय साधन बन गया है। अतः इसके विकास में एक विहगम दृष्टि डालना भी अनुचित न होगा।

मोटर यातायात का इतिहास अपेक्षाकृत नवीन है। लगभग ५० वर्ष पूर्व (सन् १९१३ तक) भारतवर्ष में केवल ४,००० मोटर गाड़ियाँ थीं। प्रथम महायुद्ध में देश की सुरक्षा के लिए विदेशों से एक बड़ी संख्या में मोटरगाड़ियाँ आयात की गईं। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ये गाड़ियाँ शहरी यातायात के रूप में प्रयोग में लाई जाने लगीं। सन् १९२९-३० में विश्वव्यापी मन्दी के समय भारत में मोटर यातायात की वृद्धि तेजी से हुई। ट्रकों पर माल लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान तथा मोटरों द्वारा सवारियाँ एक शहर से दूसरे शहर ले आई जाने लगीं। फलतः सन् १९३० के पश्चात् से मोटर और रेल यातायात में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी जिससे रेलों को बड़ी हानि हुई। इस प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए देश में सन् १९३९ में 'मोटरगाड़ी अधिनियम' पास किया गया।

सन् १९३८ में द्वितीय महायुद्ध भी प्रारम्भ हो गया। मोटर यातायात को विकास के लिए एक सुनहला अवसर मिला परन्तु आयात के प्रतिबन्धों के कारण तथा पेट्रोल की कमी के कारण आशातीत प्रगति न हो सकी। युद्ध समाप्त होते ही आयात नियन्त्रण ढील हुए और मोटरगाड़ियों की संख्या पुनः बढ़ने लगी। सन् १९४८ में मोटर गाड़ियों की कुल संख्या २,७७,७३३ थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मोटर यातायात को एक और खुला रास्ता मिला। सड़कों में सुधार हो जाने के कारण तथा योजनाओं के प्रारम्भ हो जाने से मोटरों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती चली गई। सन् १९४७ से सन् १९५८ तक मोटरगाड़ियों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह अगले पृष्ठ पर दी गई है।*

---

* *India* 1960, p. 362

वर्ष	मोटरगाड़ियों की सख्या
१६४७	२,११,६४६
१६५१	३,०६,३१३
१६५६	४,२२,०४१
१६५७	४,५७,७३७
१६५८	४,६६,२०३

रेल सड़क स्पर्धा एवं सामजस्य

स्थल यातायात के दो प्रमुख साधनो—रेल और सड़क—मे प्रतिस्पर्धा ने अपना घर कर लिया है जिसके कारण दोनों ही साधनों को हानि होती रही है। यह प्रतिस्पर्धा भारतवर्ष के लिए कोई अनूठी चीज नहीं है। ससार के अन्य सभ्य देशो जैसे इगलैण्ड और अमेरिका मे भी यह समस्या पाई जाती है।

भारतवर्ष मे रेल और मोटर यातायात मे प्रतिस्पर्धा का उदय प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से होता है। सन् १६२० के पश्चात् से यह समस्या स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। मोटर यातायात ने अपने किरायों को रेलों की अपेक्षा बहुत कम कर दिया है फलत. ट्रैफिक मोटरो की ओर आकर्षित हुआ, रेलो को हानि सहनी पड़ी। सन् १६२७ मे डा० जयकर समिति के सुझाव के अनुसार एक सड़क विकास कोष स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य पेट्रोल पर प्रति गैलन दो आना टैक्स लगाकर सड़क विकास के लिए धन सचित करना था। इससे सड़कों में सुधार हुआ।

सन् १६२६ ३० मे विश्वव्यापी मदी के कारण मोटरो की सख्या म और भी अधिक वृद्धि हुई। मोटरों और ट्रकों की सख्या बढ़ जाने के कारण व्यापारियों को और भी सुविधाएँ प्राप्त हुई। फलत. सवारियो और माल का ट्रैफिक इनकी ओर आकर्षित हुआ और रेलों को प्रति वर्ष २ करोड़ रुपये की हानि होने लगी। सन् १६३२ मे रेल मोटर प्रतिस्पर्धा की बढ़ती हुई समस्या का अध्ययन करने के लिए एक मिचैल कर्कनेस समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। जिनमें से केन्द्रीय सलाहकार सवादवाहन मडल (Central Advisory Board of Communications) का स्थापित किया जाना मुख्य था।

इस मडल का कार्य प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए एक समन्वय की योजना तैयार करना था। अप्रैल सन् १६३३ में सरकार ने एक रेल सड़क यातायात सम्मेलन आयोजित किया जिसमे रेलवे, सड़क यातायात और राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन ने यातायात के सभी साधनो मे समन्वय स्थापित करने का सुझाव

दिया। सन् १९३६ में वेजउड समिति ने भी इस समस्या पर विचार किया और सुझाव दिया कि निजी मोटर चालकों को लाइसेंस दिये जाएँ, सरकारी (रेलों द्वारा) बसें चलाई जायँ। रेल यात्रियों को अधिक सुविधाएँ दी जायँ, भाड़ा कम किया जाय तथा रेलवे अधिकारियों को व्यापारियों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

सन् १९३९ में सड़क यातायात पर नियन्त्रण रखने के लिए मोटरगाड़ी अधिनियम पास किया गया। भारत में मोटर यातायात को नियंत्रित करने में यह अधिनियम बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस अधिनियम को और अधिक प्रशस्त बनाने के लिए सन् १९४६ और सन् १९५६ में संशोधन भी किये गये हैं। सन् १९४८ में इस दूषित प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए सरकार ने अपना अंतिम हथियार—राष्ट्रीयकरण भी अपनाया। इसके अनुसार देश में प्रतिस्पर्धा बहुत कम रह गई है। प्रतिस्पर्धा को और कम करने के लिए सरकार ने सन् १९५० में 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' भी पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्यों में राज्य सरकारों, रेलों और निजी चालकों की साझेदारी से वैधानिक सड़क यातायात निगम (कारपोरेशन) बनाये हैं। ये निगम इस प्रतिस्पर्धा को दूर कर सकेंगे ऐसी आशा की जाती है।

अप्रैल १९५९ को सड़क यातायात पुनर्गठन समिति जिसके अध्यक्ष श्री एम० आर० मसानी थे, ने अपनी रिपोर्ट में यह व्यक्त किया है कि भारत में सड़कों की अपेक्षा रेलों पर अब भी अधिक जोर दिया जाता है। समय समय पर सड़क यातायात पर प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु रेल और सड़क यातायात में वैज्ञानिक ढंग से समन्वय स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। समिति ने सुझाव दिया है कि सड़क निर्माण को प्राथमिकता दी जाय, उसके लिए अधिक धन राशि स्वीकार की जाय, उन पर केवल एक ही टैक्स लगाया जाय तथा डीज़ल तेल के आयात के लिए विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध किया जाय।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण

रेल और सड़क यातायात में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए तथा प्रतिस्पर्धा के दुष्परिणामों को रोकने के लिए सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण एक रामबाण औषधि समझा गया। विभिन्न राज्यों जैसे बम्बई, उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा मद्रास आदि ने अपने राज्यों में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण करके अन्य राज्यों के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य किया। राष्ट्रीयकरण को जनता का एकमेव मत प्राप्त नहीं हुआ। राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में भी लोगों ने काफी तर्क प्रस्तुत किये हैं। आइये, राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष में दिये गये तर्कों को भी संक्षेप में देख लिया जाय।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

(१) राष्ट्रीयकरण के द्वारा यात्रियों को मोटर यातायात की सस्ती और कार्यक्षम सेवाएँ प्राप्त हुआ करेंगी।

(२) मोटर के किराए की दर समान एव निश्चित होगी।

(३) मोटर यातायात से होने वाली आय सरकारी खजाने में जमा होगी।

(४) राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप देश के उन भागों में भी यातायात की सेवाएँ उपलब्ध हो सकेंगी जहाँ कि ट्रैफिक अपर्याप्त होता है।

(५) मोटर यातायात के निजी चालकों द्वारा की जाने वाली अनेक अवांछित क्रियाएँ बन्द हो जायँगी।

(६) सड़क निर्माण तथा उसका उपयोग एक ही सत्ता (सरकार) के हाथ में आ जायगा।

(७) कर्मचारियों की सेवाएँ निश्चित तथा स्थायी हो जायँगी।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

(१) प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने के कारण सड़क यातायात में उचित विकास न हो सकेगा।

(२) सरकार और कर्मचारियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ जायँगे।

(३) निजी चालकों द्वारा जनता को दी जाने वाली अनेक सुविधाएँ जैसे बीच में मोटर रोक देना आदि समाप्त हो जायँगी।

(४) राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप सरकार को मोटर मालिकों को एक मोटी रकम क्षतिपूर्ति के रूप में देनी होगी।

(५) पूँजीगत व्यय बढ़ जायँगे।

(६) सरकार की आय में कमी हो जायगी।

(७) राष्ट्रीयकरण मोटर मालिकों के प्रति एक अन्याय होगा क्योंकि उनके खून पसीने से सींची गई रोजी सरकार द्वारा छीन ली जायगी।

(८) राष्ट्रीयकरण की अपेक्षा सड़क यातायात का नियमन अधिक श्रेयस्कर है।

उपरोक्त विरोधाभास होते हुए भी सरकार ने राष्ट्रीयकरण की नीति को ही अपनाने का निश्चय किया। सन् १६४८ में 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' पास किया गया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को सड़क यातायात पर नियन्त्रण रखने तथा उसे स्वय सचालित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। यहाँ यह बताना भी अनुचित न होगा कि प्रारम्भ में सड़क यातायात को राष्ट्रीयकृत करने का विचार नहीं था परन्तु परिस्थितिवश होकर सरकार को ऐसा करना पड़ा।

सरकार ने एक त्रिपक्षीय (Tripartite) योजना बनाई जिसके अनुसार राष्ट्रीयकरण से प्रभावित होने वाले तीनों पक्ष अर्थात केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा निजी मोटर मालिकों की सयुक्त पूँजी कम्पनियाँ विभिन्न राज्यों में बनाने का विचार था। प्रस्तावित अंश पूँजी का ३०% से ३३% भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा, ३०% से ३५% भाग राज्य सरकारों द्वारा तथा शेष भाग निजी मोटर मालिकों द्वारा दिया जाना था।

पहले तो इस योजना का सभी ने स्वागत किया परन्तु कालान्तर में मोटर मालिकों ने इस योजना में सम्मिलित होना उचित नहीं समझा। फलतः यह योजना असफल हो गई और केन्द्रीय सरकार को १९४८ में 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' पास करना पड़ा। इस समय भारत के अधिकांश राज्यों—असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्य भारत, पंजाब, दिल्ली, बम्बई, राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर, केरल आदि—ने सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। विभिन्न राज्यों में प्रबन्ध व्यवस्था भिन्न भिन्न है।

प्रश्न

1 How far can the State help in the development of road transport in India? (*Agra, 1951*)

2 Write a short note on 'Indian Road Transport'. (*Agra, 1951*)



अध्याय २८

जल यातायात

(Water Transport)

भारत एक प्राचीन देश है। इसके तीन ओर सागर है। उत्तर में इसका प्रहरी हिमालय है और हजारों जल धाराएँ तथा महान नदियाँ जिन्होंने यहाँ के सामाजिक विकास में विशेष योग दिया है, इस भूमि को सींचती हैं। इन जल मार्गों द्वारा ही देश के विभिन्न नगरों के बीच सम्पर्क स्थापित होना सम्भव हो पाता था।

भारतीय जल यातायात के क्षेत्र में सदैव अग्रगण्य रहे हैं। भारत में जहाज निर्माण की कला उतनी ही पुरानी है जितनी उसकी संस्कृति। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष ने सामुद्रिक उद्योग के द्वारा संसार की अन्य संस्कृतियों से सम्बन्ध स्थापित रखा और अन्य राष्ट्रों तथा जातियों को सम्पन्न बनाया। निःसन्देह इस जल उद्योग के बगैर हमारी संस्कृति मूल रूप से निष्प्राण रहती।

भारतीय जहाज उद्योग की मनोरंजक कहानी दोहराने के लिए हमें पुरातत्व-विज्ञान, कला, साहित्य, तथा मुद्रा-विज्ञान की ओर ध्यान देना होगा। जल तथा जहाज उद्योग के प्रथम प्रमाण चिह्न मोहनजोदड़ो के ध्वंसावशेषों से मिलते हैं, जो ५००० वर्ष पुराने हैं। सर्वप्रथम साहसी लोग वृक्षों के खोखले तनों में ही अपार जल राशियों पर अपनी साहसपूर्ण यात्रा को निकल पड़े थे। आज उनके उत्तराधिकारियों ने संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक जाने के लिए तैरने वाले नगरों का—'जल उषा' जैसे लकड़ी और इस्पात के विशाल जहाजों का निर्माण कर लिया है।

वैदिक साहित्य में हमारे जल यातायात उद्योग के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद संहिता की एक ऋचा से यह ज्ञान होता है कि ये नौकाएँ जल पर भारी प्रकार से चलती थीं, "इनकी कड़ियाँ चौड़ी होती थीं, यह आरामदेह, लम्बी-चौड़ी तथा सुरुचिपूर्ण ढंग से सुसज्जित होती थीं, उनकी पतवारें मजबूत तथा बनावट त्रुटिहीन होती थी।"

'राजावलिया' नामक पाली पुस्तक के अनुसार जिस जहाज में विजय तथा उसके अनुगामी बंगाल से भेजे गये थे, उसमें ७०० यात्रियों के लिए स्थान था। 'शख' जातक में एक ऐसे जहाज का उल्लेख है जो ८०० . . . कर् (८")

लम्बा, ६०० क्यूबिट चौड़ा तथा २० पैदम (१ पैदम=६') गहरा था और उसके तीन पाल थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में जहाज निर्माण की कला का काफी विकास हुआ था।

मौर्य काल

यूनानी साहित्य में पाये गये कई उल्लेखों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि ३२५ ई० पूर्व के आसपास भी जहाज निर्माण भारत में एक प्रमुख उद्योग था। एरियन ने जहाज निर्माण केन्द्रों का, ३० पतवार वाले युद्ध पोतों का तथा यातायात नौकाओं का जिक्र किया है।

आन्ध्र में दूसरी तथा तीसरी शताब्दी ईसवी की जहाज अंकित मुद्राएँ पाई गई हैं। इन जहाजों का मस्तक उनके दाहिने हाथ को होता था, उनके सिरों पर एक गोलाकार हाती थी। इसके नीचे उनके पतवार बाहर को निकले हुए होते थे, जो सीधे शहतीरों के आकार के होते थे और जिनके सिरों की चम्मचनुमा आकृति होती थी। जहाज का डेक सीधा होता था और उन पर दो गोलाकार चीजें होती थी, जिनमें से दो मस्तूल निकले हुए होते थे—इनमें से प्रत्येक के ऊपरी भाग पर एक आड़ा शहतीर लगा होता था।

इसके पश्चात् साँची के स्तूप तथा अजन्ता की गुफाओं के युग में हम पाते हैं कि भारतीय जहाज और अधिक मजबूत, बड़े तथा टिकाऊ हो गये थे।

'युक्तिकल्पतरु' प्राचीन भारत की जहाज निर्माण कला पर एक प्रामाणिक तथा सम्पूर्ण अनन्य ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हमें विभिन्न प्रकार के जहाजों के आकार, रूप तथा उनके उपयोगों के बारे में दिलचस्प बातें बताता है। आकार के दृष्टिकोण से दो प्रमुख प्रकार के जहाज हुआ करते थे—

(१) 'सामान्य' जो देश के अन्दरूनी यातायात के काम में लाये जाते थे, तथा

(२) 'विशेष' जो विदेशी यात्राओं के लिए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी में निकोलो कोंटी नामक इटालियन यात्री भारत में आया था। उसने कहा है कि भारतीय योरुप में बनने वाले तत्कालीन जहाजों से बड़े जहाज बनाते थे। मुगलों के काल में भी, देश के विभिन्न भागों में जहाज उद्योग ने बहुत उन्नति की। तत्कालीन साहित्य में उस काल में बंगाल में बनाये गये जहाजों का अत्यन्त मनोरंजक वर्णन है। सागौन, गम्भारी, सियाल, कायल आदि की लकड़ियों के मजबूत तख्तों को लोहे की मेखों से जोड़ कर जहाज में माल रखने की जगह बनाई जाती थी। इसके बाद धातु की चादरें तथा चटाई की किनारें लगाई जाती थीं। इसके बाद लकड़ी के तख्तों का 'डेक' बनाया जाता था और फिर मुख्य 'केबिन' एक अलंकृत प्रकोष्ठ होता था जिसमें कौड़ियों की मालाओं तथा बन्दनवार की सजावट होती थी। मुगल चित्रकला में भी कई प्रकार के जहाजों के अनेक उदाहरण चित्रित हैं।

भारतीय जल यातायात को दो मार्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) आन्तरिक जल यातायात, और

(२) सामुद्रिक जल यातायात।

आन्तरिक जल यातायात को पुनश्च दो मार्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) नदी यातायात, और

(ब) नहर यातायात।

नदी यातायात

(River Transport)

मैगस्थनीज ने अपने भ्रमण संस्मरण में लिखा है कि उसने भारतवर्ष में नाव के द्वारा भ्रमण किया था। १४वीं शताब्दी तक जल यातायात भारतवर्ष में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सर्वप्रथम सन् १८४२ में भारतवर्ष में स्टीमर चलाये गये जो कलकत्ता और आगरा के बीच चला करते थे। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि हमारे देश में नदी यातायात पूर्णरूपेण सन् १८५५ से आरम्भ हुआ।

भारतीय नदियों की दो विशेषताएँ हैं :—

(१) उत्तरी भारत की नदियाँ साल भर तक जलपूर्ण रहती हैं और अच्छे जल मार्ग के रूप में हैं।

(२) दक्षिण भारत की नदियाँ अच्छा जलमार्ग प्रदान नहीं करतीं, क्योंकि एक तो वे ऊँची नीची तथा पठारी भूमि पर बहती हैं, दूसरे बरसात के दिनों में उनमें बाढ़ आ जाती है और गर्मियों में वे सूख जाती हैं।

भारतवर्ष में वर्ष पर्यन्त जलपूर्ण जलमार्गों की कुल लम्बाई ४१,००० मील है जिसमें से नदियों की लम्बाई २६,००० मील और नहरों की लम्बाई २६,००० मील है। इसमें से जल यातायात के योग्य जलमार्ग की लम्बाई ५,००० मील है। इसमें से प्रमुख जलमार्ग गंगा और ब्रह्मपुत्र तथा उनकी सहायक नदियाँ, गोदावरी और कृष्णा तथा उनकी नहरें, केरल राज्य, मद्रास और आन्ध्र राज्यों में कृत्रिम नहर, उड़ीसा में पश्चिमी तटीय नहरें तथा महानदी नहरें हैं। इस समय १,५५७ मील लम्बी नदियाँ मशीन द्वारा चालित जहाजों के द्वारा तथा ३५८७ मील लम्बी नदियाँ बड़ी देशी नावों द्वारा जलमार्ग के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है।*

उपरोक्त सचित विवरण से स्पष्ट है कि भारत में आन्तरिक जल यातायात बड़ी पिछड़ी दशा में है। परन्तु यह समझना कि यह दशा सदैव से ऐसी ही रहा है, एक

*India, 1960, p 362

बड़ी भारी भूल होगी। सन् १८७६ ७७ में कलकत्ता में १८०००, हुगली में १,२५००० और पटना में ६०,००० सामान ले जाने वाली नावें (cargo boats) थीं। परन्तु सन् १८५३ से रेल यातायात का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण आन्तरिक जल यातायात को बड़ी ठेस पहुँची। शनै शनै जल यातायात का पतन होता चला गया। परन्तु हाँ, रेल सड़क प्रतियोगिता की भाँति रेल और जल यातायात में कभी प्रतियोगिता नहीं हुई। इन दोनों के कार्यक्षेत्र अलग अलग रहे हैं।

जल यातायात की प्रगति में बाधक दो मुख्य कारण थे—

(१) भारत में आन्तरिक जल यातायात भिन्न भिन्न राज्यों के अधीन रखा गया। अतः जल यातायात और जलमार्ग के लिए कोई एकसूत्रीय तथा समन्वित योजना न बनाई जा सकी।

(२) विदेशी सरकार ने अपने ध्यान को रेल यातायात के विकास तक ही केन्द्रित रखा, क्योंकि इसमें उसका हित था। रेल और जल यातायात के समन्वय की ओर किंचित भी ध्यान नहीं दिया गया।

जल यातायात के विकास के लिए किये गये प्रयत्न

जल यातायात के विकास की ओर प्रयत्न विदेशी सरकार द्वारा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही किये गये। क्योंकि युद्धकाल में यातायात (traffic) इतना अधिक बढ़ गया कि रेल यातायात और सड़क यातायात इसका वहन करने में असमर्थ थे। फलतः सरकार का ध्यान जल यातायात की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १९४५ में जल यातायात को आयोजित ढंग पर विकसित करने के लिए एक 'केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई और नौचालन आयोग' (Central Waterways, Irrigation and Navigation Commission) नियुक्त किया। सन् १९५० में भारतीय जलमार्गों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए, 'इकोनामिक कमीशन फॉर एशिया एण्ड दी फार ईस्ट' (E C. A F E) की ओर से जल यातायात के विशेषज्ञ श्री ऑटो पापर (Otto Popper) भारत भेजे गये। इन्होंने जल यातायात के विकास के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

नदियों में नौचालन की समस्या का अध्ययन करने के लिए पूना में एक 'नदी अनुसन्धान संस्था' भी स्थापित की गई है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों में जल यातायात को सस्ता बनाने के लिए इंग्लैंड में प्रयोगात्मक जाँच जारी है।

अभी हाल ही में 'आन्तरिक जल यातायात समिति' (Inland Water (Transport Committee 1959) ने सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दी है। इस रिपोर्ट में समिति ने सुझाव दिया है कि एक 'केन्द्रीय तात्रिक संगठन' एक 'प्रशिक्षण संस्था' नदी घाटी योजनाओं में नौचालन की सुविधाएँ तथा देशी नाव सहकारिताओं को प्रोत्साहन दिया जाय।

योजनाओं के अन्तर्गत

आन्तरिक जलमार्गों के विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 'गंगा ब्रह्मपुत्र बोर्ड' स्थापित किया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जलमार्गों के विकास के लिए ३ करोड़ रुपये का आयोजन किया गया है जिसमें से १ करोड़ १५ लाख रुपये बकिंघम नहर और ४३ लाख रुपये पश्चिमी तटीय नहरों के विकास पर खर्च किये जायँगे।[1] तृतीय पंचवर्षीय योजना में ५ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

सामुद्रिक यातायात

(Marine Transport)

प्राचीन भारत में सामुद्रिक यातायात के गौरवपूर्ण इतिहास को हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। भारतीय लोग जहाज-निर्माण में इतने कुशल थे कि १८ वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए भारतीय यार्ड में जहाज बनाये जाते थे। सन् १७३६ और सन् १८६३ के बीच अंग्रेजों ने बम्बई में लगभग ३०० छोटे-बड़े जहाज बनवाये। १८वीं शताब्दी के अन्त तक १७,००० टन के ३५,००० जहाज बनाये गये। इसके बाद २० साल में २२७ जहाज बनाये गये जिनका कुल टनेज १,०५,६६३ था।[2]

भारतीय जहाजरानी उद्योग का पतन २०वीं शताब्दी से शुरू होता है। इसका प्रमुख कारण विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति थी। महात्मा गांधी के शब्दों में 'अंग्रेजी शिपिंग को उन्नति देने के लिए भारतीय शिपिंग को नष्ट हो जाना पड़ा।' प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से अधिक जहाजों की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः विदेशी सरकार को जहाजरानी उद्योग के विकास की ओर ध्यान देना पड़ा। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार ने लकड़ी के जहाजों के बनाने के लिए प्रेरणा दी।

द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) काल में प्रत्येक देश को और अधिक जहाजों की आवश्यकता प्रतीत हुई। अमेरिका ने नार्वे, फ्रान्स और चीन को सहायता दी, इंगलैंड ने भी अपने लिए अमेरिका में जहाज बनवाये। भारत के साथ एकदम उपेक्षा का व्यवहार किया गया। यही नहीं, सरकार ने रेल और समुद्री यातायात में समन्वय स्थापित करने का भी कोई प्रयास नहीं किया। परिणामस्वरूप रेल और सामुद्रिक यातायात के बीच प्रतिस्पर्धा बनी रही।

सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए न तो भारतीय लोगों ने ही कोई प्रयत्न किया और न विदेशी सरकार ने ही कोई प्रोत्साहन दिया। इनके विपरीत जब कभी

1 *Second Five Year Plan*, p. 487.

2 R. K. Mukerjee, *History of Indian Shipping*.

भारतीय कम्पनियों ने अपने जहाज चलाने का प्रयत्न किया तो उन्हें विदेशी कम्पनियों से कठोर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। विदेशी कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियों से दो प्रकार से अनार्थिक प्रतियोगिता करती थीं। प्रथम, भाड़ायुद्ध (Ratewar) करके और द्वितीय, विलम्बित कटौती प्रथा (Deferred Rebate System) अपना कर। भारतीय कम्पनियाँ विदेशी कम्पनियों की घातक प्रतिस्पर्धा का मुकाबला न कर सकीं और शनैः-शनैः उनका पतन होता गया।

सुधार के लिए प्रयत्न

भारतीय जहाजरानी उद्योग के विकास के लिए आवाज सर्वप्रथम सन् १९२२ में स्वर्गीय सर लल्लू भाई सामलदास ने उठाई थी। उन्होंने राज्यसभा में एक प्रस्ताव रखा था कि भारतीय कम्पनियों को अपना भाड़ा (rate) तय करने का अधिकार मिलना चाहिये। परन्तु कुछ न किया गया। जब सरकार पर बहुत असर डाला गया तब सरकार ने फरवरी सन् १९२३ में श्री हेडलम की अध्यक्षता में एक सामुद्रिक व्यापार समिति (M r antile Marine Committee) नियुक्त की। इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये, परन्तु उन सुझावों में से केवल एक सुझाव, भारतीय लोगों को सिखाने का, स्वीकार किया गया और इस कार्य (प्रशिक्षण) के लिए सन् १९२७ में 'डफरिन" नियत किया गया।

सन् १९२८ में तटीय व्यापार को भारतीयों के लिए सुरक्षित कराने के उद्देश्य से श्री एस० एन० हाजी ने केन्द्रीय सभा में एक प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव में यह माँग की गई थी कि शिपिंग कम्पनियों के प्रबन्ध में अधिकांश (७५%) प्रबन्धक भारतीय होने चाहिए। सरकार ने इस प्रस्ताव को एक 'सेलेक्ट कमेटी' को विचार करने के लिए दे दिया। सन् १९३७ में सर अब्दुल हलीम गजनवी ने केन्द्रीय सभा में एक और प्रस्ताव पेश किया, परन्तु उस पर भी कोई विचार नहीं किया गया।

सन् १९४१ में विशाखापट्टनम में एक शिपयार्ड बनाने के लिए सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी को प्रोत्साहन दिया गया। इसके पश्चात् सन् १९४५ में श्री सी० पी० रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में Post-war Reconstruction Policy Sub-Committeee नियुक्त की गई। इस समिति ने अपने महत्वपूर्ण सुझाव सन् १९४७ में प्रस्तुत किये। इन सुझावों को पूरा करने के लिए सरकार ने शिपिंग कारपोरेशन स्थापित किये हैं। जनवरी सन् १९५१ में एक 'भारतीय तटीय सम्मेलन' हुआ, जिसमें यह निश्चय किया गया कि अब तटीय व्यापार शत प्रतिशत भारतीय लोगों के हाथ में रहेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

सन् १९४७ में 'शिपिंग पालिसी समिति' ने आगामी पाँच या सात वर्षों में २० लाख टन जी० आर० टी० का लक्ष्य प्राप्त करने का सुझाव दिया था। प्रथम

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्राप्त सफलता तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों को निम्न तालिका में दिया जाता है :—

शिपिंग की सफलता

(ग्रौस रजिस्टर्ड टनों में)

जहाजों के प्रकार (Type of Vessels)	प्रथम योजना के पूर्व	प्रथम योजना के अन्त में	द्वितीय योजना के अन्त में
तटीय तथा निकटवर्ती	२,१७,२०२	३,१२,२०२	४,१२,२०२
सामुद्रिक (Overseas)	१,७३,५०५	२,८३,५०५	४,०५,५२५
ट्रैम्प (Tramps)	—	—	६०,०००
टैंकर (Tankers)	—	५,०००	२३,०००
सालवेज टग (Salvage Tugs)	—	—	१०००
योग	३,९०,७०७	६,००,७०७	९,०१,७०७

दिसम्बर १९५९ के अन्त में, ७ ३९ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के १५७ जहाज थे जिसमें से २ ७४ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के ८९ तटीय व्यापार के जहाज तथा ४ ६५ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के ६८ वैदेशिक व्यापार के जहाज थे।*

शिपिंग उद्योग के विकास के लिए प्रथम और द्वितीय योजनाओं में क्रमशः २६ ३ करोड़ रुपये तथा ४५ करोड़ रुपये का आयोजन किया था। प्रथम योजना में १८ ७१ करोड़ रुपये ही व्यय किये गये।

तृतीय योजना

८ अगस्त १९५९ को राष्ट्रीय शिपिंग मंडल ने सुझाव दिया कि तृतीय योजना के लिए १९,२८,००० टनेज का लक्ष्य निर्धारित किया जाए। शिपिंग मंडल ने यह भी प्रस्तावित किया है कि उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए १४२ करोड़ रुपये व्यय किए जायें।

प्रश्न

1 Discuss the importance of water transport in India How can this type of transport be further developed and made more beneficial for the country? (*Agra, 1957*)

2 Explain the difficulties of Indian coastal shipping and show how they can be met? (*Agra, 1957*)

3 Write a short note on the shortage of sea ports in India (*Agra, 1960*)

**India* 1960, p 360

अध्याय २६

वायु यातायात

(Air Transport)

प्रारम्भिक इतिहास—भारत में वायु यातायात दूसरे यातायात के साधनों की अपेक्षा एक नव विकसित व्यवस्था है। यहाँ वायु यातायात का प्रारम्भ सर्वप्रथम बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने बम्बई और कराची के बीच वायु यातायात सेवा को शुरु आत करके किया था। इसी वर्ष सर्वप्रथम वायुयान द्वारा इलाहाबाद से नैनी तक एक डाक भेजी गई किन्तु वायु यातायात का वास्तविक विकास प्रथम महायुद्ध के बाद ही हो सका।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—सन् १६२६ में एक वायु यातायात बोर्ड की स्थापना की गई, जिसने देश में वायु यातायात के विकास के लिए हवाई अड्डों के बनवाने एवं नागरिक वायु उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना करने के सुझाव दिये। फलस्वरुप सन् १६२७ में एक नागरिक वायु उड्डयन विभाग बना और सन् १६२८ में अनेक स्थानों पर वायुयान चालकों की शिक्षा के लिए फ्लाइंग क्लबों व हवाई जहाज उतारने के लिए 'हवाई अड्डों' की स्थापना की गई। ३० मार्च १६२६ को 'इम्पीरियल एअरवेज' के द्वारा लन्दन और कराची के बीच वायु-यातायात का प्रारम्भ हुआ। सन् १६३० में यह मार्ग दिल्ली तक बढ़ा दिया गया तथा कराची व देहली के बीच डाक ले जाने के लिए एक समझौता किया गया जो १ वर्ष पश्चात् समाप्त हो गया। १६३१ में यह कार्य देहली के फ्लाइंग क्लब के सुपुर्द किया गया जिसने १ वर्ष तक इसे नियमित रूप से किया।

प्रथम भारतीय प्रयत्न—सन् १६३१ में टाटा सन्स लिमिटेड ने 'टाटा एअरवेज कम्पनी' की स्थापना की जिसने सप्ताह में एक बार कराची से मद्रास तक वायुयान द्वारा यात्रियों को लाने व ले जाने का कार्य आरम्भ किया। यह वायुयान बम्बई व अहमदाबाद में ठहरते थे। सन् १६३४ में टाटा के वायुयान हैदराबाद में भी रुकने लगे और सन् १६३५ में बम्बई त्रिवेंद्रम व बम्बई दिल्ली मार्ग पर भी वायुयान चलने लगे। सन् १६३६ में टाटा एअरवेज ने अपने मार्ग को कोलम्बो तक बढ़ा लिया। भारत सरकार ने अपनी डाक भेजने का कार्य भी टाटा एअरवेज को दिया

जिससे आय से इसकी स्थिति काफी दृढ़ हो गई और अपना कार्य सफलतापूर्वक करती रही।

सन् १९३३ में भारत सरकार, ब्रिटेन की सरकार व ब्रिटिश एअरवेज ने मिल-कर एक नई कम्पनी 'इण्डिया ट्रान्स कान्टीनेन्टल लिमिटेड' की स्थापना की जिससे इंग्लैण्ड से कराची तक आने वाले जहाज रगून तक जा सकें और वहाँ से 'क्वेन्टास एम्पायर एअरवेज' द्वारा सिंगापुर होते हुए आस्ट्रेलिया जा सकें।

सन् १९३३ में एक दूसरी कम्पनी 'इण्डियन नेशनल एअरवेज' की भी स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में था। इसने कराची और लाहौर के बीच वायु-यातायात सेवा प्रदान करने का प्रबन्ध किया।

सन् १९३६ में एक तीसरी कम्पनी 'एअर सर्विसेज आफ इण्डिया' लिमिटेड की स्थापना हुई। इसने बम्बई काठियावाड़ मार्ग पर अपनी वायु यातायात सेवाएँ प्रदान की और शीघ्र ही काफी उन्नति कर भारत के वायु यातायात का ७०% भाग अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु अधिक हानि व सरकार की सहायता के अभाव में सन् १९४० में इसे बन्द हो जाना पड़ा।

साम्राज्य हवाई डाक योजना १९३८ (Empire Air Mail Scheme, 1938)—सन् १९३८ में साम्राज्य हवाई डाक योजना प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के सभी देशों की डाक वायुयानों द्वारा भेजने का निश्चय किया गया। भारत की डाक इम्पीरियल एअरवेज द्वारा कराची में भारत सरकार को देने और भारतीय वायुयानों द्वारा इसके बाँटने का निश्चय किया गया। इस कार्य के लिए टाटा एअर-वेज लिमिटेड व इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड के साथ १५ वर्ष के समझौते किये गये जिनकी शर्तें ये थीं—

(१) टाटा एअरवेज कराची-बम्बई मार्ग पर डाक ले जाने का कार्य करें जिसके लिए सरकार द्वारा १५ लाख रुपये देने का समझौता हुआ। टाटा कम्पनी ने इस धनराशि के बदले ५,००,००० लाख पौण्ड डाक ले जाने का आश्वासन दिया। इससे अधिक मात्रा में डाक ले जाने पर १ रुपये प्रति पौण्ड और देने को कहा गया।

(२) इण्डियन नेशनल एअरवेज को कराची से लाहौर तक डाक ले जाने का कार्य सौंपा गया जिसके लिए सरकार द्वारा उसे १,३०,००० पौण्ड डाक ले जाने पर ३.२५ लाख रुपये देने का समझौता था। इससे अतिरिक्त उक्त तादाद से अधिक डाक ढोने पर इसे भी १) प्रति पौण्ड अतिरिक्त शुल्क मिलने का समझौता था।

उक्त योजना से भारतीय वायु यातायात को प्रोत्साहन मिला। इसके अन्तर्गत टाटा एअर लाइन्स ने ४½ लाख रुपया प्रतिफल कमाया व इण्डियन नेशनल एअर-वेज ने ३½ लाख रुपये प्रति वर्ष प्रतिफल कमाया।

द्वितीय युद्धकाल—युद्धकाल भारत में वायु यातायात विकास के लिए स्वर्णिम अवसर रहा। १९४२ में जापान के युद्ध में प्रविष्ट होने के कारण भारतीय वायु यातायात को सामरिक महत्व मिल गया। फलतः सरकार द्वारा यातायात कम्पनियों को अपने मार्ग विकसित करने के लिए प्रत्येक उपलब्ध व सम्भव सहायता दी गई। कुछ समय पश्चात् टाटा एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज को युद्ध यातायात आदेशक (War Tran port Command) के अन्तर्गत कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। कम्पनी के यात्री वायुयानों की पूरी सीटों का किराया, चाहे वे भरी हों अथवा खाली, सरकार द्वारा दिया जाता था। इस प्रकार युद्धकाल उक्त २ कम्पनियों के विकास के लिए स्वर्णिम अवसर रहा। इस काल तक इन कम्पनियों की आर्थिक दशा अधिक अच्छी हो गई थी, इन्हें पट्टे पर प्राप्त किये गये आधुनिक वायुयानों के सचालन का अधिक प्राविधिक ज्ञान हो चुका था एव सरकारी क्षेत्र में इन्हें अच्छी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। टाटा एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज के जहाज १६ मार्गों में चलते थे। १९४५ में यात्रियों की सख्या १९३८ की तुलना में ८ गुनी हो गई थी तथा ढोए गये माल की मात्रा दुगनी।

युद्धोपरान्त वायु यातायात नीति (Post war Policy)—युद्धोपरान्त वायु यातायात विकास योजना के रूप में सरकार ने वायु यातायात के विकास नियन्त्रण पर सुझाव देने के लिए एक समिति Post war Reconstruction Policy Sub Committee on Post and Aviation नियुक्त की जिसने वायु यातायात के विकास के लिए अपने सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किए—

(१) वायु यातायात सेवाओं के विकास व सचालन का कार्य निजी व्यापारिक सस्थाओं द्वारा किया जाय।

(२) प्रत्येक कम्पनी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व अक्टूबर १९४६ में स्थापित हुई "Air Transport Licensing Board" नामक सस्था से लाइसेंस प्राप्त करे।

(३) भारत में सम्पूर्ण वायु मार्गों पर वायु यातायात सेवाओं का सचालन केवल चार कम्पनियों द्वारा किया जाय।

(४) कम्पनियाँ अपनी निजी पूँजी लगावें और हानि लाभ की स्वय उत्तरदायी हों।

(५) कुछ विशेष परिस्थितियों में सरकार वायु यातायात की कम्पनियों को आर्थिक सहायता प्रदान करे।

(६) विशेष परिस्थितियों में सरकार वायु यातायात के सचालन में भाग ले एव इस उद्देश्य के लिए कम्पनी के बोर्ड में अपना एक सचालक (Director) नियुक्त करे।

युद्ध के पश्चात् वायु यातायात का एकदम बड़ी तेजी से विकास हुआ। युद्ध की परिस्थितियों ने व्यापारिक साहस (commercial enterprise) में एक ओर ऐसे विश्वास को पैदा किया कि 'वायु यातायात' की कम्पनियां भारी लाभ कमा सकती हैं और दूसरी ओर 'डकोटा' आदि वायुयानों को सस्ते मूल्य पर बिक्री के लिए खुले बाजार में प्रस्तुत किया जिसके कारण अनेक नवीन वायु यातायात कम्पनियों की स्थापना हुई। १६४६ के अन्त तक वायु यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड ११ कम्पनियों को आन्तरिक मार्गों पर अपनी सेवाओं का सचालन करने के लिए लाइसेंस दे चुका था।

भारत ने १६४८ में एअर इंडिया इन्टरनेशनल लिमिटेड की स्थापना के साथ अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात में भाग लेना प्रारम्भ किया। इस कम्पनी के अन्तर्गत भारत सरकार व टाटा कम्पनी का सयुक्त स्वामित्व था। इसके बोर्ड में सरकार ने एक विशेष सचालक की नियुक्ति की थी जिसे यातायात नीति सम्बन्धी मामले में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। कम्पनी को आर्थिक सहायता के रूप में, सरकार ने प्रथम पाँच वर्षों तक होने वाली प्रत्येक आर्थिक हानि को पूरा करने का आश्वासन दिया था। पर हानि पूर्ति के लिए दी गई राशि का रूप ऋण ही था क्योंकि कम्पनी को अपने लाभ कमाने की स्थिति में ऐसी सम्पूर्ण राशि को लौटाने का दायित्व था। १० वर्षों तक पश्चिमी मार्गों पर कम्पनी को अपनी सेवाओं को सचालित करने का एकमात्र अधिकार था।

१६४८ से 'एअर इण्डिया इण्टरनेशनल' ने बम्बई और लन्दन के बीच अपनी वायु सेवा को सप्ताह में १ बार के क्रम से प्रारम्भ किया। इस सेवा के लिए कम्पनी अपने ४ सीटों वाले आधुनिकतम 'लाकहीड कासटेलेशन' (Lockheed Constellation) वायुयान का प्रयोग करती थी। १६५० से इसी कम्पनी ने अपनी, पूर्वी अफ्रीका, बम्बई, अदन, नैरोबी वायु सेवाओं को भी महीने में २ बार के क्रम से प्रारम्भ किया।

१६४६ से, 'भारत एअरवेज लिमिटेड' ने अपने स्काईमास्टर जहाजों की सहायता से कलकत्ता, बैंकाक, हागकाग, टोकियो के बीच वायुयान सेवा प्रारम्भ की। सकटमय राजनैतिक वातावरण के कारण काफी समय तक इस कम्पनी की वायु यातायात सेवा कलकत्ता और बैंकाक के बीच सप्ताह म एक बार तक ही चलती रही किन्तु बाद म यह सिंगापुर तक बढ़ा दी गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी वायु यातायात की कम्पनियाँ बराबर प्रगति करती रहीं और उन्होंने अधिक से अधिक लाभ कमाया। इसी समय कलकत्ता व अगरतला के बीच वायु यातायात के लिए 'कलिंग

एअरवेज' की तथा अन्य मार्गों पर 'डालमिया जैन एअरवेज', 'जूपिटर एअरवेज' तथा 'एयर सर्विसेज आफ इण्डिया' की स्थापना हुई।

रात की वायु डाक योजना (Night Air Mail Service)—नागरिक उड्डयन (Civil Aviation) के इतिहास में हम दूसरा विकास का चरण १९४९ में 'रात की वायु डाक-योजना' के संस्थापन के रूप में पाते हैं। इस योजना के अनुसार कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास से एक एक जहाज रात में डाक लेकर चलते थे, और नागपुर में मिलते थे तथा आपस में डाक की अदला-बदली करके सुबह तक अपने अपने स्थानों तक लौट आते थे। जनवरी १९४९ में सरकार ने 'रात की वायु डाक' ढोने का कार्य 'इण्डियन ओवरसीज एयर लाइन्स' को सौंपा, किन्तु ५ महीने के अन्दर ही यह आर्थिक हानि के कारण स्थगित हो गई। इसके पश्चात् 'डेक्कन एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज' को यह कार्य दिया गया, परन्तु वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने से पूर्व सन् १९४९ में यह योजना समाप्त कर दी गई। वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर पुनः यह कार्य प्रारम्भ किया गया और एक गैर-शिड्यूल्ड (Non schedule Op rator) कम्पनी 'हिमालयन एवीएशन' को यह कार्य प्रारम्भ में अस्थाई लाइसेंस के अन्तर्गत अक्टूबर '४९ तक के लिए सौंपा गया किन्तु बाद में लाइसेंस की अवधि जनवरी १९५१ तक बढ़ा दी गई। इसके कारण दूसरी यातायात की कम्पनियों में तीव्र असन्तोष की भावना ने जन्म लिया और उन्होंने इसके विरोध में अपने विचार (Air Transport Enquiry Committee) के समक्ष रखे। कमेटी ने विरोध की वास्तविकताओं पर विचार करते हुए 'हिमालयन एवीएशन' के लाइसेंस को जनवरी १९५१ में खत्म कर देने की सिफारिश की।

१९५१ में यह कार्य पुनः 'डेक्कन एअरवेज को' सौंपा गया जो सन् १९५३ तक इस कार्य को सफलतापूर्वक करती रही। सन् १९५३ में वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण से रात्रि-वायु-डाक ले जाने का कार्य 'इण्डियन एअरलाइन्स कारपोरेशन' द्वारा किया जा रहा है जिसके चार जहाज बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली से चलकर नागपुर में मिलते हैं और नागपुर से यह जहाज यात्रियों और डाक को लेकर वापस हो जाते हैं।

सन् १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष में इण्डियन एअरलाइन्स कारपोरेशन के वायुयानों ने रात्रि डाक-वायु योजना के अन्तर्गत ४३४२६ यात्रियों, ३२३५७४५ पौण्ड सामान और ४२,१६९०६ पौण्ड डाक को ढोया। इस तरह औसतन दैनिक हिसाब ११९ यात्री, ८८६५ पौण्ड सामान और ११५५३ पौण्ड डाक रही। १९५८ में ४७६८१ यात्रियों ने यात्रा की थी, ३०,३२२२४ पौण्ड माल तथा ४०७४४४८ पौण्ड डाक ढोई गई थी और इस प्रकार इस वर्ष औसतन दैनिक हिसाब १३१ यात्री, ८३०७ पौण्ड सामान व ११११६३ पौण्ड डाक रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रात्रि डाक योजना के अन्तर्गत कार्य करने वाले वायुयानों से यात्रा करने वालों,

की संख्या में बराबर कमी ही चलती रही है यद्यपि कारपोरेशन इसकी वृद्धि करने में सदैव प्रयत्नशील रहा है।*

वायु-यातायात जाँच समिति

स्थापना के पूर्व परिस्थितियाँ—युद्धोपरान्त भारत में वायु यातायात का विकास बहुत ही अनियमित रहा। एक ओर तो दिन पर दिन नई नई कम्पनियों की स्थापना हो रही थी और दूसरी ओर सीमित कार्यक्रम में आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण स्थापित कम्पनियों के लिए भी अपना अस्तित्व बनाये रखना कठिन हो रहा था। एअर ट्रान्सपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड भी लाइसेंस देने के मामले में कोई सुनिश्चित नीति का पालन न कर रहा था, फलतः नवम्बर १६४६ में संचार मन्त्रालय ने वायु यातायात की दशा सुधारने के सुझाव देने के लिए एक कमेटी जस्टिस राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में नियुक्त की।

कमेटी ने अपनी रिपोर्ट १५ सितम्बर १६५० को सरकार को प्रस्तुत करते हुए भारत में वायु यातायात के ऊपर इस प्रकार वक्तव्य दिया कि "देश में वायु यातायात उद्योग की आर्थिक दशा असन्तोषप्रद है और इसका मुख्य कारण यातायात कम्पनियों का आवश्यकता से अधिक होना है।"

सुझाव—कमेटी ने वायु यातायात के पुनर्संगठन व विकास के लिए अपने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :—

कम्पनियों का पुनर्संगठन व संख्या में कमी—कमेटी के मतानुसार देश में उपलब्ध वायु यातायात की दृष्टि से केवल चार कम्पनियों की ही आवश्यकता थी जब कि उस समय १० सूचीबद्ध व ११ असूचीबद्ध कम्पनियाँ कार्य कर रही थीं। फलतः इसने सुझाव दिया कि सबको मिलाकर केवल चार कम्पनियाँ बनाई जायँ, परन्तु एयर सर्विसेज ऑफ इण्डिया व डेकन एयरवेज को छोड़कर कोई कम्पनी स्वेच्छा से एकीकरण नहीं चाहती थी। इसके अतिरिक्त ६ कम्पनियों को १० वर्ष के लिए लाइसेन्स दिये गये थे और इससे पूर्व अपने कार्य समाप्त न करना चाहती थीं। फलतः केवल एक यही उपाय है कि गैर सूचीबद्ध कम्पनियों को समाप्त कर दिया जाय व उनके भाग ६ कम्पनियों को दे दिये जायँ।

(२) **भाड़ा निर्धारण**—इस कमेटी ने वायु सेवाओं के संचालन व्ययों की भी जाँच की और यह सुझाव दिया कि यात्रियों के भाड़े इस प्रकार निर्धारित किये जायँ कि कम्पनी को अपनी पूँजीगत स्थाई सम्पत्ति पर १०% लाभ प्राप्त हो सके। इस कमेटी ने भाड़े की श्रेणी इस प्रकार निर्धारित की :—

पहली श्रेणी में मुख्य मार्गों पर भाड़े की दर, ३½ आने से ४½ आने प्रति मील, दूसरी श्रेणी में कराची व लाहौर तक ३½ आने से ४½ आने प्रति मील तथा तीसरी

* "हिन्दुस्तान टाइम्स १६, मार्च १६६०।"

श्रेणी में रंगून, ढाका तथा चटगाँव, देहली, श्रीनगर, जम्मू, बम्बई तथा काठियावाड़ के मार्गों पर ४½ आने से ५½ आने प्रति मील रखने का सुझाव दिया गया।

माल का भाड़ा हर मार्ग पर यात्रियों के भाड़े से सम्बन्धित होने का सुझाव रखा गया और ऐसा भी प्रस्ताव रखा गया कि अधिक से अधिक प्रति पौण्ड माल का किराया यात्रियों के किराये का ½ प्रतिशत हो।

डाक ले जाने का किराया साधारण माल के किराये से १२½% अधिक रखने का सुझाव रखा गया।

(३) सरकारी सहायता—समिति ने सुझाव दिया कि वायु यातायात की उन्नति के लिए सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध होना चाहिए। परन्तु तत्कालीन "फ़्रीगेट प्रथा" जिसके अन्तर्गत पट्रोल पर ६ आने प्रति गैलन की छूट दी जाती थी, को समिति ने आर्थिक सहायता का उचित रूप न समझा क्योंकि इसके अन्तर्गत एक तो हर एक कम्पनी को चाहे वह इसकी आवश्यकता में हो अथवा न हो, इसका लाभ मिलता था और दूसरे कम्पनियों को उनकी आवश्यकतानुसार सहायता न मिल पाती थी और यह विचार रखा कि कम्पनी विशेष की, उसके आय तथा खर्चों की जाँच कर सहायता इस प्रकार देना चाहिए कि पूँजीगत सम्पत्ति पर उसे ८ प्रतिशत लाभ हो सके जिसमें से ३½% आयकर व १½ प्रतिशत रिज़र्व के लिए निकाल कर अंशधारियों को ३½% का लाभांश मिल सके।

वायु कम्पनियों को सहायता के रूप में दी जाने वाली धनराशि, लाइसेन्स बोर्ड द्वारा जाँच कर लेने पर प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में ही निश्चित कर देना चाहिए जिससे प्रत्येक कम्पनी को यह ज्ञात हो सके कि उसको कितनी सहायता मिलेगी। इस सहायता की राशि को किसी भी हालत में घटाया बढ़ाया न जाय और और यदि कम्पनी को कोई बचत होती है तो उस पर कम्पनी का अधिकार रहे और यदि कोई हानि हो तो कम्पनी उसके लिए उत्तरदायी हो। समिति के विचार में ये सब उपाय कम्पनी विशेष को अपने खर्चों में मितव्ययिता लाने के लिए प्रयत्नशील करने की दिशा में आवश्यक कदम थे।

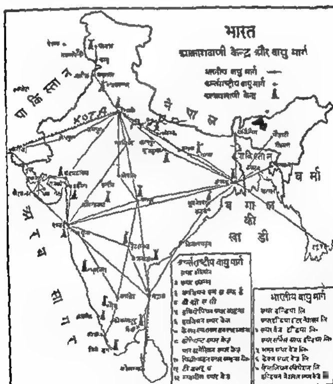
अन्य आर्थिक सहायता से समिति के विचार में वायु यातायात कम्पनियों को १ जनवरी १९५३ तक आत्मनिर्भर हो जाना चाहिए था और ऐसी दशा में इसके पश्चात् सरकारी सहायता को खतम करने का भी सुझाव था।

(४) लाभ का वितरण—कम्पनी के लाभों में से समिति के विचार में सर्वप्रथम कम्पनी की हानिपूर्ति की जाना था, फिर निश्चित प्रतिशत सञ्चित कोष में हस्तान्तरित होना था और शेष में से लाभांश की व्यवस्था का किया जाना था, जो किसी भी हालत में ३½% से अधिक न हो। यदि लाभांश की रकम देने के पश्चात् कुछ धनराशि बचती है तो उसे एक विशेष निधि में हस्तान्तरित किया जाना चाहिए जो विकास तथा नवीनीकरण के काम में आ सके।

समिति के सुझावों के अनुसार कम्पनी अपने लाभ कमाने की अवस्था में भी उस समय तक ५% से अधिक लाभांश घोषित न कर सकती थी जब तक कि उसने १ जनवरी १९५३ के बाद सरकार से प्राप्त सहायता के बराबर धनराशि अपने विशेष सञ्चित कोष में हस्तान्तरित न कर दी हो।

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण

सन् १९५३ में वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण हो गया। १ अगस्त १९५३ को वायु निगम अधिनियम (Air Corporations Act, 1953) पास हुआ। इसी महत्वपूर्ण तिथि को पण्डित नेहरू द्वारा निगमों का उद्घाटन किया गया। पूर्व कम्पनियों को आवश्यक क्षतिपूर्ति दी गई।



चित्र १५ भारत में प्रमुख वायु मार्ग

योजनाओं के अन्तर्गत वायु यातायात

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वायु यातायात
२३.३७ करोड़ रुपया का प्रावधान किया गया था। इसमें से

७८ करोड़ रुपये ही व्यय किये जा सके। प्रस्तावित धनराशि का आवंटन इस प्रकार किया गया था कि कुल धन का ७०% निर्माण कार्य पर और शेष वायरलेस साज सज्जा की विभिन्न मदों पर व्यय किया जाय। इस योजना में निर्माण कार्य पर ही अधिक व्यय किया गया और अनेक हवाई अड्डे, (मंगलौर, सोनेगाँव, कमलपुर, कलाईकुण्ड, सिलोनियाँ, शला, पासीघाट, उत्तरी लखीमपुर, चण्डीगढ़, कांधला और उदयपुर) बनाये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वायु यातायात के विकास के लिए ३०.५१ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था। इसमें से १६ करोड़ रुपये 'इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन' के लिए तथा शेष 'एयर इण्डिया इन्टरनेशनल' के लिए आवंटित किये गये। इस योजना के अन्तर्गत ८ नवीन हवाई अड्डे बनाने और कुछ पुराने हवाई अड्डों के नवीनीकरण की योजना है। साथ ही हवाई प्रशिक्षण, अनुसंधान और यात्रियों की सुख सुविधाओं की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

वायु यातायात की वर्तमान स्थिति

सन् १९५९ में सूचित तथा अनुसूचित लाइनों (Services) पर भारतीय वायु यानों ने ८.१४ लाख यात्रियों तथा १,६७६ पौंड सामान को ढोया। सन् १९४७ से सन् १९५९ तक सूचित तथा अनुसूचित लाइनों पर वायु यातायात की निम्न प्रगति हुई[1] —

वर्ष	मील उड़ान (हजारों में)		ढोये गये यात्री (हजारों में)		ढोई गई वस्तुएँ[2] (हजार पौंड में)	
	सूचित	अनुसूचित	सूचित	अनुसूचित	सूचित	अनुसूचित
१९४७	९,३६२	४०,५१	२५५	६२	४६,४८	२६,९१
१९५१	१,९४,९८	६६,१४	४४९	६६	८,७६,६५	१३,१६,२४
१९५६	२,३४,८१	५७,३३	५५९	११४	९,६२,३१	९,७०,८९
१९५७	२,३४,९६	५४,५८	६१५	१२६	८,५६,९१	८,८७,०१
१९५८	२,४४,७८	४९,९७	६६६	९९	९,३६,४०	८,४२,०१
१९५९	२,४९,१३	५३,४६	७२२	९२	७,३६,२०	७,९०,०५

प्रश्न

1 Discuss the advantages and limitations of air transport Describe the present position of air transport in India (*Allahabad 1956*)

2 Write a short note on 'Air Transport' (*Agra, 1956*)

1 *India, 1960*, p 366

2 Estimated

खण्ड ६

भारतीय प्रमुख उद्योग एवं औद्योगिक वित्त

१. औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन

२. कुटीर एवं लघु उद्योग

३ प्रमुख संगठित उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग

जूट उद्योग

लौह एवं इस्पात उद्योग

कोयला उद्योग

चीनी उद्योग

सीमेंट उद्योग

बाह्य साधन

(४) व्यापारिक बैंक;

(५) देशी बैंक;

(६) सार्वजनिक निक्षेप (Public Deposits);

(७) प्रबन्ध अभिकर्ता;

(८) विशिष्ट संस्थाएँ; तथा

(९) विदेशी पूँजी।

अगस्त सन् १९५९ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने १००१ चुनी हुई पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों के पूँजी प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में विस्तृत आँकड़े प्रकाशित किये हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की यह खोज सन् १९५७ के सम्बन्ध में है। इससे पूर्व अक्तूबर सन् १९५८ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने १९५५ और १९५६ के सम्बन्ध में आँकड़े प्रकाशित किये थे। वर्तमान आँकड़ों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सन् १९५७ में भारतवर्ष में उद्योगों के अर्थ प्रबन्ध में आंतरिक साधनों की अपेक्षा बाह्य साधनों का अधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा। आलोच्य वर्ष में उद्योगों द्वारा प्राप्त कुल पूँजी का ७२·४% भाग बाह्य साधनों से तथा शेष २७·६% आन्तरिक साधनों से प्राप्त हुआ।

सन् १९५७ में कुल २३५ २ करोड़ रुपये की पूँजी प्राप्त हुई थी जिसमें से बाह्य साधनों का अंश १७० २ करोड़ रुपये था। बाह्य साधनों में भी बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण का अंश सबसे अधिक था। यह अंश ४८·२ करोड़ रुपये अथवा कुल धन का २०·५% था। बन्धक (Mortgages) द्वारा प्राप्त धन का भी कम महत्व नहीं था। १९५६ की तुलना में यह लगभग दुगुना हो गया था। १९५७ में इस साधन द्वारा ४५·१ करोड़ रुपये प्राप्त हुए जो कुल धन के १९.२% के बराबर थे। इस साधन के अन्तर्गत १० करोड़ रुपये के विश्व बैंक से प्राप्त ऋण भी सम्मिलित थे। व्यापारिक तथा अन्य देनदारियाँ ३९ ८ करोड़ रुपये की थीं जो कुल धन के १७% के बराबर थीं।

आन्तरिक साधनों के द्वारा ६४·९ करोड़ रुपये प्राप्त हुए जो कुल धन के केवल २७·६% के बराबर थे। इस साधन द्वारा प्राप्त धन की मात्रा इस वर्ष पिछले २ वर्षों की अपेक्षा में काफी घट गई। १९५५ तथा ५६ में ७५० कम्पनियों ने इस साधन द्वारा कुल धन का क्रमशः ६५% तथा ३७% धन प्राप्त किया था। आन्तरिक साधनों के अन्तर्गत ह्रास कोष (Depreciation Reserves) सबसे प्रमुख साधन था। इसके द्वारा ४६·२ करोड़ रुपये अथवा कुल धन का १९·६% भाग प्राप्त हुआ जब कि १९५६ में यह प्रतिशत केवल १५ था। मुक्त-कोषों (Free Reserves) तथा अतिरेक (Surplus) का अंश २० करोड़ रुपया अथवा कुल धन का ८·५% था जो कि १९५६ में १७·५% था। इस प्रकार इस वर्ष इस साधन द्वारा प्राप्त धन में कमी हुई।

१९५६ तथा १९५७ के दोनों वर्षों में कुल ४६२ करोड़ रुपये की अर्थ-व्यवस्था हुई जिसमें से वाह्य साधनों का अंश ६७ ५ प्रतिशत था। बैंकों से प्राप्त ऋण का अंशदान भी काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि यह कुल धन का लगभग २५% था। इसके पश्चात् व्यापारिक देनदारियों (Trade Dues) तथा बन्धकों (Mortgages) का स्थान आता है जिनसे क्रमशः १६.६% तथा १३ ८% पूँजी प्राप्त हुई। पूँजी बाजार कोषों का अंश १०% था। १९५१ ५५ में[1] उद्योगों को कुल धन का ६०% आन्तरिक साधनों से तथा शेष ४०% वाह्य साधनों से प्राप्त हुआ। उपरोक्त विवेचन का स्पष्टीकरण निम्न तालिका से होता है—

चुनी हुई १००१ पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों के पूँजी प्राप्त करने के साधन १९५६ ५७[2]

धन प्राप्त करने के साधन		१९५६	१९५७ (करोड़ रुपयों में)			कुल योग
(१) चुकता पूँजी		२१ ८७	.	२७ ४९		४९ ३६
(२) ऋण		६४ ७०		१०२ ३२		१६७ ०२
(अ) बैंकों से	६४·७५		४८ २२		११२ ९७	
(ब) औद्योगिक वित्त निगमों से	२·९२		३ ३९		६·३१	
(द) अन्य बन्धकों से	२२·६४		४५ २५		६७ ८९	
(य) ऋण पत्रों से	−१·२४		−० ८७		−२·११	
(र) अन्य ऋण	५ ६३		६ ३३			
(३) ह्रास कोष[3]		३८ ३५		४६·१९	११·९६	८४·५४
(४) कर कोष		११ ६४		−१ २०		१०·४४
(५) पूँजी कोष		६ ६८		१ ९६		८·६४
(६) सामान्य तथा अन्य कोष		३८·१२		१७ ९९		५६·११
(७) व्यापारिक तथा अन्य चालू दायित्व		४३·१५		३९ ८३		८२·९८
(८) विविध स्थायी दायित्व		१ ९६		० ५८		२ ५४
कुल योग		२५६·४७		२३५·१६		४९१·६३

[1]५५० कम्पनियों के सम्बन्ध में।

[2]*R. B. of India Bulletin*, August, 1959 p. 172.

[3] कोष का अर्थ Reserve से है।

१९५७ में पूँजी प्राप्त करने के साधनों का उद्योगवार अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि चीनी तथा कोयला उद्योग को छोड़कर शेष सभी उद्योगों में अधिकांश पूँजी बाह्य साधनों से प्राप्त की गई। सूती वस्त्र उद्योग तथा चाय उद्योगों में पूँजी प्राप्त करने के प्रमुख साधन बैंकों द्वारा ऋण थे। लोहे एवं स्पात उद्योग के लिए भी बैंकों द्वारा प्रदान किये गये ऋण महत्वपूर्ण थे। सीमेंट और कागज उद्योगों को भी १९५६ की अपेक्षा इस वर्ष बैंक से ऋण अधिक प्राप्त हुए। इसके विपरीत जूट उद्योग में सन् १९५७ में बैंक द्वारा प्राप्त ऋण बहुत कम थे।

लोहे एवं इस्पात उद्योग में बैंकों द्वारा ऋण महत्वपूर्ण रहे। नवीन पूँजी का निर्गमन प्रायः लोहे एवं इस्पात, सीमेंट, इञ्जीनियरिंग तथा रसायन उद्योगों में काफी अपनाया गया।

पूँजी प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

आन्तरिक साधन

(१) अंशपत्रों तथा ऋणपत्रों द्वारा पूँजी प्राप्त करना

औद्योगिक पूँजी प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन अंशपत्रों का निर्गमन है। अधिक से अधिक पूँजी प्राप्त करने के लिए तथा प्रत्येक रुचि के विनियोक्ता को सुविधा प्रदान करने के निमित्त विभिन्न प्रकार के अंशपत्रों का निर्गमन किया जाता है। सन् १९५६ के पूर्व भारतवर्ष में प्रमण्डल प्रायः तीन प्रकार के अंशों (साधारण, पूर्वाधिकार तथा स्थगित) का निर्गमन करते थे, परन्तु नवीन कम्पनी अधिनियम १९५६ के अनुसार केवल दो प्रकार के अंश पत्र पूर्वाधिकार (Preferential) तथा सामान्य (Equity) ही निर्गमित किये जा सकते हैं।

सम्पूर्ण अंशपत्रों में साधारण अंशपत्रों का ही प्रमुख स्थान होता है। यदि साधारण अंशों को औद्योगिक वित्त व्यवस्था की आधारशिला कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। साधारण अंशों की प्रमुखता उनके कुछ लाभों के कारण है।

१९५७ में १००१ कम्पनियों द्वारा निर्गमित किये गये अंश तथा ऋणपत्र १९५६ की अपेक्षा में अधिक थे। १९५६ में इनके निर्गमन से २२.८ करोड़ रु० प्राप्त हुए थे परन्तु १९५७ में इनसे २८.८ करोड़ रु० प्राप्त हुए। १९५७ के कुल नये निर्गमनों (Issues) में साधारण अंशों का सबसे अधिक भाग था। इस वर्ष (१९५७) साधारण अंशों द्वारा कुल पूँजी का ८४.७% प्राप्त हुआ, जब कि पिछले वर्ष (१९५६), यह प्रतिशत ७५.७ था यह वृद्धि पूर्वाधिकार अंशपत्रों की लागत पर हुई है। १९५७ में पूर्वाधिकार अंशों से कुल पूँजी का केवल ११.८% प्राप्त हुआ, जब कि १९५६ में यह प्रतिशत १८.७ था। ऋणपत्र शेष धन के लिए उत्तरदायी हैं, अर्थात् ३.५% १९५७ में और ५.७% १९५६ में।

ऋणपत्रों पर दी जाने वाली ब्याज की दर ६ और ७ प्रतिशत के मध्य रही, जब कि पूर्वाधिकार अशपत्रों पर दिये जाने वाले लाभांश की दर ५ और ६ प्रतिशत (अधिकांश कर मुक्त) के मध्य रही।

(२) धारित लाभ अथवा आय का पुष्ठ विनियोग

कम्पनियाँ अधिकतर अपनी आय का एक अंश बचाकर संचय कोष में रख लेती हैं, जिसका प्रयोग वे कम्पनी की भावी विकास-योजनाओं में करती हैं। कम्पनी की इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था को 'आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था' (Internal Financing) कहते हैं। इसी पद्धति को तात्विक रूप से 'आय का पृष्ठ विनियोग' (Ploughing Back of Earned Profits) कहते हैं।

आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अथवा आय के पृष्ठ विनियोग का महत्व औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन में विशेष स्थान रखता है। यह पद्धति कम्पनी की आर्थिक सुदृढ़ता की दृष्टि से बहुत हितकर है, क्योंकि बाह्य ऋणों से विकास योजना की पूर्ति करना प्रायः हानिकारक होता है। ऋणों के ब्याज से कम्पनी पर आर्थिक भार पड़ता है और यदि उन ऋणों का भुगतान एकाएक माँगा गया तो कम्पनियों की आर्थिक स्थिति भी कमजोर हो जाती है। अतः जहाँ तक हो सके कम्पनियों को इसी पद्धति को अपनाना चाहिए।

इसकी महत्ता को योजना आयोग ने भी प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की योजना बनाते समय स्वीकार किया था। प्रथम योजना के निजी क्षेत्र पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय (६१३ करोड़ रुपये) में से २०० करोड़ रु० (लगभग ३२·६%) कम्पनी की बचतों (Savings) से प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया था। इस पद्धति का महत्व संसार के अन्य औद्योगिक देशों में भी कम नहीं है। इगलैंड में १९१४ तक अधिकतर औद्योगिक कम्पनियाँ अपनी पूँजी आन्तरिक अर्थ व्यवस्था से ही प्राप्त करती थीं। अमेरिका में इसका महत्व और भी अधिक है। उदाहरणार्थ अमेरिका में 'फोर्ड मोटर कम्पनी' प्रारम्भ में २८ हजार डालर के विनियोग से स्थापित की गई थी, परन्तु इसकी पूँजी इस समय १ अरब डालर से भी अधिक है। यह सम्पूर्ण पूँजी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही एकत्र की गई है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खोज के अनुसार पिछले कुछ वर्षों से आन्तरिक साधनों का महत्त्व कम हो गया है। १९५७ में आन्तरिक साधनों द्वारा ६४·९ करोड़ रुपये प्राप्त किये गये जो कुल प्राप्त धन के २७.६% थे। १९५६ तथा १९५५ में यह प्रतिशत क्रमशः ३७ तथा ५६ था।

(३) ह्रास कोष

औद्योगिक कम्पनियाँ आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए ह्रास कोष की व्यवस्था करती हैं। इस कोष में से मशीनों एवं यन्त्रों की मरम्मत तथा

पुनर्स्थापन की व्यवस्था की जाती है। ह्रास कोष की व्यवस्था के अनुसार कम्पनी को किसी एक वर्ष में अत्यधिक आर्थिक साधन नहीं जुटाने पड़ते। दूसरे शब्दों में विकास एव पुनरोद्धार का कार्य सामान्य गति से चलता रहता है।

'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया' की खोज के अनुसार पिछले कुछ वर्षों से ह्रास कोष द्वारा अर्थ प्रबन्धन का महत्व बढ़ता जा रहा है। उदाहरणार्थ १९५७ में इस स्रोत के द्वारा ४६.२ करोड़ रुपये प्राप्त हुए जो कि कुल धन का १९.६% था। इसके विपरीत १९५६ में यह प्रतिशत केवल १५ था। उद्योगवार अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ह्रास कोष द्वारा अर्थ प्रबन्धन सूती वस्त्र, लौह एव इस्पात, इञ्जीनियरिंग (अलौह धातुएँ) चीनी, सीमेंट, खनिज तेल, जहाज निर्माण, कागज तथा विद्युत उद्योग में अधिक प्रचलित था।

बाह्य साधन

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि सन् १९५७ में भारतवर्ष में उद्योगों के अर्थ न में बाह्य साधनों का अधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा। आलोच्य वर्ष में कुल २३५.२ करोड़ रुपये की पूँजी प्राप्त हुई थी जिसमें बाह्य साधनों का अंश १७०.२ करोड़ रुपये था। यह कुल प्राप्त धन का ७२.४% था। बाह्य साधनों के अन्तर्गत अनेक उप साधन आते हैं जिनका सक्षेप में वर्णन इस प्रकार है—

(४) व्यापारिक बैंक

भारतीय उद्योगों की अर्थ-व्यवस्था में व्यापारिक बैंकों का कोई विशेष महत्व नहीं है। व्यापारिक बैंक केवल व्यापारिक कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण सुविधाएँ देते हैं तथा दीर्घ कालीन औद्योगिक ऋण देना व्यापार की दृष्टि से अनुचित समझते हैं। श्रॉफ समिति (१९५२) ने भी अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि व्यापारिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण उचित मात्रा में नहीं देते हैं। जो कुछ भी अल्पकालीन ऋण इनके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं वे भी कुछ विशेष शर्तों पर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक तो ये बिना प्रतिभूति (Security) के ऋण नहीं देते हैं और दूसरे कम से कम ३०% अन्तर अपने पक्ष में रखते हैं।

रिजर्व बैंक की खोज के अनुसार पिछले कुछ वर्षों से बैंकों द्वारा प्रदान किये गये ऋण का महत्व बढ़ने लगा है। सन १९५७ में इस साधन के द्वारा ४८.२ करोड़ रुपये (कुल धन का २०.५%) प्राप्त हुए थे। १९५६ और १९५७ दोनों वर्षों में इस साधन के द्वारा कुल प्राप्त पूँजी का २५% भाग प्राप्त हुआ।

उद्योगवार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पूँजी प्राप्त करने के साधनों में व्यापारिक बैंकों का स्थान कुछ विशिष्ट उद्योगों जैसे, सूती वस्त्र, चाय बागान, लौह एवं इस्पात, सीमेंट तथा कागज में उल्लेखनीय रहा।

(५) देशी बैंक

आधुनिक ढंग की बड़ी-बड़ी बैंकों के होते हुए भी हमारी प्राचीन बैंकिंग पद्धति अब भी काफी प्रचलित है और औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले कुछ वर्षों में कोयले, तेल, चमड़े, तथा चावल की मिलों ने देशी बैंकों से बहुत अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त की है। संकट के समय में कुछ अन्य कम्पनियों ने भी जो कि अत्यन्त धन के अभाव में थीं, देशी बैंकों से ऋण प्राप्त किये हैं। कभी कभी इन बैंकों से ऋण इसलिए भी लिए गये हैं जिससे वैधानिक उपचार, जोखिम, तथा विज्ञापन इत्यादि करने का झंझट न करना पड़े।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् देशी बैंकों का महत्व बहुत कम हो गया है, परन्तु छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए इनकी महत्ता लगभग यथावत् है। सहकारी समितियों तथा आधुनिक बैंकिंग के प्रसार के कारण इनका भविष्य अधिक उज्ज्वल नहीं रहा है।

(६) सार्वजनिक निक्षेप (Public Deposits)

सार्वजनिक निक्षेपों का स्थान औद्योगिक अर्थ प्रबन्ध में कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह प्रथा बम्बई और अहमदाबाद की सूती मिलों में काफी प्रचलित है। अहमदाबाद में इसका महत्व और भी अधिक है। बम्बई और अहमदाबाद के नागरिकों की यह आदत है कि वे अपने धन को बैंकों में जमा करने की अपेक्षा मिल मालिकों के पास जमा करना अधिक पसन्द करते हैं। इस प्रकार इन प्रदेशों के औद्योगिक सार्थ अपनी कार्यशील पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग सार्वजनिक निक्षेपों से प्राप्त करते हैं।

भारतीय बैंकिंग जाँच समिति (१९३१) ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि सार्वजनिक निक्षेप की प्रथा बम्बई की अपेक्षा अहमदाबाद में अधिक प्रचलित है। पिछले कुछ वर्षों से अहमदाबाद में दीर्घकालीन निक्षेप जो ५ वर्ष से ७ वर्ष के लिए प्राप्त किए जाते हैं, अधिक प्रचलित हो गये हैं और अधिक से अधिक मिलों का दीर्घकालीन अर्थ प्रबन्ध इन्हीं निक्षेपों के द्वारा होता है। विभिन्न मिलों में निक्षेपों पर ब्याज की दर विभिन्न होती है। साधारणतया यह दर ४½% से ६½% होती है।

(द) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता—औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। फिस्कल-कमीशन (१९४९-५०) ने प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि "औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में जब कि न तो साहस और न पूँजी ही प्राप्त थे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने दोनों ही को प्रदान किया।"

प्रबन्ध अभिकर्त्ता लोग नवीन व वर्तमान औद्योगिक संस्थाओं को निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता देते हैं—*

(१) निजी साधनों से,
(२) जन निक्षेपों (Public-Deposits) को स्वीकार करके,
(३) ऋण व अग्रिम की गारन्टी देकर,
(४) विनियोक्ता (Investing) कम्पनी का कार्य करके,
(५) धन का अन्तर्विनियोग करके,
(६) कम्पनियों में आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करके,
(७) विदेशी पूँजीपतियों से समझौते स्थापित करके।

(७) राज्य तथा अर्थ प्रबन्धन (The State and the Indusrtial Finance)

जर्मनी, जापान, अमेरिका तथा यूरोप में सरकार ने औद्योगिक वित्त प्रदान करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। भारतवर्ष में सरकार ने औद्योगिक इकाइयों की किसी प्रकार भी सहायता न की क्योंकि 'स्वतन्त्र व्यापारिक नीति' (Laissez faire) को भली भाँति अपनाया जा रहा था। इसका मुख्य कारण इंगलैंड की स्वार्थपूर्ण नीति थी। इंगलैंड ने सदैव से यही प्रयत्न किया है कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात कर्त्ता तथा निर्मित माल का आयातकर्त्ता के रूप में रहे जिससे इंगलैंड के कारखानों को कच्चा माल प्राप्त होता रहे और उनके द्वारा निर्मित माल की खपत होती रहे। भारत की औद्योगिक नीति भी ऐसी बनाई गई थी जिससे अंग्रेजी उद्योग धन्धों की ही उन्नति हो। इस प्रकार अन्य देश अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति करते रहे और भारतीय सरकार सन् १९१४ तक कोई कदम न उठा सकी।

१९१४ में विश्वयुद्ध आरम्भ हो जाने के कारण सरकार को अपनी नीति में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। १९१६ के औद्योगिक कमीशन ने सुझाव दिया कि सरकार को औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन में एक निश्चित भाग लेना चाहिए। औद्योगिक कमीशन के सुझाव को प्रान्तीय सरकारों ने स्वीकार करते हुए कुछ अधिनियम बनाये। सर्वप्रथम १९२२ में मद्रास सरकार ने अधिनियम बनाया और तत्पश्चात् बम्बई, बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों ने भी अधिनियम बनाये। इन अधिनियमों के अनुसार औद्योगिक व्यवसायों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी गई परन्तु फल सन्तोषजनक न रहे।

१९२९ में नियुक्त केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने प्रान्तीय औद्योगिक निगमें (Provincial Industrial Corporations) को उद्योगों को आर्थिक सहायता

*विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये 'भारतीय उद्योगों का संगठन एवं प्रबन्ध'—प्रो० अस्थाना एवं डा० निगम।

देने के हेतु स्थापित करने की सिफारिश की। परन्तु अभाग्यवश भारतीय सरकार ने द्वितीय महायुद्ध तक कोई कदम न उठाया।

द्वितीय महायुद्धोपरान्त औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन की समस्या अधोलिखित कारणों से और अधिक महत्वपूर्ण एवं गम्भीर हो गई—

(१) युद्धकालीन उद्योगों का शान्तिकालीन दशा में परिवर्तन,

(२) उद्योगों में नियोजित मशीनरी तथा प्लान्ट का नवीनीकरण,

(३) वर्तमान औद्योगिक इकाइयों का विस्तार एवं अभिनवीकरण, तथा

(४) योजनात्मक ढंग से नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने इस ओर काफी ध्यान दिया और उस समय से अब तक उद्योग धन्धों को सहायता देने के लिए अधोलिखित संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं—

(१) औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation)

(२) राज्य वित्त निगम (State Financial Corporation)

(३) औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (Industrial Credit & Investment Corporation Private Ltd)

(४) राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम (National Industrial Development Corporation Private Ltd)

(५) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation Private Ltd)

(६) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)

(७) पुन अर्थ प्रबन्धन निगम (Refinance Corporation)

इन सब निगमों का सविस्तार अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(१) औद्योगिक वित्त निगम

(Industrial Finance Corporation of India)

भारतीय औद्योगिक संस्थाओं (Concerns) को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना १ जुलाई १९४८ को की गई। इसका समावेश (Industrial Finance Corporation *Act 1948 (XV of 1948)* से है।

निगम की स्थापना की पृष्ठभूमि

सन् १९४५ में भारतीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के लेख में यह इंगित किया था कि औद्योगिक विनियोग निगम (Industrial Investment

Corporation) की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। बाद में इस पर विचार विमर्श हेतु वित्त मंत्रालय ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से परामर्श माँगा। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने एक विधेयक बनाया जिसमें औद्योगिक इकाइयों को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने के लिए औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना के लिए सुझाव दिया। यह बिल सर्वप्रथम विधान सभा में १९४६ के बजट अधिवेशन में सर आर्ची बॉल्ड रालैंड्स (Sir Archibald Rowlands) के द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला था, परन्तु अन्य विधान सम्बन्धी कार्यों की अधिकता के कारण यह सम्भव न हो सका। बाद में श्री आर० के० सन्मुखम् चेट्टी ने कुछ संशोधन करके इसको प्रस्तुत किया। परिणामत २७ मार्च १९४८ को गवर्नर जनरल की सम्मति भी प्राप्त हो गई और यह अधिनियम (Act) के रूप में १ जुलाई सन् १९४८ से औद्योगिक संसार के अन्दर चलन में आ गया।

निगम के आर्थिक साधन

(अ) पूँजी—औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से की गई जो कि ५ हजार रुपये के २० हजार अंशों में विभाजित है। इस समय ५ करोड़ रुपये के मूल्य के केवल १० हजार अंशों का निर्गमन किया गया है और शेष अंशों का निर्गमन समय समय पर केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जायगा। अंशों की मूल राशि तथा २½% लाभांश की गारंटी केन्द्रीय सरकार ने दी है।

निर्गमित अंशों का क्रय केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियों, विनियोग करने वाले ट्रस्टों तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं एवं सहकारी बैंकों द्वारा किया गया है। प्रारम्भ में इन संस्थाओं को एक निश्चित अनुपात में अंशों का आवंटन (Allotment) किया गया था, परन्तु कालान्तर में इस आवन्टित संख्या में कुछ परिवर्तन हो गया है। इसका स्पष्टीकरण अग्र तालिका के आधार पर किया जा सकता है—

३० जून १९५६ की स्थिति का ब्यौरा

क्रमांक	संस्थाएँ	पूर्व निर्धारित अंशों की संख्या	क्रय किये गये अंशों की संख्या	धन राशि (रुपये)
(१)	केन्द्रीय सरकार	२,०००	२,०००	१,००,००,०००
(२)	रिजर्व बैंक आफ इण्डिया	२,०००	२,०५४	१,०२,७०,०००
(३)	अनुसूचित बैंक	२,५००	२,४०५	१,२०,२५,०००
(४)	बीमा कम्पनीज, विनियोग ट्रस्ट तथा अन्य वित्त संस्थाएँ	२,५००	२,५९८	१,२९,९०,०००
(५)	सहकारी संस्थाएँ	१,०००	९४३	४७,१५,०००
	योग	१०,०००	१०,०००	५,००,००,०००

निगम के अंशों के पुनर्भुगतान की तथा २½% वार्षिक लाभांश की गारंटी केन्द्रीय सरकार के द्वारा दी गई है। अधिकतम लाभांश देने की दर ५% निर्धारित की गई है, परन्तु इस दर से लाभांश उसी अवस्था में दिया जा सकता है जब कि कारपोरेशन का सचित कोप (Reserve Fund) चुकता पूँजी के बराबर हो गया हो और केन्द्रीय सरकार द्वारा गारन्टी के अन्तर्गत दी गई धन राशि चुका दी गई हो। कालान्तर में जब कि संचित कोष चुकता पूँजी के बराबर हो जाय, और ५% लाभांश देने के पश्चात् भी यदि कुछ अतिरेक बचता है तो वह केन्द्रीय सरकार को दे दिया जायगा।

(ब) ऋण पत्र पूँजी (Debenture Capital)—कारपोरेशन ऋणपत्रों का निर्गमन करके तथा बन्धों (Bonds) का विक्रय करके कार्यशील पूँजी प्राप्त कर सकता है। परन्तु ऋण पत्रों, बन्धों (Bonds) तथा अन्य इसी प्रकार से प्राप्त की हुई पूँजी, कारपोरेशन की चुकता पूँजी तथा संचित कोष (Reserve Fund) के पाँच गुने से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(स) रिजर्व बैंक से ऋण—धारा २७ (१) (अ) के अन्तर्गत कारपोरेशन केन्द्रीय तथा राज्य सरकार की प्रतिभूतियों के विरुद्ध रिजर्व बैंक से ९० दिन की अवधि के लिए धन उधार ले सकती है। धारा २१ (१) (ब) के अन्तर्गत कारपोरेशन अपने ऋणपत्रों की प्रतिभूति के आधार पर अधिक से अधिक ३ करोड़ रुपये का धन १८ माह की अवधि के लिए उधार ले सकता है।

(द) जमा (Deposits)—कारपोरेशन जनता से कम से कम ५ वर्ष के लिए तथा अधिक से अधिक १० करोड़ रुपये की धनराशि तक जमा (Deposits) स्वीकार कर सकता है।

(य) विदेशी मुद्रा में ऋण— १९५२ के सशोधित अधिनियम (Amendment Act) के अनुसार कारपोरेशन विश्व बैङ्क (I B R.D) से विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है, और भारतीय सरकार ऐसे ऋणों पर गारन्टी देगी। १९५२ में विश्व बैङ्क से ८ मि० डालर के ऋण लेने का प्रस्ताव रक्खा गया था, परन्तु इसे बाद में वापस ले लिया गया।

(र) केन्द्रीय सरकार से ऋण— १९५२ के सशोधित अधिनियम की धारा २१ (४) के अनुसार निगम केन्द्रीय सरकार से ऋण लेने का अधिकारी है। १९५६ तक कारपोरेशन ने इस प्रकार का कोई भी ऋण नहीं लिया है। परन्तु केन्द्रीय सरकार ने द्वितीय योजना काल में निगम को १५ करोड़ रुपये का ऋण देने की व्यवस्था की है।

कारपोरेशन की आर्थिक स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिए एक विशेष संचय कोष स्थापित किया गया है। इस कोष में केन्द्रीय सरकार, तथा रिज़र्व बैंक के अंशों पर प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण लाभांश उस समय तक जमा किये जायेंगे, जब तक कि इसकी राशि ५० लाख रुपये न हो जाय।

का प्रबन्ध (Administration of the Corporation)

औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम सशोधित अधिनियम (I F.C Amendment Act) १९५५ के अन्तर्गत १८ दिसम्बर १९५५ से निगम के प्रबन्ध में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। इस विधि से पूर्व अधिनियम की धारा १० के अनुसार निगम का प्रबन्ध एक संचालक समिति (Board of Directors) द्वारा होता था जिसकी सहायता के लिए एक शासकीय समिति (Executive Committee) भी थी। इसके अतिरिक्त एक प्रबन्ध सचालक भी होता था, जिसे निगम की ओर से प्रबन्ध सम्बन्धी पूर्ण अधिकार तथा शक्तियाँ प्राप्त होती थीं।

अब औद्योगिक अर्थ निगम (I F C) का प्रबन्ध एक पूर्णकालीन वृत्ति पाने वाले (Full Time Stipendiary) चेयरमैन के द्वारा होता है जिसकी सहायता के लिए एक 'जनरल मैनेजर' भी होता है। नवीन 'चेयरमैन' तथा 'जनरल मैनेजर' की नियुक्ति 'आनरेरी चेयरमैन' तथा प्रबन्ध सचालक के स्थान पर की गई है। नवीन वृत्ति पाने वाले चेयरमैन की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार निगम की सचालक सभा की सलाह से तीन वर्ष के लिए करती है।

निगम के कार्य (Functions of the Corporation)

औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम १९४८ (I. F C Act 1948) की धारा २३ के अनुसार निगम अधोलिखित कार्य कर सकता है :—

(१) औद्योगिक संस्थाओं के ऋणों पर जिसे उन्होंने सार्वजनिक बाजार से लिया है और जिसके भुगतान की अवधि अधिक से अधिक २५ वर्ष है, गारन्टी दे सकता है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित स्टाक, अंश पत्र (Shares), बन्ध (Bonds) या ऋण पत्रों का अभिगोपन करना, यदि इन प्रतिभूतियों (Securities) का विक्रय सात वर्ष के अन्दर जनता को कर दिया जाता है।

(३) औद्योगिक संस्थाओं को अधिक से अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिए ऋण अथवा अग्रिम (Advance) देना तथा उनके द्वारा निर्गमित ऋणपत्रों, जिनकी अवधि २५ वर्ष से अधिक नहीं है, क्रय करना।

निषेध कार्य

निगम निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता है—

(१) अधिनियम की शर्तों के विरुद्ध जमा (Deposits) स्वीकार करना।

(२) किसी भी सीमित दायित्व वाली कम्पनी के अंशों अथवा स्टाक को प्रत्यक्ष रूप से क्रय करना।

(३) ७ वर्ष की अवधि से अधिक के पत्रों अथवा ऋण पत्रों का अभिगोपन करना।

(४) १ करोड़ रुपये से अधिक का ऋण देना।

निगम की कार्य-विधि

औद्योगिक वित्त निगम किसी भी उद्योग को ऋण देने से पहले, ऋण लेने वाली कम्पनी से निर्मित किये जाने वाले माल की प्रकृति, कारखाने की स्थिति का स्थापन (Location), भूमि पर अधिकार, भवन, विद्युत शक्ति की उपलब्धता, टेक्नीकल स्टाफ, बाजार की स्थिति, उत्पादन की अनुमानित लागत, मशीनों की किस्में, दी जाने वाली प्रतिभूति का मूल्य, सहायता लेने का उद्देश्य तथा लाभ कमाने व ऋण चुकाने की क्षमता इत्यादि के बारे में विस्तृत सूचना प्राप्त कर लेता है।

इसके बाद निगम के अधिकारियों द्वारा ऋण लेने वाली कम्पनी का निरीक्षण कराया जाता है। पदाधिकारी निगम को कम्पनी की लेखा पुस्तकों (Accounts Books), सम्पत्ति की वास्तविक स्थिति, प्रबन्ध की कार्यक्षमता, कच्चे माल की उपलब्धता तथा निर्मित माल के बाजार की स्थिति के बारे में सूचना देते हैं। औद्योगिक कम्पनियाँ अपने कुशल तांत्रिक पदाधिकारियों को इस सम्बन्ध में वार्तालाप करने के लिए भेज सकती हैं।

निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों से सामयिक (periodical) रिपोर्ट लेता है। इसके अतिरिक्त वह उन कम्पनियों का समय समय पर निरीक्षण भी इस उद्देश्य से करता रहता है जिससे वह ऋणों के सदुपयोग करने, वस्तुओं के निर्माण की लागत को कम करने, तथा उनकी किस्म में सुधार करने की चेष्टा करते रहें। विभिन्न भारतीय सरकार के मन्त्रालयों (Ministries) तथा

साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के सहयोग, सलाह तथा सहायता से कार्य करेगा।

ऋण देते समय निगम निम्न बातों (considerations) को ध्यान में रखता है—

(१) उद्योग का राष्ट्रीय महत्व;
(२) उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की देश में माँग,
(३) तान्त्रिक व्यक्तियों एवं कच्चे माल की उपलब्धता;
(४) प्रबन्ध की योग्यता;
(५) दी गई प्रतिभूति की प्रकृति,
(६) निर्मित वस्तुओं के गुण (quality); तथा
(७) प्रस्तावित् योजना की सम्भावना तथा लागत।

निगम द्वारा की गई क्रियाओं का व्योरा

३० जून, १९५८ को निगम ने अपनी १०वीं वर्षगाँठ पूरी की। इस बीच निगम ने विभिन्न कार्यों के ६२३ आवेदन पत्र प्राप्त किये जो कि १२४ करोड़ रुपये की धनराशि के लिए थे। इन आवेदन पत्रों में से २८१ आवेदन पत्र जो कि ६३ करोड़ रुपये की धन राशि के लिए थे, स्वीकृत कर लिये गये और २१६ आवेदन पत्र जो कि २४.५ करोड़ रुपये के लिए थे, अस्वीकृत कर दिये गये।

३० जून १९५८ तक निगम में ६२.९ करोड़ रुपये के कुल ऋण १८५ कम्पनियों को स्वीकृत किये और जिनमें से कुल ३४.८४ करोड़ रुपये वास्तव में वितरित कर दिये गये। इसका स्पष्टीकरण निम्न तालिका से होता है —

(करोड़ रुपयों में)

		ऋण की कुल स्वीकृत धन राशि	वास्तव में दी गई धन राशि
३० जून	१९४९	३·४२	१·३३
,,	१९५०	७·१९	३·४१
,,	१९५१	९·५८	५·७९
,,	१९५२	१४·०३	७ ५७
,,	१९५३	१५·४७	१०·०७
,,	१९५४	२०·७४	१२·८९
,,	१९५५	२८·०८	१४·५३
,,	१९५६	४३·२१	१६·७३
,,	१९५७	५५·१२	२६·५१
,,	१९५८	६२ ९	३४·८४

ब्याज की दर

निगम (I. F C) की स्थापना की तिथि से फरवरी १९५२ तक निगम द्वारा दिये जाने वाले ऋण पर ब्याज की दर ५½% रही। मूलधन (Principal) की किस्त तथा ब्याज की राशि निश्चित तिथि (Due Date) पर प्राप्त हो जाने पर ½% की छूट (Rebate) भी दी जाती है। इस प्रकार शुद्ध (Net) ब्याज की दर ५ प्रतिशत ही थी। ऋणों द्वारा प्राप्य धन की लागत बढ़ जाने के कारण निगम को १९५२ और १९५३ में ब्याज की दर क्रमश. ६% तथा ६½% करनी पड़ी, परन्तु छूट की दर यथावत् अर्थात् ½ प्रतिशत ही रही। धन एकत्रित करने की लागत में पुनर्वृद्धि हो जाने के कारण २३ अप्रैल १९५७ से ब्याज की दर ७% कर दी गई। छूट की दर पूर्ववत ही रही। १९५७ से अब तक ब्याज की दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

लाभ

१९५७-५८ (३० जून १९५८) में निगम (Corporation) को १ ५५ करोड़ रुपये का कुल लाभ (Gross Profit) हुआ जब कि पिछले वर्ष केवल ४१ ०६ लाख रुपये का ही कुल लाभ हुआ। १९५७ ५८ में प्रशासन सम्बन्धी व्यय कुल लाभ का ६ प्रतिशत था। इस वर्ष शुद्ध लाभ (Net Profit) २८ २० लाख रुपये हुआ जो कि पिछले सब वर्षों से अधिक था।

१९५८ ५९ मे औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (I F C) के द्वारा दिये गये ऋण एव अग्रिमों (Loans & Advances) में पिछले वर्ष की अपेक्षा में ४ ६१ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। जून १९५८ में अदत्त (Outstanding) धन राशि ३३ ३५ करोड़ रुपये थी। निगम ने पूँजीगत वस्तुओं (Capital Goods) के आयात के लिए स्थगित भुगतानों (Deferred Payments) से सम्बन्धित पाँच योजनाओं के लिए गारन्टी दी, और १ ६० करोड़ रुपये के परिवर्तनशील ऋणपत्र निर्गमन का अभिगोपन दो अन्य वित्तीय सस्थाओं के साथ किया। इसके अतिरिक्त एक ३७ ५ लाख रु० सचयी भुगतान योग्य पूर्वाधिकारी अशपत्र निर्गमन का भी अभिगोपन किया। निगम ने नवम्बर १९५८ में ४·१८ करोड़ रुपये के '४½ प्रतिशत बाड्स १९६८' का निर्गमन करके अपने वित्तीय साधनों में वृद्धि की। इस प्रकार जून १९५९ तक कुल अदत्त (Outstanding) बाड्स १६·७५ करोड़ रुपये के थे। इसी वर्ष भारत सरकार ने P L 480 Funds में से निगम को १० करोड़ रुपये ऋण के रूप में दिये।

औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम की आलोचनाएँ

जिस समय लोक सभा में औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (सशोधन) विधेयक १९५२ तथा औद्योगिक एव अन्य अर्थ प्रबन्धन निगमों (सशोधन) विधेयक १९५५ पर बहस हो रही थी, उक्त निगम की कठोर आलोचना की गई। लोक सभा के सदस्यों

तथा अन्य लोगों ने जो आलोचनाएँ कीं और दोष लगाये उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) निगम प्रमण्डलों को ऋण देते समय पक्षपात व भेद-भाव की भावना रखता है, अर्थात् निगम केवल उन्हीं संस्थाओं को ऋण स्वीकृत करता या जिसमें उसके सचालक या अन्य पदाधिकारी हित रखते हों।

(२) निगम पूर्णतया सरकार के स्वामित्व एवं नियन्त्रण में न होने के कारण एक बड़े व्यवसाय के रैकेट (Big Bussiness Racket) की भाँति कार्य कर रहा है जिससे कुछ व्यापारिक महारथियों की चतुरता सम्पूर्ण देश की आर्थिक स्थिति को अपने अधिकार में ले सकती है।

(३) निगम उन प्रान्तों या क्षेत्रों में, जो अपेक्षाकृत कम विकसित हैं, औद्योगिक उद्योग धन्धे स्थापित करने में असफल रहा है।

(४) निगम ने मुख्यतया बड़े पैमाने के उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया है और लघु तथा मध्य स्तर के उद्योगों की उपेक्षा की है। इससे देश की आर्थिक उन्नति में बाधा पहुँची है।

(५) निगम ने ऐसी औद्योगिक इकाइयों को ऋण दिये हैं जो पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं आती हैं। निगम ने आधारभूत तथा पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों को बहुत कम सहायता दी है जब कि उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों को पर्याप्त सहायता दी है।

(६) निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों के द्वारा व्यय की जाने वाली राशि की देखरेख करने में असफल रहा है जिससे वस्तुओं के उत्पादन तथा उत्पादन शक्ति (Installed Capacity) में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(७) निगम कम्पनियों को सामान्य पूँजी नहीं प्रदान करता और उनको अन्य संस्थाओं का मुँह ताकना पड़ता है।

(८) निगम ने ऐसी कम्पनियों को भी ऋण दिया है जो स्वय लाभ कमा रही थीं तथा अपनी ख्याति के कारण मुद्रा बाजार से ऋण प्राप्त कर सकती थीं।

(९) यह भी कहा गया है कि निगम अपने स्थापन व्यय (Establishment Expenses) तथा अन्य व्ययों में मितव्ययिता नहीं कर सका है।

इन दोषों तथा आलोचनाओं के आधार पर निगम की क्रियाओं का पर्यवेक्षण कराने के लिए भारतीय सरकार ने दिसम्बर, १९५२ में एक समिति श्रीमती सुचेता कृपलानी, एम० पी० की अध्यक्षता में नियुक्त की। इस समिति के अन्य सदस्य श्री बी० बी० गांधी, श्री श्रीनारायण मेहता, श्री पा० नारियलवाला, श्री आर० सूर्यनारायण राव, तथा श्री जी० बासु थे। इस समिति को निम्न बातों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट देनी थी—

(१) लोक सभा में औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (संशोधन) विधेयक पर बहस के समय निगम के द्वारा दिये गये ऋणों पर लगाये गये दोष (पक्षपात) की छानबीन करना।

(२) यह पता लगाना कि ऋण देते समय साधारण रूप से उचित सावधानी रखी जाती है अथवा नहीं।

(३) निगम की ऋण देने की नीति को इस विचार से देखना कि वह निगम के अधिनियम के उद्देश्यों तथा सरकार द्वारा निर्गमित आदेशों का पालन करती है अथवा नहीं।

(४) निगम की क्रियाओं में सुधार करने के लिए उचित सुझाव देना।

समिति के सुझाव

श्रीमती सुचेता कृपलानी समिति ने अपनी रिपोर्ट ७ मई, १९५३ को प्रस्तुत की। इस समिति ने बहुत से साधारण सुझाव दिये तथा 'सोदेपुर ग्लास वर्क्स (Sodepur Glass Works) को दिये गये ऋण के बारे में भी विस्तारपूर्वक रिपोर्ट दी।*

जहाँ तक प्रथम दोष का सम्बन्ध है समिति की राय में यह आधार रहित है। समिति ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि ऐसे उद्योगों, जिनमें निगम के सचालक या अध्यक्ष तनिक भी हित रखते थे, उनको ऋण सुगमता या शीघ्रता से मिल गया है। समिति ने यह भी स्वीकार किया है कि निगम ऋण देते समय सुस्थापित व ख्यातिप्राप्त उद्योगों को अन्य उद्योगों की अपेक्षा प्राथमिकता देता है। समिति ने किस आधार पर ऐसा निर्णय दिया, रिपोर्ट में नहीं बताया गया है फिर भी भारतीय सरकार ने इस समिति की रिपोर्ट की विवेचना करते हुए कहा है कि "समिति ने जो कुछ भी रिपोर्ट दी है, सही तथ्यों पर आधारित है।"

श्रॉफ समिति के सुझाव

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा नियुक्त श्राफ कमेटी ने निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम की क्रियाओं का पर्यवेक्षण भी किया। समिति ने इस सम्बन्ध में निम्न दोष व सुझाव प्रेषित किये—

(१) ऋणों की स्वीकृति में विलम्ब—समिति ने देखा कि १२० निगम द्वारा स्वीकृत भागों में से २६ एक महीने में, २६ दो महीने में और २४ दो महीने में स्वीकृत किये गये। विलम्ब का कारण आवेदन पत्रों में वैधानिक उपचारों की कमी थी।

इस दोष को दूर करने के लिए समिति ने सुझाव दिया कि मुख्य शहरों में वैधानिक परामर्शदाताओं का दल रखा जाय।

---

* विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए 'भारतीय उद्योगों का संगठन एवं प्रबन्ध —अग्रवाल एवं निगम।

(२) ऋण देने की शर्तें—निगम की ऋण देने की शर्तें बहुत ही अनाकर्षक हैं। उदाहरणार्थ निगम ५०% का मार्जिन रखने के अतिरिक्त उस कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की प्रत्याभूति पर भी जोर देते हैं। समिति ने सुझाव दिया कि निगम को ऋण देने वाली कम्पनी की सुदृढ़ता के आधार पर ऋण देना चाहिए, प्रबन्ध अभिकर्ताओं की प्रत्याभूति पर नहीं।

(३) अधिक ब्याज दर—निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों से जो ब्याज लेता है वह अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। यह ब्याज की ऊँची दर नवनिर्मित औद्योगिक कम्पनियों के विकास में बाधा डाल सकती है। समिति के विचार में निगम को नवीन कम्पनियों से प्रारम्भिक काल में नीची दर से ब्याज लगाना चाहिए और बाद में कम्पनी की लाभोपार्जन शक्ति बढ़ने पर ब्याज की दर बढ़ाई जा सकती है।

(२) राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम

(State Financial Corporation)

औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम की स्थापना के समय केन्द्रीय सरकार ने राज्यों के लिए पृथक अर्थ प्रबन्धन निगम स्थापित करने का विचार किया था। औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (I F C) पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों और सहकारी समितियों की अर्थ सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। छोटे पैमाने तथा मध्यम वर्ग के उद्योग उसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इसके अतिरिक्त केवल एक निगम छोटे पैमाने तथा मध्य वर्ग के उद्योगों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता है। अतः केन्द्रीय लोक सभा ने २८ सितम्बर १९५१ को राज्य अर्थ प्रबन्धकीय अधिनियम (State Financial Act) पास किया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को अपने अपने राज्य में अर्थ प्रबन्धन निगम स्थापित करने का अधिकार दिया गया। 'मद्रास इनवेस्टमेंट कारपोरेशन लिमिटेड' जिसकी स्थापना इस अधिनियम (S F C Act) के पास होने से पहले हुई थी, भी उसी अधिनियम के अन्तर्गत आ गया है।

राज्य अर्थ प्रबन्धकीय निगम (S F C) अधिनियम की बहुत सी बातें औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम अधिनियम १९४८ से मिलती जुलती हैं। परन्तु राज्य अर्थ प्रबन्धकीय अधिनियम, औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम से तीन बातों में भिन्न है—

(१) औद्योगिक कार्य (Industrial Concern) की परिभाषा को विस्तृत कर दिया गया है और अब उसके अन्तर्गत प्राइवेट लि० कम्पनियाँ, साझेदारियाँ तथा स्वामित्वधारी कार्य (Proprietary Concerns) भी आते हैं।

(२) राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम के अंशों को जनता तथा बैंक भी खरीद सकती हैं जो अनुसूचित नहीं हैं।

(३) राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम (S. F. C.) अधिक से अधिक २० वर्षों के लिए ही ऋण तथा अग्रिमों (Loans and Advances) को दे सकता है अथवा उनके लिए गारंटी दे सकता है जब कि औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (I. F. C.) २५ वर्ष के लिए उपरोक्त कार्य कर सकता है।

निगम के आर्थिक साधन

(अ) पूँजी— *राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम की पूँजी सम्बन्धित आवश्यकताएँ* राज्य सरकार के द्वारा निश्चित की जायेंगी। केन्द्रीय सरकार ने इन निगमों की पूँजी की न्यूनतम् तथा अधिकतम् सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। न्यूनतम् सीमा ५० लाख रुपया तथा अधिकतम् सीमा ५ करोड़ रुपया है। जनता भी निगम की अंश पूँजी का २५% भाग क्रय कर सकती है, शेष पूँजी का क्रय राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं द्वारा किया जायगा। राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार से परामर्श करके विभिन्न विनियोक्ता संस्थाओं के अनुपात *का निर्धारण करती है।*

राज्य सरकार, केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर मूलधन के पुनर्भुगतान तथा वार्षिक लाभांश की गारन्टी देती है। लाभांश की दर राज्य सरकार द्वारा गारन्टीड दर से अधिक उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि निगम का संचित कोष, चुकता पूँजी के बराबर न हो जाय और जब तक राज्य सरकार द्वारा दिये गये धन का पुनर्भुगतान न हो गया हो। परन्तु किसी भी दशा में लाभांश की दर ५% से अधिक नहीं हो सकती।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १९३४ को ३० अप्रैल १९६० में संशोधन किया गया है। इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक, स्टेट फाइनान्स कारपोरेशन को केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारों की *प्रतिभूति (Security) पर ऋण अथवा अग्रिम १८ मास तक की अवधि के लिए दे सकती है। स्वीकृत की गई ऋण अथवा अग्रिम की कुल धन राशि किसी भी समय निगम की चुकता पूँजी के १०% से अधिक नहीं* होगी।*

(ब) बन्ध तथा ऋणपत्र (Bonds & Debentures)—अपने आर्थिक साधनों के लिए निगम (S. F. C.) बन्ध एवं ऋण पत्रों का निर्गमन कर सकता है। परन्तु इस प्रकार प्राप्त किये हुए ऋण की राशि तथा अन्य आकस्मिक दायित्वों से प्राप्त धन राशि, चुकता पूँजी तथा संचित कोष के ५ गुने से अधिक नहीं हो सकती है। इन निर्गमित बन्धों एवं ऋण-पत्रों के मूलधन तथा ब्याज के भुगतान के सम्बन्ध में राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार की अनुमति से गारन्टी देगी।

* Source :— R. B. *of India Bulletin*, June 1960, p. 822.

(स) जमा की स्वीकृति (Acceptances of Deposits)—निगम जनता से जमा भी स्वीकार कर सकता है। जमा कम से कम ५ वर्ष की अवधि के होने चाहिए। ऐसी जमा की कुल राशि निगम की चुकता पूँजी से अधिक न होनी चाहिए।

निगम का प्रबन्ध

राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम का प्रबन्ध एक सचालकों की सभा, जिसमें १० सदस्य होते हैं, के द्वारा होता है। सचालकों का चुनाव निम्न प्रकार होता है —

(१) राज्य सरकार द्वारा मनोनीत	३
(२) रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा मनोनीत	१
(३) औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम द्वारा मनोनीत	१
(४) राज्य सरकार द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध सचालक	१
(५) अनुसूचित बैंकों द्वारा निर्वाचित	१
(६) सहकारी बैंकों द्वारा निर्वाचित	१
(७) अन्य आर्थिक सस्थाओं द्वारा निर्वाचित	१
(८) अन्य अशधारियों द्वारा निर्वाचित	१
कुल योग	१०

सचालक गणों को उद्योग व्यापार तथा जन हित को सामने रखते हुए व्यापारिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। निगम के नीति सम्बन्धी मामलों में राज्य सरकार के निर्णय मान्य होते हैं। राज्य सरकार सभा को भग कर सकती है, यदि सभा उसके आदेशों का पालन करने में असफल रहती है।

निगम के कार्य

राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम निम्नलिखित कार्य कर सकता है —

(१) औद्योगिक सस्थाओं के निर्गमित अशों व ऋण पत्रों का अभिगोपन करना। ऐसे ऋण पत्रों का निर्गमन अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए होना चाहिए।

(२) औद्योगिक सस्थाओं को अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए ऋण देना अथवा उनके द्वारा निर्गमित ऋण पत्रों का क्रय करना।

(३) औद्योगिक सस्थाओं द्वारा स्वतन्त्र बाजार (Open Market) से अधिक से अधिक २० वर्ष की अवधि के लिए प्राप्त ऋणों का अभिगोपन करना।

(४) औद्योगिक सस्थाओं द्वारा स्कधों (Stocks), अशों (Shares) बन्धों (Bonds) अथवा ऋण पत्रों का अभिगोपन करना, यदि विक्रय ■ वर्ष में जनता को कर देना है।

निगम के निषिद्ध कार्य

(१) अधिक से अधिक उद्योगों की सहायता करने के विचार से निगम किसी

एक औद्योगिक सार्थ को अपनी चुकता पूँजी के १०% भाग अथवा १० लाख रु० (जो भी कम हो) से अधिक नहीं दे सकता।

(२) निगम किसी भी औद्योगिक सार्थ के अंशों अथवा स्कन्धों (Stocks) को प्रत्यक्ष रूप से क्रय नहीं कर सकता।

(३) निगम जनता से ५ वर्ष से कम अवधि की जमा (Deposits) स्वीकार नहीं कर सकता है।

(४) निगम अपने अंशों की प्रतिभूति पर ऋण नहीं दे सकता।

(५) निगम अपनी चुकता पूँजी से अधिक राशि की जमा (Deposits) स्वीकार नहीं कर सकता है।

निगम की क्रियाओं का विवरण

राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम अधिनियम १९५१ के पास होने के समय से लेकर मार्च १९५८ तक विभिन्न राज्यों में तेरह निगम स्थापित हो चुके हैं। मैसूर सरकार ने भी इस प्रकार के निगम को स्थापित करने का निर्णय कर लिया है। इस समय तक स्थापित निगमों की निर्गमित पूँजी में रिजर्व बैंक का भाग १०% से लेकर २०% तक रहा है। केन्द्रीय सरकार ने तीन राज्य सरकारों—आसाम, सौराष्ट्र तथा केरल को कुछ आर्थिक सहायता ऋणों के रूप में दी है जिससे वे राज्य सरकारें अपने निगमों के अंशों को खरीद सकें। केन्द्रीय सरकार ने इस उद्देश्य के लिए १९५५-५६ के बजट में १ करोड़ रुपये का प्रावधान किया था।

अभी तक जितने भी निगम स्थापित किये गये हैं वे सब अपनी शैशवावस्था में हैं और अनेक असुविधाओं एवं बाधाओं का सामना कर रहे हैं। वे अभी इस अवस्था में नहीं हैं जिससे वे उद्योगों को सहायता समुचित रूप से पहुँचा सकें। इसके अतिरिक्त ये आवेदन-पत्रों को किसी न किसी कारण से अस्वीकृत कर देते हैं और जो भी आवेदन-पत्र स्वीकृत किये जाते हैं उन पर ऋण स्वीकार करने में बहुत विलम्ब होता है, इससे ऋण लेने वाले उद्योगों को बहुत असुविधा एवं कठिनाई होती है।

ऐसा कहा जाता है कि निगम अधिकतर अपेक्षाकृत बड़ी औद्योगिक सार्थों को ऋण देते हैं। इस प्रकार लघु उद्योगों, जिनको सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से ही इन निगमों की स्थापना हुई है, बिना सहायता के रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों में राज्य सरकारें निगमों की क्रियाओं में हस्तक्षेप करती हैं और कुछ उद्योगों को अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता भी देती हैं। उदाहरणार्थ राज्य अनुदान उद्योग अधिनियमों (State Aid To Industries Act) के अन्तर्गत राज्य सरकारें लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देती हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि लघु उद्योग कारपोरेशन से ऋण न लेकर राज्य सरकारों से प्रत्यक्ष रूप से ऋण लेते हैं। हैदराबाद राज्य सरकार वित्तीय

निगम' इस कथन की पुष्टि करता है। इस निगम के पास १९५५-५६ में पिछले वर्ष की अपेक्षा बहुत कम आवेदन-पत्र आये और इसका मुख्य कारण यही था कि वहाँ का 'स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज बोर्ड' लघु उद्योगों को अधिक सुविधाजनक शर्तों पर ऋण देता था। आन्ध्र निगम को भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ा।

१९५६-५७ में १० राज्य अर्थ प्रबन्धन निगमों को ३५.७ लाख रुपये का शुद्ध लाभ हुआ जब कि १९५५-५६ में यह लाभ कुल २५ लाख रुपये ही था। आय कर (Income Tax) के लिए प्राविधान कर देने के पश्चात् निगमों के पास लाभांश बाँटने के लिए पर्याप्त शेष न रहा। परिणामस्वरूप इस कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने अपनी अपनी राज्य सरकारों से सहायता माँगी। १९५६-५७ में यह सहायता २०.३ लाख रुपये थी जब कि १९५५-५६ में इसकी राशि १६.६ लाख रुपये थी। मार्च १९५७ तक निगमों को दी गई कुल सहायता ५५.१ लाख रुपये थी।

१९५८-५९ में १९५७-५८ की अपेक्षा में राजकीय अर्थ प्रबन्धन निगमों के अग्रिमों (Advances) में २.२१ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। मैसूर राज्य में भी एक [illegible] में की स्थापना हो जाने से निगमों की कुल संख्या १३ हो गई है। तीन निगमों ने [illegible] का निर्गमन करके २.५० करोड़ रुपये की अतिरिक्त धन राशि को प्राप्त किया। [illegible] ५६ [illegible] में निगम (Corporations) द्वारा राज्य सरकारों की ओर से लघु उद्योगों को सरकारी रियायती आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए अभिकर्त्ता (Agents) नियुक्त किये गये हैं। इस समय यह अभिकर्त्ता प्रणाली उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई तथा पंजाब में प्रचलित है। बिहार सरकार भी इसी व्यवस्था को अपनाने जा रही है।

राजकीय अर्थ प्रबन्धन निगम अधिनियम १९५१ की धारा ३७ 'अ' के अनुसार रिजर्व बैंक ने अभी तक ६ निगमों का निरीक्षण कर लिया है।

विभिन्न राज्यों में अर्थ-प्रबन्धन निगम

पंजाब अर्थ प्रबन्धन निगम

पंजाब की सरकार ने १ फरवरी १९५३ को पंजाब अर्थ प्रबन्धन निगम की स्थापना की। इस निगम का प्रधान कार्यालय जालन्धर में है। इसकी अधिकृत पूँजी ३ करोड़ रुपये है और निर्गमित पूँजी १ करोड़ रुपया है जिसका क्रय इस प्रकार है—

(१) पंजाब सरकार	३० लाख रुपये
(२) रिजर्व बैंक	२० ,, ,,
(३) अनुसूचित बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ	३० ,, ,,
(४) जनता	२० ,, ,,

इस निगम का उद्देश्य लघु एवं माध्यमिक उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देना है। पंजाब सरकार ने पूँजी की वापसी तथा ३% लाभांश की गारन्टी दी है। इसके

प्रबन्धन एवं कार्यों के सम्बन्ध में राज्य औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम अधिनियम १९५१ लागू होगा। इस निगम के प्रबन्ध सचालक श्री एन० डी० नागिया हैं।

निगम प्रथम २ लाख रुपये पर ६% ब्याज और २ लाख रुपये से अधिक पर ६½% ब्याज लेता है। मूलधन तथा ब्याज का निश्चित तिथियों पर भुगतान देने पर १½% की छूट दी जाती है।

पंजाब निगम ने अपना कार्यक्षेत्र बढ़ा रखा है क्योंकि दिल्ली में कोई पृथक् निगम नहीं है। इस प्रकार पंजाब अर्थ प्रबन्धन निगम पंजाब और दिल्ली दोनों में कार्य करता है। पेप्सू राज्य के पंजाब में सम्मिलित हो जाने से पंजाब राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम का कार्यक्षेत्र और भी बढ़ गया है।

बम्बई राज्य में अर्थ प्रबन्धन निगम

बम्बई राज्य में बम्बई के वित्त मंत्री श्री जीवराज मेहता की घोषणानुसार राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम की स्थापना ३० नवम्बर १९५३ को हो गई है। इसकी अधिकृत पूँजी ५ करोड़ रुपये है। इस पूँजी का क्रय राज्य सरकार, संयुक्त स्कन्ध बैंकों, बीमा कम्पनियों, सहकारी बैंकों, विनियोग प्रन्यास (Investment Trust) तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं ने किया है।

बम्बई राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम का प्रमुख कार्यालय बम्बई में है।

उद्देश्य

बम्बई राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम का उद्देश्य भी अन्य राज्य निगमों की भाँति राज्य के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करना है।

कार्य

(१) औद्योगिक इकाइयों के ऋणपत्र खरीदना तथा उन्हें ऋण देना।

(२) औद्योगिक इकाइयों द्वारा 'स्टाक एक्सचेंज' में लिये गये ऋण की गारन्टी देना।

(३) औद्योगिक इकाइयों के ऋणपत्र, बन्ध एवं स्कन्धों (Stocks) के निर्गमन का अभिगोपन करना।

(४) औद्योगिक इकाइयों को कम से कम १०,०००) तथा अधिकतम् ५ लाख रुपये का ऋण देना।

ऋण देने की शर्तें

(१) स्थायी सम्पत्ति के शुद्ध मूल्य के ५% राशि तक ऐसी सम्पत्ति की प्रथम वैधानिक प्राधि पर ऋण दिया जा सकेगा।

(२) ऋण अधिकतम् १० से १२ वर्ष तक के लिए दिया जायगा जिसका भुग

तीन किस्तों में होगा। इन किस्तों की राशि एवं ऋण की अवधि प्रत्येक उद्योग की योग्यता एवं उसकी स्थिति के अनुसार निश्चित होगी।

(३) ब्याज की दर ६% प्रति वर्ष होगी।

(४) ऋण के लिए प्रस्तुत आवेदन-पत्रों पर ऋण की स्वीकृति देने के पूर्व निम्न शर्तों के आधार पर विचार होगा—

(अ) उद्योग की आर्थिक स्थिति;
(ब) प्रतिभूतियों की पर्याप्तता;
(स) लाभार्जन शक्ति;
(द) ब्याज तथा प्रभागों में मूलधन के भुगतान करने की योग्यता;
(य) तात्रिक विशेषज्ञों एवं प्रबन्धक व्यक्तियों की योग्यता एवं अनुभव,
(र) आधुनीकरण, विस्तार एवं विकास योजना की तात्रिक सुदृढ़ता,
(ल) सम्पत्ति का स्वत्वाधिकार; तथा
(व) ऋण लेने वाले उद्योग की साख योग्यता।

. प्रदेशीय अर्थ-प्रबन्धन निगम

२५ अगस्त १९५४ को उत्तरप्रदेशीय अर्थ-प्रबन्धन निगम की स्थापना हुई है। इसका प्रधान कार्यालय कानपुर में है। इसकी अधिकृत पूँजी ३ करोड़ रुपया है। आरम्भ में केवल ५० लाख रुपये के ५०,००० अंशों का निर्गमन किया गया है। इन अंशों का क्रय निम्न संस्थाओं के द्वारा इस प्रकार किया गया है—

(१) राज्य सरकार	३६%
(२) अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनी आदि	३९%
(३) रिजर्व बैंक	१५%
(४) अन्य संस्थाएँ	१०%

उद्देश्य

निगम का मुख्य उद्देश्य लघु तथा माध्यमिक उद्योगों को आर्थिक सहायता देना है।

ऋण देने की शर्तें

यह निगम पंजाब राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम की शर्तों के आधार पर बन्ध तथा ऋणपत्र बेचने का अधिकारी है। सञ्चालक मण्डल को यह निश्चय करने का अधिकार होगा कि किन उद्योगों को सहायता मिलनी चाहिये। सञ्चालक मंडल ही ऋण की न्यूनतम तथा अधिकतम मात्रा निर्धारित करेगा। ऋण नवीन तथा पुरानी दोनों ही कम्पनियों को दिये जायँगे। निगम द्वारा दिये गये ऋण पर ब्याज ६% की दर से

लिया जायेगा और निश्चित समय पर ऋण की किस्तों तथा ब्याज के भुगतान करने पर ½% की छूट दी जायगी।

प्रबन्ध

निगम का प्रबन्ध एक सचालक सभा के द्वारा होगा। इसका प्रथम प्रबन्ध सचालक रिजर्व बैंक की राय के अनुसार नियुक्त किया जायगा। निगम की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए परामर्शदाता समितियाँ (Advisory Committees) नियुक्त की जायेंगी।

राज्य निगमों की कठिनाइयाँ

निगम को पिछले वर्षों में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) भाग लेने वाली कम्पनियों की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाना बहुत कठिन होता है, क्योंकि ये कम्पनियाँ सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर अपना लेखा नहीं बनाती हैं। पिछले पाँच या छ वर्षों के अप्रमाणित तथा अन अंकेक्षित (Non Audited) खातों का विश्लेषण करना होता है।

(२) भाग लेनेवाली कम्पनियाँ अधिकतर अपनी उत्पादन शक्ति, वास्तविक उत्पादन, तथा अनुमानित उत्पादन वृद्धि के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचना नहीं देती हैं। अत निगम ऐसी कम्पनियों को ऋण देने में सकोच करता है।

(३) बहुत सी एकल स्वामित्वधारी तथा साझेदारी के व्यवसाय ऋण लेने के लिए पर्याप्त प्रतिभूति नहीं दे सके क्योंकि उनके स्वामित्व तथा स्थायी सम्पत्ति के मूल्याकन में गड़बड़ी होती थी।

(४) छोटे व्यवसायों की सफलता अधिकतर उनके स्वामियों के व्यक्तित्व पर आधारित होती है। यदि उनके स्वामियों में परिवर्तन हो जाता है तो व्यवसाय की सफलता भी सन्देह में पड़ जाती है। निगम को ऋण देते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है।

(५) ऋण लेने वाली कम्पनियाँ निगम की सीमाओं व नाजुक परिस्थिति को नहीं समझतीं और वे अपने हित की पूर्ति के लिए जोर देती हैं। वास्तव में देखा जाय तो मार्गेज बैंकिंग (Mortgage Banking) में बहुत ही सावधानी व देखरेख की जरूरत पड़ती है।

(६) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण उद्योग की उन्नति के लिए जो उत्तरोत्तर बल दिया जा रहा है वह भी किसी सीमा तक इन निगमों के क्षेत्र को सीमित करता है। सरकार की इस नीति के कारण निगम लघु स्तर के उद्योगों को अधिक सहायता नहीं दे पाते हैं। उदाहरणार्थ सरकार ने ग्रामीय तेल पेरने के कोल्हुओं को विकसित करने के उद्देश्य से लघु स्तर की आयल मिलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

(७) निगम के सामने ऋण लेनेवाली कम्पनियों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना भी एक समस्या है। इस कार्य के लिए तात्त्विक कुशल व्यक्ति चाहिये जिनका नितान्त अभाव है।

राज्य अर्थ प्रबन्धन निगम (संशोधन) अधिनियम सन् १९५६

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण राज्य निगमों को अधिक सफलता नहीं मिल रही थी। इन कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से सरकार ने अधिनियम में संशोधन किया और ३० अगस्त सन् १९५३ को राज्य अर्थ-प्रबन्धन निगम (संशोधन) अधिनियम पास हो गया है। इसके निम्न उद्देश्य थे—

(१) पिछले वर्षों में अनुभव की गई कठिनाइयों को दूर करना।

(२) जो राज्य वित्तीय निगम की स्थापना करने में असमर्थ हैं उनके हित के लिए संयुक्त अर्थ प्रबन्धन निगम की स्थापना करना।

(३) जिन लघु तथा कुटीर उद्योगों के पास प्रत्याभूति (Guarantee) देने के लिए उचित प्रतिभूतियाँ नहीं हैं उनको राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा सहकारी बैंक की प्रत्याभूति (Guarantee) पर ऋण देना।

(३) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम

(Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd)

निजी क्षेत्र के उद्योगों को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने के लिए 'औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम' की स्थापना ५ जनवरी १९५५ को की गई है। यह निगम विशुद्ध रूप से निजी व्यक्तियों के स्वामित्व व प्रबन्ध में है। यह निजी क्षेत्र के उद्योगों की आर्थिक सहायता, उनको ऋण देकर, ऋण की गारन्टी देकर तथा अंशों का अभिगोपन करके करता है।

१९५३ में भारत सरकार तथा विश्व बैंक द्वारा नियुक्त तीन व्यक्तियों के मण्डल (Three Men Mission) ने इंगलैंड के 'औद्योगिक तथा व्यापारिक वित्त निगम' (I. & C Corporation) के आधार पर उपरोक्त निगम को स्थापित करने का निश्चय किया था। क्योंकि भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन निगम (I. F C) अर्थ सरकारी होने के कारण उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी कुशलता से न कर सका जितना इसे करना चाहिए था। फरवरी १९५४ में विश्व बैंक का एक प्रतिनिधि तथा अमेरिका के वित्त निगमों के दो प्रतिनिधि भारत में आये। निगम की स्थापना के ध्येय से भारतीय सरकार के प्रतिनिधियों तथा बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा दिल्ली के उद्योगपतियों की सलाह से 'स्टीयरिंग कमेटी' (Steering Committee) नियुक्त की गई। इस समिति में ५ सदस्य थे जिनमें से २ सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका

(U. S. A.) तथा संयुक्त राज्य (U. K.), विदेशी विनियोकाओं तथा विश्व बैंक की सहायता प्राप्त करने के लिए गये। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप निगम का रजिस्ट्रेशन जनवरी १९५५ में भारतीय प्रमण्डल अधिनियम (Indian Companies Act) के अन्तर्गत हुआ। इसका प्रमुख कार्यालय बम्बई में है।

पूँजी का ढाँचा

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये है जो सौ-सौ रुपये के ५ लाख साधारण अंशों तथा सौ सौ रुपये के २० लाख अवर्गीय अंशों में (Unclassified Shares) में विभाजित है। निगम की चुकता पूँजी ५ करोड़ रुपये है जो सौ-सौ रुपये वाले ५ लाख साधारण अंशों में विभाजित है। अंशों का निर्गमन सम मूल्य (Par-value) पर किया गया है और उसके धारियों को प्रति अंश पर एक मत (वोट) देने का अधिकार है। निर्गमित पूँजी का क्रय विभिन्न संस्थाओं के द्वारा इस प्रकार किया गया है—

(१) भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा विनियोक्ता वर्ग आदि	३½ करोड़ रु०
(२) ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेंज बैंक तथा अन्य औद्योगिक संगठन आदि	१ ,, ,,
(३) अमेरिका विनियोक्ता गण	५० लाख रु०
योग	५ करोड़ रुपये

अमेरिकन विनियोकागणों में 'रौकफैलर ब्रदर्स' 'बेरिंदस हाउस इलैक्ट्रीकल इन्टरनेशन कम्पनी' तथा 'मेसर्स आलिन मैथीसन केमिकल कार्पोरेशन' सम्मिलित हैं।

भारत सरकार ने निगम को ७½ करोड़ रुपये का ऋण बिना ब्याज के दिया है जिसका भुगतान १५ वार्षिक किस्तों में ऋण देने की तिथि के १५ वर्ष पश्चात् होगा। विश्व बैंक (I B R. D.) ने भी निगम को समय समय पर विविध मुद्राओं में १० मि० डालर के बराबर ऋण देना स्वीकार किया है। ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य व्ययों की गारन्टी भारतीय सरकार ने मार्च, १९५५ में दी है। ऋण की अवधि ५ वर्ष तथा ब्याज की दर ४⅝% है। जीवन बीमा के राष्ट्रीयकृत हो जाने के कारण भारतीय सरकार के स्वामित्व व अधिकार में पूँजी का लगभग १८% भाग आ गया है। परन्तु सरकार इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहती है।

उद्देश्य (Objects)

निगम की स्थापना भारतीय निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से हुई है जो निम्न प्रकार से दी जायगी—

(१) निजी उद्योग के निर्माण, विस्तार तथा आधुनिकता में सहायता देना।

(२) ऐसे उद्योगों में आन्तरिक तथा बाह्य निजी पूँजी के विनियोग तथा ██ भागिता को प्रोत्साहित करना तथा बढ़ावा देना।

(३) औद्योगिक विनियोगों में निजी स्वामित्व को प्रोत्साहित करना तथा विनि याग बाजार के क्षेत्र को विस्तृत करना।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु सहायता निम्न रूप में दी जायगी—

(अ) उद्योगों को दीर्घकालीन या मध्यकालीन ऋण देकर अथवा उनके सामान्य अंशों (Equity Shares) का क्रय करके,

(ब) अंशों एवं प्रतिभूतियों (Securities) के नवीन निर्गमन को प्रोत्साहित करके अथवा उनका अभिगोपन करके,

(स) अन्य व्यक्तिगत विनियोग स्रोतों से प्राप्त ऋणों की गारन्टी देकर;

(द) चक्रित विनियोगों (Revolving Investments) द्वारा पुनः विनि योग के लिए पूँजी उपलब्ध करके, तथा

(य) भारतीय उद्योगों को प्रबन्धकीय, तान्त्रिक तथा प्रशासकीय सलाह देकर और उन्हें प्रबन्धकीय, तान्त्रिक एवं प्रशासकीय सेवाएँ (Services) प्राप्त करने में सहायता

।

निगम द्वारा अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करने के साधन

निगम के पार्षद अन्तर्नियम के क्लॉज ११ के अनुसार निगम अनर्गीय अंशों का साधारण सभा की स्वीकृति से अथवा संचालक गणों द्वारा साधारण सभा में स्वीकृत नियमों के अनुसार निर्गमित कर सकता है।

निगम बाहर से ऋण ले सकता है यदि उधार लिया हुआ धन निम्नराशि के तिगुने से अधिक नहीं हो—

(१) सुरक्षित पूँजी (Unimpaired Capital),

(२) भारतीय सरकार से लिया गया अदत्त अग्रिम (Outstanding Advance),

(३) निगम की अतिरेक राशि (Surplus) तथा संचित कोष।

निगम का प्रबन्ध

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (I C I. C) का प्रबन्ध एक संचालक समिति के हाथ में होगा जिसमें ११ सदस्य होंगे। इनमें ७ भारतीय, २ ब्रिटिश, एक अमरीकी और एक वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय की ओर से होगा। प्रारम्भिक संचालकगण 'स्टीयरिंग समिति' के ही सदस्य हैं। इस निगम के जनरल मैनेजर 'बैंक ऑव इगलैण्ड' के मुख्य कोषाध्यक्ष श्री पी० एस० बील (Mr P S. Beale) हैं। इन महोदय की नियुक्ति का अनुमोदन भारतीय, ब्रिटिश तथा अमरीकी

सभी विनियोक्ताओं ने किया है। निगम के चेयरमैन डाक्टर रामस्वामी मुदालियर तथा सदस्य सर्वश्री ए० डी० श्रोफ, घनश्याम दास बिड़ला, कस्तूर भाई लालभाई आदि हैं।

निगम के प्रति भारतीय सरकार के अधिकार

निगम तथा भारतीय सरकार के मध्य हुए समझौते के अनुसार सरकार को निम्न अधिकार प्राप्त हैं—

(१) सरकार निगम की समाप्ति के लिए आवेदन पत्र दे सकती है यदि वह (निगम) अपना पुनर्भुगतान करने में असमर्थ हो जाता है अथवा उसकी पूँजी एक निश्चित मात्रा से कम हो जाती है।

(२) सरकार निगम की सचालक सभा में उस समय तक के लिए सचालक नियुक्त कर सकती है जब तक सरकार द्वारा निगम को दिये गये ऋण का पूर्ण भुगतान नहीं हो जाता है।

(३) सरकार निगम के व्यक्तिगत लाभ को रोकने के लिए उचित कार्यवाही कर सकती है।

निगम की क्रियाओं का ब्यौरा

यद्यपि 'औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम' (I C I C) की स्थापना ५ जनवरी १९५५ को ही हो गई थी, परन्तु इसने अपना कार्य १ मार्च १९५५ से ही प्रारम्भ किया। सन् १९५५ से सन् १९५६ के अन्त तक स्वीकृत की गई वित्तीय सहायता ५६ कम्पनियों के लिए २०.४० करोड़ रुपये थी। यही धनराशि पिछले वर्ष ४४ कम्पनियों के लिए ११.६५ करोड़ रुपये थी। ५६ कम्पनियों, जिनको कि वित्तीय सहायता स्वीकृत की गई, उनमें से २७ कम्पनियाँ नई थीं।

निगम की कुल आय १९५६, १९५७ और १९५८ में क्रमशः ४१ लाख रुपये, ५४ लाख रुपये तथा ५७ लाख रुपये थी। १९५९ में भी कुल आय पिछले वर्ष की भाँति ५७ लाख रुपये ही हुई। संस्थापन (Establishment) तथा अन्य व्ययों (७.२६ लाख रुपये) तथा करों (Taxes) के लिए प्रावधान (२२.४३ लाख रुपये) करने के पश्चात् निगम को शुद्ध लाभ (Net Profit) २८.२३ लाख रुपये का हुआ जो कि पिछले वर्ष (२५.२२ लाख रुपये) की अपेक्षा में ३.०१ लाख रुपये अधिक था।*

(४) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

(National Industrial Development Corporation)

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N I D C) की स्थापना २० अक्तूबर

* *Reserve Bank of India Bulletin*, April, 1960

१९५४ को १ करोड़ रुपये की चुकता पूँजी (जो कि पूर्णतया भारत सरकार के [redacted] दी गई है) से की गई है। यह निगम एक राजकीय संस्था है और इसका पूर्ण स्वामित्व और नियन्त्रण सरकार के हाथ में है। देश में शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण करने के उद्देश्य की पूर्ति ही इस निगम की स्थापना का मुख्य कारण है। उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में निजी साहस (private enterprise) थोड़ी-सी ही बाह्य सहायता से सम्पूर्ण देश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। परन्तु जहाँ तक आधारभूत उद्योगों (basic industries) तथा मुख्य उद्योगों (key industries) की स्थापना एवं विकास का प्रश्न है निजी क्षेत्र के बस की बात नहीं। इसके लिए सरकार को स्वयं प्रबन्ध करना पड़ेगा।

इस निगम की स्थापना की बात सर्वप्रथम तत्कालीन व्यापार एवं उद्योग मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णामाचारी ने सोची थी और अक्तूबर १९५३ में योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन श्री बी० टी० कृष्णमाचारी ने राष्ट्रीय विकास समिति (National Development Council) की बैठक में घोषणा की थी कि पंचवर्षीय योजना के एक अंग के रूप में एक औद्योगिक विकास निगम की स्थापना की जायगी। इस निगम का मुख्य उद्देश्य अन्य निगमों की भाँति उद्योगों का अर्थ-प्रबन्धन न करके, उनके विकास एवं स्थापना के साधनों को जुटाना होगा। निजी साहस को यद्यपि ऐसा करने में अधिक सफलता मिलने की आशा नहीं है परन्तु वह अपने विनियोगों, अनुभव एवं योग्यता (experience and knowledge) के द्वारा सहायता पहुँचा सकता है। यह निगम अपने उद्देश्य की पूर्ति में निजी साहस के उपरोक्त सहयोग को सहर्ष स्वीकार करेगा और उसका सदुपयोग करेगा।

पूँजी एवं आर्थिक साधन

विकास निगम की स्थापना से पूर्व उसकी अंश पूँजी १५० करोड़ रुपया रखने का विचार था परन्तु अब इसकी स्थापना केवल १ करोड़ रुपये की पूँजी तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त ऋणों के साथ की गई है। निगम को अपने आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए अंशों एवं ऋण पत्रों के निर्गमन करने का अधिकार है। यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, बैंकों, कम्पनियों तथा व्यक्तियों से अनुदान (Grants), ऋण (Loans), अग्रिम (Advances) या निक्षेप (Deposits) स्वीकार कर सकता है।

निगम की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति सरकार दो प्रकार से करेगी—

(१) औद्योगिक परियोजनाओं (Industrial Projects) के अध्ययन, अनुसंधान तथा औद्योगिक निर्माण के निर्णय तथा आवश्यक तान्त्रिक एवं प्रबन्धकीय कर्मचारियों के दल (A Corps of Technical and Managerial Staff) को तैयार करने के लिए वार्षिक अनुदान (grants) देकर, तथा

(२) प्रस्तावित परियोजनाओं (projects) के निर्माण के समय आवश्यक ऋण देकर।

उद्देश्य

विकास निगम मुख्यतया एक सरकारी संस्था है जिसका उद्देश्य उद्योगों की स्थापना एव विकास करना है, न कि लाभोपार्जन करना। यह न केवल सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) का ही विस्तार करेगा, बल्कि निजी क्षेत्र को भी प्रोत्साहित करेगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए इस निगम की पूर्व स्थापना परमावश्यक समझी गई थी, क्योंकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश की सुरक्षा एव उन्नति के हेतु देश के शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण पर विशेष ज़ोर दिया गया है जो कि औद्योगिक विकास निगम जैसी दीर्घकालीन साख संस्था की स्थापना के बिना सम्भव नहीं था। इस निगम को स्थापित करने का दूसरा कारण यह था कि इससे राष्ट्रीय सरकार द्वारा घोषित मिश्रित आर्थिक नीति (mixed economy) की पूर्ति होती थी। सरकार नवीन उद्योगों का निर्माण करके निजी व्यक्तियों को बेच देगी और उस धन से फिर नवीन उद्योगों का निर्माण करेगी।

अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति निगम निम्न सुविधाएँ प्रदान करके करेगा—

(१) उद्योगों को आवश्यक मशीनरी तथा प्लान्ट प्रदान करना तथा आधारभूत उद्योगों का प्रवर्तन एव निर्माण करना।

(२) देश के औद्योगिक विकास में सहायक वर्तमान निजी उद्योगों को तान्त्रिक एव इञ्जीनियरिंग सेवाएँ प्रदान करना तथा यदि आवश्यक हो तो पूँजी देना।

(३) निजी साहस (private enterprise) को सरकार द्वारा स्वीकृत औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक तान्त्रिक, इञ्जीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधाएँ प्रदान करना।

(४) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अध्ययन करना, उनको तान्त्रिक, इञ्जीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधाएँ प्रदान करना।

इस उद्देश्य से निगम के बोर्ड ने २३ अक्तूबर १६५४ को हुई अपनी पहली बैठक में उद्योगों की अस्थायी (provisional) सूची तैयार की, जिसका अध्ययन करके निगम को यह ज्ञात हो जाय कि नवीन औद्योगिक विकास किस सीमा तक आवश्यक है और वर्तमान उद्योगों को किस सीमा तक बढ़ाना चाहिए। निगम के बोर्ड ने इस बात को स्वीकार किया कि देश के शीघ्र औद्योगीकरण के लिए सुसंगठित तान्त्रिक सहायता के प्राविधान (provision) की आवश्यकता है। अतः उसमें योग्य सलाह देने वाले इञ्जीनियरों की संस्था (competent firm of consulting engineers) स्थापित करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया।

चुने हुए उद्योग जिनकी अस्थायी सूची तैयार की गई है, इस प्रकार हैं—

(१) मिश्र लोह, मैंगनीज और फैरोक्रोम,

(२) अलमूनियम,

(३) तांबा, जस्ता तथा अलौह धातुएँ

(४) डीजल इंजिन, इंजिन और जेनरेटर,

(५) भारी रसायन,

(६) खाद और उर्वरक,

(७) कोयला और कोलतार,

(८) मेथानोल एवं फार्मेल्डीहाइड,

(९) कारबन ब्लेक,

(१०) कागज, अखबारी कागज आदि बनाने के लिए लकड़ी की लुग्दी,

(११) इंजिस दवाइयाँ, विटामिन्स एवं हारमोन्स,

(१२) एक्सरे तथा डाक्टरी सामान आदि,

(१३) हार्डबोर्ड, इन्सूलेशन बोर्ड आदि,

(१४) कुछ उद्योगों जैसे जूट, शराब, वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेंट, रासायनिक, छपाई, खान, आदि के लिए आवश्यक मशीनरी तथा सामग्री का निर्माण करना।

आर्थिक सहायता देने के प्रारूप

विकास निगम किसी भी प्रकार के औद्योगिक व्यवसाय को आर्थिक सहायता दे सकता है, चाहे वह सरकार के नियन्त्रण अथवा स्वामित्व में हो, वैधानिक संस्था (statutory body) हो, कम्पनी हो, फर्म हो या एकाकी व्यवसाय हो। उद्योगों को सहायता पूँजी, साख, मशीनरी, साजसज्जा (equipment) या अन्य किसी भी रूप में दी जा सकती है। निगम उद्योगों को आर्थिक सहायता विभिन्न रूपों में दे सकता है। उदाहरणार्थ यह उद्योगों को ऋण व अग्रिम (loans and advances) स्वीकार कर सकता है, उनके अंशों व ऋण पत्रों का क्रय व अभिगोपन कर सकता है तथा उनके ऋणों और अग्रिम पर गारंटी दे सकता है।

निगम के अधिकार

विकास निगम को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं जिससे वह अपने सम्बन्धित उद्योगों पर नियंत्रण रख सके। वह किसी भी उद्योग में अपने संचालक नियुक्त करके उसका प्रबन्ध, नियन्त्रण तथा निरीक्षण कर सकता है। वह किसी भी कार्य में साझेदार या अन्य किसी भागी के रूप में सम्मिलित रूप से कार्य कर सकता है। वह किसी ऐसी संस्था का प्रवर्त्तन तथा निर्माण भी कर सकता है जिसका उद्देश्य अन्य संस्थाओं को स्थापित करना अथवा उनका संचालन करना होता है।

प्रबन्ध (*Management*)

विकास निगम का प्रबन्ध एक सचालक समिति (Board of Directors) के द्वारा होता है। इस समिति में कम से कम १५ सदस्य और अधिक से अधिक २५ सदस्य हो सकते हैं। ये सदस्य उद्योगपति, वैज्ञानिक तथा इंजीनियर्स होते हैं जो कि भारत सरकार द्वारा मनोनीत (nominate) किये जाते हैं। इस प्रकार निगम का सचालन सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के सम्मिश्रण से होता है। वर्तमान सचालन समिति के २० सदस्य हैं जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार की है।[1]

उद्योगपति	१०
अधिकारी (Officials)	५
इंजीनियर्स	४
वाणिज्य एव उद्योग मन्त्री (चेयरमैन)	१
योग	२०

निगम की क्रियाएँ

औद्योगिक विकास निगम की सचालक सभा की प्रथम बैठक सितम्बर १९५५ में हुई। इस बैठक में कुछ औद्योगिक विकास की योजनाएँ स्वीकृत की गईं तथा उन योजनाओं का पर्यवेक्षण भी प्रारम्भ कर दिया गया। निगम ने भारतीय जूट उद्योग के पुनर्स्थापन तथा आधुनीकरण के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए आवश्यक साधन जुटाने का निश्चय भी कर लिया। इसने एक समिति, जिसके सदस्य अधिकतर उद्योगों से सम्बन्धित थे, की स्थापना की और निश्चय किया कि इस समिति की सिफारिशों के आधार पर स्वीकृत मिलों को केवल ४½% ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा।

जूट उद्योग की सात मिलों को आधुनीकरण के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने १ ३९ करोड रुपये का ऋण दे दिया है और ८ अन्य मिलों के लिए १ ५८ करोड रुपये का ऋण निगम के विचाराधीन है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उपरोक्त ऋणों के द्वारा तथा जूट उद्योग के आन्तरिक साधनों के द्वारा सम्पूर्ण जूट उद्योग की लगभग आधी पुरानी मशीनों का आधुनीकरण हो जायगा।*

निगम ने कुछ अन्य उद्योगों की स्थापना करने का भी निश्चय किया है। ये उद्योग स्टील फाउन्ड्रिज फोर्जेज, टेक्सटाइल मशीनरी, एयर कम्प्रेशर्स (Air Compressors), कागज की लुग्दी, कार्बन इत्यादि हैं।

निगम के सचालकों ने २३ मार्च १९५६ को दिल्ली में हुई बैठक में सरकार से

1 *Modern Review*, November, 1954

* *Indian Finance*, August 2, 1958, p. 175.

सम्मुख कुछ महत्वपूर्ण सुझाव रखे। इन सुझावों में से एक सुझाव 'सिन्थेटिक रबड़ प्लान्ट' (Synthetic Rubber Plant) के सम्बन्ध में भी था। निगम ने भारतीय सरकार के सामने तीन योजनाओं के पर्यवेक्षण कराने का सुझाव रखा। ये योजनाएँ निम्न चीजों के निर्माण से सम्बन्धित थीं—

(अ) औद्योगिक मशीनरी तथा प्लान्ट,

(ब) एल्यूमिनियम, तथा

(स) एलीमेन्टल फास्फोरस (elemental phosphorus)

निगम ने यह भी निश्चय किया है कि 'स्ट्रक्चरल कम मशीनशाप' (structural cum-machine shop) भिलाई में तथा 'स्ट्रक्चरल शाप' दुर्गापुर में स्थापित किए जायँगे। निगम ने सूती वस्त्र उद्योग के पुनर्स्थापन तथा आधुनीकरण करने के सम्बन्ध में आर्थिक सहायता की समस्या पर विचार किया। सचालक सभा की एक समिति वस्त्र उद्योग से प्राप्त ऋण आवेदन पत्रों पर विचार करने के लिए स्थापित की गई। यह उपसमिति 'टेक्सटाइल कमिश्नर' के कार्यालय के पर्यवेक्षण दल की सहायता से कार्य करेगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कार्यक्रम

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निगम की क्रियाओं के लिए ५५ करोड़ रुपये की धनराशि का प्राविधान किया गया है। इस धनराशि का एक भाग (लगभग २० या २५ करोड़ रु०) सूती वस्त्र उद्योग तथा जूट उद्योग के आधुनीकरण की योजनाओं को सफल बनाने में खर्च किया जायगा। शेष धनराशि नवीन आधारभूत तथा मुख्य उद्योगों के निर्माण तथा प्रवर्त्तन में खर्च की जायगी।

(५) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम

(National Small Industries Corporation Private Ltd.)

भारतीय सरकार ने फरवरी सन् १९५५ में लघु उद्योगों की उन्नति, संरक्षण, आर्थिक तथा अन्य सहायता के लिए 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' की स्थापना की है। यह निगम केवल उन्हीं उद्योगों को आर्थिक सहायता देगा जिसमें ५० से कम व्यक्ति काम करते हों और शक्ति (power) का प्रयोग होता हो और शक्ति का प्रयोग न होने पर १०० व्यक्ति कार्य करते हों। इन उद्योगों की पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक न होनी चाहिये। निगम की स्थापना लघु उद्योगों पर अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों के दल 'फोर्ड फाउण्डेशन' की सिफारिश पर हुई है।

निगम की पूँजी

निगम की स्थापना २० लाख रुपये की अधिकृत ... से निजी सीमित कम्पनी

के रूप में हुई है। इसे केन्द्रीय सरकार से आवश्यकतानुसार अतिरिक्त आर्थिक सहायता मिलती रहेगी। निगम का मुख्य कार्यालय दिल्ली में है।

निगम के उद्देश्य

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के आदेशों को देश के लघु उद्योगों को दिलाना।

(२) ऐसे उद्योगों को आर्थिक, तान्त्रिक तथा शिल्पिक सहायता पहुँचाना जिससे दिये गये आदेश निश्चित प्रमाप (standard) तथा नमूने (specification) के अनुसार हों।

(३) लघु तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में सामञ्जस्य लाना, जिससे लघु उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक व पूरक के रूप में कार्य कर सकें और उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जावे।

निगम की क्रियाएँ

निगम ने राज्य सरकारों की सिफारिश पर 'डाइरेक्टर-जनरल ऑव सप्लाईज ऐण्ड डिस्पोजल्स' की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने द्वारा रजिस्टर्ड लघु उद्योगों को आदेश दिये हैं। प्रारम्भ में २०० वस्तुओं से अधिक के आदेश कुटीर तथा उद्योगों के लिए सुरक्षित (Reserve) कर लिये हैं। १९५५-५६ में निगम ने लघु उद्योगों के लिए ४,६८,५६५) रु० के आदेश प्राप्त किये। इन आदेशों की पूर्ति मई, १९५६ से प्रारम्भ होनी थी।

निगम ने तीन 'चल विक्रय गाड़ियाँ' (Mobile Sales Vans) दिल्ली क्षेत्र की ३०० वस्तुओं का क्रय करने के लिए चालू कर दी हैं। इसके अतिरिक्त आगरा के लघु उद्योगों द्वारा निर्मित जूतों का विक्रय करने के लिए आगरा में एक थोक दुकान (*Whole-sale Depot*) खोली गई है। अलीगढ़ के तालों तथा खुर्जा के बर्तनों को बेचने के उद्देश्य से एक दूसरी दुकान खोलने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं।

निगम ने सीमित आर्थिक साधनों वाले उद्योगों को मशीन तथा साजसज्जा (equipment) खरीदने में सहायता देने के उद्देश्य से मशीन इत्यादि की क्रयविक्रय (hire-purchase) पद्धति पर सप्लाई करने की योजना लागू कर दी है।

निगम की क्रियाओं को और विस्तृत करने के लिए चार और शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में खोली जायँगी। सब राज्यों में कार्यक्रम प्रसारित करने के उद्देश्य से 'उद्योग सेवा संस्थाओं' की संख्या ४ से बढ़ा कर २० कर दी जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर एवं लघु उद्योगों पर कुल व्यय इस प्रकार किया गया है :—

सन् १९५१-५६

हाथ कर्घा	११·१ करोड़ रुपये
खादी	७·४ " "
ग्राम उद्योग	४·१ " "
लघु उद्योग	५.२ " "
हस्त शिल्प	१·० " "
सिल्क एवं सेरीकल्चर	१·३ " "
योग	३० २ करोड़ रुपये

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों के विकास के लिए २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इसका आवंटन विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार होगा—

(१) हाथ कर्घा	५९·५ करोड़ रुपये
(२) खादी	१६·७ " "
(३) ग्राम उद्योग	३८·८ " "
(४) दस्तकारियाँ	९·० " "
(५) लघु उद्योग	५५·० " "
(६) अन्य उद्योग	६·० " "
(७) सामान्य योजनाएँ, प्रशासन, शोध आदि	१५·० " "
	२००·० करोड़ रुपये

तृतीय पंचवर्षीय योजना में ६०० करोड़ रुपये कुटीर, लघु एवं मध्यम वर्ग के उद्योगों के विकास के हेतु आवंटित किये गये हैं।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

निजी व्यवसाय (private enterprise) को विशेष रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से जुलाई, सन् १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C.) की स्थापना की गई। यह सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और इसे अनेक देशों की सरकारों का सहयोग प्राप्त है। इसका सम्बन्ध विश्व बैंक (I. B. R. D) से होते हुए भी इसका वैधानिक अस्तित्व पृथक् है। इस निगम के सदस्य केवल वे ही

देश हो सकते हैं जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। इस समय तक ३२ देश इसके सदस्य हो चुके हैं।

पूँजी

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) की अधिकृत पूँजी १०० मिलियन डालर है, जिसमें १० अगस्त १९५६ तक ७८४ मिलियन डालर ३२ सदस्य देशों द्वारा क्रय की जा चुकी है। भारतवर्ष ने ४४३ मिलियन डालर पूँजी का क्रय किया है और क्रय करने वाले बड़े देशों में इसका चौथा स्थान है।

प्रमुख देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F. C) द्वारा क्रय की गई पूँजी का ब्यौरा निम्न तालिका में दिया गया है—

देशों का नाम	धन राशि (हजार डालरों में)
संयुक्त राज्य अमेरिका (U S A)	३५,१६८
इंगलैंड	१४,४००
फ्रांस	५,८१५
भारतवर्ष	४,४३०
जर्मनी	३,६५५
कनाडा	३,६००
जापान	२,७६६
आस्ट्रेलिया	२,२१५
पाकिस्तान	१,१०८
स्वीडन	१,१०८

औद्योगिक वित्त निगम (I F. C) को अपने अंशों (shares) एवं स्कन्धों (stocks) को बेचकर आर्थिक साधन बढ़ाने का अधिकार है परन्तु प्रारम्भिक वर्षों में उसका (I F C) ऐसा करने का विचार नहीं है। अत उसके विनियोग करने के आर्थिक साधन इस समय केवल चुकता पूँजी तक ही सीमित हैं।

निगम के उद्देश्य (Objectives of Corporation)

निगम का उद्देश्य अपने सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति, उत्पादनशील निजी व्यवसायों को बढ़ावा देकर करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति वह (I. F. C.) निम्न प्रकार से करेगा—

(१) जहाँ निजी पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो या उचित शर्तों (terms) पर प्राप्त न हो रही हो, उस अवस्था में यह निगम निजी व्यवसायों में स्वयं विनियोग करके,

(२) विनियोग सम्बन्धी सुअवसरों (opportunities), निजी पूँजी (देशी

तथा विदेशी) तथा कुशल प्रबन्ध को एकत्रित करके यह निगम निकास गृह (clearing house) की तरह कार्य करेंगे, तथा

(३) देशी तथा विदेशी निजी पूँजी के उत्पादनशील विनियोग को प्रोत्साहित करके।

निगम का प्रबन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) के सभी देश सदस्य हो सकते हैं जो विश्व बैंक (I B R D) के सदस्य हैं। निगम के डाइरेक्टर विश्व बैंक के एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर, जो कम से कम एक ऐसी सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) की सदस्य है, निगम के डाइरेक्टर के रूप में कार्य करेंगे। विश्व बैंक का अध्यक्ष (President) निगम (I F. C) की सचालक सभा (Board of Directors) का (Ex Officio) चेयरमैन होता है।

निगम का अध्यक्ष भी होता है जिसकी नियुक्ति चेयरमैन की सिफारिश पर सचालक सभा द्वारा की जाती है।

विनियोग प्रस्ताव की योग्यता

(१) निगम केवल उन विनियोग प्रस्तावों पर विचार करेगा जिनका उद्देश्य उत्पादनशील निजी व्यवसायों की स्थापना, विस्तार एवं उन्नति करना है और जो उस देश की, जिसमें निजी व्यवसाय स्थापित हैं, आर्थिक उन्नति में सहायता करेंगे।

(२) निगम केवल उन्हीं व्यवसायों को सहायता प्रदान करेगा जो कि सदस्य देशों अथवा सदस्य देशों के आश्रित प्रदेशों (Territories) में स्थित होंगे। प्रारम्भिक वर्षों में निगम केवल उन्हीं सदस्य देशों अथवा उनके आश्रित उपनिवेशों में विनियोग करना चाहता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से कम विकसित हैं।

(३) निगम आर्थिक सहायता निजी विनियोक्ताओं के साथ किया करेगा अर्थात् निगम भी उसी समय आर्थिक सहायता प्रदान करेगा जबकि निजी पूँजी का विनियोग हो रहा हो। निगम को पूर्णतया यह विश्वास हो जाना चाहिये कि नवीन व्यवसाय में निजी विनियोक्तागण अपने आर्थिक साधनों का विनियोग अधिक से अधिक कर रहे हैं और शेष धनराशि अन्य निजी साधनों से उपलब्ध नहीं हो रही है उस अवस्था में निगम स्वयं विनियोग करेगा।

(४) निगम अपनी क्रियाओं के प्रारम्भिक वर्षों में ऐसे विनियोग प्रस्तावों पर विचार करेगा जहाँ—

(अ) किसी भी व्यवसाय में नवीन विनियोग कम से कम ५ लाख डालर (अमरिकन) या उसके बराबर हो, तथा

(४) निगम से माँगी हुई सहायता कम से कम १ लाख डालर (अमेरिकन) या उसके बराबर हो।

निगम ने अभी तक किसी एक विनियोग की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की है। उसकी साधारण नीति कुछ विशालकाय व्यवसायों में अधिक मात्रा के विनियोग न करके अधिक से अधिक व्यवसायों में कम मात्रा वाले विनियोग करना है।

(५) औद्योगिक, कृषि सम्बन्धी, आर्थिक, व्यापारिक तथा अन्य निजी व्यवसाय निगम (I F. C.) से आर्थिक सहायता पाने के योग्य हैं, यदि वे प्रकृति में उत्पादन-शील हैं। परन्तु निगम अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में केवल उन उद्योगों में विनियोग करेगा जो विशिष्ट रूप में औद्योगिक हैं। यह गृह निर्माण, चिकित्सालयों, शिक्षालयों, या इसी प्रकार के अन्य व्यवसायों जो सामाजिक प्रकृति के हैं, तथा सार्वजनिक हित कार्यों जैसे विद्युत शक्ति, यातायात, सिंचाई, पुनर्निर्माण इत्यादि जो कि विश्व बैंक (I B. R D) से अधिक सहायता पाने के अधिकारी हैं, में विनियोग नहीं करेगा। यह ऐसी क्रियाओं में भी भाग नहीं लेगा जिनका उद्देश्य पुनर्भुगतान (refunding) या पुनः अर्थ प्रबन्ध (re financing) है।

(६) निगम (I F C.) केवल निजी व्यवसायों को ही आर्थिक सहायता देगा। यह ऐसे व्यवसायों में विनियोग नहीं करेगा जो किसी सरकार (government) के स्वामित्व में हैं या सरकार द्वारा चालित (operat d) या प्रबन्धित (managed) हैं।

आर्थिक सहायता प्रदान करने के प्रारूप व विधियाँ

निगम (I. F. C) किसी भी रूप में, जिसे वह उचित समझे विनियोग कर सकता है, परन्तु वह अंशों व स्कन्धों (stocks) के रूप में विनियोग प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता है। इस अपवाद (exception) के कारण निगम के विनियोग ऋण (loans) के रूप में हो सकते हैं परन्तु इन ऋणों के अन्तर्गत लौकिक स्थायी ब्याज वाले ऋण (conventional fixed interest loans) नहीं आते हैं। चूँकि निगम अपने विनियोगों को बेचकर निरंतर अपने धन (funds) को एक दूसरे को हस्तान्तरित करने का विचार रखता है, अत: वह प्रत्येक विनियोग के समय इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखता है कि केवल उन्हीं प्रतिभूतियों (securities) का क्रय किया जाय जो निजी विनियोक्ताओं को अत्यधिक प्रिय हों।

ब्याज की दर

निगम (I. F. C.) अपने विनियोगों (investments) के लिए किसी सामान्य (uniform) ब्याज की दर का पालन नहीं करता है। ब्याज की दर प्रत्येक विनियोग की अवस्था में, जोखिम की मात्रा, लाभों में भाग लेने के अधिकार, विनियोग का परिवर्तन (conversion) कराने के अधिकार तथा अन्य सम्बन्धित परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित की जाती है।

विनियोगों की अवधि तथा भुगतान विधि

निगम (I F C) द्वारा दिये ऋणों की अवधि ५ वर्ष से १५ वर्ष तक होती है। ऋणों के भुगतान (amortisation) तथा निश्चित तिथि से पूर्व भुगतान (pre payment) की विधि निगम (I. F. C.) द्वारा प्रत्येक दशा में उसकी परिस्थितियों के अनुसार निश्चित की जाती है।

प्रतिभूति (Security)

निगम ऋणों को प्रतिभूति के आधार पर या बिना प्रतिभूति के स्वीकृत कर सकता है। यदि प्रतिभूति ली जाती है तो उसके प्रारूप (form) का निर्धारण, ऋण लेने वाले व्यवसाय (enterprise) की स्थिति, विनियोग करने की शर्तों तथा उस देश के नियमों (laws) के आधार पर किया जाता है।

ऋण देने की शर्तें

निगम किसी व्यवसाय की स्वीकृत धनराशि को तो एक मुश्त (lump-sum) में या निश्चित किस्तों (instalments) में दे सकता है। व्यवसाय को निगम द्वारा प्राप्त धन राशि का प्रयोग व्यवसाय सम्बन्धी किसी भी कार्य के लिए, स्वतन्त्रतापूर्वक करने का पूर्ण अधिकार होता है।

विनियोग की जाने वाला चलन मुद्रा

प्रारम्भिक काल में निगम (I F C) केवल अपनी चुकता पूँजी में से ही ऋण या आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। निगम की पूँजी अमेरिकन डालरों में है। अतः ऋण भी केवल अमेरिकन डालरों में ही दिये जायेंगे। निगम (I. F. C) का ऐसा विचार है कि इस मुद्रा (U S Dollars) से सभी सदस्य देशों की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। परन्तु यदि किसी सदस्य देश के द्वारा आर्थिक सहायता अमेरिकन डालरों के अतिरिक्त अन्य किसी मुद्रा में माँगी जाती है तो निगम (I F. C) उसी मुद्रा में आर्थिक सहायता प्रदान करने की कोशिश करेगा, यदि उसे ऐसा करने में कोई विशेष हानि नहीं उठानी पड़ती है।

निगम के अधिकार

(१) निगम (I F C) ऋण लेने वाले व्यवसाय (enterprise) के प्रबन्ध (management) का निरीक्षण कर सकता है। साधारण रूप से निगम यह आशा करता है कि व्यवसाय (enterprise) अपने व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुशल एवं योग्य प्रबन्धकों को नियुक्त करेगा। कुछ विशेष परिस्थितियों में निगम व्यवसाय (enterprise) को प्रबन्ध सम्बन्धी सहायता अप्रत्यक्ष रूप से प्रदान कर सकता है। यदि व्यवसाय (enterprise) अपने प्रबन्ध में कुछ

महत्वपूर्ण परिवर्तन करने जा रहा है तो उसे इस सम्बन्ध में निगम का परामर्श लेना होगा। विशेष परिस्थितियों में निगम (I F. C.) को व्यवसाय (enterprise) की सचालक सभा में सचालक नियुक्त करने का अधिकार भी है।

(२) निगम को व्यवसाय द्वारा क्रय किये गये पूँजीगत सामान (capital goods) तथा अन्य सेवाओं के सम्बन्ध में पूछताछ करने का अधिकार है। ऐसा निगम इसलिए करता है जिससे अपने दिये गये धन के सदुपयोग के सम्बन्ध में विश्वास बना रहे।

(३) निगम ऋण लेने वाले व्यवसाय (enterprise) को उसकी लेखा पुस्तकों का अंकेक्षण, स्वतन्त्र पब्लिक एकाउन्टेन्ट से कराने के लिए आदेश दे सकता है, तथा व्यवसाय की लेखा पुस्तकों का निरीक्षण अपने प्रतिनिधियों द्वारा करा सकता है। इसके अतिरिक्त वह (निगम) व्यवसाय से उसके आर्थिक चिट्ठे (B/S) तथा हानि एवं लाभ खाते (P. & L A/c) की प्रतिलिपि एवं अन्य सामयिक रिपोर्ट माँग सकता है।

(४) निगम (I. F. C.) अपने प्रतिनिधियों द्वारा व्यवसाय (enterprise) के प्लान्ट, कारखाने तथा अन्य भवनों का निरीक्षण कर सकता है।

निगम का सरकार से सम्बन्ध

निगम (I. F. C.) अपने विनियोगों के पुनर्भुगतान के सम्बन्ध में किसी भी सरकार की गारन्टी नहीं चाहता है और ऋण देते समय भी, यदि कोई वैधानिक प्रतिबन्ध न हो तो सरकार की अनुमति भी नहीं लेता है। निगम उस देश के व्यवसायों (enterprise) को जहाँ की सरकार को कोई आपत्ति है, उन्हें ऋण नहीं देगा।

(७) पुन. अर्थ-प्रबधन निगम
(Refinancing Corporation)

५ जून, १९५८ को पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम (Refinancing Corporation) की स्थापना औद्योगिक व्यवसायों को मध्यकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से की गई है। यह निगम एक स्वतन्त्र अर्द्ध सरकारी संस्था (Autonomous Semi Government Agency) है और निजी उद्योगपतियों को तीन से सात वर्ष के लिए ऋण देती है। इसका मुख्य उद्देश्य बैंकों के रुपया उधार देने के साधनों में वृद्धि करना है जिससे वे निजी क्षेत्र मे मध्यवर्ग की औद्योगिक इकाइयों को ऋण देने की सुविधा दे सकें। अर्थात् यह निगम इन उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से उधार नहीं देगा परन्तु बैंकों को उधार देने में सहायता पहुँचायेगा। सदस्य बैंक मध्यवर्गीय औद्योगिक इकाइयों को अधिक से अधिक ५० लाख रुपया तक तीन से सात वर्ष की अवधि के

लिए ही उधार दे सकते हैं। इस निगम से केवल ऐसी ही औद्योगिक संस्थाएँ ऋण प्राप्त कर सकती हैं जिनकी चुकता और संचित पूँजी २३ करोड़ से अधिक न हो। ऋण प्रथम उत्पादन वृद्धि के लिए ऐसे ही उद्योगों को मिलेगा जो द्वितीय योजना तथा उसके बाद की योजनाओं में सम्मिलित होंगे।

पूँजी का ढाँचा

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये तथा निर्गमित पूँजी १२३ करोड़ रुपये है। निर्गमित पूँजी १२५० अंशपत्रों (प्रति अंश १ लाख रुपया) में विभाजित है जिसमें से १०% आवेदन पत्र और १०% आवंटन पर देना आवश्यक है। इस पूँजी का क्रय निम्न संस्थाओं द्वारा किया गया है—

(१) रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया	५·० करोड़ रुपये
(२) स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	२·५ " "
(३) राज्य जीवन बीमा निगम (L. I. C. of India)	२·५ " "
(४) अन्य बैंक	२·५ " "
योग	१२·५ करोड़ रुपये

अन्य बैंकों के अन्तर्गत सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बड़ौदा, नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, युनाइटेड कमर्शियल बैंक, लॉयड्स बैंक, इलाहाबाद बैंक, चार्टर्ड बैंक, इण्डियन बैंक, युनाइटेड बैंक, मरकेन्टाइल बैंक आव इण्डिया, देना बैंक (Dena Bank), तथा स्टेट बैंक ऑव हैदराबाद सम्मिलित हैं।

अगस्त १९५६ में भारतवर्ष तथा अमेरिका के बीच 'भारत अमरीकी कृषि' सम्बन्धीय वस्तुओं का समझौता (India U. S Agricutural Commodities Agreement) हुआ था जिसके अनुसार भारतवर्ष को अपने निजी व्यवसाय वाली संस्थाओं को पुन. उधार (re lending) देने के लिए ५५ मि० डालर या २६ करोड़ रुपये का कोष रखा गया था। यह रकम इस निगम को दे दी गई है। २६ जुलाई १९५८ को भारतीय वित्त मन्त्रालय के संयुक्त मन्त्री (Joint Secretary) एन० सी० सेन गुप्ता तथा अमेरिका व टेक्निकल को‌आपरेशन मिशन (T. C. M.) के संचालक श्री हावर्ड हौस्टन (Howard Houston) के मध्य हुए समझौते के अनुसार यह ५५ मि० डालर का ऋण अमेरिका को भारतवर्ष भारतीय मुद्रा (रुपये) में ३० वर्ष के अन्दर ब्याज सहित वापस कर देगा।[1]

भारत सरकार समय समय पर निगम को ब्याज पर ऋण देकर सहायता करेगी और उस कोष में उचित समय पर ऋण के पुनर्भुगतान का प्रबन्ध करेगी। इस

1 *American Reporter*, August 13, 1958.

प्रकार से प्रारम्भ में निगम के पास कुल १८५ करोड़ रुपये (१२८५ करोड़ रु० + २६ करोड़ रु०) की पूँजी होगी जिसमें से १५ अनुसूचित बैंकों में से प्रत्येक का कोटा (quota) निश्चित होगा और उसी सीमा के अंतर्गत निगम से उस बैंक को पुनः अर्थप्रबन्ध की सुविधायें मिलेंगी।

निगम का प्रबन्ध

पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम का प्रबन्ध एक सञ्चालक समिति के द्वारा होगा। इस समिति के सात सदस्य होंगे, जिसमें रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया का गवर्नर उसका चेयरमैन होगा। शेष छः सदस्य इस प्रकार होंगे—

(१) रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया का डिप्टी गवर्नर

(२) स्टेट बैंक ऑव इण्डिया का चेयरमैन

(३) जीवन बीमा निगम (L. I. C) का चेयरमैन

(४) अन्य बैंकों के तीन प्रतिनिधि।

पुनः अर्थ-प्रबन्धन निगम (Refinance Corp) पूर्व स्थापित औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) की क्रियाओं में सहायता पहुँचाता है। वास्तव में आधारभूत तथा मध्यवर्गीय उद्योगों को अपनी जीर्ण मशीनों तथा साजसज्जाओं (equipments) के परिवर्तन के लिए तथा अन्य सम्बन्धित कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती थी जिसकी पूर्ति अब पुनः अर्थ-प्रबन्धन निगम से होने लगेगी। इस प्रकार इस निगम का औद्योगिक क्षेत्र में विशेष महत्व है।

निगम की क्रियाओं का ब्योरा

पुनः अर्थ प्रबन्धन निगम (Refinance Corporation) ने सितम्बर १९५८ से आवेदन-पत्रों को प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया है। निगम के वर्तमान वित्तीय साधन ७·५० करोड़ रुपये हैं, जिसमें २·५० करोड़ रुपये की चुकता पूँजी तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ५ करोड़ रुपये का ऋण सम्मिलित है।

कारपोरेशन के प्रारम्भ (जून, १९५८) से लेकर दिसम्बर १९५९ के अन्त तक कारपोरेशन के पास २० प्रार्थनापत्र ४·२१ करोड़ रुपये के ऋण के लिए आये। इनमें से १६ प्रार्थनापत्र ४·०३ करोड़ रुपये के ऋण के लिए स्वीकृत किये गये। जिन उद्योगों को ऋण स्वीकृत किये गये वे क्रमशः फैरोमैंग्नीज, सूती वस्त्र उद्योग, एलेक्ट्रिकल तथा मेकेनिकल इन्जीनियरिंग, तेजाब तथा उर्वरक चीनी, सीमेन्ट, भारी रसायन आदि हैं।

कारपोरेशन ने सदस्य बैंकों को दिये गये ऋण पर पिछले वर्ष की भाँति ब्याज की दर ५ प्रतिशत ही ली। सरकार द्वारा २६ करोड़ रुपये के स्वीकृत ऋण में से पिछले साल केवल ५ करोड़ रुपये ही निकाले गये। इस वर्ष कुछ नहीं निकाला गया।

१६५६ में कारपोरेशन की आय २६.५७ लाख रुपये थी जब कि पिछले वर्ष यह आय केवल १४.०६ लाख रुपये थी। सब खर्चों को निकालने के बाद शुद्ध लाभ २०.०२ लाख रुपये का हुआ।

प्रश्न

1. Is the supply of capital for new industrial concerns in India inadequate at the present time? Give the factors responsible for such inadequacy (*Agra 1960*)

2. Why is there a shortage of industrial finance in India? What steps are being taken to remove this shortage? (*Agra 1960*)

3. What are the sources of finance for industries in India? What has been done by the Government in recent times to increase facilities for industrial finance in India? (*Patna, 1956*)



अध्याय ३१

कुटीर एवं लघु उद्योग

(Cottage And Small Scale Industries)

भारतवर्ष में प्राचीन उद्योगों का पतन तो हो गया किन्तु वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुए और न हो ही सकते हैं, क्योंकि भारतीय अर्थ व्यवस्था की वे आधारशिला हैं। गांधी जी के शब्दों में "भारत की मोक्ष उसके कुटीर उद्योगों में निहित है।" आज भी जब कि देश ने औद्योगीकरण की विशाल योजनाएँ बना ली हैं, कुटीर उद्योगों की महत्ता में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है, बल्कि किसी सीमा तक इनका महत्व और बढ़ गया है। देश में जनसंख्या की अति वृद्धि, कृषकों का वर्ष में अधिकांश बेकार रहना, व्यवसायों के अनुसार देश में जाति व्यवस्था का संगठन, पैतृक व्यवसाय करने में लोगों की अभिरुचि, कलात्मक वस्तुओं के प्रति लोगों का अनुराग, स्वदेशी आन्दोलन तथा राज्य की नीति इत्यादि अनेक ऐसे कारण हैं जिन्होंने देश में कुटीर-उद्योगों को किसी न किसी रूप में जीवित रक्खा है।

कुटीर-उद्योगों का आर्थिक महत्व

भारतवर्ष की वर्तमान गम्भीर समस्याओं का अवलोकन करने से ही कुटीर-उद्योगों के आर्थिक महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। न केवल भारतवर्ष में ही बल्कि संसार के उद्योग प्रधान देशों जैसे अमेरिका, इङ्गलैण्ड, जापान, रूस और जर्मनी में भी जहाँ कि औद्योगीकरण अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुका है और उत्पादन अत्यन्त विशाल स्तर पर होता है, वहाँ भी कुटीर उद्योग किसी न किसी रूप में जीवित हैं। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका के व्यापार में ९२.५ प्रतिशत छोटे पैमाने का व्यापार है, जिसमें देश के ४५ प्रतिशत काम करने वाले लोग लगे हैं।[1] इङ्गलैण्ड में ऐसे उद्योगों से जनता को २९% रोजगार मिलता है और इन उद्योगों में सम्पूर्ण उत्पादन का १९% उत्पादन होता है। पूर्व जर्मनी में २२% प्रतिशत उत्पादन इन उद्योगों से होता था। जापान में तो ५० प्रतिशत से अधिक व्यवस्था लघु उद्योगों में लगी हुई है। इन उद्योगों का महत्व विभिन्न दृष्टिकोणों से और भी अधिक बढ़ जाता है—

---

1 *Fiscal Commission Report*, 1949-50, p 101.

(१) असंख्य व्यक्तियों की जीविका के साधन—इन उद्योगों से भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को रोजगार व जीविका प्राप्त होती है। इस उद्योग में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या २ करोड़ से भी अधिक है जब कि कारखानों (factories) में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या केवल २६,८७,००० है। देश व अन्य उद्योगों जैसे खानें, बागान, रेलवे, डाक और तारघर, ट्रामवे तथा प्रमुख बन्दरगाहों में लगे लोगों की संख्या भी क्रमशः ५,६६,०००, १२,२८,०००, ६,४७,०००, २,४३,०००, १,७१,००० तथा ५,७०,००० ही है जो कि हस्तकरघा उद्योग के श्रमिकों के बराबर है।[1]

(२) बेकारी की समस्या का हल—कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास से बेकारी की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। कारखानों में तो जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग ही खप सकता है। भावी विकास का अनुमान करते हुए अधिक से अधिक इतने ही व्यक्ति और खप जायेंगे। फिर भी बेकारी की समस्या का समाधान न हो सकेगा। परन्तु यदि देश भर में कुटीर उद्योग फैला दिये जायें तो यह समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है। गांधी जी के शब्द 'भारत का मोक्ष उसके कुटीर उद्योगों में निहित है' से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

(३) भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के अनुकूल—ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इनका महत्व इसलिए भी है कि ये किसान के लिए अतिरिक्त (extra) आय के साधन बन सकते हैं। उनकी बेकारी अथवा अर्द्ध बेकारी के चार पाँच महीनों में काम प्रदान कर सकते हैं। कृषि उद्योग से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण कुटीर-उद्योगों का महत्व इस बात में भी है कि ये लोगों, जो कि प्रधानतया कृषि पर निर्भर हैं, के जीवन के प्रारम्भिक रहन सहन के ढंग और आत्मीय के सम्पर्क में रहते हैं।

(४) आर्थिक विषमता का निवारण—कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास से वर्तमान फैली हुई देश की आर्थिक विषमता (economic inequality) कम की जा सकती है। बड़े पैमाने के उद्योगों के कारण एक ओर भयंकर दरिद्रता और दूसरी ओर भोग विलास और अपरिमित वैभव देखने में आता है। कुटीर एवं लघु उद्योगों के प्रसार से धन के वितरण में समानता लाई जा सकती है, क्योंकि बेकारी दूर होने से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन मिलेगा और किसी व्यक्ति विशेष को अधिक धन संग्रह करने का अवसर न रहेगा। शोषण की सम्भावना भी न रहेगी।

(५) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण—एक ओर तो वे कृषि से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं और दूसरी ओर वे बड़े पैमाने के उद्योगों से विरक्त भी नहीं हैं। तीव्रगति से

---

1 *Facts About India* Publications Division p 157

बढ़ती हुई समाजवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्व है। उद्योगों के केन्द्रीकरण से अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, जैसे आवास की समस्या, यातायात सकुलन (traffic congestion), नैतिक पतन, अस्वस्थ वातावरण इत्यादि। कुटीर एव लघु उद्योगों की स्थापना से ये सब समस्याएँ दूर हो जायँगी।

(६) उत्पादन के दृष्टिकोण से महत्व—उत्पादन के दृष्टिकोण से भी इन उद्योगों का महत्व कम नहीं है। 'केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन' (Central Statistical Organ sation) के अनुमान के अनुसार १९५६ ५७ म लघु उद्योगों का उत्पादन ६७० करोड़ रुपये था जब कि बड़े उद्योगों का उत्पादन केवल ८९० करोड़ रुपये का था। अधिकाधिक उत्पादन का प्रश्न आज भी देश के सामने है। उत्पादन के इस महान् कार्य म कुटीर-उद्योग भी सहयोग दे सकते हैं।

(७) बड़े उद्योगों के सहायक के रूप में—कुटीर एव लघु उद्योग बड़े उद्योगों के सहायक बन सकते हैं जैसा कि जापान में होता है। विभिन्न वस्तुओं को विभिन्न स्थानों में बनाकर किसी एक कारखाने म जोड़कर पूरी वस्तु तैयार करने की व्यवस्था की जा सकती है।

(८) समाजवादी समाज की रचना में सहायता—१९५४ से भारतीय सरकार ने समाजवादी समाज की रचना करने का निश्चय कर लिया है। सरकार के उद्देश्य की पूर्ति में कुटीर एव लघु उद्योग एक बहुत बड़ी सीमा तक सहायक हो सकते हैं। बड़े पैमाने के उद्योग तो पूँजीवाद को जन्म देते हैं, क्योंकि इन उद्योगों से कुछ इने गिने व्यक्तियों के हाथ म धन का सचय हो जाता है, जिससे अनेक अवाछनीय समस्याओं को जन्म मिलता है। जैसा कि हम अन्यत्र भी देख चुके हैं कि कुटीर एव लघु उद्योगों से ये सब दोष दूर हो जाते हैं और समाजवाद को जन्म मिलता है।

(९) सामरिक (Strategic) महत्व—युद्धकाल में इन उद्योगों का महत्व और भी बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध में कुटीर एव लघु उद्योग का कार्य सराहनीय रहा। उत्तर प्रदेश के शीशागरों ने फौज के लिए काँच का सामान बनाया, आगरा के सगतराशों ने फौज के लिए परिचय पट्ट बनाये, मछली के जाल बनाने वालों ने फौज के लिए शत्रु से छिपाने वाले जाल बनाये तथा खिलौना बनाने वालों ने फौजी टोप बनाये।

१ (१०) पुनर्वासन दृष्टि से महत्व—राजनैतिक कारणों से विस्थापितों की विकट समस्या उपस्थित हो जाती है, जैसा कि भारतवर्ष में विभाजन के फलस्वरूप हुआ। उन्हें रोजगार देने तथा समान रूप से देश में बसाने के लिए ये उद्योग बहुत उपयुक्त हैं। सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है कि छोटे उद्योगों पर जितना खर्च किया

जाता है उतने ही खर्चे से बड़े उद्योगों की तुलना में कहीं अधिक इनमें लोगों को काम मिलता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज भारत के कुटीर एवं लघु उद्योग धन्धों का महत्व औद्योगीकरण में इतना है जितना सम्भवत. पहले नहीं था। बम्बई योजना के अनुसार "औद्योगिक संगठन हमारी योजना का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसमें बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ छोटे पैमाने एवं कुटीर-धन्धों की समुचित योजना होनी चाहिए। ये इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वे रोजगार का साधन मात्र हैं, बल्कि पूँजी की मितव्ययिता प्रारम्भिक स्थिति में बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम करने के लिए भी आवश्यक हैं। ....सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि आधारभूत उद्योगों में छोटी छोटी इकाइयों के लिए कम स्थान है, परन्तु उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में उनकी उपयोगिता एवं महत्व अधिक है। इस क्षेत्र में उनका कार्य अधिकतर बड़ी इकाइयों के लिए सहायक होगा।"

श्री गैडगिल के शब्दों में "आधारभूत एवं छोटे पैमाने के उद्योग धन्धों के विकास से ही आर्थिक विषमता का अन्त होगा।"

प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन उद्योगों का महत्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि "ग्रामीण विकास कार्यक्रम में कुटीर धन्धों का प्रमुख स्थान है। .... यदि कृषि को वैज्ञानिक करना है तो सम्पूर्ण देश के अतिरिक्त श्रमिकों को जो कुल संख्या के तिहाई हैं, काम देने का साधन खोजना होगा तथा ग्रामीण क्षेत्रों की विशाल मानवीय एवं आर्थिक समस्याओं को सुलझाना होगा, इसलिए निकट भविष्य में कुटीर धन्धों की आवश्यकता एवं महत्व सबसे अधिक है, जिस पर जोर देना होगा।"

प्रसन्नता की बात है कि सरकारी एवं गैर-सरकारी दोनों ही स्तरों पर इस तथ्य को भली भाँति समझ लिया गया है, और सरकार ने इस दिशा में उचित कदम भी उठाए हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इन उद्योगों के पुनर्स्थापन एवं विकास के लिए ३३·२ करोड़ रुपये तथा द्वितीय योजना के अन्तर्गत २०० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में लघु एवं मध्यवर्गीय उद्योग धन्धों पर ६०० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे।

कुटीर एवं लघु उद्योगों का अर्थ

(Meaning of Cottage and Small Scale Industries)

कुटीर एवं लघु उद्योगों को विभिन्न व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने विभिन्न दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। अतः इनका अर्थ भी विभिन्न लगाया जाता है। कुछ लोगों के

[1] *National Herald*, Sept., 16, '59

लिए कुटीर उद्योगों का अर्थ ऐसे ग्रामीण उद्योगों से है जो कि कृषि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। अन्य लोग उनका अर्थ ऐसे किसी भी उद्योग से लगाते हैं जो छोटे स्तर पर कृषक के घर या कुटीर में किये जाते हों और जिसमें परिवार के सभी सदस्य लगे हों। कुछ लोग ऐसे उद्योगों को कुटीर उद्योग कहते हैं जहाँ शक्ति एव मशीनों का प्रयोग नहीं होता।

इसके विपरीत लघु स्तर के उद्योगों का अर्थ ऐसे औद्योगिक सस्थानों (establishments) अथवा कार्यों (concerns) से है, जिनका सगठन सीमित अथवा असीमित उत्तरदायित्व (liability) के आधार पर हुआ हो, और जिसमें कारीगर अथवा मजदूरों को पूंजीपतियों द्वारा नियुक्त किया गया हो अथवा वे स्वय अपने लाभ के लिए ही कार्य करते हों, परन्तु ऐसे कर्मचारियों की सख्या ५० से अधिक न होनी चाहिए।

कुटीर एव लघु उद्योगों के इन विभिन्न अर्थों एव विवेचनाओं से मस्तिष्क में एक प्रकार का भ्रम उठता है जिससे इन उद्योगों के सही अर्थ और महत्व का विश्लेषण करने में अड़चन पड़ती है। ऐसी अवस्था में कुटीर उद्योगों की कुछ परिभाषाओं का अध्ययन करना असगत न होगा।

परिभाषाएँ
(Definitions)

(१) केन्द्रीय अधिकोषण जाँच समिति

"वे उद्योग जो ग्रामीण क्षेत्रों में पाये जाते हैं, और जिनसे कृषकों को सहायक कार्य मिलते हैं, वो ग्रामीण एव घरेलू उद्योग कहे जाते हैं।"

(२) बम्बई आर्थिक एव औद्योगिक सर्वेक्षण समिति

"कुटीर उद्योग उन उद्योगों को कहते हैं जहाँ पर शक्ति का प्रयोग नहीं होता और जहाँ उत्पादन साधारणतया कारीगर के निवासस्थान अथवा कभी-कभी ऐसे छोटे कारखानों में जहाँ नौ से अधिक व्यक्ति कार्य न करते हों।"

(३) राष्ट्रीय नियोजन समिति १६३८

"लघु उद्योग अथवा कुटीर-उद्योग ऐसे उपक्रम (enterprise) अथवा कार्यों को क्रियाओं को कहते हैं जो अपनी कला (Craft) में दक्ष श्रमिक द्वारा की जाती है अथवा अपने ही जोखिम पर वह स्वय निर्मित वस्तुओं का विक्रय करता है। वह अपने ही गृह में, अपने ही औजार, कच्चे माल एव श्रम से काम करता है और अधिक से अधिक अपने परिवार के सदस्यों की सहायता ले लेता है। श्रमिक अधिकतर अपने हाथ, अपने चातुर्य का प्रयोग करके, परम्परागत् कार्यविधियों से काम करते

आधुनिक शक्तिचालित मशीनों का प्रयोग नहीं करते हैं। अपने उद्योग में मितव्ययता एव कुशलता लाने की दृष्टि से वे पशु शक्ति का प्रयाग कर सकते हैं। उसका अंतिम उद्देश्य ऐसे समीपवर्ती बाजार के लिए वस्तुओं का निर्माण करना है जिसम उसे वस्तुओं की माँग एव गुण का पूर्ण ज्ञान रहता है।"

(४) भारतीय औद्योगिक समिति

"कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो कि श्रमिकों के घर पर चलाये जाते हैं, जहाँ कि उत्पादन का स्तर छोटा हो और जहाँ कि न्यूनतम सगठन हो, जिससे कि वे नियमानुसार केवल स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति म ही समर्थ हों।"

(५ उत्तर प्रदेश औद्योगिक सगठन समिति

"व उद्योग जहाँ साधारणतया कारीगरों के घर में काम किया जाता है और कभी कभी ऐसे छोटे कारखानों म जिसे साहसी प्रवृत्ति के छोटे उद्योगपति चलाते हैं, और इसम शक्तिचालित मशीनरी का प्रयोग होता है।"

(६) श्री सी० डी० देशमुख (भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त मन्त्री)

"कुटीर उद्योगों का तात्पर्य बड़े कारखानों के सगठित उत्पादन के अतिरिक्त समस्त प्रकार के उत्पादन स होता है। जो इन पर आश्रित होते हैं वे अपने ही प्रयत्न एव चातुर्य पर निर्भर रहकर अपने ही घरों में साधारण औजारों से कार्य करते हैं।'

कुटीर उद्योगों के प्रमुख लक्षण

उपरोक्त परिभाषाओं से कुटीर-उद्योगों के निम्न प्रमुख लक्षण ज्ञात होते हैं —

(१) कुटीर उद्योग बिना किराये के श्रम (hired labour) की सहायता के कारीगरों के घरों पर ही चलाये जाते हैं।

(२) ये उद्योग पूर्णरूपेण कारीगर एव उनके परिवार के सदस्यों, जो उनमें सलग्न हैं, पर आश्रित होते हैं।

(३) इनसे कारीगर एव उसके परिवार के सदस्यों को केवल अल्पकालीन काम मिलता है।

(४) ये उद्योग सहायक उद्योगों के रूप में केवल कारीगरों (श्रमिकों) को उनके अवकाश के समय म उनकी अल्प आय म वृद्धि की दृष्टि से चलाये जाते हैं। कृषि उनका प्रमुख उद्यम होने के कारण यह उनका एकमात्र व्यवसाय नहीं हो सकता।

(५) कुटीर-उद्योग असगठित हैं और सम्पूर्ण देश म फैले हुए हैं। इन उद्योगों के स्थापन एव वितरण में जाति पाति (caste) का प्रमुख स्थान है।

(६) अपने सकुचित साधनों के कारण कृषकों म कुटीर उद्योग बहुत प्रचलित होते हैं क्योंकि इनमें अधिक पूँजी के विनियोग की आवश्यकता नहीं होती।

(७) ये उद्योग मुख्यतया कारीगरों के व्यक्तिगत चातुर्य एवं कौशल पर आश्रित होते हैं जो अधिकांश में पितृगत् (hereditary) होते हैं। इन उद्योगों की वस्तुओं का प्रमुख आकर्षण उनका कलात्मक गुण तथा कारीगरी एवं कुशलता का एक जीवित उदाहरण होना है।

(८) इन उद्योगों में प्रयुक्त प्रविधि (technique) एवं उपकरण (tools) अति साधारण होते हैं।

कुटीर एवं लघु उद्योगों का वर्गीकरण

डॉ० पी० के० आर० वी० राव ने कुटीर-उद्योगों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है —

(१) वे उद्योग जो कि बड़े पैमाने के उद्योगों में सहायक होते हैं,

(२) वे उद्योग जो कि विभिन्न प्रकार के मरम्मत के कार्य करते हैं, जैसे— मोटरों तथा मशीनों के कारखाने, छोटे मोटे इञ्जीनियरिंग के कार्य इत्यादि,

(३) वे उद्योग जो कि पक्के माल उत्पन्न करने में लगे हुए हैं, जैसे पीतल, ताँबा तथा गिलट के बर्तन बनाना, चाँदी-सोने के तार खींचना, फर्नीचर बनाना आदि।

डा० राव ने उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त कुटीर उद्योगों का निम्नलिखित वर्गीकरण कच्चे माल के आधार पर भी किया है :—

(१) वे उद्योग जो सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों से सम्बन्धित हैं, जैसे कताई, रंगाई, बुनाई व छपाई आदि।

(२) धातुओं सम्बन्धी उद्योग, जैसे पीतल, ताँबा, व गिलट के बर्तन बनाना तथा लुहारी के कार्य।

(३) लकड़ी सम्बन्धी उद्योग, जैसे गाड़ी, सन्दूक, फर्नीचर तथा लकड़ी के खिलौने आदि बनाना।

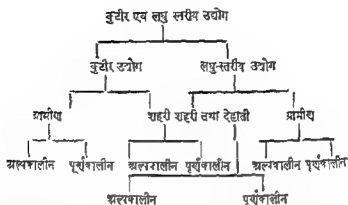
(४) चमड़े से सम्बन्धित उद्योग, जैसे चमड़ा पकाना, जूता, चप्पल तथा चमड़े के थैले इत्यादि बनाना।

(५) मिट्टी सम्बन्धी उद्योग, जैसे खिलौने, चीनी के बर्तन, ईंट, चूना, खपरैल इत्यादि बनाना।

(६) खाद्य पदार्थ सम्बन्धी उद्योग, जैसे दूध, घी, मक्खन, बिस्कुट, अचार, तेल, गुड़ व खंडसारी इत्यादि बनाना, चावल कूटना, आटा पीसना तथा विभिन्न मिठाइयाँ इत्यादि बनाना।

(७) अन्य उद्योग, जैसे चूड़ियाँ, बीड़ी, साबुन, सुगन्धित इत्र व तेल, स्याही, चटाई, टोकरियाँ इत्यादि बनाना।

राजस्व आयोग (Fiscal Commission) ने कुटीर एवं लघु-उद्योगों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है—



ग्रामीण कुटीर उद्योग—ये दो प्रकार के हो सकते हैं—अल्पकालीन एवं पूर्णकालीन। अल्पकालीन कुटीर उद्योगों के अन्तर्गत वे उद्योग आते हैं जो कृषि व्यवसाय में सहायक होते हैं, जैसे हस्तकरघा उद्योग (handloom weaving), रेशम के कीड़े पालना (sericulture), टोकरी बनाना, आटा पीसना, बीड़ी बनाना ? । पूर्णकालीन कुटीर उद्योगों के अन्तर्गत वे उद्योग आते हैं जिनसे ग्रामीण जनता को पूर्णकालीन रोजगार प्राप्त होता है, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, लोहारगिरी का काम, तेल निकालना, बढ़ईगिरी का काम, हस्तकरघा उद्योग आदि।

शहरी कुटीर उद्योग—ये उद्योग भी दो प्रकार के हो सकते हैं—अल्पकालीन एवं पूर्णकालीन। शहरी उद्योगों में अधिकतर पूर्णकालीन उद्योग होते हैं जो कि लोगों की आजीविका के स्थायी साधन होते हैं, जैसे सोने व चाँदी के तार बनाना, लकड़ी व हाथीदाँत के खिलौने बनाना, धातु की वस्तुएँ बनाना, रेशमी कपड़े बनाना तथा छपाई एवं रँगाई का काम करना इत्यादि।

शहरी लघु-स्तरीय उद्योग—ये उद्योग भी दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन। अल्पकालीन शहरी लघु उद्योग में अधिकतर मौसमी (seasonal) उद्योग आते हैं, जिनमें श्रमिकों को अल्पकालीन (part time) रोजगार मिलता है। जैसे ईंट बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना इत्यादि। पूर्णकालीन शहरी लघु उद्योगों के अन्तर्गत शहरों के स्थायी (perennial) कारखाने आते हैं, जैसे होजरी के कारखाने, इन्जीनियरिंग उद्योग, छापेखाने व चमड़े के कारखाने आदि।

ग्रामीण लघु-स्तरीय उद्योग—ये उद्योग भी दो प्रकार के होते हैं—अल्पकालीन तथा पूर्णकालीन। अल्पकालीन लघु स्तरीय उद्योगों के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के वे सब मौसमी उद्योग आते हैं, जिनका सम्बन्ध खेती द्वारा उत्पादित वस्तुओं

के सुधार से होता है, उदाहरणार्थ चावल की मिलें, तहसारी के कारखाने तथा गुड़ बनाना इत्यादि। पूर्वकालीन ग्रामीण लघु स्तरीय उद्योगों के अन्तर्गत बहुत सीमित उद्योग आते हैं, जैसे छोटे मोटे औजार बनाना, जूते बनाना, कालीन बनाना इत्यादि।

योजना आयोग (Planning Commission) ने लघु उद्योगों को तीन भागों में विभक्त किया है :—

(१) वे लघु उद्योग-धंधे जो सुविभाजनक हैं और बड़े पैमाने के धंधों के कारण उन पर किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता; जैसे ताले, मोमबत्तियाँ, बटन तथा जूतों का उत्पादन आदि।

(२) वे लघु उद्योग धन्धे जो बड़े पैमाने के धन्धों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जैसे साइकिल के धंधे के लिए साइकिल के हिस्सों का उत्पादन, बिजली की चीजें, छुरी-काँटे आदि वस्तुओं का उत्पादन।

(३) ऐसे लघु उद्योग धंधे जो बड़े पैमाने के धन्धे के साथ बाकायदा प्रतियोगिता में आते हैं; जैसे हाथ करघा-उद्योग।

प्राचीन भारत में कुटीर उद्योग-धन्धे

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष कुटीर उद्योगों का गढ़ रहा है। विभिन्न ऐतिहासिक तथ्य इस कथन की पुष्टि करते हैं और भारतवर्ष की सम्पूर्ण संसार में इस सम्बन्ध में प्रधानता (supremacy) को दर्शाते हैं। भारतीय कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की प्रशंसा प्राचीन रोम एवं मिश्र जैसे सभ्य देशों में भी की जाती थी। आइए भारतीय कुटीर उद्योग के कुछ सुनहले ऐतिहासिक पन्नों को पलट कर देखें।

'नील घाटी में जब प्रसिद्ध पिरामिडों का निर्माण हुआ तब ग्रीस व इटली जो योरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति के जन्मदाता कहे जाते हैं, जङ्गली जीवन बिता रहे थे। उस समय भारत समृद्धि एवं संस्कृति के विकास पर पहुँचा हुआ था। परिश्रमी और अध्यवसायी भारतीयों ने अपने विशाल देश को उद्योगों की विस्तृत भूमि के रूप में परिणत कर दिया था। धन धान्य के हरियाले खेतों से भारत भूमि लहलहा रही थी और कुशल कारीगर भूमि के अत्यन्त साधारण पदार्थों से अद्भुत और आश्चर्यजनक वस्तुओं का निर्माण करते थे।'

ये हैं वे वाक्य जो प्रसिद्ध विद्वान थार्नटन ने अपने प्राचीन भारत सम्बन्धी ग्रंथ में उल्लिखित किये हैं। यहीं तक नहीं, ग्रीस के प्रसिद्ध इतिहासकार हैरोडोटस तो इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखता है कि 'भारतीय एक ऐसे ऊन के वस्त्र पहनते हैं जो भेड़-बकरियों के शरीर पर नहीं होती अपितु पेड़-पौधों के रूप में उगाई जाती है।'

भारत के प्राचीन साहित्य में भी वस्त्रों के उल्लेख के सहस्रों उदाहरण मिलते

हैं। ऋग्वेद को ईश्वरकृत ग्रन्थ न मानने वाले विद्वान भी इस बात में एकमत हैं कि वह संसार के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक है। उसकी रचना के बारे में विद्वानों का मत है कि वह ईसा से १०,००० वर्ष पूर्व तो अवश्य ही लिखी गई होगी, जब कि भारतीय विद्वान इससे कई गुना अधिक पुराना मानते हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि विलाप करते हुए कहता है कि 'मैं धार्मिक कर्त्तव्यों का न ताना जानता हूँ और न बाना।' ऋग्वेद में कपड़ा सीने वाली सुई को 'सूची' एवं 'अरिवेशी', कैंची को 'भुरिज', ताने वाली लकड़ी को 'मयूख', ढरकी को 'तिन' और बुनकर को 'वायिनी', 'वाम' और 'सिरी' नामों से उल्लिखित किया गया है। 'हिरण्य द्रापी' नामक एक चमकने वाले सुनहले वस्त्र तथा 'प्रावार' धनिकों की बारीक धोती का भी उदाहरण मिलता है।

विवाह संस्कार में वस्त्र परिवर्तन के समय बोले जाने वाले ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि 'हम वह कपड़ा पहनें जो देवियों ने अपने हाथ से काता और बुना है।' अथर्ववेद में भी ऐसा ही लिखा है कि 'सुहागरात के दिन वर अपने नववधू के हाथ का ही कता-बुना वस्त्र पहनता था।' यजुर्वेद के एक मन्त्र से ऊन कातने और बुनने की प्रविधि (technique) का प्रमाण मिलता है।

सुश्रुत संहिता में बारीक डोरे से सीने (सीव्येत सूक्ष्मेण सूत्रेण) का वर्णन है। वैदिक साहित्य में पगड़ी को 'उष्णीष', जरी के काम वाले लहँगे को 'नीवि' तथा विवाह के समय के वस्त्रों को 'वाधूय', वस्त्र के नीचे लगने वाली झालर या गोटे को 'तूप' कहा गया है।

महाभारत में मोती के झालर से टँके वस्त्र को 'मणिचीर' लिखा गया है। बौद्ध, पाली, जैन आदि साहित्य में भी भारत की कलात्मक बुनावट का विवरण मिलता है। इस काल की एक पुस्तक में वाराणसी के 'कौशेयक' वस्त्र का उल्लेख है जिसका मूल्य प्रायः १ लाख रुपये होता था। इसी वस्त्र के बारे में बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेंट' में भी 'शन्तु' शब्द का प्रयोग हुआ है।

गुप्तकालीन महाकवि कालिदास ने विवाह काल में प्रयुक्त होने वाले वस्त्रों को 'हंस चिह्नित श्रुकूल' कहा है। महाकवि बाण ने बहुमूल्य वस्त्रों की कलात्मक बुनावट का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने राज्यश्री के विवाह के लिए तैयार किये हुए वस्त्रों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि रेशम, रुई, ऊन, साँप की केंचुली के समान महीन, साँस से उड़ जाने वाले, स्पर्श से भी अनुमेय और इन्द्र-धनुष के रंग वाले कपड़ों से घर भर गया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'सूत्राध्यक्ष' नामक एक बड़े कर्मचारी कार्यकर्त्ताओं का विस्तृत विवेचन है। शुक्रनीति में भी 'वस्त्रप' नाम के कर्मचारी का उल्लेख है जिनका

थान ऊन, रेशम आदि के कपड़ों की माँग, उनकी उपज तथा अन्य विस्तृत जानकारी रखना और व्यवस्था करना था।

ढाके की मलमल तो इतिहास प्रसिद्ध वस्तु है, जिसके बारे में अँगूठी के छेद में से २० गज लम्बा और एक गज चौड़ा थान को निकालना, आठ तह लपेटे लड़की को भी औरंगजेब का डाटना तथा ७५ गज मलमल का पौने दो रत्ती वजन तक का होना सर्वविदित है। महोदय बुकेनन के शब्दों में "ढाके की मलमल जिसे 'बुनी हवा' (Woven wind) कहते थे, ४०० से अधिक काउन्ट्स की बनती थी तथा एक पूर्ण विकसित युवती के लिए बड़ी साड़ी एक अँगूठी के अन्दर से निकाली जा सकती थी।"* फ्रांस में भारतीय मलमल के अनेक कवित्वपूर्ण नाम विख्यात हैं जैसे 'बुनी हवा' (Woven Air) तथा 'बरसाती फुहार' (Raining Water)। मुगल दरबारी कवियों की रचनाओं में कपड़े के जाले, बहता पानी, शबनम या ओस की बूँद से समानता पाते हैं।

एक फ्रांसीसी कलाविद का मत है कि ३० क्यूबिट्स लम्बाई का साफा हाथ पर लेने से अनुभव ही न हुआ। १५ गज मलमल का वजन कुल १०० ग्रेन देखकर मेरी आँख फटी रह गई। अफ्रीका के इतिहास में उल्लेख है कि भारतीय वस्त्रों के मूल्य में वस्त्र के वजन से चौगुना सोना दिया जाता था।

यहीं तक नहीं, इतिहास का मत है कि ईसा से ५००० वर्ष पूर्व भी भारतीय मलमल को मिश्र के ममीज़ (Egyptian Mummies) के आवरण के लिए चुना जाता था। रोम में भारतीय कपड़ों की खपत होती थी तथा यूनानियों को ढाके की मलमल 'गनेटिका' के नाम से ज्ञात थी।

डैनियल डेफो के मतानुसार इंगलैंड के हर घर में भारतीय वस्त्र का प्रवेश हो गया था। भारत के छींट के कपड़े हर एक महिला के पेटीकोट के लिए प्रयुक्त होने लगे थे। स्वयं महारानी भी कैलिको (कालीकट) के कपड़े पहन कर प्रसन्न होती थीं। पर्दों, गद्दियों और कुर्सियों के गिलाफों आदि के लिए भारतीय वस्त्र ही प्रयुक्त होने लगे थे। डा० राधर्टमन ने तो यहाँ तक लिखा है कि वस्त्रोद्योग के कारण भारत में सोना और चाँदी दूसरे देशों से खुला चला आता था।

प्राचीन भारतीय कारीगरों की प्राविधिक (technical) योग्यता एवं कुशलता

प्रोफेसर वेबर का कहना है कि "भारतीय सदैव से बहुत महीन कपड़ा बुनने, रंगों को मिलाने, धातुओं व लोहा काटने की कुशलता के लिए जगत प्रसिद्ध रहे हैं।"† योरोपीय सभ्यता के आदि विकासशील देश यूनान (Greece) के निवासी

*बुकनन, पृ० १६४
†*Industrial Commission Report*

हैरोडोटस (Herodotus), मैगस्थनीज (Megasthnese) तथा प्लिनी (Pliny) जैसे विद्वानों ने भारतीय वस्त्रों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

प्राचीन युग में प्रचलित कुछ प्रमुख कुटीर-उद्योग इस प्रकार थे :—

(१) ढाका और मछलीपट्टम के आसपास सूती कताई और बुनाई के उद्योग,

(२) काश्मीर का ऊनी वस्त्र उद्योग जहाँ कि दुशाले और चौगे बनाये जाते हैं;

(३) आगरा, मिर्जापुर, मुल्तान, लाहौर इत्यादि का गलीचा उद्योग,

(४) मुर्शिदाबाद, बंगलौर, मणीपुर इत्यादि का सिल्क कताई एवं सिलाई उद्योग, तथा

(५) लखनऊ का ज़री उद्योग, इत्यादि, इत्यादि।

इन उद्योगों की प्रशंसा सारे संसार में की जाती थी।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की अवनति के कारण

कुटीर एवं लघु उद्योगों की अवनति के अनेक कारण थे। कुछ प्रमुख कारणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) राजाओं एवं नवाबों का अन्त—प्राचीन भारतीय शासक लोग इन उद्योगों द्वारा बनी वस्तुओं को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देते थे ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ साथ प्राचीन भारतीय शासकों का लोप होता गया जिसके परिणामस्वरूप कुटीर एवं लघु उद्योगों के आश्रय, प्रोत्साहन, संरक्षण एवं खपत के प्रधान स्रोत भी समाप्त हो गये।

(२) विदेशी सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति—अँग्रेजी शासनकाल से पूर्व भारत के विदेशी व्यापार की विश्वव्यापी धाक जमी हुई थी। १८१७ में डा० रावर्टसन ने लिखा था कि 'भारत में सोना-चाँदी दूसरे देशों से खुला चला आता है। पृथ्वी का कोई भाग ऐसा नहीं जहाँ के लोग अपनी आवश्यकताओं के लिए भारत से वस्त्रादि की माँग न करते हों।' १७०२ में भारत से १०,५३,७२५ पौंड मूल्य का वस्त्र अकेले इंगलैंड भेजा गया था। पर ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत की वस्त्र उद्योग सम्बन्धी उन्नति अखरने लगी। हर तरह से कुटीर उद्योगों को बरबाद किया जाने लगा। १८१३ के चार्टर कानून के अन्तर्गत इंगलैंड का वस्त्र भारतीयों के गले मढ़ा जाने लगा। मिस्टर रीड ने एक बार ब्रिटिश पार्लियामेंट में कहा था, 'कम्पनी को इंगलैंड का बना कपड़ा भारत में जबर्दस्ती बेचना चाहिए और उसके बदले में भारत की एक भी चीज को नहीं लेना चाहिए।'

यहीं तक नहीं, भारतीयों को भी विदेशी वस्तुओं को प्रयोग में लाने के लिए

विवश किया गया। स्वदेशी वस्तुओं को प्रयोग करने वालों को 'भारत सरकार द्वारा द्रोही' घोषित किया गया।

(३) पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार—भारतवर्ष में विदेशी शासन के प्रारम्भ हो जाने से देशवासियों की रुचि एवं फैशन में परिवर्तन हो गया, जिसके फलस्वरूप इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की माग कम हो गई और एक समय फलने फूलने वाले उद्योगों पर कुठाराघात हो गया।

(४) मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता—देशी तथा विदेशी मशीनों द्वारा निर्मित माल की प्रतियोगिता के कारण कुटीर उद्योगों में अनेक समस्याएँ एवं कठिनाइयां उत्पन्न हो गईं और अन्त में इनका पतन हो गया। मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुएँ सस्ती, प्रमापित एवं सुडौल होती हैं। जनता स्वभावतः इन वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाती है।

(५) यातायात के साधनों में सुधार एवं विकास—यातायात के साधनों में विकास हो जाने के कारण विदेशी माल देश के कोने कोने में जाने लगा। गाँव के घरेलू धन्धे भी नगरों की दस्तकारी की भाँति नष्ट होने लगे। प्रायः यातायात एवं सन्देश वाहन के साधनों की उन्नति होने से प्रत्येक देश की आर्थिक दशा सुधरती है, परन्तु इसके विपरीत भारतवर्ष की दशा बिगड़ती चली गई। इसका कारण यह था कि इस देश में इन साधनों का विकास देश की आर्थिक उन्नति को ध्यान में रखकर नहीं किया गया। रेल, तार, डाक, सड़कें, जहाज सब का निर्माण और उनके संचालन की नीति एक ही थी—अंग्रेजी व्यापारिक माल की वृद्धि और तैयार माल को इस देश में खपाना।

(६) ग्रामीण आत्मनिर्भरता का अन्त—विदेशी शासन के पूर्व हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (economy) की विशेषता आत्मनिर्भरता (self suffic ency) थी, अर्थात् वे अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करते थे। परन्तु अब वे विदेशी वस्तुओं का उपयोग करने लगे। फलस्वरूप ग्रामीण कुटीर एवं लघु उद्योग धन्धे नष्ट हो गए।

इस प्रकार भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों का विनाश हो गया, विदेशी व्यापार बढ़ गया और भारतीय कलाकारों की उत्कृष्टता की बातें ऐतिहासिक कहानियाँ ही बनकर रह गईं। भारतीय अपनी अति आवश्यकताओं की वस्तुओं की पूर्ति के लिए भी विदेशों के मुहताज हो गये। यह है कुटीर एवं लघु उद्योगों के विनाश की वह दर्दनाक कहानी जो भारतीयों के हृदय में सदैव पीड़ा पैदा करता रहेगी।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याएँ

वर्तमान परिस्थिति यह है कि कुटीर एवं लघु स्तर के उद्योग अपने गौरवपूर्ण

अतीत को भी चुके हैं। कुछ दस्तकारियाँ तो बिलकुल समाप्त हो गई हैं और कुछ मृतप्राय अवस्था में हैं। इन उद्योगों के सामने कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं, जिनका दूर करना उनको जीवित रखने के लिए अत्यधिक आवश्यक है। अतः सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों ही स्तरों पर उन सभी समस्याओं का अध्ययन व हल आवश्यक है जो कि इन उद्योगों की प्रगति में बाधक हैं। प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं —

(१) वित्त (finance) की समस्या,

(२) कच्चे माल की समस्या,

(३) विपणन (marketing) की समस्या,

(४) प्रशिक्षण एवं अनुसन्धान (training and research) की समस्या

(५) दोषपूर्ण उत्पादन प्रणाली,

(६) प्रमापीकरण (standardisation) का अभाव,

(७) मिलों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता,

(८) संरक्षण (protection) का अभाव,

(९) पर्याप्त शक्ति (power) का अभाव, तथा

(१०) अन्य समस्याएँ।

(१) वित्त की समस्या—कुटीर एवं लघु-उद्योगों के लिए वित्त अथवा पूँजी का एक वास्तविक व कठिन समस्या है। साधारण कारीगर इतना निर्धन एवं दरिद्र है कि वह अपने उद्योग के लिए न तो औजार ही खरीद सकता है और न कच्चा माल ही। मध्यकाल तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक काल में मध्यस्थों, महाजनों और साहूकारों ने कारीगरों का पर्याप्त शोषण किया था। वही प्रथा आज भी अधिकांश में प्रचलित है। कारीगरों की बैंक में कोई साख (credit) नहीं होती और न अभी उन्होंने सहकारी ऋण-समितियों का ही पर्याप्त संगठन किया है। इसके अतिरिक्त लघु उद्योगों के पास संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों (J S Cos) की भाँति पूँजी प्राप्त करने के साधन भी उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि इनके द्वारा निर्गमित (issued) अंश-पत्रों को कोई क्रय ही नहीं करता है।

इस प्रकार आर्थिक सहायता के अभाव में देश में लघु उद्योगों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। बहुत से कारीगर तो पूँजी के अभाव में अपने वंश परम्परागत उद्योगों को छोड़कर कारखानों में मजदूर बनने के लिए विवश हो गये हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि कुटीर एवं लघु उद्योगों के उत्थान एवं विकास के लिए वित्त की समस्या को हल किया जाय।

(२) कच्चे माल की समस्या—जब से देश में बड़े पैमाने के उद्योगों को प्रधानता दी जाने लगी है, कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव हो

गया है, क्योंकि सर्वप्रथम कच्चा माल बड़े पैमाने के उद्योगों को दिया जाता है और यदि कुछ शेष रह जाता है तो वह इन उद्योगों को दिया जाता है। कच्चे माल की समस्या निम्न तीन कारणों से और भी जटिल हो जाती है। प्रथम, तो कच्चा माल कम व अपर्याप्त मात्रा में मिलता है, द्वितीय, उसकी किस्म (quality) भी निम्नतर होती है, तृतीय, कारीगरों को प्रायः कच्चे माल के लिए अधिक मूल्य भी देना पड़ता है क्योंकि इनकी खरीद थोड़ी मात्रा में होती है। इसके अतिरिक्त कारीगरों का कोई संगठन नहीं है, अतः उनकी सामूहिक क्रय शक्ति भी कम होती है।

इस समस्या का एक मात्र हल यह है कि कारीगरों को सहकारिता के आधार पर संगठित करके उनकी सामूहिक क्रय शक्ति (collective purchasing power) को बढ़ाया जाय। इसमें सरकार प्रमुख रूप से सहायक हो सकती है।

(३) विपणन (Marketing) की समस्या—विपणन के द्वार बन्द हो जाने के कारण कुटीर एव लघु उद्योगों को प्राणघातक क्षति उठानी पड़ी है। कारीगरों की अपनी कोई संस्था नहीं, जो तैयार माल को बेचने में सहायक हो सके। उसे बाजार का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। साधनहीन होने के कारण उसे विवश होकर अनुचित मूल्य पर अपना माल बेचना पड़ता है। मध्यस्थ जैसे आढ़तिया, दलाल इत्यादि उसका और शोषण करते हैं। बहुधा उसे अपना माल महाजन के हाथ बेचना पड़ता है, जो मनमाने दाम लगाता है।

इस दयनीय दशा को सुधारने के लिए यही कहा जा सकता है कि इन उद्योगों को अपने माल की किस्म में सुधार करना चाहिए, सहकारी संघों की स्थापना करनी चाहिए, उत्पादन-व्यय में मितव्ययता करना चाहिए, साथ ही राज्य व जनता का चाहिए कि कुटीर-उद्योगों को संरक्षण प्रदान करें। योजना आयोग (Planning Commission) के मतानुसार सरकार को चाहिए कि अपने लिए 'स्टोर' की खरीद करने तथा आयात को समाप्त करके इन उद्योगों को प्रोत्साहित करे और उत्पादन प्रविधि (technique of production) में सुधार करे।

(४) प्रशिक्षण एव अनुसन्धान—कुटीर एव लघु उद्योगों की पिछड़ी हुई अवस्था का प्रमुख कारण प्रशिक्षण एव अनुसन्धान का अभाव है। प्रशिक्षण एव अनुसन्धान के अभाव में ये उद्योग मिलों की प्रतियोगिता (competition) के विरुद्ध ठहर नहीं पाते। अनुसन्धान द्वारा ऐसे औजारों का आविष्कार किया जाता है जो सस्ते, सरल और देश के अनुकूल हों, उत्पादन में वृद्धि हो और किस्म में सुधार हो।

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए कारीगरों को प्राथमिक एव औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न राज्यों में अनुसन्धानशालाओं (Research Laboratories) की व्यवस्था होनी चाहिए।

(५) दोषपूर्ण उत्पादन प्रणाली—भारतवर्ष में कुटीर एवं लघु उद्योगों में अधिकांश कारीगर उत्पादन की प्राचीनतम विधियों का ही अनुसरण करते हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ उत्पादन की प्रविधि (technique) में विश्व में बड़े-बड़े परिवर्तन एवं क्रान्तियाँ हो गई हैं, परन्तु भारतवर्ष में इस दृष्टि से बहुत कम प्रगति हुई है। फलस्वरूप लोग उनके निर्मित पदार्थों का उपयोग करना कम पसन्द करते हैं। कारीगरों की कार्यक्षमता (efficiency) भी बहुत कम होती है। उत्पादन की मात्रा भी कम होती है। परिणामस्वरूप ये पदार्थ कारखानों द्वारा निर्मित पदार्थों के सामने टिक नहीं पाते हैं।

ऐसी अवस्था में इस समस्या का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाना चाहिए। जापान, फ्रान्स, स्वीडन एवं डेनमार्क तथा स्विट्ज़रलैंड इत्यादि देशों में प्रचलित पद्धतियों का अध्ययन करके अपने देश के धन्धों में उनका व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षण, प्रदर्शन, यात्राओं, छात्रवृत्तियों, अनुसन्धानों तथा प्रदर्शनियों इत्यादि को प्रोत्साहन देना चाहिये। इस कार्य में कारीगरों की सहकारी संस्थाओं तथा सरकार, दोनों का प्रयत्नशील रहना आवश्यक है।

(६) प्रमापीकरण (standardisation) की समस्या—वस्तुओं की किस्म एवं मात्रा का प्रमापीकरण (Standardisation) न होने की अवस्था में उनका बाजार विस्तृत नहीं हो पाता। देश की सहकारी समितियों को इस समस्या की ओर ध्यान देना चाहिये और प्रमापित (standardised) वस्तुएँ बनाने वाले विशेषज्ञों से कारीगरों को परिचित कराना चाहिए। सरकार भी इस कार्य में सहयोग प्रदान कर सकती है। जापान तथा स्विट्ज़रलैंड के ढंग पर भारत में भी सहकारी समितियों द्वारा नियुक्त निपुण निरीक्षकों की सेवाओं का उपयोग कुटीर-उद्योग के क्षेत्र में होना चाहिए।

(७) मिलों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता—मिल की बनी हुई वस्तुएँ बड़े पैमाने पर तैयार की जाती हैं। अतः वे सस्ती, प्रमापित व प्रचुरता में होती हैं। कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा बनी वस्तुएँ उनके सामने ठहर नहीं पातीं।

सरकार को चाहिए कि कुटीर एवं लघु उद्योगों को जीवित रखने के लिए दोनों प्रकार के उद्योगों का निर्माण अथवा उत्पादन-क्षेत्र निर्धारित कर दे। ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिये जिससे इन दोनों प्रकार के उद्योगों—कुटीर तथा मिल—में सहकारी सम्पर्क स्थापित हो सके।

(८) संरक्षण (Protection)—भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को न केवल आन्तरिक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है बल्कि बाह्य (विदेशी) प्रतियोगिता का भी। विदेशों के उद्योग धन्धे इतने उन्नत हो चुके हैं कि उनका मुकाबला कुटीर-उद्योगों द्वारा करना सम्भव नहीं।

सरकार को विदेशी प्रतिस्पर्धा से इन्हें मुक्ति दिलाने के लिए संरक्षण प्रदान करना चाहिए और आयात की गई वस्तुओं पर इतना आयात उप कर (import duty) लगाना चाहिए जिससे वे देश की वस्तुओं की अपेक्षा में महँगी पड़ें।

(६) पर्याप्त शक्ति का अभाव—वैज्ञानिक आविष्कारों की देनस्वरूप बिजली का सर्वत्र प्रयोग होने लगा है। कुटीर एवं लघु उद्योग भी कोई अपवाद नहीं। परन्तु इन्हें पर्याप्त बिजली उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि इसकी लागत वे चुका नहीं पाते।

विद्युत शक्ति की पूर्ति के लिए सरकार को चाहिए कि वह कुटीर उद्योगों को पर्याप्त बिजली सस्ती दर पर प्रदान करे।

(१०) अन्य समस्याएँ—उपर्युक्त प्रमुख कठिनाइयों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी भी समस्याएँ हैं जो या तो इन उद्योगों के पतन का कारण हैं अथवा उनकी निर्बाध प्रगति में बाधक हैं, जैसे स्थानीय कर, रेल भाड़ा (Railway freight), चुंगी, समाज का हेय दृष्टिकोण इत्यादि। सरकार व जनता को इन समस्याओं का भी निवारण करना चाहिये।

सरकार द्वारा प्रयत्न

(Government Measures)

कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए ब्रिटिश सरकार ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं, परन्तु यदि उस विकास को विकास कहा जाय तो 'विकास' शब्द का अर्थ ही बदल जाय। सन् १६१४ में व्यावसायिक विकास की एक संस्था स्थापित की गई थी। परन्तु संस्थाओं को स्थापित करने से ही विकास कार्य यदि सम्पन्न हो जाय तो फिर कहना ही क्या? इन उद्योगों के विकास का तो केवल ढोंग रचा गया, परन्तु वास्तव में तो विकास कार्य की तरफ ध्यान भी नहीं दिया गया। इंगलैंड को कच्चे माल की आवश्यकता थी और थी आवश्यकता बाजार की। अत: उसने इसी के अनुकूल अपनी नीति भी बना ली थी।

स्वदेशी आन्दोलन की चिनगारी ज्वाला के रूप में परिणत हुई और कुटीर उद्योग ने बल पाया। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई और स्वदेशी वस्त्रों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। विदेशी सरकार को कुछ भय हुआ और उसने पाँच लाख रुपये प्रति वर्ष पाँच वर्षों तक ग्रह उद्योगों के विकास के लिए खर्च करने का आश्वासन दिया। सन् १६३४ में ग्रामीण उद्योग संस्था की स्थापना की गई, परन्तु उसका तुरन्त अन्त हो गया। सन् १६३५ में प्रत्येक प्रान्त (राज्य) में उद्योग विभाग की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना कांग्रेस के तत्वावधान में हुई। सन् १६३६ में 'राष्ट्रीय योजना समिति' ने भी

भारतीय कुटीर उद्योगों के उत्थान के साधनों पर विचार किया। युद्धोपरांत योजनाओं में देश में 'कुम्पेक्ट रिपोर्ट' का भी महत्व है, जिसने उद्योगों के विकास के लिए एक नवीन शिक्षा योजना देश के समक्ष रखी।

स्वतन्त्रता के उपरान्त

१५ अगस्त, सन १९४७ को जब हम स्वतन्त्र हुए, तब तक अन्धकार की चादर हमारे मानस पटल से उतर चुकी थी। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्व को समझा।

(१) लघु उद्योगों के विकास में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना सरकार ने दिसम्बर १९४७ में आरम्भ किया जब नई दिल्ली में भारत के औद्योगिक विकास के लिए एक सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन की सिफारिश पर भारत सरकार ने १९४८ में एक 'कुटीर उद्योग बोर्ड' और एक 'कुटीर उद्योग डायरेक्टर' की स्थापना की। १९५२ के अन्त में विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों के लिए विशेष बोर्डों की स्थापना होने पर 'कुटीर उद्योग डायरेक्टर' का नाम बदल कर 'लघु उद्योग डायरेक्टर', रखा गया और लघु उद्योगों के विकास का काम सौंपा गया।

१९४८ में भारत सरकार ने एक 'शिष्टमण्डल' जापान भेजा। इसका उद्देश्य लघु उद्योगों के विकास में वहां किये गये उपायों का अध्ययन करना और भारतीय अवस्थाओं के उपयुक्त कुछ छोटी मोटी मशीनों को खरीदना था। इस शिष्ट मंडल ने कुछ जापानी विशेषज्ञ भर्ती किये और अनेक प्रकार की मशीनें खरीदीं। अन्त की सराय तथा हरदुआगंज आदि स्थानों पर इन मशीनों के प्रयोग किये गये। बहुत-सी मशीनें भारतीय अवस्थाओं के अनुकूल सिद्ध नहीं हुईं। कुछ राज्य सरकारों ने भी जापान को 'शिष्ट मण्डल' भेजे परन्तु उसका भी यही परिणाम हुआ।

(२) कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था—राज्य सरकारों ने कारीगरों को प्रशिक्षण देने का काम आरम्भ किया और बेकार व्यक्तियों को तरह-तरह की वस्तुएँ बनाना सिखाया। बम्बई, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल जैसे बड़े राज्यों ने इस सम्बन्ध में कुछ रोचक परीक्षण किये और शिक्षण मालाएँ, प्रदर्शन केन्द्र और शिक्षण दल, शिक्षण सह-उत्पादन केन्द्र और उम्मेदवार शिक्षार्थी प्रणाली आदि चालू कीं। कुछ राज्यों ने छोटे उद्योगों के उत्पादकों की अपनी अपनी कुल आवश्यकता के एक भाग को पूरा करने के लिए ऊँचे दामों पर खरीदने का निश्चय किया। इसी हेतु केन्द्रीय सरकार ने ४ लघु-उद्योग शालाएँ तथा उसकी ४ शाखाएँ खोलने का प्रबन्ध किया है। ये क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, हैदराबाद, केरल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में होंगी।

(३) पर्यवेक्षण (Survey) की व्यवस्था—लघु उद्योगों के विषय में आँकड़े

सम्बन्धी जानकारी का भारी अभाव था। कुछ राज्य सरकारों ने अपने यहाँ लघु उद्योगों की स्थिति का पर्यवेक्षण कराने का प्रयत्न किया। भारत सरकार ने भी १९५० में नमूने के तौर पर अलीगढ़ क्षेत्र का पर्यवेक्षण कराया। एक दो राज्यों में परीक्षणात्मक और अन्वेषण शालाएँ खोली गयीं जिससे लघु उद्योगों में काम आने वाले औजारों और निर्माण प्रणालियों म सुधार किया जा सके।

उत्तर प्रदेश सरकार ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिए एक नवीनतम् योजना बनाई है जिसके अनुसार 'इटावा प्रोजेक्ट' के अनुकरण पर कुटीर उद्योगों के लिए भी एक 'पाइलेट प्रोजेक्ट' की स्थापना की जा रही है। यह योजना भारत में अपने प्रकार की सर्वप्रथम पर्यवेक्षण योजना है।

(४) *विपणन की व्यवस्था* – कुटीर उद्योगों के द्वारा निर्मित पदार्थों के विपणन व वितरण के लिए भी राज्य की ओर स प्रयत्न किये जा रहे हैं। सहकारी विपणन (Marketing) समितियों की स्थापना इस दिशा म सराहनीय प्रयास है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल सन् १९४९ में 'केन्द्रीय कुटीर उद्योग इम्पोरियम' की स्थापना की है। यह देशी एव विदेशी मॉग द्वारा कुटीर उद्योगों क माल के विक्रय में सहायता देकर प्रोत्साहन देता है। इस 'इम्पोरियम' ने कुटीर उत्पादन के विज्ञापन के लिए संयुक्त राज्य, लका, अफगानिस्तान, जापान, न्यूजीलैंड आदि देशों में प्रदर्शनियों का आयोजन किया जिससे वहाँ की माँग से लाभ हो सके।

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास, कश्मीर, आसाम, पजाब तथा बम्बई राज्यों में भी इसी प्रकार के 'इम्पोरियम' खोले गये हैं, जो देश की विभिन्न प्रदर्शनियों में माल के विज्ञापन के हेतु दुकान रखते हैं। इस प्रकार के इम्पोरियम प्रत्येक प्रदेश में खोले जाने चाहिए।

इसके अतिरिक्त केन्द्र तथा राज्य सरकारें अपने उपभोग के लिए इन उद्योगों का माल खरीदती हैं।

(५) *ऋण की व्यवस्था*—सन् १९४९ ५० के वित्तीय वर्ष से भारत सरकार ने लघु तथा कुटीर उद्योगों क लिए अनुदान तथा ऋण देकर राज्य सरकारों की सहायता करनी आरम्भ कर दी है। राजकीय अर्थ प्रमण्डल विधान के अन्तर्गत कुछ राज्यों में अर्थ प्रमण्डल बनाये गये हैं। राज्य सरकारें कुटीर उद्योगों को कुछ आर्थिक सहायता 'प्रान्तीय औद्योगिक सहायता अधिनियम' के अन्तर्गत देती हैं, परन्तु यह अपर्याप्त है।

इस कार्य क लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार सहकारी साख समितियों की स्थापना की जानी चाहिये, जो समितियाँ केवल कुटीर उद्योगों को ही साख सुविधाएँ देने का कार्य करें तथा अपने सदस्यों को सस्ती दरों पर पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सुविधाएँ दें। इसी हेतु नवम्बर १९५४ में लघु उद्योग निगम (Corporation)

(२) सम्पत्ति रहन रखकर ऋण देने की प्रणाली चलाई जाय।

(३) जोखिम वाली पूँजी के लिए सरकार पर्याप्त धन अनग निर्धारित कर दे।

(४) आधुनिक मशीनों और उपकरणों (equipments) को खरीदने के लिए किश्तों द्वारा अदा होने वाले ऋण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) लघु उद्योगों के ऋण सम्बन्धी आवेदन-पत्रों पर कार्यवाही करने के लिए एक उपयुक्त सगठन तत्काल स्थापित किया जाय।

इन्हें सिफारिशों पर सरकार ने विचार किया और ७ जून १९५४ को इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। २ नवम्बर १९५४ को विकास कमिश्नर की अध्यक्षता में 'लघु-उद्योग बोर्ड' की स्थापना हुई। इस बोर्ड का विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

लघु उद्योगों के विकास की सुविधाएँ

लघु उद्योग धन्धे निरन्तर दग से फलत-फूलते हैं, अतः उनकी उन्नति का उत्तर दायित्व राज्य सरकारों पर है। पर राज्य सरकारों के साधन सीमित हैं, अत. केन्द्र इनको दौड़ाने के लिए धन की सहायता देता है और देशव्यापी नीति बनाता है।

सरकार लघु उद्योगों को हर काम में सहायता देती है। वह उद्योग की योजना करने से लेकर माल बनाने के लिए, मशीनरी और शिल्प सम्बन्धी सलाह देने, कारीगरों को काम सिखाने, मशीनें खरीदने और पूँजी जुटाने के लिए रुपया देने, कारखाने के लिए जगह दिलाने और माल बिकवाने तक हर काम में मदद देती है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गए कार्यों का ब्यौरा इस प्रकार है :—

नवम्बर १९५४ में केन्द्रीय सरकार ने लघु उद्योगों के लिए एक 'विकास आयुक्त' (Development Commissioner) की नियुक्ति की। यह आयुक्त (Commissioner) 'लघु उद्योग बोर्ड' का एक्स आफिसियो चेयरमैन भी होता है। इस आयुक्त की ओर से कई प्रकार का सामान तैयार करने के छोटे उद्योग मालिकों को आदर्श योजनाएँ बना कर दी जाती हैं। पिछले तीन वर्षों में इस प्रकार के ३४० नमूने की योजनाएँ बना कर दी गई हैं। इसके अतिरिक्त माल बनाने के तरीकों में सुधार करने के बारे में जानकारी देने वाले कई 'बुलेटिन' भी निकाले गये हैं।

इसके अतिरिक्त लघु-उद्योगों के विकास के लिए अन्य सगठन इस प्रकार हैं :

(१) रीजनल स्माल इण्डस्ट्रीज सर्विस इन्स्टीट्यूट्स—ये संस्थाएँ देश के चार केन्द्रों—दिल्ली, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता—में स्थापित की गई। इन संस्थाओं का काम छोटे उद्योगों की इकाइयों को उत्पादन में सुधार, विपणन तथा प्रबन्धकीय प्रविधि (technique) में सलाह प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त ये औद्योगिक इकाइयों को मशीनरी, ऋण तथा कच्चा माल भी प्रदान करते हैं। सेवाओं के अनुसार इन संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

की स्थापना की गई है, जो इन उद्योगों की आर्थिक एवं शिल्पिक समस्याओं को हल करेगा।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कुटीर उद्योगों को उनके विकास के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकों के माध्यम से २% ब्याज पर १५ मास की अवधि तक आर्थिक सुविधाएँ देने का विशेष आयोजन किया है, परन्तु इस कार्य के लिए औद्योगिक सहकारिताओं की स्थापना भी आवश्यक है, जिससे कुटीर उद्योगों की आर्थिक, कच्चे माल की तथा निर्मित माल की बिक्री की समस्याएँ हल होकर उनकी नींव सुदृढ़ हो सके।

(६) राष्ट्रीय लघु उद्योग कारपोरेशन की स्थापना—राष्ट्रीय लघु उद्योग कारपोरेशन की संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल (J S Co) के रूप में ४ फरवरी सन् १९५५ को रजिस्ट्री की गई। इसकी सम्पूर्ण पूँजी सरकार ने लगाई है।

इसका उद्देश्य लघु उद्योगों की उन्नति करना, उनको संरक्षण, आर्थिक सहायता तथा अन्य सहायता देना है। यह कारपोरेशन केवल ऐसे लघु-उद्योगों को सहायता देगा जो शक्ति का प्रयोग करते हों एवं जिनमें ५० से कम व्यक्ति काम करते हों अथवा जो शक्ति का प्रयोग न करते हों, परन्तु उनमें १०० से अधिक व्यक्ति काम न करते हों तथा उनकी पूंजी ५ लाख रुपये से अधिक न हो।

इसके निम्न कार्य हैं—

(१) सरकारी आदेशों का समुचित हिस्सा लघु-उद्योगों को दिलाना।

(२) जिन उद्योगों को ऐसे आदेश मिले हैं उनको आदेशों की पूर्ति के लिए आवश्यक आर्थिक एवं शिल्पिक सहायता देना।

(३) संगठित एवं लघु उद्योगों में सामञ्जस्य लाना, जिससे लघु उद्योग संगठित उद्योगों की पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(४) लघु उद्योगों के बैंकों अथवा अन्य संस्थाओं से मिलने वाले ऋणों की जमानत देना तथा अभिगोपन (underwrite) करना।[1]

(५) फोर्ड फाउण्डेशन योजना—सन् १९५३-५४ में भारत सरकार ने लघु उद्योगों की उन्नति के लिए फोर्ड फाउण्डेशन के सहयोग से विदेशी विशेषज्ञों का एक दल निमन्त्रित किया। ये विशेषज्ञ अमेरिका तथा स्वीडन के थे। इस दल ने भारत के लघु उद्योगों के केन्द्रों का दौरा किया।

लघु उद्योगों की वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए दल ने निम्न सिफारिशें कीं—

(१) व्यापारी तथा सहकारी बैंकों और राज्य वित्त कारपोरेशनों को लघु-उद्योगों के लिए ऋण देना चाहिए।

---

[1] इसका विवेचन अगले पृष्ठों में भी किया गया है।

(अ) व्यापारिक सेवाओं वाली संस्थाएं तथा

(ब) प्राविधिक (technical) सेवाओं वाली संस्थाएँ।

सहायता केन्द्रों में सामूहिक रूप में सलाह और कलह करने की व्यवस्था है। उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं के बारे में संस्थाओं के कर्मचारी कारखाने वालों को व्यावहारिक रूप में समझाते हैं। ये कर्मचारी ऐसा मॉडलों को लेकर भिन्न भिन्न स्थानों का दौरा करते हैं, जिनमें अच्छे औज़ार और मशीनें लगी होती हैं। इन मशीनों की उपयोगिता और इनसे काम लेना सिखाना है। राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त अफसरों को भी इन संस्थाओं में शिक्षा दी जाती है।

(४) नेशनल स्माल इण्डस्ट्रीज कारपोरेशन—इसकी स्थापना फरवरी १९५५ में १० लाख रुपये की पूंजी से प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप में केन्द्रीय सरकार द्वारा हुई है। बाद में इसकी पूंजी को बढ़ाकर ५० लाख रुपये कर दिया गया है। सम्पूर्ण पूंजी केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

कारपोरेशन के कार्य

(१) हर राज्य के पिछड़े इलाकों और जिलों में लघु उद्योगों की स्थापना ।।।

(२) सरकारी आर्डरों (Orders) को लघु उद्योगों की इकाइयों को दिलवाना।

(३) ऐसी इकाइयों को प्राप्त किये गये आर्डरों की पूर्ति के लिए आवश्यक ऋण तथा प्राविधिक (Technical) सहायता प्रदान करना।

(४) इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की विपणन (marketing) सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करना तथा उनमें अनुसन्धान करना।

(६) क्रय विक्रय (hire purchase) योजना के अन्तर्गत मशीनें प्रदान करना।

(७) विदेशी बाजारों में इन उद्योगों द्वारा निर्मित माल का प्रचार करना।

(८) ओखला और नैनी में दो औद्योगिक बस्तियों (Industrial Estates) को बनवाना तथा उनका प्रबन्ध करना।

( ) औद्योगिक प्रसार सेवा (Industrial Extension Service)

छोटे उद्योगों को मुफ्त प्राविधिक (technical), व्यावसायिक तथा प्रबन्धकीय सलाह देने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने 'औद्योगिक प्रसार सेवा' की स्थापना की है। इसकी सहायता के लिए सरकार ने चार 'क्षेत्रीय लघु उद्योग सेवा संस्थाएँ' तथा १४ प्रमुख एवं शाखा संस्थाओं और ६० प्रसार केन्द्र (extension centres) की स्थापना की है जो छोटी इकाइयों (units) को उन्नत तात्विक विधि, आधुनिकतम मशीन तथा उपकरण तथा स्थानीय कच्चे माल के प्रयोग के सम्बन्ध में सलाह देते हैं।

इसमें १४६ औद्योगिक प्रसार सेवा केन्द्र हैं। तृतीय योजना के अन्त तक इनकी संख्या १,००० से अधिक हो जायगी।

(४) औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates)

योजना और सीखे हुए कर्मचारियों के बाद कारखाने की तीसरी जरूरत होती है जगह की। छोटे उद्योगों को शहरों की भीड़ भाड़ से अलग अच्छा स्थान देने के लिए देश भर में औद्योगिक बस्तियाँ बनाई जा रही हैं। इन बस्तियों की स्थापना जनवरी १९५५ में 'स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज बोर्ड' की सिफारिश पर की गई हैं। प्रारम्भ में १० करोड़ रुपये की योजना बनाई गई थी, परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह धन-राशि बढ़ाकर १५ करोड़ रुपये कर दी गई है। द्वितीय योजना के अन्त तक ६० औद्योगिक बस्तियाँ बन जायेंगी जिनमें ७०० छोटे कारखाने होंगे।

इन औद्योगिक बस्तियों का मुख्य ध्येय बहुत से लघु उद्योगों के लिए कारखानों के निर्मित स्थानों (Built Factory Accommodation) की सुविधायें प्रदान करना है। इनके फलस्वरूप उद्योगों को सामान्य सेवाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सुविधाओं जैसे आवश्यक विद्युत्, जल, गैस, भाप, रेलवे साइडिंग इत्यादि की प्राप्ति सुविधा से हो सकती है। इन सुविधाओं के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से वहाँ के कल-कारखानों को काफी लाभ होता है।

सम्पूर्ण देश में ११० औद्योगिक बस्तियों के निर्माण की योजना है, जिनमें से ३६ पूरी हो चुकी हैं, जिनमें ६०० शेड हैं। २४ अन्य बस्तियों में काम चल रहा है, और २७ में जल्दी ही शुरू होने वाला है। इन बस्तियों की सारी लागत केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों को कर्ज के रूप में देती है।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री वी० वी० गिरि ने 'ईस्टर्न यू० पी० चैम्बर ऑफ कामर्स', इलाहाबाद के समक्ष भाषण देते हुए प्रदेश के प्रत्येक जिले में ऐसी औद्योगिक बस्तियों की स्थापना का सुझाव दिया था। उन्होंने कहा कि इससे ग्राम-वासियों की आर्थिक दशा सुधरेगी और बड़ी एवं छोटी औद्योगिक इकाइयों में सामंजस्य होगा।[1]

आर्थिक सहायता

लघु उद्योगों को धन की भी बहुत जरूरत होती है। उद्योगों को सरकारी सहायता सम्बन्धी अधिनियम के अधीन इन उद्योगों को केन्द्र और राज्यों की सरकारों से धन की सहायता मिलती है। राज्य वित्त निगम (State Finance Corporation) और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया भी लघु उद्योगों को रुपया देते हैं। 'राष्ट्रीय लघु उद्योग' भी अनेक प्रकार से लघु उद्योगों की सहायता करता है।

देश में आजकल विदेशी मुद्रा की बड़ी तंगी है। फिर भी लघु उद्योगों के लिए

[1] *National Herald*, August 19, '59, p 7.

आवश्यक सामान और मशीनें विदेशों से मँगाने की यथासम्भव आज्ञा दी जाती है। इसके लिए आयात लाइसेंस लेने की भी विधि सरल कर दी गई है।

सरकार ने एक 'लघु अनुसन्धान मंडल' बनाया है जो छोटे उद्योगपतियों और कारीगरों को नई-नई चीजें खरीदने और यन्त्र या कल पुर्जों को निकालने (invent) के लिए धन तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ देता है।

दस्तकारियों की उन्नति के लिए अनेक योजनाएं

'अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड' की स्थापना नवम्बर १९५२ में हुई थी और अगस्त १९५७ में इसका पुनर्गठन किया गया। इस बोर्ड का काम सरकार को सामान्य तौर पर दस्तकारी उद्योग की समस्याओं पर परामर्श देना है।

इस वर्ष अखिल भारतीय बोर्ड की दो बैठकें हुईं। इनमें से एक अगस्त १९५८ में और दूसरी दिसम्बर १९५८ में हुई। यह बोर्ड अपना काम अनेक समितियों की मार्फत करता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'स्थायी समिति' है, जिसके १४ सदस्य हैं। इसमें वाणिज्य तथा उद्योग मन्त्रालय दोनों का एक-एक प्रतिनिधि भी सम्मिलित है।

आलोच्य वर्ष में विभिन्न राज्यों से सम्बन्धित ३६८ योजनाओं की जाँच की गई। भारत सरकार ने दस्तकारियों के विकास के लिए १९५८-५९ में ४० लाख रुपया अनुदान के रूप में और २० लाख रुपये ऋण के रूप में केन्द्रीय सहायता के तौर पर राज्यों को देने की व्यवस्था की है। राज्य सरकारों द्वारा १९५९-६० की योजनाएँ तैयार करने के लिए, प्राथमिकताओं के अनुसार सिद्धान्त तय कर दिये गये हैं। राज्य सरकारों ने अनेक प्रकार की योजनाएँ चालू करने के लिए कदम उठाये हैं। इनमें से अधिक महत्व की योजनाएँ ये हैं—

(१) परम्परागत दस्तकारियों में प्रशिक्षण देना,

(२) बिक्री व्यवस्था के लिए भण्डारों की स्थापना, और

(३) औद्योगिक सहकारी समितियों का निर्माण।

बोर्ड के कार्य

इस वर्ष के दौरान में बोर्ड ने मोटे तौर पर निम्न कार्य किये—

(१) डिजाइन और प्रायोगिक केन्द्र—१९५७ में स्थापित किये गये प्रायोगिक केन्द्र चालू रहे और इनकी कुल संख्या ?५ हो गई। प्रशासनिक मन्तव्य के लिए २ प्रायोगिक केन्द्रों की स्थापना बम्बई और मद्रास में की गई। सामान पैक करने के तरीके का प्रशिक्षण देने के लिए केवल एक नया केन्द्र मैसूर में आरम्भ किया गया।

बम्बई, कलकत्ता, बंगलौर और मद्रास के चार क्षेत्रीय केन्द्र भी इस वर्ष चालू रहे।

(२) बिक्री व्यवस्था—अप्रैल १९५८ में अखिल भारतीय खादी प्रदर्शनी का

गई। देश के विभिन्न केन्द्रों में एक चलती फिरती प्रदर्शनी गाड़ी ने भी साड़ियों का प्रदर्शन किया। सौराष्ट्र की दस्तकारियों पर विचार विमर्श करने के लिए जनवरी १९५८ में बिक्री व्यवस्था सम्बन्धी एक छोटा-सा सम्मेलन संगठित किया गया, जिसमें बिक्री भंडारों व मैनेजरों, डिजायनरों, निर्यातकों आदि ने भाग लिया।

मार्च १९५८ में अन्तर राज्यीय बिक्री व्यवस्था सम्बन्धी एक गोष्ठी का आयोजन भी किया गया। दो उद्योगों अर्थात् गलीचा उद्योग और तांबा तथा पीतल की वस्तुओं के उद्योग के लिए एक केन्द्रीय दस्तकारी विपणन समिति की स्थापना की गई है। राज्य सरकारों द्वारा विचार करने के लिए प्रत्येक राज्य की महत्वपूर्ण दस्तकारियों के लिए विक्रिरूप योजनाएँ तैयार कर ली गई हैं। उत्पादकों, निर्माताओं और दस्तकारियों के व्यापारियों की एक निर्देशिका भी संकलित की जा रही है।

(३) निर्यात सम्वर्द्धन—निर्यात के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। इस वर्ष (१९५८) 'इंडियन हैंडीक्राफ्ट्स डेवलपमेंट कार्पोरेशन प्राइवेट लिमिटेड' का निर्माण किया गया। इसकी अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये है। यह कार्पोरेशन विदेशों में प्रदर्शनियों के संगठन तथा निर्यातकों को विशेष सहायता देने का काम अपने हाथ में ले लेगा, जिसे अब तक बोर्ड करता था। अनेक विदेशी प्रदर्शनियों में बोर्ड ने भाग लिया। निर्यातकों के एक रजिस्टर का संकलन किया जा रहा है और उनमें एक मासिक सूचक पत्र भी वितरित किया जाता है। निर्यातकों से निरन्तर विचार विमर्श किये जाते हैं और अमरिका आदि देशों में बाजार सम्बन्धी अनेक गवेषणात्मक अध्ययन भी किये गये हैं। अक्टूबर-नवम्बर १९५८ में सरकार ने अमेरिका में हस्तकरघे और दस्तकारियों के उत्पादकों व व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले उच्च अधिकारियों के एक दल को भारत आने का निमंत्रण दिया।

(४) सहकारिता—दस्तकारी उद्योगों में सहकारिता आन्दोलन का विस्तार करने की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। दिल्ली, मद्रास, उड़ीसा तथा जम्मू और कश्मीर की वर्तमान सहकारी समितियों का एक सर्वेक्षण पूरा कर लिया गया है और अन्य राज्यों से सूचना एकत्र की जा चुकी है। सहकारी समितियों की समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए मार्च १९५८ में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया और एक सलाहकार समिति भी बनाई गई है।

(५) आयोजन और गवेषणा—हाथ द्वारा और मिल द्वारा कपड़े की छपाई के मध्य प्रतिस्पर्धा की समस्या पर अनुसंधान कार्य हो रहा है। अगली जनगणना में दस्तकारी उद्योग के बारे में जानकारी एकत्र करने के प्रयत्न हो रहे हैं। कारीगरों, व्यापारियों आदि की समितियों का सर्वेक्षण किया जा रहा है। निजी गवेषणा संस्थाओं, जिनमें विश्वविद्यालय भी सम्मिलित हैं, की सहायता से अन्य सर्वेक्षण भी किये जा रहे हैं।

(६) प्राविधिक (Technical) विकास—दिल्ली के प्राविधिक विकास केन्द्र ने उत्पादक उद्योगों के तरीकों के विश्लेषण का कार्य आरम्भ कर दिया है। एक अधिकारी को अल्पकालीन प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए जापान भेजा गया है।

(८) प्रशिक्षण—भण्डारों के प्रबन्ध के विषय में विशेष प्रशिक्षण केन्द्र आरम्भ किये गये और बम्बई के हैण्डीक्राफ्ट्स टीचर्स ट्रेनिंग कालेज को सहायता दी जाती रही। दस्तकारियों का प्रशिक्षण देने के लिए हैदराबाद और धारवाड़ की दो निजी संस्थाओं को भी सहायता दी जा रही है।

(८) प्रचार—'भारत १९५८ प्रदर्शनी' में भी दस्तकारी बोर्ड ने भाग लिया। भारत के प्रमुख हवाई अड्डा और होटलों में दस्तकारियों के उत्पादनों का प्रदर्शन करके प्रचार किया जा रहा है। बोर्ड ने बहुत सी सामग्री भी प्रकाशित की है।

(९) संग्रहालय—दिल्ली में बोर्ड का एक संग्रहालय भी है जिसमें १९५८ में प्रदर्शन योग्य नई वस्तुएँ रखी गईं।

(१०) विदेशों से सहायता—दस्तकारियों के विकास के उद्देश्य से ६ विदेशी विशेषज्ञों की नियुक्ति करने के लिए फोर्ड फाउण्डेशन ने ७५,०००० डालर का अनुदान दिया है। फोर्ड फाउण्डेशन ने बोर्ड को सहायता और परामर्श देने के उद्देश्य से ० डालर का एक और अनुदान दिया है।

बोर्ड की मार्फत १९५३-५४ से दस्तकारियों पर निम्न प्रकार व्यय किया गया है —

वर्ष	वास्तविक व्यय (लाख रु० में)
१९५३-५४	१४
१९५४-५५	१५.७१
१९५५-५६	२८
१९५६-५७	२७
१९५७-५८	५९.८३

इण्डियन हैण्डीक्राफ्ट्स डेवलपमेंट कार्पोरेशन प्राइवेट लिमिटेड

दस्तकारियों के व्यापार सम्बन्धी प्रबन्ध को सारे देश के लिए एक प्रभावशाली एवं समन्वित रूप से चलाने के लिए, निर्यात सम्वर्द्धन पर विशेष जोर देते हुए, अप्रैल १९५८ में 'इण्डियन हैण्डीक्राफ्ट्स डेवलपमेंट कार्पोरेशन प्राइवेट लिमिटेड' नामक एक सरकारी कम्पनी की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है। इस कार्पोरेशन की अधिकृत पूँजी १ करोड़ रु० और शुरू में जारी (निर्गमित) की गई पूँजी १० लाख रुपया है।

१९५८-५९ के बजट अनुदान में कार्पोरेशन के व्यय के सम्बन्ध में अग्र लिखित राशि रखी गई थी :—

	लाख रु०
कार्पोरेशन को अनुदान	११
ऋण (Loans)	८
अंश पूँजी (Share Capital)	१०

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योग

प्रथम, द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर एवं लघु उद्योगों को उचित स्थान प्रदान किया गया है, और इनके विकास के लिए विस्तृत योजनाएँ तैयार की गई हैं। इन विभिन्न विकास सम्बन्धी क्रियाओं का व्यौरा संक्षेप में इस प्रकार है—

विभिन्न बोर्डों की स्थापना

प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्न छः बोर्डों (मडलों) की स्थापना की गई है, जिनका कार्य अपने अपने उद्योगों की समस्याओं एवं कठिनाइयों का अध्ययन करना तथा उनके विकास एवं उन्नति के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत करना है—

(१) अखिल भारतीय खादी एवं ग्राम उद्योग बोर्ड;
(२) अखिल भारतीय हस्तशिल्पकला (दस्तकारी) बोर्ड;
(३) अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड,
(४) लघु उद्योग बोर्ड,
(५) नारियल जटा (coir) बोर्ड, तथा
(६) केन्द्रीय सिल्क बोर्ड।

(१) अखिल भारतीय खादी एवं ग्राम उद्योग बोर्ड

इस बोर्ड की स्थापना जनवरी १९५३ में हुई थी। १९५६ में इसका नाम बदल कर 'अखिल भारतीय खादी एवं ग्राम उद्योग कमीशन' कर दिया गया। इसने खादी एवं नौ विशिष्ट ग्रामीण उद्योगों जैसे साबुन बनाना, तेल पेरना, धान से चावल निकालना, दियासलाई बनाना, हाथ का कागज बनाना, मधुमक्खी पालना, चमड़ा कमाना, आटा चक्की तथा मिट्टी के बर्तन बनाने के विकास का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

(२) अखिल भारतीय हस्तशिल्पकला (दस्तकारी) बोर्ड

इसकी स्थापना नवम्बर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य विभिन्न भारतीय हस्त शिल्प कलाओं (दस्तकारियों) का विकास करना है। अप्रैल १९५८ में केन्द्रीय सरकार ने दस्तकारियों के व्यापारिक आधार पर उत्पादन तथा निर्यात के सहायतार्थ 'भारती

हस्तशिल्प कला विकास निगम (प्राइवेट) लिमिटेड' की स्थापना की है। इस निगम की अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये है।[1]

(३) अखिल भारतीय हस्तकरघा बोर्ड

इसकी स्थापना अक्टूबर १६५२ में हस्तकरघा उद्योग के विकास तथा विशेष रूप से जुलाहों को सहकारी समितियों में संगठित करने के उद्देश्य से की गई है। इस बोर्ड की क्रियाओं की अर्थ व्यवस्था सरकार द्वारा मिलों के वस्त्रों पर लगाये गये टाक्स (cess) से होती है। विपणन की सुविधा के लिए बोर्ड के अधीन केन्द्रीय विपणन संगठन' (Central Marketing Organisation) की स्थापना की गई है, जिसकी शाखाएँ मद्रास, बम्बई तथा वाराणसी में हैं।

(४) लघु उद्योग बोर्ड

इसकी स्थापना नवम्बर १६५४ में 'इन्टरनेशनल प्लानिंग टीम ऑफ एक्सपर्ट्स' की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए की गई थी। यह एक समन्वयकर्त्ता (co ordinating) और परामर्शदात्री (advisory) संस्था है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं जो कि विभिन्न संगठनों की क्रियाओं का समन्वय एवं विकास योजनाओं का कार्यान्वय करते हैं।

(५) नारियल जटा बोर्ड

इसका निर्माण जुलाई १६५४ में 'कोयर इण्डस्ट्री एक्ट १६५४' के अन्तर्गत हुआ है। १६५७-५८ में इसका पुनर्निर्माण हुआ। प्रारम्भ में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत इसके लिए १ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था परन्तु बाद में इसकी विदेशी मुद्रा अर्जित करने की क्षमता को देखकर इस धन-राशि को बढ़ाकर १'७० करोड़ रुपये कर दिया गया। भारतीय सरकार ने द्वितीय योजना के अन्तर्गत 'एलेप्पी' के निकट 'कोयर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना की स्वीकृति दे दी है।

(६) केन्द्रीय सिल्क बोर्ड

इसकी स्थापना सन् १६४६ में हुई थी, परन्तु देश के सम्पूर्ण उद्योगों को इसके अन्तर्गत लाने के लिए इसका पुनर्गठन १६५२ में किया गया। इसका उद्देश्य सिल्क उत्पादन में वृद्धि एवं विकास तथा रेशम के कीड़े पालने (sericulture) की क्रिया में अनुसन्धान करना है।

विदेशी सहयोग (Foreign Collaboration)

भारतीय लघु स्तरीय उद्योगों के विकास में कुछ विदेशी सरकारों ने भी प्रशंसनीय योगदान दिया है। केंद्रीय उद्योग मन्त्री ने अभी हाल में ही बताया है कि ओखला

[1] इसका विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(दिल्ली) का 'इण्डो जर्मन मशीन टूल प्रोटो टाइप सेन्टर' १९६० तक तैयार हो जायगा। 'टी० सी० एम० सेंटर, राजकोट' में कार्य प्रगति पर है। कलकत्ते में एक फाउण्ड्री और लाइट इन्जीनियरिङ्ग केन्द्र की स्थापना के सम्बन्ध में भारत सरकार और जापान के बीच बातचीत चल रही है। भारतवर्ष में घडी उद्योग के लिए प्राविधिक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना के सम्बन्ध में एक 'स्विस दल' आने वाला है। गुरडी (मद्रास) में सूक्ष्म औज़ार (Precision instruments) उत्पादन केन्द्र की स्थापना के सम्बन्ध में फ्रान्स सरकार ने योग प्रदान किया है। इसी प्रकार 'इण्डो पोलिश' लघु-उद्योग केन्द्र के सम्बन्ध में बातचीत चल रही है।

वित्तीय सहायता (Financial Aid)

प्रथम पंचवर्षीय योजना

इस योजना में केन्द्र द्वारा प्रारम्भ में १७ करोड़ रुपये का प्रावधान था। बाद में खादी एव हाथ करघा उद्योग के विकास के निमित्त सूती वस्त्र उद्योग पर उपकर (cess) लगाकर २० करोड़ रुपये और प्रदान किये गये थे। विभिन्न राज्यों में १२ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था।

इन प्रावधानों के विपरीत इन उद्योगों पर व्यय की गई कुल धन राशि ४३ ७ करोड़ रुपये है। इसमें से ३३ ६ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा और शेष १० १ करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा दिये गये।

केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये ३३ ६ करोड़ रुपये में से हाथ करघा उद्योग पर ११ २ करोड़ रुपये, खादी उद्योग पर १२ ३ करोड़ रुपये, हस्तशिल्प कला उद्योगों पर ८२ लाख रुपये, कोश कृमि पालन (sericulture) पर ६५ लाख रुपये, लघु स्तरीय उद्योगों पर ४ ४ करोड़ रुपये, ग्राम उद्योगों पर २ ६ करोड़ रुपये, नारियल जटा उद्योग (coir industry) पर ३० लाख रुपये व्यय किये गये। ग्रामीण शिल्पों तथा उद्योगों के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं के क्षेत्रों में १ ८ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगों पर २०० करोड़ रुपये व्यय करने का प्राविधान किया गया था। विभिन्न उद्योगों पर इस धन राशि का आवटन अगले पृष्ठ पर दिखाया गया है

उद्योग	करोड़ रुपये
(१) हस्त करघा (Handloom)	५९·५
(२) खादी	१६ ७
(३) ग्रामीण उद्योग	३८·८
(४) हस्त शिल्पकला (Handicrafts)	९·०
(५) लघु स्तरीय उद्योग	५५·०
(६) अन्य उद्योग	६·०
(७ सामान्य योजनाएँ (प्रशासन, अनुसंधान इत्यादि)	१५ ०
कुल योग	२०० ०

अनुमान है कि द्वितीय योजना में इन उद्योगों पर केवल १८० करोड़ रुपया व्यय किया गया है।

५ पचवर्षीय योजना

श्री मनुभाइ शाह, केन्द्रीय उद्योग मंत्री ने सितम्बर १४, १९५९ को मैसूर के उद्योगपतियों की कान्फ्रेंस का उद्घाटन करते समय बताया कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर, लघु एवं मध्य वर्ग के उद्योगों के विकास पर ६०० करोड़ रुपये से अधिक खर्च किया जायगा। केवल कुटीर और लघु उद्योगों पर २५० करोड़ रुपये व्यय किये जावेंगे।[1]

श्री शाह ने यह भी बताया कि पूर्व स्थापित किये गये छः बोर्डों को अधिक आत्म निर्भर बना दिया जायेगा और वे बोर्ड अपने अधिकारों को राजकीय बोर्डों को हस्तांतरित कर सकेंगे, क्योंकि अधिक केन्द्रीयकरण से कोई विशेष लाभ प्राप्त न हो सकेगा। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि प्रत्येक राज्य में एक औद्योगिक सेवा संस्था (Small Scale Service Institute) स्थापित की जावेगी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में १००० से अधिक औद्योगिक प्रसार सेवा केन्द्रों को स्थापित किया जायगा जिससे कि प्रत्येक ५,००० से अधिक आबादी वाले क्षेत्रों में कम से कम एक प्रसार सेवा केन्द्र हो। इस समय इन केन्द्रों की संख्या १४९ है।[2]

उपसंहार

सरकार की उपर्युक्त विभिन्न विकास योजनाएँ, प्रतिफल कुटीर एवं लघु उद्योगों

[1] तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रारूप, ६ जुलाई, १९६०।

[2] *National Herald*, Sept 16, '59

के प्रगति मार्ग पर बढ़ने की साक्षी हैं। अतीत का समृद्धिशाली भारत समय की विषमताओं के कारण एक जर्जर व शोषित राष्ट्र रह गया था, परन्तु आज समय के परिवर्तन के साथ साथ परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से परिवर्तित होती जा रही हैं। कुटीर एवं लघु-उद्योगों का पुनर्विकास एवं पुनर्स्थापन सफलतापूर्वक होना प्रारम्भ हो गया है। देश में ही नहीं विदेश में भी इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की चर्चा एवं प्रशंसा पुनः होने लगी है। दिसम्बर १९५५ में क्वालालमपुर (मलाया) में 'इण्डियन हैण्डलूम गुड्स इम्पोरियम' की स्थापना की गई है। 'इम्पोरियम' के अध्यक्ष का कहना है कि : "भारतीय बुनकर विश्व के अन्य निपुण बुनकरों में सबसे आगे हैं, कोई अतिशयोक्ति नहीं मालूम होती, क्योंकि पश्चिमी देश के कपड़ा बनाने वाले भी—जिनके पास सभी आधुनिक सुविधाएँ प्राप्त हैं—भारतीय हैंडलूम के कपड़ों के पक्के रंग, आकर्षक डिजायन तथा मजबूती का लोहा मानते हैं।"

न्यूजीलैंड की फैशन पत्रिका 'ड्रेपर' का भारतीय हस्तनिर्मित वस्त्रों के सम्बन्ध में विचार है कि 'इन कपड़ों में विशेषकर हस्तकरघा उत्पादित सिल्क ने पश्चिमी संसार को हिला दिया है। भारतीय जरी सिल्क की बढ़ी साड़ियाँ, न्यूयार्क के फैशन कलाविदों में 'ईवनिङ्ग गाउन्स' के रूप में बड़ी प्रचलित होती जा रही हैं।'

वेलिंगटन नगर के भारतीय दूतावास के कार्यालयों में आयोजित एक प्रदर्शनी में भारतीय साड़ियों को पश्चिमी स्त्रियों के लिए किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है, दिखलाया गया था।

एक विदेशी फैशन विशेषज्ञ ने ठीक ही कहा है कि खुली प्रदर्शन के हेतु सुनहले एवं रुपहले काम वाले वस्त्रों का प्रयोग आवश्यक है। भारतीय हैंडलूम में तो यह विशेषता प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

प्रश्न

1 Examine the importance of cottage industries in Indian economy How can they hold their own against large scale industries? *(Agra, 1958)*

2 'Development of cottage and small scale industries should receive greater priority than the expansion of heavy and large-scale industries under the Third Five Year Plan'. *(Agra, 1960)*

अध्याय ३२

भारत मे विशिष्ट संगठित उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग
(Cotton Textile Industry)

श्री बुकनन के शब्दों में 'सूती उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव, अतीत और वर्तमान में गर्व का कारण किन्तु सब की आशा है।" यह उद्योग भारत के संगठित बड़े पैमाने के उद्योगों में प्रथम कोटि का है। आकार की दृष्टि से विश्व में भारतीय सूती मिल उद्योग का दूसरा स्थान है। तकुओं की संख्या की दृष्टि से अमरीका और इंगलैंड के उपरान्त भारत का ही स्थान है। श्रमिकों की संख्या की दृष्टि से भी तृतीय स्थान है। विश्व के सम्पूर्ण वस्त्र उत्पादन का १४% तथा सूत उत्पादन का १३% भारत में ही उत्पन्न किया जाता है।

राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में आज इस उद्योग का महान् महत्व है। यह देश का केवल सबसे बड़ा ही नहीं वरन् सबसे अधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कारखाना उद्योग है, जो अधिकांशतः भारतीयों के स्वामित्व में है, उन्हीं के द्वारा संचालित है तथा इसकी वित्त व्यवस्था भी उन्हीं के द्वारा होती है। १९५९ के प्रारम्भ में देश में ४८२ मिलें थीं। १९५८ में १२,४९१,७७४ तकुए तथा २,००,९८३ करघे थे और लगभग ९ लाख व्यक्ति काम पर रहे थे और यदि सहायक उद्योगों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो लगभग १० लाख व्यक्तियों को इससे जीविका प्राप्त होती है। इसका वार्षिक उत्पादन अब लगभग ५००० करोड़ गज कपड़ा और १६५० करोड़ पौंड से भी अधिक सूत का है। इसमें ११२ करोड़ रुपये की स्थायी पूंजी लगी हुई है।

आज निर्यात करने वाले देशों में भारत का स्थान जापान के बाद आता है। सूती वस्त्र का निर्यात भारत पश्चिम में कनाडा से लेकर पूर्व में हिन्देशिया तक, उत्तर में फिनलैंड से लेकर दक्षिण में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड तक करता है। स्पष्ट है कि भारतीय वस्त्र उद्योग देश का वह उद्योग है जिस पर वह गर्व कर सकता है और भावी समृद्धि के लिए आशाभरी दृष्टि से देख सकता है।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

समय के आवरण को हटाने से हम सूती वस्त्र उद्योग के अत्यन्त सौन्दर्यमय

एव गौरवपूर्ण अतीत के दर्शन होते हैं। भारत में वस्त्र उद्योग अत्यन्त प्राचीन काल से अपनी उन्नत स्थिति म था। मोहनजोदडो के ध्वसावशेषों मे सूती वस्त्रों के अवशेष प्राप्त किये गये हैं, जिनक आधार पर प्रसिद्ध वैज्ञानिक जेम्स टर्नर और ए० एन० गुलाटी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऐसे वस्त्र रुई से बनाये गये होंगे। ग्रीस क प्रसिद्ध इतिहासकार हैरोडाटस तो इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखता है कि "भारतीय एक ऐसे ऊन क वस्त्र पहनते है जो भेड बकरियों के शरीर पर नहीं होती अपितु पेड पौधों क रूप म उगाई जाती है।" अजन्ता की गुफा क कुछ चित्रों से भी इस उद्योग क गौरवपूर्ण अतीत का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के प्राचीन साहित्य म वस्त्रों क उल्लेख क सहस्रों उदाहरण मिलत हैं। ऋग्वेद क एक मन्त्र म ऋषि विलाप करत हुए कहता है कि "मैं धार्मिक कर्तव्यों का न ताना जानता हू और न बाना।" ऋग्वेद म कपडा बीने वाली सुई को 'सूची' (ऋग २ ३२ ४) एव 'अरिवेशी' (ऋग ८ १८ १४), कैंची को 'भुरिज' (ऋग ८ ४ १६) ताने वाली लकडी को 'मयूख', दरवी को 'वेम' और जुलाहे को 'वायित्री', 'वाय' और 'सिरी' नामों से उल्लेखित किया गया है। अथर्ववेद ने भी ऐसा ही लिखा है कि 'सुहागरात क दिन वर अपनी नववधू क हाथ का हा काता बुना वस्त्र पहनता था।' महाकवि बाण ने बहुमूल्य वस्त्रों की कलात्मक बुनावट का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। सॉर के केंचुल जैसे महीन सूत, रशमी तथा मोती की झालरों वाले वस्त्रों का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। वस्त्रों पर आखेट, हस तथा अन्य पशु पक्षियों की अकना (बुनाई) का भी उल्लेख मिलता है।

भारतीय वस्त्र की उत्कृष्टता मुस्लिम काल म असदिग्ध थी। ढाके की मलमल तो इतिहास प्रसिद्ध वस्तु है, जिसके बारे म अँगूठी के छेद म से २० गज लम्बा और एक गज चौडा थान को निकालना, आठ तह लपेटे लडकी को भी औरगजेब का डाटना तथा ७५ गज मलमल का पौने दो रत्ती वजन तक होना सर्वविदित है। मुगल दरबारी कवियों की रचनाओं म कपडे को मकडी के जाले, बहता पानी, शबनम या ओस क बिन्दुओं से समानता दी जाती है।

यही तक नहीं इतिहास का मत है कि ईसा से ५००० वर्ष पूर्व भी भारतीय मलमल को मिश्र क ममाज (Egyptian Mummies) क आवरण क लिए चुना जाता था। योरोपीय सभ्यता क आदि विकासशील देश यूनान (Greece) क निवासी हिरोडाटस (Herodotus), मैगस्थनीज (Magasthrese) तथा प्लिनी (Plinv) जैसे विद्वानों ने भारतीय वस्त्रों की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। टैवरनियर (Tevniur) ने लिखा है कि 'कालीकट की मलमल इतनी महीन थी कि हाथ में ही नहीं ली जा सकती थी, उसका सूत आखों से दिखता ही नहीं था।' प्रायः मलमल क अनेक कवित्वपूर्ण नाम विख्यात हैं, जैसे बुनी हवा (W.

बरसाती फुहार (raining water) आदि। अमीना के इतिहास में उल्लेख है कि भारतीय वस्त्रों के मूल्य में वस्त्र के वजन से चौगुना सोना दिया जाता था।

इस उद्योग की विभिन्न चीजें इतनी प्रसिद्ध हो गई थीं कि जिन्हें लेने के लिए दूर-दूर से सौदागर बड़े परिश्रम, जोखिम तथा कष्ट उठाकर आते थे। डा० रानडे ने तो यहाँ तक लिखा है कि वस्त्रोद्योग के कारण भारत में सोना और चाँदी दूसरे देशों से दुला चला आता था। इन सब उल्लेखों से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में भारतीय वस्त्र उद्योग की विश्वव्यापी ख्याति और जीवनोपयोगी माँग थी।

औद्योगिक महाक्रान्ति ने विलायत में सूती कारखाने स्थापित करने में सहायता की और थोड़े ही समय में लंकाशायर, मैनचेस्टर, पैसले इत्यादि स्थानों में विशाल कारखाने स्थापित हो गये। इधर भारत में अँग्रेजों का आधिपत्य जम चुका था, उनकी खुले बाजार की नीति तथा राजनैतिक अन्याय के शस्त्र ने एक साथ मिलकर भारतीय वस्त्र उद्योग का गला घोट दिया।

आधुनिक ढङ्ग की सबसे पहले सूती वस्त्र मिल सन् १८१८ में हुगली नदी (कलकत्ता) के किनारे घूसरी नामक स्थान पर स्थापित की गई, पर इस उद्योग की वास्तविक नींव १८५१ में डाली गई जब कि बम्बई में श्री कावसजी नाना भाई डावर ने 'बाम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी' स्थापित की। इस कम्पनी ने अपना कार्य ४ फरवरी सन् १८५४ से आरम्भ किया। इसके उपरान्त दूसरी मिल सन् १८६१ में श्री रनछोड़ लाल छोटालाल रेंहटीवाला ने 'शाहपुर मिल्स' के नाम से खुलवाया। इस मिल की स्थापना के लिए खम्भात से अँग्रेजी मशीनों को बैलगाड़ी पर लादकर अहमदाबाद लाया गया था और उसे सञ्चालित करने के लिए लंकाशायर से कारीगर बुलाये गये थे। इस मिल के उपरान्त सन् १८६६ में "कैलिको मिल्स" की स्थापना हुई। अधिकांश मिलों की स्थापना बम्बई में ही हुई। सन् १८७६ ई० में मिलों की संख्या केवल बम्बई में ही ५६ हो गई, जिनमें १४,५३,००० तकुए और १३ हजार करघे थे। अधिकांश में ये मिल कताई मिल (spinning mills) थे।

इस सफलता को देखते हुए अहमदाबाद, शोलापुर, मद्रास, कानपुर आदि नगरों में सूती कपड़े के कारखाने खोले गये। सन् १९१४ में कारखानों (मिल्स) की संख्या २६४ हो गई।

सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति एवं विकास का अध्ययन हम पाँच खण्डों में कर सकते हैं :—

(१) प्रथम महायुद्ध के पूर्व (१९१४ तक)

(२) प्रथम महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१९२९ तक)

(३) द्वितीय महायुद्ध तक (१९३९ तक)

(४) द्वितीय महायुद्ध एवं पश्चात् (१९४७ तक)

(५) स्वतन्त्रता के पश्चात् (१९६० तक)

प्रथम महायुद्ध के पूर्व (१९१४ तक)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में सूती मिलों का विकास बम्बई के आसपास हुआ। सन् १८७९ ई० तक मिलों की संख्या ५६ हो गई थी। परन्तु १८७७ के पश्चात् इन मिलों का देश के हृदय में स्थित ऊपरी नगरों जैसे नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर में भी विस्तार हुआ। स्वदेशी भावना (१९०५) की लहर के कारण कातने तथा बुनने की मिलें कानपुर, कलकत्ता, मद्रास, मथुरा, आगरा, ग्वालियर, इन्दौर में भी खुली। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस उद्योग में क्रमिक विकास होता रहा, यद्यपि कई बार इसकी दशा खराब हो गई। इस समय की प्रमुख विशेषता थी सूत का उत्पादन, जिसका निर्यात चीन और जापान को होता था और देशी करघे में बुनकर भी प्रयोग करते थे। १९०७ में पुनः उद्योग को विश्वमन्दी के कारण संकट का सामना करना पड़ा।

सन् १८८० से सन् १९१४ तक सूती वस्त्र उद्योग का जो विकास हुआ, उसमें दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं—

(१) तकुओं (spindles) की अपेक्षा करघों की संख्या में द्रुतगति से वृद्धि, तथा

(२) अच्छे वस्त्र के निर्माण की ओर प्रवृत्ति।

१९१४ में हमारे देश में सूती मिलों की संख्या २७१ हो गई थी। परिणामस्वरूप प्रथम महायुद्ध के पहले १९१४ तक सूती वस्त्र उद्योग की दृष्टि से हमारा देश विश्व में चौथा स्थान प्राप्त कर सका।

प्रथम महायुद्ध एवं पश्चात् (१९१४ से १९२६ तक)

प्रथम महायुद्ध से सूती वस्त्र उद्योग को काफी बढ़ावा मिला। युद्ध के छिड़ जाने से इङ्गलैंड तथा विदेशों से होने वाला कपड़े का आयात बन्द हो गया तथा भारतीय उद्योग पर दोहरी जिम्मेदारी आ गई। एक तो, देशी माँग की पूर्ति की तथा दूसरे, युद्ध कार्य के लिए आवश्यक वस्त्र निर्यात करने की। विदेशी कपड़े का मूल्य बढ़ जाने के कारण भारतीय उपभोक्ता भारतीय मिलों के बने कपड़े की ओर झुकने लगे। इसके अतिरिक्त नई नई सैन्य (military) आवश्यकताओं के कारण भारत में हर प्रकार के कपड़े की माँग और खपत बढ़ती गई।

इस प्रोत्साहन के होते हुए भी उद्योग के विकास में व्यावहारिक बाधाएँ थीं, जैसे—मशीनों, औजारों तथा आवश्यक रंग रसायनों के आयात में असुविधाएँ। इस महायुद्ध से एक और लाभ यह हुआ कि भारत का विदेशी व्यापार [illegible] अमेरि— और जापान के साथ बढ़ा, किन्तु कठिनाइयों के कारण मिलों

क्षमता से कार्य करना पड़ा। इससे उद्योग को आशातीत और अप्रत्याशित सम्पन्नता प्राप्त हुई। अंशधारियों को १६१६ में ४०%, १६२० में ३५% और १६२१ में ३०% लाभांश मिले। परन्तु यह सम्पन्नता जितनी तेजी से आई थी, उतनी ही तेजी से चली गई।

इस काल (१६१४ से १६२६) में सूती वस्त्र उद्योग की दो विशेषताएँ थीं :—

(१) नई मशीनों के आयात में कठिनाई होने के कारण नवीन मिलों की अधिक संख्या में स्थापना न हो सकी परन्तु फिर भी करघों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई।

(२) अभी तक इस उद्योग में कताई का विशेष महत्व था परन्तु अब बुनाई पक्ष का विकास हुआ।

फारस, मेसोपोटामिया, दक्षिणी अफ्रीका, श्रीलंका और मलाया में भारतीय वस्त्रों का निर्यात होने लगा।

द्वितीय महायुद्ध तक (१६२६ से १६३६)

सन् १६२२ के उपरान्त इस उद्योग की प्रगति शिथिल पड़ गई। कृषि पदार्थों के मूल्य गिरने के कारण कृषकों की क्रयशक्ति क्षीण हो गई। फलस्वरूप सूती वस्त्रों की माँग में बहुत कमी हो गई। युद्धोत्तर काल में इस उद्योग के सम्मुख अति पूँजीकरण, योग्य प्रबन्धकों का अभाव, कुप्रबन्ध, प्राविधिक (techincal) विशेषज्ञों का अभाव, पुरानी मशीनें तथा कच्चे माल का दुरुपयोग आदि समस्याएँ उपस्थित हो गईं। इसी समय सूती मिलों में मजदूरों द्वारा लम्बी हड़तालें की गईं। इन समस्याओं के कारण यह उद्योग घोर संकट में फँस गया।

विवश होकर उद्योग ने सन् १६२५ में प्रशुल्क संरक्षण (tariff protection) की माँग की। फलस्वरूप सन् १६२६ में उद्योग की जाँच के लिए एक प्रशुल्क बोर्ड की स्थापना हुई। बोर्ड ने उद्योग को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। सिफारिश के अनुसार सन् १६२७ में भारतीय प्रशुल्क अधिनियम स्वीकृत हुआ। संरक्षण के फलस्वरूप उद्योग पुन धीरे धीरे प्रगति करने लगा। यह प्रगति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पहले सन् १६३६ तक होती रही। इस समय हमारे देश में ३१४ सूती मिलें थीं।

द्वितीय महायुद्ध एव पश्चात् (१६३६ से १६४७ तक)

सितम्बर सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध की घोषणा होने पर सूती वस्त्रों की माँग एकदम बढ़ने लगी। इसके विपरीत विदेशों से आने वाला कपड़ा लगभग बन्द हो गया। क्योंकि ब्रिटिश वस्त्र उद्योग युद्ध सम्बन्धी उत्पादन में व्यस्त हो गया तथा जापान से शत्रुता होने से भारत को मित्र देशों की सेना तथा उपभोक्ताओं की माँग की पूर्ति करने का एकाधिकार मिल गया। फलस्वरूप भारतीय सूती उद्योग को पुन: प्रगति

करने का अवसर प्राप्त हुआ। मिलों की संख्या तथा तकुओं एवं करघों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। फिर भी बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए पूरी उत्पादनशीलता से कार्य करना पड़ा। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप ३१ मार्च १९४४ के अन्त में सूत एवं कपड़े का उत्पादन क्रमश: १६८० मि० पौंड तथा ४८७०.६ मि० गज़ हो गया था, जो पिछले सब वर्षों से अधिक होते हुए भी भारत की सम्पूर्ण माँग का ५० प्रतिशत भाग पूरा कर सकता था।

माँग की अपेक्षा पूर्ति की मात्रा कम होने के कारण कपड़े के मूल्य दिन दूने रात चौगुने बढ़ते चले गये। सन् १९४२ से कपड़े की कीमतें बढ़ने लगीं थीं, जो सन् १९३९ की अपेक्षा चौगुनी थीं। इधर भारत से कपड़े का निर्यात बढ़ता जा रहा था और देशी माँग भी बढ़ रही थी। विवश होकर सरकार को कपड़े पर कन्ट्रोल लगाना पड़ा और साथ ही साथ उत्पादन एवं बिक्री पर भी सरकार को अपना नियन्त्रण रखना पड़ा। नियन्त्रण के हेतु सरकार ने समय-समय पर पाँच आदेश जारी किये, जो इस प्रकार थे—

(१) काटन क्लाथ एण्ड यार्न कन्ट्रोल आर्डर, जून सन् १९४३।
(२) काटन क्लाथ एण्ड यार्न कन्ट्रोल आर्डर सन् १९४५—संशोधित १९४७।
(३) कॉटन टैक्सटाइल इण्डस्ट्री (कन्ट्रोल ऑफ प्रोडक्शन) आर्डर सन् १९४५।
(४) काटन टैक्सटाइल इण्डस्ट्री (कन्ट्रोल ऑफ मूवमेन्ट) आर्डर सन् १९४६।
(५) कॉटन टैक्सटाइल इण्डस्ट्री (मैटीरियल एण्ड स्टोर्स) आर्डर सन् १९४६।

सन् १९४६ के अन्त में इन नियन्त्रणों के फलस्वरूप इस उद्योग की परिस्थिति में सुधार होने लगा और जनवरी सन् १९४७ से वस्त्र उद्योग से मूल्य नियन्त्रण हटा लिया गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् (१९४७-१९५९)

१५ अगस्त सन् १९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप सूती वस्त्र उद्योग को काफी क्षति हुई। विभाजन के परिणामस्वरूप इस उद्योग को कच्चे माल का अभाव हो गया, यहाँ तक कि पाकिस्तान इत्यादि देशों के कच्चे माल की पूर्ति पर भारतीय मिलों को निर्भर रहना पड़ा। सिंध तथा पश्चिमी पंजाब का क्षेत्र जिसमें ७५% मध्यम तथा लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने वाली उर्वरा भूमि तथा १४ मिलें पाकिस्तान को चली गईं। पाकिस्तान से रुई का आयात दुष्कर हो गया। दोनों देशों की सरकारों के बीच अनेक व्यापारिक समझौते हुए, परन्तु पाकिस्तान ने अपने वचनों का पालन नहीं किया। विवश होकर भारत सरकार ने मिश्र, अफ्रीका आदि देशों से व्यापारिक समझौते करके तथा देश में ही 'अधिक कपास उत्पादन आन्दोलन' द्वारा क्षति पूर्ति की।

१९४८-४९ में देश के आर्थिक और राजनैतिक वातावरण में कुछ सुव्यवस्था

आ जाने से सुधार के लक्षण प्रकट होने लगे। परन्तु दुर्भाग्यवश यह स्थिति फिर बिगड़ गई। सन् १९४९ में रुपये के अवमूल्यन और कोरिया के युद्ध के कारण कपास और मशीनें आदि फिर महँगी होने लगीं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६)

प्रथम योजना के प्रारम्भ के समय यह उद्योग अनेक समस्याओं से ग्रसित था। सन् १९५० ई० में कपास की अनियमितता व हड़तालों के कारण कच्चे माल और श्रम की कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई थीं। विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान में कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों के चले जाने से इस उद्योग की लगभग १० लाख कपास की गाँठों की वार्षिक कमी हो गई। इसके अतिरिक्त कुल ४०६ मिलों में से १५० मिलें अनार्थिक थीं जिनका आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन अत्यधिक आवश्यक था। परन्तु प्रथम योजना की प्रगति के साथ साथ वस्त्र उद्योग की भी प्रगति होने लगी।

प्रथम योजना में १९५५-५६ तक ४७०० मि० गज मिल कपड़े का और १७०१ मि० गज करघे के कपड़े का लक्ष्य रखा गया था, पर बड़े हर्ष की बात है कि इस योजना के बीतने ही के पूर्व वस्त्र उत्पादन लक्ष्य से आगे बढ़ गया। दिसम्बर १९५५ तक सरकार ने ८६ नई मिलों की स्थापना के लिए लाइसेंस (अनुज्ञा पत्र) दिये। कर्वे समिति तथा कानूनगो समिति की सिफारिशों के अनुसार योजनाकाल में हस्त करघा उद्योग को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। निर्यात बढ़ाने के लिए सरकार ने एक 'सूती वस्त्र निर्यात प्रवर्त्तक परिषद्' नियुक्त की जो कि वस्त्र निर्यात को हर प्रकार से प्रोत्साहित करती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-६१)

इस योजना के अन्तर्गत वस्त्र उत्पादन में सन् १९६०-६१ तक २४% वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। ३५०० मि० गज कपड़े का उत्पादन हस्त करघा उद्योग के लक्ष्य की सीमा है। इसके अतिरिक्त उद्योग को अपने वर्तमान निर्यात को कायम रखते हुए ३५० मि० गज अतिरिक्त मिल कपड़े का उत्पादन केवल निर्यात के लिए करना होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु १४६०० नये स्वचालित करघे लगाने की व्यवस्था है। योजना के अन्तर्गत मिल उद्योग और करघा उद्योग में समन्वय स्थापित करने पर विशेष जोर दिया गया है।

सरकार की नवीन सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति

वस्त्र उद्योग इस समय एक विकट संकट से गुजर रहा है। मिलों में बहुत-सा उत्पादित माल जमा हुआ है। ऐसा अनुमान है कि लगभग ४६ करोड़ रुपये से अधिक धन बेकार फँसा पड़ा है। बहुत सी मिलों ने या तो उत्पादन बिल्कुल बन्द कर

दिया है। अथवा कुछ कम कर दिया है। इन सूती मिलों की बिगड़ती हुई दशा को सुधारने के लिए सरकार ने जून सन् १९५८ में एक जांच समिति श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में नियुक्त की। समिति ने अपनी सिफारिशें इस प्रकार दी हैं :—

(१) उद्योग की प्रमुख कठिनाइयों को दूर करने के लिए विवेकीकरण और नवीनीकरण की योजनाओं को कार्यान्वित करना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) विपणन ज्ञान और शोध पर अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिए।

(३) बन्द मिलों को खोलने का तुरन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि बन्द होने का मुख्य कारण पुरानी मशीनें तथा मरम्मत आदि के प्रति उदासीनता है।

(४) एक ऐसे सलाहकार परिषद् का निर्माण होना चाहिए, जिसमें सभी हितों का प्रतिनिधित्व हो और जो समय समय पर टेक्सटाइल कमिश्नर को आवश्यक सलाह दे सके।

सरकार ने उपरोक्त सिफारिशों को आंशिक रूप से मान लिया है। उद्योग की सहायता के लिए उत्पादन उप कर (excise duty) और निर्यात उप कर में कमी कर दी गई है।

सरकार की नवीन सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत इस बात का प्रयास किया गया है कि मिलों द्वारा ३५·२ करोड़ गज, विद्युत द्वारा चालित करघों द्वारा २०·१ करोड़ गज और हस्त करघा द्वारा १०० करोड़ गज अतिरिक्त कपड़ा बनाया जाना चाहिए। इस नीति की मूल शर्तें इस प्रकार हैं—

(१) नये तकुओं (spindles) के चलाने के लाइसेंस (अनुज्ञापत्र) केवल उन्हीं को दिये जायें जो उन्हें शीघ्र चालू कर सकें, जिससे बढ़ती हुई माँग की पूर्ति आसानी से हो जाय।

(२) सूती वस्त्र मिलों को १४६०० करघा को लगाने की अनुमति केवल इसलिए दी गई है जिससे उनका समस्त उत्पादन, जो लगभग ३५ करोड़ गज होगा, प्रति वर्ष निर्यात कर दिया जायगा।

(३) ३५,००० विद्युत चालित करघे सहकारी समितियों द्वारा लगाये जायेंगे।

(४) अम्बर चरखों को इस नीति के अन्तर्गत विशेष महत्व दिया गया है।

उद्योग की वर्तमान स्थिति

१९५८ के आरम्भ में देश में ४७० सूती वस्त्र मिलें थीं जिनमें १,३०,५०,००० तकुओं तथा २,०१,००० करघों पर काम हो रहा था। १९५८ में १·६८ अरब पौण्ड सूत तथा ४ अरब ६२ करोड़ ७० लाख गज वस्त्र का उत्पादन हुआ।

१९५९ के प्रारम्भ में इन मिलों की संख्या बढ़ कर ४८२ हो गई, इनमें १·२० अरब रुपये का विनियोग हुआ था तथा ६ लाख मजदूर काम कर रहे थे।

विगत कुछ वर्षों से सूत और सूती कपड़े का उत्पादन इस प्रकार था—

सूती वस्त्र उद्योग का उत्पादन[1]

वर्ष	सूत (लाख पौंड)	सूती कपड़ा (लाख गज)
१९५१	११,०४४	४०,७६४
१९५२	१४,४९६	४५,९८४
१९५३	,१५,०६०	४८,७८०
१९५४	१५,६१२	४९,९८०
१९५५	१६,३०८	५०,९४०
१९५६	१६,७१६	५३,०७६
१९५७	१७,८०१	५३,१७४
१९५८	१६,८५३	४९,२९९
१९५९	१७,२२८	४९,२५४
१९६० (फरवरी तक)	१८२१	८,२०६

दिसम्बर १९५८ में लोक सभा में कुछ संसद के सदस्यों ने सूती वस्त्र उद्योग की वर्तमान दयनीय स्थिति और विशेष रूप से गिरते हुए निर्यातों की ओर चिन्ता व्यक्त की। इसी दौरान में उद्योगमंत्री श्री मनु भाई शाह ने बताया कि पिछले कुछ वर्षों से अनार्थिक तथा सीमान्त कुशलता के कारण ३६ सूती मिलें पूर्णरूपेण और १२ मिलें आंशिक रूप से बन्द हैं, जिसके फलस्वरूप ४०,००० श्रमिक बेकार हो गये हैं। अत उन्होंने एक योजना घोषित की जिसके अनुसार तीन वर्ष तक (१९६१) प्रति वर्ष २५०० स्वचालित करघे लगाये जायेंगे। उन्होंने यह भी बताया कि I N T.U.C., A I T U C, तथा हिन्द मजदूर सभा के श्रमिक नेताओं ने भी इस योजना को स्वीकार कर लिया है।

गत मई १९५९ में केन्द्रीय सरकार ने प्रति वर्ष, तीन साल तक २,५०० स्वचालित करघे स्थापित करने की स्वीकृति दी थी। इसके अतिरिक्त मिलों की सम्पूर्ण मिलों को ३००० अतिरिक्त स्वचालित करघे लगाने की अनुमति इस शर्त पर दी जायगी कि उनसे किये गये उत्पादन का शत प्रतिशत और उससे पूर्व १९५४, १९५५ और १९५६ में से किसी एक वर्ष का आधा उत्पादन भी निर्यात-व्यापार में वृद्धि के हेतु, विदेशों में लगी आधुनिक मशीनों के स्तर पर लाने के लिए ४०० से ५०० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी, इसके लिए आवश्यक वित्तीय साधनों की पूर्ति दो तरीकों से हो सकती है : या तो उद्योग स्वयं अपने वार्षिक अतिरेकों (surpluses) में से वित्त

[1]उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई १९६० ।

व्यवस्था करे या राष्ट्रीय उद्योग विकास परिषद्, औद्योगिक वित्त निगम (I F C) आदि उद्योगों को नई मशीनें लगाने के लिए वित्तीय साधन उपलब्ध करें। सम्भवत. इन दोनों तरीकों का एक सम्मिश्रण सर्वोत्तम होगा।

१ जनवरी, १९५६ से १५ अगस्त, १९५६ तक राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने १२ सूती कपड़ा कारखानों को ३ करोड़ ४२ लाख ६४ हजार रुपये का ऋण दिया। १९५८ में १३ सूती कारखाना को २ करोड़ ५० लाख ६० हजार रुपये और १९५७ में ४ कारखानों को १ करोड़ २० लाख ७० हजार रुपये का ऋण दिया गया।[1] अभी हाल ही में सूती वस्त्र उद्योग का आधुनीकरण करने के उपायों और समस्याओं का अध्ययन करने एवं अपने सुझावों को प्रस्तुत करने के लिए निगम (N. I. D. C.) द्वारा एक कार्यवाहक दल (working group) की स्थापना की गई है। इस दल के चेयरमैन श्री डी० एस० जोशी टैक्सटाइल कमिश्नर हैं। यह दल अपना कार्य ३० नवम्बर, १९५६ तक समाप्त कर चुका है।

सूती वस्त्र उद्योग का वितरण (Distribution of Cotton Textile Industry)

सूती वस्तुओं का उत्पादन करने वाले प्रमुख राज्य बम्बई, बंगाल, मद्रास तथा



चित्र १६

उत्तर प्रदेश हैं। मिल द्वारा बनी वस्तुओं में ८०% भाग सूत और बुनी हुई वस्तुओं

[1] उद्योग व्यापार पत्रिका, अक्तूबर १९५६, पृष्ठ ३१२।

का होना है। जिस प्रकार से बिहार और उत्तर प्रदेश चीनी उद्योग के लिए, पश्चिमी बंगाल जूट उद्योग के लिए, पंजाब ऊनी वस्त्र उद्योग के लिए, केरल चाय बागानों के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार बम्बई सूती वस्त्र उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर देश की सबसे अधिक सूती मिल, सबसे अधिक तकुएँ (spindles) (५५%) तथा सबसे अधिक करघे (२/३) हैं। राज्यों के पुनर्गठन के पश्चात् बम्बई में १७४ पूर्ण (composite) मिलें तथा २२ सूत कातने वाली मिलें हैं। यहाँ पर सम्पूर्ण देश में निर्मित कपड़े का ६८% तथा सूत का ५३% भाग निर्मित होता है।

उद्योग की वर्तमान समस्याएँ

(१) विवेकीकरण की समस्या—वस्त्र उद्योग के सम्मुख विवेकीकरण के अपनाने की समस्या है। योजना आयोग के अनुसार १५० अकुशल इकाइयाँ हैं तथा काटन टैक्सटाइल इनक्वायरी कमेटी (१९५८) की रिपोर्ट के अनुसार सूती मिलों के बन्द होने का कारण विवेकीकरण का न अपनाया जाना है।

(२) आधुनीकरण की समस्या—सूती मिलों में लगी हुई मशीनें ४० वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है।

(३) कच्ची रुई के अभाव की समस्या—भारत के विभाजन के पश्चात् देश की रुई का अभाव हो गया है। फलस्वरूप मिस्र, अफ्रीका, अमेरिका तथा पाकिस्तान से ऊँचे दामों पर मगानी पड़ती है।

(४) उद्योग के लिए आवश्यक यंत्रों का निर्माण—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुछ उद्योगपतियों ने इस कार्य का शुभारम्भ किया है पर स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं है।

(५) विदेशी प्रतियोगिता—जापान और अमेरिका हमारे वस्त्र उद्योग के प्रमुख प्रतियोगी हैं क्योंकि युद्धोपरान्त सभी देशों ने अपना औद्योगिक पुनर्गठन एवं पुनर्निर्माण कर लिया है।

(६) मिलों एवं हस्त करघों में समन्वय स्थापित करना—आज मिलों और हस्त करघों में प्रतिस्पर्धा की भावना आ गई है और यदि यह भावना बनी रही तो निश्चय ही देश का कल्याण न हो सकेगा।

(७) अनार्थिक इकाइयों की समस्या—पूँजी के अभाव, कुप्रबन्ध तथा कच्चे माल के अभाव, के फलस्वरूप १५० अनार्थिक इकाइयाँ बताई गई हैं जिनमें ८० लगभग सीमान्त कुशलता पर चल रही थीं तथा २५ इकाइयाँ बन्द हो चुकी थीं, ३५ घाटे पर चल रही थीं।

(८) उत्पादन उपकरों का भार—भारत में वस्त्रों पर कर की दर ११½% से लेकर ३६% तक है जो बहुत ही अधिक है।

नामक स्थान से आयात किया था। २ वर्ष तक तो इस मिल ने जूट की कताई का कार्य किया किन्तु १८५७ ई० में हाथ करघा भी लगा दिया गया, जिससे इस मिल में बोरे भी बनने लगे।

४ वर्ष पश्चात् सन् १८५६ में जार्ज हैण्डरसन ने 'बोर्नियो कम्पनी' नामक दूसरी जूट मिल की स्थापना की जिसने कताई और बुनाई दोनों कार्यों को प्रारम्भ से ही अपनाया। शक्ति का प्रयोग होने से इस मिल ने ५ वर्षों में ही अपनी क्षमता दुगनी कर ली और १३ वर्षों में अपनी पूँजी के दुगुने से अधिक लाभ कमाया। १८६० में दो और नई मिलें खुलीं। धीरे धीरे बहुत-सी नई मिलें खुलती रहीं और १९१३ १४ तक कुल मिलों की संख्या ६४ हो गई जिन्होंने ४२ ७४ लाख जूट की गाँठों की खपत की थी और २८ २७ करोड़ रुपये का माल बाहर भेजा था। इस समय तक जूट मिलों के प्रबन्ध, आकार, विस्तार तथा मशीनों में सुधार हुआ।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१९१४ ३९ तक)

१९१४ में प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने से इस उद्योग के विकास को काफी प्रोत्साहन मिला और युद्ध काल में अप्रत्याशित समृद्धि हुई। इस प्रकार यह महायुद्ध इस उद्योग के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। युद्ध जनित आवश्यकताओं के कारण जूट की माँग निरन्तर बढ़ती ही गई। फलस्वरूप उद्योग का भी विकास होता गया। और बोरों, कपड़ों तथा रस्सियों की माँग बढ़ती गई और दूसरी ओर विदेशों से आवश्यक मशीनों के आयात में रुकावट पड़ गई। सरकारी माँगों की शीघ्र पूर्ति सम्भव करने के लिए फैक्ट्री एक्ट के प्रावधानों को स्थगित कर दिया गया और बाद में कच्चे जूट का निर्यात बिना लाइसेंस के बन्द कर दिया गया। जर्मनी के रूस पर आक्रमण से रूसी सन की पूर्ति अन्य देशों के लिए बन्द हो गई। फलस्वरूप जूट कारखानों को काफी लाभ हुआ। कारखानों के शुद्ध लाभ १९१५ में ५८%, १९१६ में ७५%, १९१७ में ४९% और १९१८ में ७२% थे। मालिकों ने संचित कोषों तथा विभाजित कोषों में भलीभाँति धन का प्रावधान किया।

युद्ध के समाप्त होते ही मंदी का झोंका आया और उद्योग पुन संकट में फँस गया। युद्ध जन्य माँग युद्ध की समाप्ति के साथ ही लुप्त हो गई। कच्चे जूट की कीमतें तथा श्रम-व्यय बढ़ने लगा। युद्ध काल में अर्जित लाभ नये कारखानों की स्थापना तथा पुराने कारखानों का विस्तार हुआ। अति पूँजीकरण (over capitalisation) भी युद्धकाल की एक विशेषता थी। १९१९ २० में कोयले का भी अभाव हो गया। १९२० से विश्वव्यापी मंदी का प्रभाव प्रारम्भ हो गया था। इन सब कारणों से उद्योग संकटग्रस्त हो गया। इस संकट से बचने के लिए सभी जूट मिलों ने निश्चय किया कि अब भविष्य में कुछ समय तक के लिए विस्तार रोक देना चाहिये। काम के घंटे कम

कर दिये गये तथा जूट से करघे सील कर दिये गये। १६१६ से १६२६ तक जूट मिल एसोसियेशन की सदस्य मिलों ने सप्ताह में केवल ४ दिन ही काम किया।

उल्लेखनीय बात तो यह है कि विश्वव्यापी आर्थिक-मंदी की अपेक्षाकृत भी जूट मिल उद्योग में अधिक हानि नहीं हुई। जूट उद्योग पहले से ही सुसगठित एवं सुदृढ़ थी। प्रबन्धकों की दूरदर्शिता तथा कुशलता, अच्छे सगठन व सहकारिता की भावना के कारण उद्योग युद्धोपरान्त मन्दी के आघातों को सहन कर सका। इतना ही नहीं, बल्कि इसने अपनी स्थिति को और ठोस कर लिया। प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उद्योग की काफी उन्नति हुई और भारतीय निर्यातों में जूट की वस्तुओं का स्थान बना रहा। १६१४ १५ और १६२६ ३० में मिलों की सख्या ७० से ६८, करघों की सख्या ३८,३७८ से ५३,६०० और तकुओं की सख्या ७,६५,५२८ से ११,४०,४३५ हो गई। डा० बुकेनन के अनुसार मिलों ने १६१५ २४ के बीच प्रति वर्ष ६०% का लाभ कमाया और शायद ही ससार में कारखानों के किसी समूह ने इतना लाभ कमाया था।

१६२६ के बाद विश्वव्यापी मदी ने उद्योग को अवश्य काफी हानि पहुचाई। कृषि की पैदावार के मूल्यों में मदी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम हुआ और बोरों की माँग घट गई। उधर इस वर्ष जूट का उत्पादन काफी बढ़ जाने के कारण जूट मिलों में अपने स्टाक को समाप्त करने के लिये काम करने के घटे ५६ से ६० प्रति सप्ताह कर दिये। इसके फलस्वरूप मिलों के स्टाक में और भी अधिक वृद्धि हुई और निर्मित वस्तुओं के दाम और भी गिर गये। अत 'जूट मिल सघ' ने इन मिलों के काम के घटों की सख्या १६३१ में ६० से ४० प्रति सप्ताह कर दी और १५% करघों को सील बन्द कर दिया गया। यह निर्णय १६३८ ई० तक चलता रहा। परन्तु फिर भी परिस्थिति में कोई सुधार न हुआ।

द्वितीय महायुद्ध तथा उसके उपरान्त

३ सितम्बर १६३६ से द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने से उद्योग को पुन विकास करने का अवसर प्राप्त हुआ। युद्ध काल में दिनोत्तर भाग में वृद्धि होने के कारण कच्चे जूट एव जूट द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि होती गई। भारत सरकार ने युद्ध की आवश्यकताओं के लिए बोरे, टाट, व अन्य जूट की वस्तुओं के लिए भारी मात्रा में आर्डर दिये। विदेशों की भी जूट की माग बढ़ गई। अत मदीकाल में लगाये गये सभी प्रतिबन्धों को हटा दिया गया और अब मिलें ६० घटे प्रति सप्ताह कार्य करने लगीं। एक विशेष कानून के द्वारा सरकार ने 'कारखाना अधिनियम' को जूट उद्योग के सम्बन्ध में स्थगित कर दिया। इन सब परिस्थितियों के फलस्वरूप जूट उद्योग पुन अपनी पूरी क्षमता से उत्पादन करने लगा तथा उसके उत्पादन में एकदम वृद्धि हो गई।

अगस्त, सन् १९४० में जूट की वस्तुओं की माँग एकदम कम हो गई, फलतः काम करने के घंटों को पुनः घटाकर सप्ताह में ४५ ही करना पड़ा; किन्तु यह परिस्थिति अधिक दिन तक नहीं रही। सन् १९४२ ई० में इसने अपने काम के घंटों को पुनः ५४ प्रति सप्ताह कर दिया। १९४२ के पश्चात् उद्योग को दो प्रतिकूल घटनाओं का सामना करना पड़ा—(१) कोयला एवं विद्युत की कमी तथा यातायात की असुविधाएँ और (२) सन् १९४३ का बंगाल का भीषण दुर्भिक्ष। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने निर्णय किया कि एक सप्ताह तक काम बन्द रखा जाय।

युद्धोपरान्त स्वभावतः यह उद्योग संतोषजनक स्थिति में नहीं था। यह स्थिति आगामी ३ वर्षों तक चलती रही। वास्तव में देखा जाय तो यह उद्योग ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में केवल अपने मजबूत सङ्गठन एवं अनुभवी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कारण ही जीवित रह सका।

स्वतन्त्रता के पश्चात्

१५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हो जाने के फलस्वरूप इस उद्योग को काफी क्षति पहुँची क्योंकि जूट का उत्पादन करने वाले क्षेत्र का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया और जूट निर्माण की सभी मिलें भारतवर्ष में रह गईं। जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का ७१% भाग जिसमें कुल जूट उत्पादन का ७२% होता था पाकिस्तान में चला गया और सब मिलें—११३—भारतवर्ष में रह गईं। फलस्वरूप इन मिलों के लिए कच्चे जूट का नितान्त अभाव हो गया।

कच्चे जूट की पूर्ति करने के लिए सरकार ने ३ कार्य किये—

(१) पाकिस्तान से कच्चे जूट के आयात के सम्बन्ध में समझौता;

(२) कच्चे जूट की खरीद के लिए अधिकतम मूल्य; तथा

(३) देशी उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्न।

भारत सरकार ने पाकिस्तान की सरकार से कच्चे जूट के आयात के लिए अनेक समझौते किये। उदाहरणार्थ सन् १९४७, सन् १९४९ तथा सन् १९५० में क्रमशः ५०, ४०, तथा ७·२३ लाख गाठों का आयात होना था परन्तु पाकिस्तान ने अपनी धूर्ततापूर्ण क्रियाओं से अपने वचनों का पूर्णतः पालन नहीं किया। सितम्बर सन् १९४९ में भारतवर्ष ने अपने रुपये का अवमूल्यन किया परन्तु पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया इसके फलस्वरूप भारतीय १४४ रु० पाकिस्तान के १०० रुपये के बराबर हो गये। इसके फलस्वरूप एक समस्या और उठ खड़ी हुई और भारत को विवश होकर अपनी जूट सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आन्तरिक साधनों पर ही अवलम्बित होना पड़ा। इसके १ वर्ष पश्चात् कोरिया युद्ध भी छिड़ गया, पर भारत कच्चे माल की कमी के कारण अवसर का पूर्ण लाभ न उठा सका। सन् १९५१ में सन् १९४९ की अपेक्षा उत्पादन केवल ८०% ही रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

इस योजना में जूट और जूट की वस्तुओं के उत्पादन का लक्ष्य १२ लाख टन रखा गया था। योजना काल में जूट उद्योग के विकास के लिए, नवीन मिलों की स्थापना के लिए अथवा वर्तमान मिलों के विस्तार के लिए कोई योजना नहीं बनाई गई, वरन् वर्तमान मिलों की स्थिति को ही ठोस एवं मजबूत बनाने का निश्चय किया गया। जूट की कमी होने के कारण तथा वर्तमान मिलों की अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता के कारण केवल वर्तमान उत्पादन क्षमता (१२ लाख टन) को ही बनाये रखने का ही लक्ष्य रखा गया। मुख्यतः निर्यातकर्ता उद्योग होने के कारण जूट की वस्तुओं के निर्यात का लक्ष्य अवश्य रखा गया। १९५०-५१ में होने वाले ६,५०,००२ टनों के निर्यात को बढ़ाकर १९५५-५६ में १० लाख टन कर देने का लक्ष्य रखा गया। कच्चे जूट का अभाव दूर करने के लिए वर्तमान समय में उत्पन्न किये जाने वाले जूट को ३३ लाख गाँठों से बढ़ाकर ५१ लाख गाँठों का लक्ष्य रखा गया। इसके अतिरिक्त 'विमिली' और 'मेस्ता', जो कि जूट की पूर्ति में सहायक होंगे, के उत्पादन का लक्ष्य १० लाख गाँठें रखा गया।

योजना काल में उपरोक्त लक्ष्यों को लगभग प्राप्त कर लिया गया। किसी भी नई मिल की स्थापना के लिए आज्ञा नहीं दी गई। हाँ, आसाम की राज्य सरकार के कहने पर एक जूट मिल (आसाम जूट मिल्स, गोहाटी) जिसकी उत्पादन क्षमता ३०० करघे थी, की स्थापना के लिए आज्ञा दी गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना में भी जूट की वस्तुओं के उत्पादन का लक्ष्य केवल १२ लाख टन वार्षिक ही रखा गया है क्योंकि इस काल के अन्तर्गत जूट की वस्तुओं की माँग का अनुमान इतना ही लगाया गया है। इस योजना के अन्तर्गत केवल आसाम जूट मिल्स गोहाटी, जिसकी स्थापना के लिए प्रथम योजना में आज्ञा दी गई थी, का ही केवल निर्माण हुआ। इस मिल की स्थापना में १५ करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान है। इस मिल की स्थापना के अतिरिक्त न तो कोई नई मिल स्थापित की जायगी और न वर्तमान मिलों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि की जायगी। कच्चे जूट के उत्पादन में २५% वृद्धि का लक्ष्य अवश्य रखा गया है अर्थात् १९६०-६१ तक कच्चे जूट का उत्पादन ५० लाख गाँठें हो जायगा। संक्षेप में द्वितीय योजना में जूट उद्योग के सम्बन्ध में निर्धारित लक्ष्य अगले पृष्ठ पर दिखाये गये हैं।

	इकाई	१९५५-५६	१९६०-६१
(१) वार्षिक उत्पादन क्षमता	,००० टन	१२००	१२००
(२) वास्तविक उत्पादन	" "	११५०	१२००
(३) निर्यात	" "	८७५	९००
(४) कच्चा माल	लाख गाँठें	४१	५०

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इस योजना के अन्तर्गत जूट के उत्पादन का लक्ष्य १३'५ टन रखा गया है। इस प्रकार १९६६ तक जूट के उत्पादन में १५ लाख टन की वृद्धि हो जायगी। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजना काल में ५० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे।

जूट उद्योग का वितरण (Distribution of Jute Industry)

भारत का जूट उद्योग संसार में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संसार के कुल



चित्र १७

जूट करघों का ५३% भाग भारतवर्ष में है। इसके पश्चात् संयुक्त राज्य (U. K.)

और फ्रास का स्थान है जहाँ क्रमश ८२% तथा ६४% करघे हैं। इस समय भारतवर्ष में ११३ जूट मिलें हैं, जिनमें ६६ ८ करोड़ रुपये की पूँजी तथा ७२,७८३ करघे लगे हुए हैं। इन मिलों का वितरण इस प्रकार है—

क्षेत्र	मिलों की सख्या
पश्चिमी बगाल	१०१
आन्ध्र प्रदेश	४
उत्तर प्रदेश	३
बिहार	३
उड़ीसा	१
देहली	१
कुल	११३

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देश में अधिकाश जूट मिलें पश्चिमी बगाल क्षेत्र में ही हैं। पश्चिमी बगाल में भी ये मिलें कलकत्ते के आसपास हुगली नदी के किनारे ६० मील लम्बी और दो मील चौड़ी पट्टी म केन्द्रित हैं।

पश्चिमी बगाल में केन्द्रीयकरण के कारण—जूट उद्योग क ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि बगाल म जूट मिलों के केन्द्रित होने के लिए उत्तरदायी कारण निम्नाकित थे —

(१) कच्चे माल की उपलब्धता—देश में अधिकाश कच्चा जूट बगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश म पाया जाता है, और जूट सस्ता होने के कारण निर्माणी मिलों को अपनी ओर ही आकर्षित कर लेता है।

(२) *जल यातायात की सुविधा*—बगाल क्षेत्र म विशाल हुगली नदी तथा अन्य छोटी छोटी नदियों क कारण आन्तरिक जल मार्गों का जाल सा बिछा हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्नत रेल यातायात का भी लाभ प्राप्त होता है।

(३) सस्ती शक्ति (कोयले) की उपलब्धता—रानीगज तथा आसनसोल के कोयला क्षेत्र कलकत्ते से केवल १२३ मील की दूरी पर स्थित हैं। अत यहाँ से कोयला सस्ती दर पर सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

(४) सस्ती एव प्रचुर श्रमशक्ति—बगाल तथा उसके पड़ोसी प्रदेश जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा काफी घने बसे हैं। अत इन क्षेत्रों से श्रमिकों को काफी सख्या म सस्ती दर पर प्राप्त किया जा सकता है।

(५) कलकत्ता बन्दरगाह का निकट होना—निकट ही में कलकत्ता बन्दरगाह होने के कारण निर्मित जूट की वस्तुओं को निर्यात करने में तथा विदेशों से आवश्यक मशीनों को आयात करने में बहुत सुविधा है।

(६) प्रारम्भिक विकास का लाभ—उपरोक्त लाभों को देखते हुए स्कॉटलैंड में डंडी के एक जूट उद्योगपति ने श्री जॉर्ज आकलैंड को सलाह दी कि वे स्कॉटलैंड से मशीनें ले जाकर बंगाल में जूट मिल खोलें। फलस्वरूप जॉर्ज आकलैंड ने डंडी से मशीनें लाकर श्रीरामपुर के निकट 'रिशरा' नामक स्थान पर एक जूट मिल का स्थापन किया। शनैः शनैः विदेशी पूँजी आकर्षित होती रही और बंगाल क्षेत्र में अनेक मिलें स्थापित हो गईं।

विपणन (marketing) सम्बन्धी सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए कुछ जूट मिलें आन्ध्र प्रदेश, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में भी स्थापित हो गई हैं। उत्तर प्रदेश में तीन मिलें हैं जिनमें से २ कानपुर में और एक सहजनवा में है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में नई जूट मिलों की स्थापना तथा विस्तार के लिए अनुमति नहीं दी गई। केवल एक जूट मिल (असम जूट मिल) स्थापित की गई है।

वर्तमान स्थिति

प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर अब तक जूट की वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार हुआ है*—

वर्ष	उत्पादन '००० टन
१९५१	८७४·८
१९५२	९५१·६
१९५३	८६८·८
१९५४	९२७·१
१९५५	१०२७·२
१९५६	१०६३·२
१९५७	१०२९·६
१९५८	१०६२·०
१९५९	१०५१·२

उपरोक्त आँकड़ों के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि जूट का उत्पादन वर्ष प्रति वर्ष बढ़ता ही चला जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि दस साल बाद भारत

*उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई, १९६०।

फिर जूट का निर्यात करने लगा है। ४ अप्रैल, १९५६ को कलकत्ता बन्दरगाह से १,००० गाँठों की पहली खेप विदेश को रवाना की गई।

१९५८ में जूट मिल उद्योग ने अपने १२½% करघे मोहरबन्द रखकर काम किया। फिर भी जनवरी-सितम्बर १९५८ की अवधि में, १९५७ की इसी अवधि की तुलना में भारतीय जूट मिल संघ की सदस्य मिलों में कुछ अधिक ही उत्पादन ८,०६,२०० टन हुआ जब कि जनवरी सितम्बर, १९५७ में यह ७,६१,७०० टन हुआ था।

जूट उद्योग की समस्याएँ

(१) कच्चे जूट का अभाव—आज भारत ८०% कच्चे जूट का उत्पादन करता है फिर भी अपनी आवश्यकता के २०% के लिए पाकिस्तान का मुँह ताकना पड़ता है।

(२) विवेकीकरण के अपनाए जाने की समस्या—इस उद्योग को तीव्र गति से विवेकीकरण अपनाना चाहिये क्योंकि—

(अ) जूट उद्योग मुख्यतः निर्यातकर्ता उद्योग है।
(ब) विदेशी मुद्रा का अधिकांश भाग उपार्जित किया जाता है।
(स) वर्तमान मशीनें पुरानी एवं जीर्ण शीर्ण हैं।
(द) अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा करने योग्य बनाना।

विवेकीकरण योजना के सम्मुख समस्याएँ

(१) ४०,००० व्यक्तियों का बेरोजगार होना,
(२) ४० ४५ करोड़ रुपये का विनियोग, तथा
(३) जूट की गिरती हुई माँग।

स्मरणीय तत्व

१ प्रथम जूट मिल—	सन् १८५४ में जॉर्ज ऑकलैंड द्वारा 'रिशड़ा' में (कलकत्ता के पास) स्थापित की गई।
२. कुल मिलों की संख्या —	११३ जूट मिलें
३. पूँजी का विनियोग —	६६·८ करोड़ रुपये
४. कर्मचारियों की संख्या—	३,१०,००० से अधिक
५. वार्षिक उत्पादन —	१३० करोड़ रुपये वार्षिक से अधिक, जो अधिकतर निर्यात कर दिया जाता है और १२० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।
६. योजनाओं में लक्ष्य —	प्रथम योजना—१·२ मि० टन द्वितीय योजना—१·२ मि० टन तृतीय योजना—१·३५ ,, ,,
७. उद्योग का वितरण —	पश्चिमी बङ्गाल—१०१ मिलें आन्ध्र प्रदेश—४ मिलें उत्तर प्रदेश तथा बिहार—६ मिलें उड़ीसा तथा दिल्ली—२ मिलें

लोह एव इस्पात् उद्योग

(Iron and Steel Industry)

लोह एव इस्पात् आधुनिक भौतिक सभ्यता के ढाँचे की रीढ़ है। आधुनिक सभ्यता के लिए लोहा एव इस्पात्, हवा और पानी से भी अधिक उपयोगी है। नित्य प्रति जीवन की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो या तो लोहे से न बनती हो अथवा लोहे के किसी औजार से न बनती हो। कवि बैरन ने तो यहाँ तक कहा है कि "सोना महल की रानी के लिए आवश्यक है, चाँदी महल की दासी के लिए और ताँबा एक साधारण कारीगर के लिए, परन्तु लोहा इन सभी धातुओं का स्वामी है।" इस कथन की पुष्टि ब्रिटिश अर्थशास्त्री जैवेन्स के शब्दों से भी होती है। उनके अनुसार "आधुनिक युग के यान्त्रिक आविष्कार, मुख्यतः यान्त्रिक श्रम की देन हैं, जिनमें वाष्प प्रेरक शक्ति तथा लोहा उनकी आधारशिला एव केन्द्रीय शक्ति है।"[1]

नि सन्देह आधारभूत उद्योगों में सबसे महत्वपूर्ण उद्योग लोह एव इस्पात् ही है। यह न केवल औद्योगिक ढाचे की आधारशिला है, बल्कि आधुनिक युग के प्रत्येक चेत्र की आधारशिला है। औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय सुरक्षा, व्यापार, यातायात एव उन्माद वाहन, वैज्ञानिक कृषि सभी का भविष्य इस उद्योग के भविष्य पर आधारित है। लोह एव इस्पात के साथ कोयल की उपलब्धता सोने में सुहागे के समान है। इस उद्योग का महत्व राजनैतिक एव सामरिक दृष्टि से भी कम नहीं है। लार्ड केन्स ने कहा है कि "जर्मन साम्राज्य की नींव खून और लोहे पर नहीं, बल्कि कोयले और लोहे पर पड़ी थी।"[2] इतना ही नहीं संसार में आणविक युग भले ही आ जाय, परन्तु फिर भी लोह एव इस्पात की महत्ता यथावत् ही बनी रहगी।

प्रत्येक देश का औद्योगिक महत्व उसके इस्पात उत्पादन से प्रगट होता है। इस दृष्टिकोण से अमेरिका संसार म अग्रगण्य है। यहाँ पर इस्पात का उत्पादन लगभग १० करोड़ टन प्रति वर्ष है। इसके बाद सोवियत रूस का स्थान है, यहाँ पर ४॥ करोड़ टन इस्पात पैदा होता है। इसके बाद ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस आते हैं जहाँ पर क्रमशः १८० लाख टन, १७० लाख टन और १०० लाख टन इस्पात पैदा होता है। छोटे-छोटे से देश जैसे जापान, लुक्जम्बर्ग और सार जैसे देशों म भी क्रमशः ५० लाख टन, ३० लाख टन तथा ३० लाख टन इस्पात तैयार किया जाता है। परन्तु खेद का विषय है

1 "The mechanical contrivances of the present age are mainly due to the completion of a system of machine labour, in which steam is the motive power, and iron the fulcrum and the lever."—*Jevons*

2 "Not on blood and iron but on coal and iron was the German Empire founded"—*Lord Keynes.*

कि भारत केवल १२ लाख टन ही प्रति वर्ष उत्पन्न कर पाता है। इस उत्पादन को बढ़ाने के लिए पचवर्षीय योजनाओं में वृहत् आयोजन किये गये हैं।

भारत सरकार द्वारा १९५४ म की गई, 'भारतीय उद्योग गणना' के अनुसार देश म उस समय लौह एव इस्पात क १२६ बड़े तथा छोटे कारखाने थे। इनम कुल पूँजी का विनियोग ७० १६ करोड रुपये था, जिसम से ३५.६ करोड रुपये स्थाई पूँजी और ३४ २६ करोड रुपये चालू पूँजी थी। लगभग ८५ हजार ६ सौ ३४ व्यक्ति काम कर रहे थे जिन्हें १८ १३ करोड रुपये वेतन व मजदूरी के रूप म दिये गये।

ऐतिहासिक मीमासा

लौह एव इस्पात क उत्पादन म भारतीय लोग अति प्राचीन काल से निपुण रहे हैं। प्राचीन भारत म लौह खनिज से इस्पात बनाने का कार्य छोटी छोटी लौहकारियों में किया जाता था। लगभग प्रत्येक गाव म यह कार्य होता था। ऋग्वेद जो कि ससार के पुस्तकालय म प्रथम पुस्तक मानी जाती है, म भी लोह के अस्त्र शस्त्र बनाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा से ३००० वष पूर्व भारत में लोहा पिघलाया जाता था और इस्पात के प्रसिद्ध दमिश्क छुरे का निर्माण भारतीय इस्पात से ही होता था। रानाडे के अनुसार भारतीय लौह उद्योग केवल देश की मागों को ही पूरा नहा करता था बल्कि विदेशों म भी अपने माल को निर्यात करता था।

लौह एव इस्पात की वस्तुओ के गुण की ख्याति विश्वव्यापी थी। दिल्ली का प्रसिद्ध लौह स्तम्भ जो कम से कम १५ सौ वष पुराना है हमारे पूर्वजों की कुशलता का प्रतीक है। श्री बाल के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण आज के बड़े-बड़े कारखानों म होना असम्भव है। असम म बड़ी से बड़ी तोपें बनाई जाती थीं और भारतीय इस्पात की विलायत म भी बड़ी माग थी।

आधुनिक प्रणालियों से लोहा बनाने का कार्य यहाँ तहाँ १९वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कुछ असफल प्रयत्न इसके पूर्व भी किये जा चुके थे। अध्ययन की सुविधा के अनुसार हम इस उद्योग क ऐतिहासिक विकास को पाच भागों म बाट सकते हैं —

(१) १९वी शताब्दी क अन्त तक,
(२) प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक (१९०१ १४),
(३) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक (१९१४ १९३९),
(४) स्वतन्त्रता के पूर्व तक (१९३९ १९४७), तथा
(५) स्वतन्त्रता के पश्चात् (१९४७ १९५९)।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक

सर्वप्रथम १७७७ म मेसर्स मोट्टी तथा फर्कुहार (Mottee and Fur-

quhar) ने झरिया मिल के पास लोहा बनाने का काम शुरू किया था, परन्तु दो वर्ष बाद वह बन्द हो गया। इसके पश्चात् सन् १८०८ में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की आज्ञा से मिस्टर डकन ने मद्रास में लोहे के साधनों की खोज की और एक छोटा-सा कारखाना खोला पर यह असफल रहा। तत्पश्चात् सन् १८२५ में मद्रास सिविल सर्विस के मिस्टर जोसियाह हीथ (Josiah Heath) ने मद्रास में एक कारखाना खोला, परन्तु यह भी असफल रहा। मिस्टर हीथ ने इस्तीफा देकर सन् १८३० में दक्षिणी आरकाट में पोर्टोनोवो नामक स्थान पर मद्रास सरकार की सहायता से कारखाना खोला परन्तु यह प्रयास भी असफल रहा।

उत्तर प्रदेश में कुमायूं में १८३७ में सरकारी तथा गैर सरकारी कम्पनियों ने व्यवसाय शुरू किया, पर ईंधन के अभाव में असफल रहे। बंगाल में जैसाप एण्ड कम्पनी ने बराकार में १८३६ में काम शुरू किया पर शीघ्र ही बन्द कर दिया। इस प्रकार १८७७ तक यह क्रम जारी रहा। १८७४ में झरिया कोयला खानों के निकट बराकार आइरन वर्क्स स्थापित किया गया जिसे १८८९ में 'बंगाल आइरन एण्ड स्टील कम्पनी' ने अपने हाथ में ले लिया। १९०० में ३५ हजार टन लोहा तथा इस्पात का उत्पादन हुआ।

महायुद्ध के पूर्व तक (१९०१ १९१४ तक)

१९०५ में 'बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' ने लोहे से इस्पात बनाना शुरू पर इसे ९२ लाख रुपये की हानि उठानी पड़ी। भाग्यवश इसी समय एक साहसी उद्योगपति, जिनका नाम जमशेद जी नसरवान जी टाटा था, भारत में एक शक्तिशाली लौह एवं इस्पात उद्योग को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने १९०२ में ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरिका का भ्रमण किया और वहां के लौह एवं इस्पात उद्योगों का अच्छी तरह से अध्ययन किया। वे अपने साथ कुछ विदेशी विशेषज्ञों को भी यहां लाये। उन्होंने १९०३ से १९०५ तक देश के भारी लौह क्षेत्र (साक्ची) को ढूँढ निकाला। पर दुर्भाग्यवश श्री टाटा अपने श्रम के पूर्ण होने के पहले ही १९०४ में परलोकवासी हो गये। १९०७ में श्री टाटा के नाम पर 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' की स्थापना हुई। पिट्सबर्ग की प्रसिद्ध इन्जीनियरिंग कम्पनी की सहायता से १९०८ में साक्ची (जमशेदपुर) नामक स्थान में कारखाना बनना शुरू हुआ जो १९१० में पूरा हो गया। १९११ से कच्चा लोहा और १९१३ में स्पात का उत्पादन प्रारम्भ हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक (१९१४ १९-८)

प्रथम महायुद्ध (१९१४ १९१८) इस उद्योग के लिए वरदान के रूप में सिद्ध हुआ। विदेशी प्रतिस्पर्द्धा लगभग समाप्त हो गई, आन्तरिक और विदेशी माग अत्यधिक

बढ़ गई और मूल्यों में भी आशातीत वृद्धि हुई। टाटा कम्पनी की अद्भुत तीव्र सफलता से प्रभावित होकर १६१८ में आसनसोल (बंगाल) के निकट हीरापुर में १० लाख पौंड की पूँजी के साथ 'इण्डियन आयरन एन्ड स्टील कम्पनी' खोली गई। १६२१ में मनोहरपुर में 'यूनाइटेड स्टील कारपोरेशन आफ एशिया', १६२३ में 'दी ईस्टर्न आयरन कम्पनी' और भद्रावती में 'मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स' (अब मैसूर आयरन एन्ड स्टील वर्क्स) की स्थापना हुई।

१६२४ से उद्योग के सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। एक तो विदेशी प्रतिस्पर्द्धा और दूसरी देश में मजदूरी और कोयले के मूल्य में वृद्धि हो जाने से उद्योग की भारी हानि हुई। बंगाल आयरन कम्पनी को तो अपनी क्रियाओं को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना पड़ा। भाग्यवश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया और उद्योग को संरक्षण प्रदान किया। संरक्षण के अन्तर्गत विदेशी आयात पर ४०% कर लगाया गया और आर्थिक सहायता भी दी गई। आरम्भ में यह सहायता ५० लाख रुपये वार्षिक थी, परन्तु विदेशी इस्पात का मूल्य गिरने से इस सहायता की धनराशि और बढ़ा दी गई, तथा संरक्षक-आयात कर भी बढ़ाये गये। इस सहायता से उद्योग तीव्र गति से विकास करता गया और आयातों की मात्रा में भी कमी हुई। समय-समय पर प्रशुल्क बोर्ड द्वारा इस उद्योग की जाँच होती रही और संरक्षण की अवधि बढ़ाई जाती रही। इस प्रकार १६४७ तक इस उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। १६४६ में उद्योग ने संरक्षण की पुनः माँग नहीं की, फलस्वरूप १६४७ से यह संरक्षण हटा लिया गया है।

स्वतन्त्रता के पूर्व तक (१६३६-४७)

सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से इस्पात की माँग एकदम बढ़ गई और आयातों में कमी हो गई। इस उद्योग को पुनः प्रगति करने का अवसर मिला। भारत ब्रिटिश साम्राज्य का शस्त्रशाला बन गया था और इस्पात के उत्पादन, वितरण, उपभोग तथा मूल्यों पर सरकार ने कठोर नियन्त्रण कर रखा था। १६३६ में ही 'स्टील कारपोरेशन ऑफ बंगाल' का जन्म इस बढ़ी हुई माँग का लाभ उठाने के लिए हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक नई-नई सहायक कम्पनियाँ भी स्थापित हुईं।

इस प्रकार युद्ध काल में कच्चे लोहे तथा इस्पात दोनों के उत्पादन में वृद्धि होती रही। सन् १६४१ में कच्चा लोहा २० लाख टन और १६४३ में इस्पात ११.३ लाख टन तक पहुँच गया। यह उत्पादन अब तक के उत्पादन में सर्वोच्च था किन्तु इसके उपरान्त ही उत्पादन गिरने लगा। माँग में कमी हो गई और उद्योग पुनः संकट ग्रस्त हो गया। १६४६ में सरकार ने एक आयरन एन्ड स्टील पैनल नियुक्त किया जिसने उत्पादन बढ़ाने के उपायों तथा उद्योग की स्थिति व उसके प्रति राजकीय कर्तव्य के

विषय में अपनी सिफारिशें कीं। पेनल ने देश की आवश्यकताओं को देखते हुए २५ लाख टन इस्पात प्रति वर्ष उत्पादित करने का लक्ष्य बताया और इसके लिए दो नये कारखाने स्थापित करने का सुझाव दिया। पेनल ने यह भी बताया था कि यदि निजी पूँजीपति अधिक उत्पादन में सहयोग नहीं देते हैं तो सरकार को स्वयं कारखाने स्थापित करने चाहिए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् (१६४७-६० तक)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् लौह एवं इस्पात उद्योग के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने अनुभव किया कि देश की औद्योगिक उन्नति बिना एक उन्नतिशील इस्पात उद्योग के सम्भव न हो सकेगी। चूंकि देश में पूँजी का अभाव था, अतः सरकार ने इस उद्योग को आर्थिक सहायता दी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—इस योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय सरकार ने लौह एवं इस्पात उद्योग की उन्नति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। सरकार का विचार था कि वह सन् १६५६ तक ३० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में खर्च करेगी और ४३ करोड़ रुपया निजी उद्योगपतियों को विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए देगा। देश में समाजवादी व्यवस्था के लक्ष्य को सामने रखते हुए योजना आयोग ने निश्चय किया है कि अब भारी तथा आधारभूत उद्योगों को सरकार ही खोले। फलस्वरूप सरकार ने इस ओर प्रयत्न भी कर दिया है। सन् १६५१ में जापान की एक कम्पनी का प्रस्ताव आया परन्तु काफी वाद विवाद के पश्चात् भी वह असफल रहा। १ अगस्त १६५३ को भारत सरकार और जर्मनी की दो प्रमुख कम्पनियों—डेमाग एण्ड क्रूप्स (Demag and Krups)—के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार उड़ीसा राज्य के रूरकेला नामक स्थान में एक लौह का कारखाना स्थापित किया गया है। इसके उपरान्त १६५४ में रूस की सरकार का भी प्रस्ताव आया, जिसे जनवरी १६५५ में सरकार ने स्वीकार कर लिया। यह दूसरा कारखाना मध्य प्रदेश के भिलाई नामक स्थान पर बनाया जा रहा है। अगस्त १६५५ में एक तीसरा प्रस्ताव 'ब्रिटिश इस्पात मिशन' का भी स्वीकार कर लिया गया है और तीसरा कारखाना पश्चिमी बंगाल में आसनसोल के निकट दुर्गापुर में स्थापित किया जा रहा है।

साथ ही साथ पुराने भारतीय लौह एवं इस्पात कारखानों का भी विस्तार हो रहा है। टाटा आयरन स्टील कम्पनी को १० करोड़ रुपये, स्टील कारपोरेशन आफ बङ्गाल को ३५ करोड़ रुपये विस्तार योजना के लिए स्वीकार किये गये हैं। इन सभी योजनाओं की संक्षेप में रूपरेखा अगले पृष्ठ पर दी गई है—

क्रम	नाम	उत्पादन शक्ति (लाख टन)
१	दि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	२०
२	दि इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	१३
३	दि मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	७
४	जर्मनी का कारखाना रूरकेला मे	१०
५	सोवियत रूस का कारखाना भिलाई मे	१०
६	ब्रिटिश कारखाना दुर्गापुर मे	१०

द्वितीय योजना—भारत की विकास योजनाओं के साथ ही साथ लौह एव इस्पात की माँग भी बढ़ने लगी। अत इस योजना के अन्तर्गत इस उद्योग को और भी अधिक महत्व दिया गया। सरकार ने ४३१ करोड़ रुपए इस उद्योग पर व्यय करने का निश्चय किया। सरकार ने यह भी निर्णय किया कि १९६०-६१ तक इस उद्योग की उत्पादन क्षमता ६० लाख टन हो जानी चाहिये।

इस उद्देश्य से द्वितीय योजना काल मे टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का उत्पादन ८ लाख टन से बढ़ाकर १५ लाख टन करने, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का उत्पादन ३ लाख टन से बढ़ाकर ८ लाख टन करने तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स का उत्पादन बढ़ाकर १ लाख टन इस्पात कर देने का लक्ष्य रक्खा गया है। इस प्रकार द्वितीय योजना मे तैयार इस्पात का उत्पादन बढ़ाकर चौगुना कर देने की योजना है।

प्रथम योजनाकाल मे जिन तीन इस्पात सयत्रो को स्थापित करने के समझौते, जो विभिन्न देशों से हुए थे, उन्हें द्वितीय योजना मे कार्यान्वित किया गया। जिनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

स्थान	पूँजी का विनियोग (अरब रु०)	कच्चा लोहा (लाख टन)	इस्पात पिंड (लाख टन)	पक्का इस्पात (लाख टन)	बिक्री हेतु कच्चा लोहा (लाख टन)
रूरकेला	१ ७०	६ ४५	१० ०	७ २०	३०
भिलाई	१ ३१	११ १०	१० ०	७ ७०	३ ००
दुर्गापुर	१ ३८	१२ ७५	१० ०	७ ६०	३५०

ये तीनों कारखाने लगभग बन चुके हैं। इन तीनों इस्पात संयत्रों के प्रबन्ध का दायित्व 'हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड' पर है, जो अब पूर्णत केन्द्रीय सरकार के स्वामित्व में है।

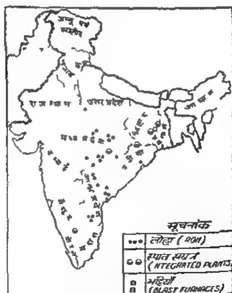
रूरकेला की प्रथम धमन भट्टी का कार्य ३ फरवरी १९५९ को, तथा भिलाई की धमन भट्टी का कार्य ४ फरवरी १९५९ को प्रारम्भ हो गया है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना में इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य १ करोड़ टन रक्खा गया है। द्वितीय योजना में इस्पात का लक्ष्य ६० लाख टन था। इस प्रकार तृतीय योजना में ४० लाख टन अतिरिक्त इस्पात का उत्पादन करना होगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजनाकाल में ८०० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे।

लौह एवं इस्पात उद्योग का वितरण

इस समय भारतवर्ष में ६ प्रमुख लौह एवं इस्पात के संयत्र हैं जिनमें से तीन पूर्व स्थापित तथा तीन नव निर्मित हैं। पूर्व स्थापित संयत्र 'टाटा आयरन एण्ड स्टील



चित्र १८

कम्पनी', 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी', तथा 'मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स' हैं। नवीन स्थापित संयत्र 'रूरकेला', 'भिलाई' तथा 'दुर्गापुर' हैं, जिनकी स्थापना

केन्द्रीय सरकार द्वारा द्वितीय योजना के अन्तर्गत की गई है। इन संयन्त्रों के वितरण एव स्थानीयकरण का विवरण इस प्रकार है —

टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी—यह कम्पनी, जो कि भारतवर्ष म सबसे बड़ी इस्पात निर्माणी इकाई है, साक्ची (जमशेदपुर) नामक स्थान म स्थापित है। आवश्यक कच्चा माल जैसे, कच्चा लोहा, कोयला, चूना तथा डालोमाइट साक्ची से थोड़ी ही दूर पर प्राप्त हो जाते हैं। यह कम्पनी कच्चा लोहा ३० से ५० मील की दूरी पर स्थापित गुरुमाहिसानी, नोआमुन्डी, बादम पहाड़ की खानों से प्राप्त करती है। जहाँ तक कोयले का सम्बन्ध है यह कम्पनी अपनी ही खानों से जो कि लगभग १०० मील की दूरी पर स्थापित हैं, प्राप्त करती है। चूना और डालोमाइट की पूर्ति पास वाले ही क्षेत्रों से हो जाती है। खोरकाइ तथा सुवर्णरेखा नदियों से आवश्यक जल की पूर्ति हो जाती है।

यह कम्पनी कलकत्ते से केवल १५२ मील की दूरी पर स्थित है जिससे इसे विपणन तथा निर्यात की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि यातायात, कच्चेमाल की प्राप्ति तथा विपणन की सुविधाओं की दृष्टि से यह कम्पनी सर्वश्रेष्ठ है।

इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी—यह कम्पनी आसनसोल के पास 'कुलटी' नामक स्थान पर स्थापित है। कुलटी कोयला खानों का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है। कच्चा लोहा 'नोटोबुरू' तथा 'बुदूबुरू' नामक पहाड़ियों की 'गुआ' खानों से प्राप्त किया जाता है। १६५३ म इस कम्पनी ने अपने पास म ही स्थापित 'स्टील कारपोरेशन आफ बगाल' का सविलियन (absorption) कर लिया है। चूना तथा डालोमाइट निवझा तथा रूरकला से प्राप्त किया जाता है। मैंगनीज तथा बारूद क्रमश मध्य प्रदेश तथा सिंहभूमि जिले से प्राप्त की जाती है।

मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स—यह कम्पनी मैसूर राज्य म 'भद्रावती' म स्थापित है। यह अपनी आवश्यकता के लिए कच्चा लोहा २६ मील दूर पर स्थित 'बाबा बुदान' पहाड़ियों से प्राप्त करती है। चूना केवल १३½ मील की दूरी पर ही प्राप्त हो जाता है। यह कम्पनी लोहे को गलाने के लिए कोयले के स्थान पर तारकोल का प्रयोग करती है। तारकोल के अभाव को दूर करने के लिए कम्पनी ने अभी हाल म एक विद्युत भट्टी का निर्माण किया है। इस कम्पनी को मद्रास और बम्बई के बन्दरगाहों के पास स्थापित होने के कारण अन्य इस्पात कम्पनियों की अपेक्षा म यातायात तथा दक्षिणी बाजारों का लाभ प्राप्त है।

रूरकेला इस्पात सयत्र—यह सयत्र कलकत्ते से २५७ मील की दूरी पर उड़ीसा प्रदेश के रूरकला नामक स्थान पर सरकार द्वारा स्थापित किया गया है। रूरकला हावड़ा बम्बई लाइन पर एक रेलवे स्टेशन है। सयत्र स्टेशन से

की दूरी पर स्थापित है। पास में ही 'कोइल' तथा 'खारो' नामक नदियाँ बहती हैं और ये दोनों मिल कर एक नई नदी—ब्रह्मानी—को जन्म देती हैं। इसी क्षेत्र में एक प्राकृतिक पहाड़ी श्रेणी है जो शहर को भट्ठियों की गरमी तथा झुलस से बचाती है। यहां पर 'बोनाई' क्षेत्र में स्थित पहाड़ियों में कच्चे लोहे का अपार भण्डार पाया गया है। अनुमान है कि यह भण्डार ५० वर्ष तक २ करोड़ टन कच्चा लोहा प्रति वर्ष प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त ४५ मील की दूरी पर 'बरसुआ' में एक नई खान विकसित की जा रही है। चूने की खान यहां पर इतनी अधिक हैं कि यहाँ से चूना देश के अन्य इस्पात संयन्त्रों को भेजा जाता है। बीरमित्रपुर की चूने की खान जो एशिया में सबसे बड़ी है यहीं पर स्थित है। कोयले की पूर्ति 'बोकारो तथा 'झरिया कोयला खानों से की जायगी।

भिलाई इस्पात संयन्त्र—यह संयन्त्र मध्य प्रदेश में नागपुर से १७३ मील की दूरी पर 'भिलाई' रेलवे स्टेशन के पास २० वर्ग मील के क्षेत्र में स्थापित किया गया है। इस संयन्त्र के लिए आवश्यक कच्चा लोहा ५० मील दूर दक्षिण में स्थित दल्ली राजहरा से प्राप्त किया जाता है। कोयला १४६ मील की दूरी से 'कोरबा' नामक स्थान से प्राप्त होता है। मैंगनीज पश्चिम में स्थित 'भण्डारा' तथा 'बालाघाट' नामक पहाड़ी जिलों से प्राप्त किया जाता है। चूने का तो यह गढ़ ही है। आवश्यक जल की 'तान्दुला' जल कोष से होता है।

दुर्गापुर इस्पात संयन्त्र—पश्चिमी बङ्गाल में 'दुर्गापुर' नामक स्थान पर १९५६ में 'इण्डियन स्टील वर्क्स कन्सट्रक्शन कम्पनी लिमिटेड' (यह १३ ब्रिटिश कम्पनियों का एक संघ है) के सहयोग में केन्द्रीय सरकार ने स्थापित किया है। इस संयन्त्र के लिए आवश्यक कच्चा लोहा 'गुआ' खान से 'बोलानी' की खानों से प्राप्त किया जायगा। कोयला 'झरिया' से प्राप्त किया जायगा। चूना 'बीरमित्रपुर' तथा 'हाथीबाड़ी' क्षेत्रों से प्राप्त किया जायगा।

वर्तमान स्थिति

इस्पात, खान एवं ईंधन के केन्द्रीय मन्त्री ने बताया है कि जुलाई १९५९ तक के छः माहों में रूरकेला और भिलाई में कच्चे लोहे का उत्पादन क्रमशः ८१,११६ तथा १,५४,८०२ टन था। दोनों ही संयन्त्रों में तीन धमन भट्ठियों (Blast Furnaces) में से पहली भट्ठी उत्पादन करने लगी थी। भिलाई में फरवरी से अगस्त तक लोहे के १,८७,६७७ पिंड तैयार हुए।

इस्पात का आयात करने के लिए भारत सरकार ने सोवियत रूस, पोलैंड तथा हंगरी से क्रमशः २,०४,२०० टन ५,८०० टन तक ५,२१२ टन (मैट्रिक) का अनुबन्ध किया है। जून १९५९ तक पोलैंड, हंगरी तथा सोवियत रूस से ६८,१६४ टन

(मैट्रिक) इस्पात् आ गया था। सरकार 'विकास ऋण कोष' (Development Loan Fund) में से भी ६० मिलियन डॉलर के मूल्य का इस्पात् खरीद रही है।

वास्तविक उत्पादन—विभिन्न विकास योजनाओं के फलस्वरूप विगत कुछ वर्षों से लोह एवं स्पात् का कुल वास्तविक उत्पादन देश में बढ़ता ही रहा है, जैसा कि निम्न तालिका से ज्ञात होता है—

लोह एवं इस्पात का उत्पादन*

(,००० टन)

वर्ष	कच्चा लोहा	तैयार इस्पात्
१९५१	१,७०८८	१,०७६·४
१९५२	१,६८४·८	१,१०२·८
१९५३	१,६५४·८	१,०२३·३
१९५४	१,७९२·८	१,२४३·२
१९५५	१,७५६·८	१,२६०·०
१९५६	१,८०७·२	१,३१६·४
१९५७	१,७८९·२	१,३४६·४
१९५८	२,०११·२	१,२९९·६
१९५९	२,९९८·०	१,७३६·४
१९६० (जनवरी)	३३६·८	२१५·२

निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानों की प्रगति

टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के विस्तार का कार्यक्रम लगभग पूरा हो चुका है। आशा की जाती है कि अप्रैल १९५९ तक २० लाख टन इस्पात तैयार की जाने की योजना पूरी की जा सकेगी।

इण्डियन आयरन एण्ड स्टील वर्क्स ने दो धमन भट्ठियाँ चालू की हैं और इससे प्रति दिन १,२५० टन लोहा तैयार किया जाता है। इसके विस्तार का कार्यक्रम दिसम्बर १९५९ तक पूरा करने की योजना है। मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के हर साल १७,००० टन ढले हुए लोहे के स्पन पाइप बनाने का कारखाना लगभग तैयार कर लिया है। इसके अलावा, एक और कारखाना खोलने की योजना पूरी की जा चुकी है, जिसमें हर साल २० हजार टन लोहा एवं सिलिकन मिश्रित धातु तैयार की जायगी।

रिपोर्ट में बताया गया है कि १९५८ में कुल ११ लाख ६० हजार टन लोहा

*उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई १९६०

और इस्पात आयात किया गया, जबकि १९५७ म १७ लाख ३० हजार टन आयात किया गया था। इस वष देश म ४,५७,००० टन खनिज लोहा निकाला गया, जबकि १९५७ म २,६५,००० टन निकाला गया था। इस वष तीनों सरकारी इस्पात कारखानों की निर्माण की प्रगति सन्तोषजनक रही।

इस्पात क तीनो सरकारी कारखानों में २००० इजीनियरों और १६ हजार मशीन चलाने वाला तथा कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता थी। इसक लिए रूस अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी और कनाडा क इस्पात कारखानों म इजीनियरों व १,७०० स्नातकों को काम सिखाने की व्यवस्था की गई। दिसम्बर १९५८ तक १,०४० इजीनियर तथा कर्मचारियों को विदेशों म भेजा गया था जिनम से ७०० काम सीख कर आ गये हैं और काम पर लग गये हैं।

लोह एव इस्पात उद्योग की समस्याएँ

वर्तमान काल म इस उद्योग क सम्मुख कुछ गम्भीर समस्याएँ हैं जिनके कारण द्वितीय योजना म निर्धारित लक्ष्य क पूरा होने म कुछ बाधा पड़ रही है। प्रमुख समस्याए इस प्रकार हैं —

(१) वित्त की समस्या—नवीनीकरण, आधुनीकरण तथा विस्तार करने क लिए उद्योग को एक बड़ी मात्रा म धन की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति आन्तरिक साधनों म होना असम्भव-सा जान पड़ता है। सरकार द्वारा स्थापित विभिन्न वित्त निगम भी अपने सीमित साधनों क कारण इसकी पूर्ति करने म असमर्थ हैं।

(२) प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव—वर्तमान काल म उद्योग क सामने एक दूसरी समस्या प्रशिक्षित एव प्राविधिक कर्मचारियों का अभाव है। देश म ऐसी शिक्षा देने वाले विद्यालय तथा केन्द्र बहुत कम हैं। इस अभाव को दूर करने क लिए सरकार विदेशों से ऐसे व्यक्तियों का आयात कर रही है और साथ ही साथ भारतीयों को विदेश शिक्षा प्राप्त करने क लिए भेज रही है।

(३) औद्योगिक नीति—भारत सरकार ने अपनी नवीन औद्योगिक नीति का समाजवादी व्यवस्था क आधार पर बनाया है। इसक अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र भी निजी क्षेत्र की अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। फलस्वरूप निजी उद्योगपति अपना धन विनियोग करने म हिचकते हैं।

(४) कोयले की कमी—उद्योग को अच्छे कोयले क अभाव की समस्या का भी सामना करना पड़ रहा है। अच्छे कोयले का वर्तमान उत्पादन ३ ६ मि० टन है जिसको बढ़ा कर १९६० ६१ तक ११ २ मि० टन करने का लक्ष्य है जिसको प्राप्त करना असम्भव सा प्रतीत हो रहा है।

(५) यातायात की सुविधा का अभाव—इस उद्योग में कच्चे तथा पक्के

माल को अधिकांश रेल यातायात के द्वारा स्थानान्तरित किया जाता है। वर्तमान रेलवे इंजन तथा डिब्बों की कमी इस उद्योग के लिए एक समस्या बन गई है। स्मरण रहे कि १ टन इस्पात बनाने के लिए ५½ टन कच्चा माल तथा कोयले की आवश्यकता पड़ती है जिसका यातायात रेलवे के द्वारा होता है। द्वितीय योजना में निर्दिष्ट ६ मि० टन इस्पात पिण्डों का लक्ष्य पूरा करने के लिए ३३ मि० टन कच्चे माल तथा कोयले का यातायात करना होगा। यह उसी समय सम्भव है जब कि रेल यातायात के द्वितीय योजना में निर्धारित लक्ष्य पूरे हो जायँ।

स्मरणीय तत्व

१. प्रथम कारखाना—सन् १७७७ में मैसर्स मोट्टी तथा फरकुहार ने भरिया जिले में एक कारखाना स्थापित किया।

२. कुल कारखानों की संख्या—१६५४ की औद्योगिक उत्पादन गणना के अनुसार देश में १३१ कारखाने हैं। इस समय छः प्रमुख कारखाने हैं—(1) T. I. S. Co., (2) I. I. S. Co., (3) M. I. S. W., (4) Rourkela, (5) Bhilai & (6) Durgapur

३. पूँजी का विनियोग—लगभग ७०० करोड़ रुपये जिसमें से ५५८.२५ करोड़ रु० केवल तीन नये संयन्त्रों पर।

४. वार्षिक उत्पादन—१६५८ में २०११.२ हजार टन कच्चा लोहा तथा १,२६६.६ हजार टन तैयार बनाया गया।

५. योजनाओं में लक्ष्य— (इस्पात पिण्ड)
- प्रथम योजना—१.७ मि० टन
- द्वितीय योजना—६ ,,
- तृतीय योजना—१० ,,

६. उद्योग का वितरण—बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश तथा मद्रास

७. कर्मचारियों की संख्या—१६५४ की गणना के अनुसार ८५,६३४ व्यक्ति

८. एक्साइज ड्यूटी—इस्पात सिल्ली पर १६५६ ई० में ८ करोड़ रु०

चीनी उद्योग

(Sugar Industry)

१ स्वस्थ शारीरिक क्रिया प्रणालियों के संचालन में शर्करा (ग्लूकोज) की जो उपयोगिता है, किसी भी राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में चीनी को उससे कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त है। दैनिक जीवन की उपभोग्य सामग्रियों में चीनी की आवश्यकता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है, फलतः चीनी उद्योग का महत्व भी बढ़ता जा रहा है।

गुड़ और देशी खाँड को सम्मिलित करते हुए भारतीय चीनी उद्योग संसार में सबसे बड़ा उद्योग है। संसार के प्रमुख चीनी उत्पादक—क्यूबा, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील, जर्मनी, फ्रान्स इत्यादि देश—भारत के उपरान्त ही आते हैं। संसार में आज गन्ने की शक्कर का कुल उत्पादन २४० लाख टन और गन्ने तथा चुकन्दर की शक्कर का उत्पादन ३८० लाख टन है जिसमें से ५० लाख टन शक्कर केवल भारत ही उत्पन्न करता है। यही नहीं संसार के सम्पूर्ण गन्ने के उत्पादन का लगभग २८% भारत में पैदा होता है। भारतवर्ष के संगठित बड़े उद्योगों में चीनी उद्योग का स्थान द्वितीय है। यह देश की अर्थ व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो जनता की दैनिक आवश्यकताओं में से एक प्रमुख आवश्यकता की पूर्ति करता है। चीनी तथा गुड़ का उत्पादन प्रति वर्ष १२० करोड़ रु० से अधिक का होता है। इस समय देश में १६० चीनी के कारखाने हैं जिनमें लगभग कुल १०० करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई है। इस उद्योग में लगभग २ करोड़ कृषकों, १·४ लाख कुशल एवं अकुशल श्रमिकों तथा ३५०० विश्वविद्यालयों के शिक्षित व्यक्ति रोजगार पा रहे हैं। इस उद्योग में १९५७-५८ में चीनी, गुड़, खाँडसारी तथा शीरा क्रमशः १६,६८,०००, १०,००,०००, २,००,०००, ७,२५,००० टन पैदा किया गया। सरकार ने इस ... । से उत्पादन उत्पादन कर (excise duty) के रूप में इसी वर्ष ४२.७५ लाख ... वसूल किये। इस प्रकार भारत की अर्थ-व्यवस्था में चीनी उद्योग का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऐतिहासिक मीमांसा

चीनी उद्योग भारत का अति प्राचीन उद्योग है। ऐसा कहा जाता है कि भारत ही गन्ने तथा चीनी का प्रारम्भिक गढ़ है। भारतीय शक्कर उद्योग का प्रारम्भिक इतिहास अत्यन्त रोचक है। इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि आज से २५०० वर्ष पूर्व भारत को गन्ने और गन्ने से चीनी बनाने की कला का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ में 'शर्करा' शब्द का उल्लेख मिलता है। 'पंच अमृत' नामक खाद्य पदार्थ में 'शर्करा' डाली जाती थी। ईसा से ६२७-६५० के बीच चीन के महान् शासक 'ताय त्सुआंग' (Tai Tsuang) ने एक मंडल भारत में भारतीय चीनी उद्योग का अध्ययन करने को भेजा था। ईसा से चार शताब्दी पूर्व कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में गन्ने के द्वारा चीनी बनाने तथा शीरे से मद्यसार निकालने की विधियों का उल्लेख किया है। १५वीं शताब्दी से भारत ने योरोपीय देशों को चीनी भेजना प्रारम्भ कर दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में भी (१७वीं तथा १८वीं शताब्दी) गुड़ से चीनी तैयार करने तथा उसे विदेशों को निर्यात करने के सदर्भ प्राप्त होते हैं। सन् १८०२ ई० में चुकन्दर (Sugar-Beet) की खोज होने पर योरोप में चीनी निकाली जाने लगी। फलस्वरूप भारतीय चीनी की माँग घटने लगी। १९वीं

शताब्दी में परिस्थिति एकदम बदल गई तथा भारत स्वयं इसका आयात करने लगा। मारिशस तथा जावा से आयातों में भारी वृद्धि के कारण तथा सरकारी सहायता प्राप्त योरोपीय चीनी के आयातों के फलस्वरूप सन् १८६० तथा उसके पश्चात् चीनी उद्योग की दशा बहुत खराब हो गई।

आधुनिक चीनी उद्योग का विकास सन् १८६६ ई० से होता है, जब कि मद्रास तथा बंगाल के काशीपुर में गुड़ बनाने और साफ करने के लिए एक एक कारखाना खोला गया। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक चीनी उद्योग की नींव १८६६ ई० में पड़ी, जब कि सरकार ने चीनी के आयात पर कर लगा दिया। इस प्रतिबन्ध की आड़ में अनेक कारखाने १६०३ में उत्तरी भारत में खोले गये। परन्तु इस समय तक उत्पादन के ढंग अवैज्ञानिक थे, जिससे कीमत अधिक होती थी, माल की किस्म खराब होती थी और भारत अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा लेने में असमर्थ था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत में मोतिहारी, बारा-चकिया, बेल सुन्द, गोरखपुर, तथा पडरौना के कारखाने प्रसिद्ध थे। शताब्दी के प्रारम्भ में चीनी कुटीर उद्योग एक प्रकार से नष्ट होता जा रहा था और मिल उद्योग मन्द गति से प्रगति करता जा रहा था। सन् १६०१ १६२० के बीच भारतीय गन्ने की नस्ल सुधारने तथा उत्पादन में वृद्धि करने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये थे। सन् १६०१ ई० में गन्ने में सुधार करने की दृष्टि से कोयम्बटूर में एक अनुसंधान केन्द्र खोला गया। सन् १६१६ २० में चीनी उद्योग के विकास के लिए एक चीनी समिति भी स्थापित की गई। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप गन्ने का उत्पादन बढ़ा। प्रथम महायुद्ध (१६१४ १८) के फलस्वरूप इस उद्योग को प्रोत्साहन अवश्य मिला परन्तु युद्धोपरान्त उद्योग की अवस्था ज्यों की त्यों हो गई।

चीनी उद्योग को संरक्षण

सन् १६३१ तक भारत में विदेशों से शक्कर का काफी आयात किया जाता था। इस समय भारत में छोटे-बड़े सब मिलाकर कुल ३२ कारखाने ही थे, जिनका अस्तित्व ही खतरे में था, क्योंकि वे विदेशी उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ थे। अतः सन् १६३० ३१ में 'इम्पीरियल काउन्सिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च' ने इस उद्योग की दयनीय दशा की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया तथा उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए भी कुछ सुझाव दिये। फलस्वरूप सन् १६३१ में एक टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया जिसके सुझावों के अनुसार अप्रैल १६३१ को १५ वर्षों के लिए उद्योग को संरक्षण देना स्वीकार किया गया। चीनी उद्योग ही एक ऐसा उद्योग था, जिसे सरकार ने सर्वप्रथम इतनी लम्बी अवधि के लिए संरक्षण देना स्वीकार

के लिए सरकार ने चीनी के आयातों पर प्रथम सात वर्षों के लिए ७½ रु० प्रति हंडरवेट के हिसाब से संरक्षण कर लगाया और इस आयात कर पर २५% के बराबर एक अतिरिक्त शुल्क (सरचार्ज) भी लगाया, जिसके परिणामस्वरूप आयातों पर कुल भार ६ रुपया १ आना प्रति हण्डरवेट हो गया।

इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी शक्कर के आयात क्रमशः कम होने चले गए और १६४१-४२ तक आयातें प्रायः समाप्त हो गईं। सन् १६३१-३२ में ३२ चीनी मिलें थीं जिनका उत्पादन १,५८,५८१ टन था। सन् १६३६-३७ में मिलों की संख्या बढ़कर १३७ तथा उत्पादन ११,३०,६०० टन हो गया। यह उत्पादन अनुमानित उपभोग (११,५०,००० टन) से कुछ अधिक था। इस अतिरिक्त उत्पादन से उद्योग भारी संकट में फँस गया, क्योंकि चीनी का भाव तेजी से गिरने लगा था।

सन् १६३७ में मिलों की आपसी अनार्थिक प्रतिस्पर्धा, अतिरिक्त उत्पादन, और लाभों में भारी कमी को रोकने के लिए सुगर सिंडीकेट की स्थापना की गई। इस सिण्डीकेट की ६० मिलें सदस्य थीं। इसी वर्ष चीनी अधिनियम नियन्त्रण भी स्वीकृत किये गये। इन अधिनियमों के अनुसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रत्येक मिल को प्रान्तीय (राज्य) सरकार से मिल चलाने के पूर्व अनुज्ञापत्र (Licence) लेना अनिवार्य था। प्रत्येक मिल के लिए गन्ना प्राप्त करने के लिए क्षेत्र भी निर्धारित कर दिये गये। इन दोनों प्रान्तों की मिलों को अपनी चीनी इसी सिण्डीकेट को बेचनी पड़ती थी। एक चीनी नियन्त्रण बोर्ड भी स्थापित किया गया। सन् १६४० में एक शक्कर आयोग (Sugar Commission) की भी नियुक्ति की गई।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१६३६ १६४७ तक)

सन् १६३६ में जिस समय द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ १४५ चीनी के कारखाने थे तथा उनका कुल उत्पादन १२,६३,२०० टन था। उत्पादन अधिक होने के कारण उत्तर प्रदेश तथा बिहार सरकारों ने इन पर नियन्त्रण करने के लिए प्रत्येक कारखाने के उत्पादन का कोटा निश्चित किया। सन् १६४० के उपरान्त देश में चीनी पर संकट रहने लगा। सन् १६३६-४० में एक तो अति उत्पादन हो जाने से, दूसरे गन्ने के दाम सरकार द्वारा ऊँचे निश्चित करने के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। चीनी का उत्पादन अधिक होने पर भी लाभ कमाने की इच्छा से सुगर सिण्डीकेट ने चीनी के मूल्यों को ऊँचा ही रखा। सरकार की अस्थिर व अनियोजित नीति तथा सिण्डीकेट के लाभ कमाने की इच्छा के कारण चीनी उद्योग एक ऐसे कुचक्र में फँस गया था जिससे मुक्ति पाना असम्भव प्रतीत होता था।

अप्रैल सन् १६४२ में चीनी का भयंकर अभाव हो गया। अतः सरकार द्वारा चीनी के मूल्यों एवं वितरण पर नियन्त्रण किया गया। युद्ध समाप्त पश्चात् चीनी के

उत्पादन में वृद्धि करने के उद्देश्य से उत्पादन पर भी नियन्त्रण कर दिया गया। सन् १९४२-४३ के उपरान्त चीनी उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण बहुत बढ़ गया। सन् १९४४ में गन्ने की स्थिति में सुधार करने के लिए 'भारतीय केन्द्रीय गन्ना समिति' की स्थापना की गई।

१९४४-४५ में देश में चीनी के उत्पादन में और भी कमी हो गई। सन् १९४६-४७ में तो केवल ९·०१ लाख टन चीनी का ही उत्पादन हुआ जब कि १९४३-४४ में १२·०१ लाख टन का उत्पादन हुआ था। इस वर्ष आयात बिल्कुल न होने से देश में चीनी का घोर अभाव हो गया, कीमत ५ गुनी बढ़ गई और चोरबाज़ारी भी चालू हो गई। इस प्रकार नियन्त्रण सन् १९४७ तक चलता रहा किन्तु बाद को गांधी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसे हटा लिया गया।

विभाजन और चीनी उद्योग—१५ अगस्त, १९४७ में देश का विभाजन हो जाने से चीनी उद्योग पर भी कुछ प्रभाव पड़ा, परन्तु यह प्रभाव चीनी उद्योग के लिए इतना अधिक नहीं था जितना सूती वस्त्र तथा जूट उद्योग के लिए। विभाजन के फलस्वरूप कुल उत्पादन का केवल २·१% भाग पाकिस्तान के क्षेत्र में गया तथा शेष ९७·९% भारतीय-गणतन्त्र में रह गया। चीनी के दाम अधिक ऊँचे होने के कारण पाकिस्तान तथा मध्य एशियायी देशों ने क्यूबा, जावा तथा ब्राज़ील से सस्ती चीनी मँगाना प्रारम्भ कर दिया था। निर्यात न होने पर देश में आन्तरिक उपभोग के लिए चीनी उपलब्ध होने लगी। जनता में नियन्त्रण की घोर निन्दा हो रही थी। महात्मा गांधी भी मूल्य नियन्त्रण के विरोध में थे। अतः दिसम्बर १९४७ में चीनी पर से नियन्त्रण हटा दिया गया।

नियन्त्रण हट जाने के परिणामस्वरूप १९४८ में चीनी उत्पादन में वृद्धि हो गई किन्तु १९४९ ई० में पुनः चीनी उद्योग व्यापारियों और उत्पादकों के षड्यन्त्र का लक्ष्य बन गया। विवश होकर सरकार को पुनः नियन्त्रण लगाना पड़ा जिसके अनुसार सरकार ने चीनी के उत्पादन, वितरण, तथा मूल्य के नियमन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। सन् १९५० में 'चीनी तथा गुड़ नियन्त्रण आज्ञा' के द्वारा सरकार ने नियन्त्रण को और भी प्रभावपूर्ण बना दिया। इसके अनुसार गन्ने के भाव भी निश्चित कर दिये गये और १८ वर्ष पुराना संरक्षण भी समाप्त कर दिया गया। अगले दो वर्षों में चीनी के उत्पादन में वृद्धि होने के कारण तथा उद्योग की दशा में सुधार होने के कारण चीनी का नियन्त्रण हटा लिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

योजना के प्रारम्भ में श्वेत चीनी उत्पादन करने वाले कारखानों की संख्या १५९ थी। इन कारखानों में से १४१ कारखाने वास्तव में उत्पादन कर रहे थे और निरा

उत्पादन ११'६ लाख टन था। सन् १९५१ के बाद एक कारखाना और बन गया। इन सब कारखानों की उत्पादन क्षमता १५'४ लाख टन चीनी थी। योजना आयोग ने अनुमान लगाया था कि १९५५-५६ तक देश में १५ लाख टन वार्षिक चीनी की माँग होगी। अतः योजना काल में किसी नवीन कारखाने को स्थापित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। हाँ इस बात पर जोर अवश्य दिया गया कि कारखानों की बेकार क्षमता का उपयोग किया जाय, कारखानों का प्रतिकूल परिस्थितियों वाले स्थानों से अनुकूल परिस्थितियों वाले स्थानों पर विचलन प्रोत्साहित किया जाय, और कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ने की पूर्ति प्रदान की जाय जिससे औसत काम करने के दिन १०० से १२० वार्षिक हो जायँ।

प्रथम योजना में चीनी का उत्पादन लक्ष्य १५ लाख टन रखा गया। पर बढ़ती हुई माँग के कारण इसे पूरा करने के लिए इस लक्ष्य को बढ़ाकर १८ लाख टन कर दिया जब कि वास्तविक उत्पादन लगभग १८,९०,००० टन हुआ। इस काल में १४१ कारखाने वास्तव में उत्पादन कर रहे थे। योजनाकाल में उद्योग के विकास एवं विस्तार पर १५ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

चीनी उद्योग की विकास-परिषद ने अनुमान लगाया कि द्वितीय योजना के अन्त में चीनी का उपभोग २५ लाख टन या इससे अधिक हो जायगा। अतः द्वितीय योजना काल में चीनी का उत्पादन लक्ष्य २५ लाख टन रखा गया है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ६० नए कारखानों की स्थापना की जा रही है। अर्थात् योजना के अन्त तक कुल २०० कारखाने हो जायेंगे। इस २५ लाख टन में 'सहकारी चीनी कारखानों' का योगदान लगभग ३,५०,००० टन होगा, और आशा है कि आगे चलकर ये सहकारी कारखाने कुल उत्पादन का २५% स्वयं करने लगेंगे। नये कारखानों को लाइसेन्स देते समय यह ध्यान रखा जायगा कि कारखाने ऐसे स्थानों पर केन्द्रित किये जायँ जहाँ कि गन्ना काफी मात्रा में उपलब्ध हो तथा चीनी उद्योग का पहले से विकास न हुआ हो।

२५ लाख टन चीनी के उत्पादन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजनाकाल में लगभग ५० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त (१९६६) तक देश में चीनी की माँग ३३ लाख टन हो जायगी। अतः इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए १ अरब ६० का विनियोग करने का अनुमान लगाया गया है।

वर्तमान स्थिति

प्रथम योजनाकाल से लेकर इस समय तक चीनी उद्योग की स्थिति का ब्योरा निम्न तालिका में दर्शाया गया है*—

वर्ष	कारखानों की संख्या (चालू)	उत्पादन (हज़ार टन)
१९५१	१३९	११३४·८
१९५२	१३६	१४९४·०
१९५३	१३६	१२९१·२
१९५४	१३७	१०८८·०
१९५५	१३७	१५९४·८
१९५६	१४३	१८५६·४
१९५७	१६४	२००७·६
१९५८	१६४	२००६·४
१९५९	१७०†	२४२८·६

दूसरी योजना में जितनी चीनी के उत्पादन का लक्ष्य था, उतनी क्षमता के कारखानों के लिए लाइसेन्स दिये जा चुके हैं। अब और कारखानों के लिए इस अवधि में सरकार लाइसेन्स नहीं देगी।

चीनी के सहकारी कारखाने

इस समय देश में जितनी चीनी बनती है, उसका चौथाई भाग दूसरी योजना के अन्त तक चीनी के सहकारी कारखाना में बनेगा। १९५७-५८ में गन्ना पेरने के मौसम में १४ सहकारी कारखानों में १ लाख ५० हजार टन चीनी बनी। यह चीनी के समस्त उत्पादन का लगभग ७॥ प्रतिशत है।

पहली योजना के आरम्भ से १९५१ के उद्योग अधिनियम के अन्तर्गत चीनी बनाने के ३८ सहकारी कारखानों को लाइसेन्स दे दिये गये। इनमें से २१ कारखानों में काम शुरू हो गया है। ६ और कारखाने स्थापित किए जा रहे हैं।

इन कारखानों के लिए मशीनें बाहर से मँगानी पड़ीं। शेष सहकारी कारखानों के लिए मशीनें देश में ही बनाई जा रही हैं। इन मशीनों के कुछ पुर्जे जो देश में नहीं बनाये जा सकते, बाहर से मँगाये जाते हैं।

वर्तमान व्यवस्था के अनुसार चार कारखानों की मशीनें १९६० के अन्त तक

*उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई १९६०।

†अनुमानित।

दे दी जायेंगी। सात और कारखानों को भी १९६१ के अन्त तक मशीनें मिल जायँगी।

गन्ने की खेती करने वालों के लिए सहकारिता के आधार पर चीनी के कारखाने चलाने का काम बहुत महत्वपूर्ण है। इन कारखानों के मालिक गन्ने के उत्पादक ही होंगे और वे ही इनका प्रबन्ध भी करेंगे। आरम्भ में राज्य सरकारें इन कारखानों के अंश (shares) खरीदेंगी। इस काम के लिए राज्य सरकारों को केन्द्र से सहायता मिलेगी।

चीनी उद्योग की समस्याएँ

(१) दोषपूर्ण स्थानीयकरण—भारत में गन्ना उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र दक्षिणी भारत है और चीनी मिलें उत्तर प्रदेश तथा बिहार में स्थित हैं। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिण में गन्ने की उपज प्रति एकड़ उत्तर प्रदेश तथा बिहार से ४·५ गुनी है।

(२) प्रति एकड़ पैदावार में कमी—अन्य देशों की अपेक्षा भारत में प्रति एकड़ गन्ने की उपज की मात्रा बहुत कम है तथा उससे प्राप्त चीनी का प्रतिशत अंश भी कम है।

(३) गन्ने की ऊँची कीमतें—मिलों के पास अपने निजी फार्म नहीं हैं। अत किसानों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत में गन्ने का मूल्य तौल के आधार पर निश्चित किया जाता है तथा गन्ने की किस्म का कोई विचार नहीं किया जाता जिससे दोनों पक्षों को हानि की सम्भावना रहती है।

(४) सरकार द्वारा लगाए गए ऊँचे उत्पादन कर—चीनी उद्योग पर कर तथा उप कर की दर दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है केन्द्रीय सरकार उत्पादन कर लगाती है तथा राज्य सरकारें गन्ना कर (Cane-cess) लगाती हैं।

(५) विवेकीकरण के अपनाए जाने की समस्या—आजकल आर्थिक इकाई उसे माना जाता है जो ७००-८०० टन प्रति दिन गन्ना पेरने की क्षमता रखती हो। १९५५ में ३१ ऐसे कारखाने थे जो ७०० टन गन्ना पेरने की क्षमता नहीं रखते थे।

(६) ईंधन का अभाव—गन्ने की खोई (refuse) कागज तथा गत्ता बनाने के काम आती है। अतएव इसको नहीं जलाना चाहिए फिर भी जहाँ कोयले और लकड़ी का अभाव है, खोई जलाने के काम में लाई जाती है।

(७) अन्य समस्याएँ—कभी-कभी देश में चीनी का एकदम अभाव हो जाता है, इसके लिए प्राकृतिक साधन उत्तरदायी नहीं हैं बल्कि हमारे बड़े-बड़े व्यापारी लोग उत्तरदायी हैं। ये बड़े-बड़े व्यापारी लोग बहुत बड़ी मात्रा में शक्कर को खरीद लेते हैं और बाजार में कृत्रिम अभाव पैदा कर देते हैं। हमारे व्यापारी भाइयों को चाहिए कि वे अपने इस नवोदित स्वतन्त्रता प्राप्त भारत के मस्तिष्क पर कलंक का टीका न लगाएँ।

एक समस्या यह भी है कि चीनी उद्योग को देशी खाँडसारी तथा गुड़ से भी प्रतियोगिता लेनी पड़ती है। अच्छा हो यदि इन सभी उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्यों का नियमन कर दिया जाय।

योजना आयोग के सुझाव

चीनी उद्योग की विभिन्न समस्याओं को हल करने के लिए योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

(१) नये कारखानों की स्थापना के स्थान पर पुराने कारखानों के विस्तार को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(२) जो कारखाने गन्ना उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों से दूर बसे हुए हैं उनको अपनी स्थिति बदलनी चाहिए, जिससे भाड़े में बचत हो।

(३) गन्ने एवं चीनी पर लगाये गये उत्पादन करों इत्यादि को इस उद्योग के विकास के लिए पुनः व्यय किया जाना चाहिए।

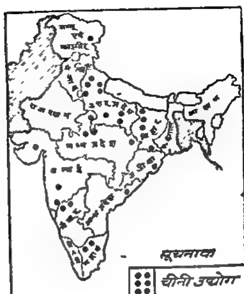
(४) उद्योग को नई मशीनें प्राप्त करने में सुविधा दी जाय जिससे वे घिसी हुई व पुरानी मशीनों को हटा सकें।

(५) सरकार को उद्योग की उचित उन्नति के लिए समय-समय पर चीनी के उत्पादन पर नियन्त्रण, गुड़ व चीनी के मूल्यों के उतार-चढ़ाव पर विचार करते रहना चाहिए।

चीनी उद्योग की विकास सभा के सुझाव पर भारत सरकार ने एक प्रतिनिधि मडल आस्ट्रेलिया व इण्डोनेशिया भेजा था। इस मडल ने अपनी रिपोर्ट सन् १६५६ में प्रस्तुत की। रिपोर्ट में चीनी उद्योग के विकास के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं। सरकार इन पर विचार कर रही है।

चीनी उद्योग का वितरण

यह उद्योग मुख्यतया उत्तर प्रदेश तथा बिहार में केन्द्रित है। इन दोनों प्रदेशों में उद्योग के कुल उत्पादन का ७० प्रतिशत से अधिक भाग उत्पादित किया जाता है। १६५५ में १४३ चीनी के कारखानों में ११८·७३ करोड़ रुपये के मूल्य की चीनी बनाई गई। इसमें से उत्तर प्रदेश और बिहार का भाग क्रमशः ६४·४५ तथा २३·५१ करोड़ रुपया था। जब कि बम्बई, मद्रास तथा आन्ध्र प्रदेश का भाग क्रमशः १३·६४, ४·८६ और ४·८२ करोड़ रुपया ही था।



चित्र १६

स्मरणीय तत्व

प्रथम कारखाना—सन् १८६६ ई० में बंगाल के काशीपुर में गुड़ बनाने और साफ करने के लिए एक कारखाना खोला गया।

कुल कारखाने—मई १९५६ में १७० चीनी के कारखाने थे।

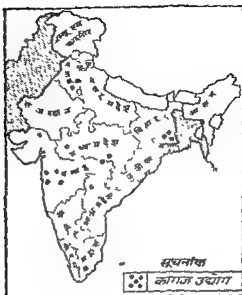
संरक्षण—१९३१ से १५ वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान किया गया।

वार्षिक उत्पादन—१९५६ में देश में १९२८६ हजार टन चीनी का उत्पादन हुआ।

लक्ष्य—प्रथम योजना—१५ लाख टन चीनी
द्वितीय योजना—२५ लाख ,, ,,
तृतीय योजना—३३ लाख ,, ,,

उत्पादन कर—१९५८-५६ में सरकार ने ४६ करोड़ रुपये उत्पादन कर के रूप में वसूल किये।

केन्द्रीयकरण—चीनी के कारखाने उत्तर प्रदेश तथा बिहार में मुख्यतया केन्द्रित हैं।



चित्र २०

सीमेंट उद्योग

(Cement Industry)

देश के औद्योगिक क्षेत्र एवं ढांचे में सुसंगठित सीमेन्ट उद्योग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय सीमेन्ट उद्योग की प्रमुख विशेषता यह है कि अपेक्षाकृत नवीन होते हुए भी इसने सराहनीय प्रगति की है। इसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यह उद्योग बिना संरक्षण के प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् द्रुतगति से विकसित हुआ और अगले १५ वर्षों में इसने अपना उत्पादन तिगुना कर लिया। यद्यपि इसकी स्थापना सन् १६०४ मे मद्रास म समुद्री सीपियों से पोर्टलैंड सीमेंट बनाने के लिए हुई थी, परन्तु इसको सफलता न मिल सकी। इस उद्योग का वास्तविक विकास १६१२-१३ में तीन कम्पनियों के निर्माण के साथ हुआ। इस समय देश में सीमेंट बनाने के ३१ कारखाने हैं जिनका वार्षिक उत्पादन ६'६ लाख टन है। इस उद्योग में अनुमानतः ५० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है और ४० हजार से अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है।

उद्योग का ऐतिहासिक विकास

आधुनिक सीमेंट का आविष्कार इंगलैंड के 'लीड्स' के श्री 'जोसेफ एस्पडेन' ने १८२४ ई० में किया था जब उन्होंने विभिन्न वस्तुओं के ˜) 'पोर्टलैंड'

सीमेन्ट के लिए पेटेन्ट अधिकार प्राप्त किया था। अतः उनकी पद्धति पर तैयार किये गये सीमेंट को 'पोर्टलैंड' सीमेन्ट कहते हैं। भारतीय सीमेन्ट उद्योग का विकास पिछले कुछ ही वर्षों से हुआ है। यद्यपि सीमेन्ट बनाने के लिए आवश्यक कच्चे माल भारतवर्ष में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं और देश में उसकी खपत के लिए एक विस्तृत बाजार भी है परन्तु फिर भी इसको प्रथम महायुद्ध के छिड़ने पर ही राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हो सका और यहाँ पर विदेशी स्तर पर सीमेन्ट का उत्पादन होने लगा। इसके पूर्व यद्यपि कुछ मात्रा में सीमेन्ट का उत्पादन होता था, परन्तु इसकी किस्म ज्यादा अच्छी नहीं थी। देश की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक बड़ी मात्रा में (लगभग १८ मि० टन प्रति वर्ष) सीमेंट का आयात करना पड़ता था।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१६१४-१६३६)

प्रथम विश्वयुद्ध तक केवल एक ही सीमेंट का कारखाना मद्रास में था जिसकी स्थापना १६०४ में हुई थी। यद्यपि १६१२ और १३ में ३ अन्य कम्पनियाँ—'इंडियन सीमेन्ट कम्पनी, पोर बन्दर', 'कटनी सीमेन्ट ऐण्ड इण्डस्ट्रियल कम्पनी' तथा 'बून्दी पोर्टलैंड सीमेन्ट कम्पनी' स्थापित हुईं थीं, परन्तु इन्होंने सीमेन्ट का उत्पादन युद्ध के छिड़ने पर ही प्रारम्भ किया था। इन तीन कम्पनियों की सीमेन्ट उत्पादन तिथि क्रमशः अक्टूबर १६१४, जनवरी १६१५ तथा १६१६ थी। इन तीनों कम्पनियों की उस समय वार्षिक उत्पादन क्षमता ७६ टन थी। युद्ध से उद्योग को बड़ा बढ़ावा मिला। के कारण सीमेन्ट की माँग काफी बढ़ गई क्योंकि युद्ध के लिए हवाई अड्डे, सड़कें तथा भवन निर्माण के लिए सीमेन्ट की बड़ी आवश्यकता थी। इधर देशवासियों ने भी अधिक धन कमा कर भवन निर्माण की ओर ध्यान दिया। सीमेन्ट की सीमित उपलब्धि होने के कारण सरकार ने इसके वितरण पर नियन्त्रण लगा दिया जो १६१६ तक जारी रहा।

१६१६-२२ के बीच ८ नई कम्पनियों की स्थापना हुई। इन नई कम्पनियों में से २ कटनी, १ काठियावाड़, १ पंजाब, १ छोटा नागपुर, १ ग्वालियर और १ हैदराबाद में स्थापित की गईं। कम्पनियों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण आपस में अनार्थिक प्रतिस्पर्द्धा होने लगी जिसके कारण २ से २.५ करोड़ रुपये की हानि हुई। अतः इस संकट से बचने के लिए १६२४ में इस उद्योग ने संरक्षण की माँग की परन्तु इस उद्योग को संरक्षण प्राप्त न हो सका। अतः इस उद्योग को काफी चोट पहुँची, यहाँ तक कि इसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया।

ऐसी स्थिति में उद्योग के समक्ष अपने स्वयं के साधनों पर निर्भर रह कर अपनी स्थिति में सुधार करने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं था। अतः भारतीय सीमेंट के उद्योगपतियों ने टैरिफ बोर्ड के सुझाव के अनुसार सीमेंट के विक्रय मूल्यों को निर्धारित

तथा नियमित करने के लिए 'दी इण्डियन सीमेंट मैन्यूफैक्चरर्स एसोसियेशन' की स्थापना की।

'दी इंडियन सीमेंट मैन्यूफैक्चरर्स एसोसियेशन'

इसकी स्थापना सन् १६२५ में सीमेंट के निर्माताओं के द्वारा हुई थी। इस एसोसियेशन का उद्देश्य बिक्री मूल्यों का निर्धारण व नियमन था। इस एसोसियेशन को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। सदस्य निर्माताओं ने पूर्ण सहयोग से कार्य किया, यहाँ तक कि एसोसियेशन की आगामी चार वर्षों की क्रियाओं में मूल्यों में कटौती या कमी करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता है।

सन् १६२७ में सीमेंट की माँग बढ़ाने के उद्देश्य से एसोसियेशन ने Concrete Association of India की स्थापना की। वित्त व्यवस्था के लिए प्रत्येक सदस्य अपनी कुल बिक्री पर ५ आने प्रति टन की दर से चन्दा देता था। इस एसोसियेशन का प्रमुख उद्देश्य सीमेंट के उपभोक्ताओं में सीमेंट के प्रयोग का प्रचार करना और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें मुफ्त प्राविधिक (Technical) सलाह देना था।

'दी सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया'

विक्रय व्यय में मितव्ययिता लाने के उद्देश्य से 'दी इंडियन सीमेंट मैन्यूफैक्चरर्स एसोसियेशन' एक केन्द्रीय विक्रय संगठन के निर्माण की बात सोची गई। बड़ी कठिनाइयों के बाद 'दी सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी आव इंडिया' की स्थापना १६३० में की गई। इसके अनुसार प्रत्येक कारखाने के लिए उत्पादन कोटा (Quota) निर्धारित किया गया। अब सभी कारखानों की वार्षिक उत्पादनक्षमता ७ लाख २२ हजार टन हो गई।

इनके द्वारा बिक्री का केन्द्रीयकरण हुआ और सीमेंट बेचने में बड़ी सुविधा एवं सहायता मिली। सीमेंट की बिक्री बढ़ी और सम्पूर्ण देश में सीमेंट के मूल्य में २५% से अधिक की कमी हुई। इससे पुनः उद्योग उन्नति करने लगा।

'दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड'

१६३२-३४ में दो नई कम्पनियों की स्थापना क्रमशः कोयम्बटूर और शाहाबाद में हुई। इन कम्पनियों की स्थापना से २ लाख टन उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो गई, अर्थात् अब कुल कोटा की मात्रा ६,२२,००० टन हो गई। कोटा बड़ी कठोरता से तय होता था और यद्यपि कई अर्थों में यह पद्धति सन्तोषजनक थी, फिर भी इससे लाभप्रद वितरण नहीं हो पाता था। प्रायः अनार्थिक इकाइयों को भी कोटा मिल था जो आर्थिक कुशलता के स्तर से निम्न स्तर पर काम करती थीं। अकुशलता को दूर करने के लिए कोशिश भी नहीं करती थी। इसके तक ऐसा कोई प्रावधान भी नहीं था जिसके अनुसार कम्पनियाँ अपना

करने के लिए बाध्य हों । इन दोनों को दूर करने के लिए आवश्यक था कि उद्योग में विवेकीकरण की योजना को अपनाया जाय।

अतः श्री पी० ई० दिनशॉ ने १ अगस्त १६३६ को ११ कम्पनियों का सविलयन (Merger) करके "एसोशियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड' की स्थापना ८ करोड़ रुपये की पूँजी से बम्बई में की । इसमें केवल 'सोन वैली सीमेंट कम्पनी लिमिटेड', को छोड़कर देश की सभी कम्पनियाँ सम्मिलित थीं। वास्तव में सीमेंट-उद्योग के भावी विवेकीकरण की ओर यह पहला प्रयास था।

इसका उद्देश्य एकाधिकार करना नहीं था, बल्कि सीमेंट के निर्माण में उत्पादन-व्यय म कमी करना, वितरण व विक्रय व्यय में कमी करना तथा उपभोक्ताओं को सस्ती दर पर सीमेंट देना था। इसके फलस्वरूप १६३६ से आगे देश में सीमेंट के उत्पादन में वृद्धि होने लगी।

डालमिया सीमेंट लिमिटेड

सन् १६३६ में 'डालमिया सीमेंट लिमिटेड' ५ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी के साथ स्थापित हुई। श्री रामकृष्ण डालमिया का विचार था कि डाडोट, झींद, करांची, त्रिचनापल्ली और रोहतास में सीमेंट की ५ कम्पनियाँ खोलें, पर १६३८ तक केवल करांची और डेहरी ऑन-सोन की दो ही कम्पनियाँ सीमेंट का निर्माण कर रही थीं। ये कम्पनियाँ A. C. C. से सम्मिलित नहीं हुई बल्कि उनसे प्रतिस्पर्धा करने लगीं। इस प्रतिस्पर्द्धा ने बहुत बुरा रूप धारण कर लिया और A. C. C. को इसका मुकाबला करना कठिन हो गया। अतः यह उचित समझा गया कि इन दोनों दलों में एक समझौता हो जाय जिससे पारस्परिक अनार्थिक प्रतिस्पर्द्धा से छुटकारा मिल सके। सौभाग्यवश सन् १६४० में दोनों दलों में समझौता हो गया। 'दी सीमेंट मार्केटिङ्ग कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०' का जीर्णोद्धार किया गया और इस कम्पनी को दोनों दलों द्वारा निर्मित सीमेंट की बिक्री का कार्य सौंपा गया। इस समय A. C. C. के अन्तर्गत १२ कारखाने और डालमियां ग्रुप के अन्तर्गत ५ कारखाने तथा ४ अन्य कारखाने उत्पादन कार्य में लगे हुए थे।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१६३६-५१)

अन्य उद्योगों की भांति इस उद्योग को भी द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने से पर्याप्त लाभ हुआ। सरकार को युद्ध कार्यों के लिए आवश्यक निर्माण कार्य करने के लिए बहुत सीमेंट की आवश्यकता थी। अतः सरकार ने सीमेंट के उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण लगा दिया। देश के सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग ६०% भाग और बाद में ८०% भाग सरकार ने अपने लिए सुरक्षित करा रखा था। शेष जनता की माँग के लिए मिलता था जिस पर सरकार का नियन्त्रण था। निःसन्देह आन्तरिक तथा

विदेशी माँग में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण युद्धकाल में उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। बढ़ती हुई माँग का लाभ उठाने के लिए A. C. C. ने अपने सदस्य कारखानों का प्रसार कर दिया।

युद्ध के पश्चात् सीमेंट का उत्पादन घटने लगा और १९४६-४७ में उत्पादन अपनी निम्नतम सीमा पर पहुँच गया। इसके लिए उत्तरदायी कारण – श्रमिकों द्वारा हड़ताल, कोयले का अभाव, यातायात की कठिनाई, राजनैतिक उथल पुथल तथा यन्त्रों एवं मशीनों का घिस जाना इत्यादि थे। इस वर्ष (१९४६-४७) में केवल १५,४२,००० टन सीमेंट उत्पन्न हुआ।

विभाजन का प्रभाव—देश के विभाजन के समय २४ सीमेंट के कारखाने थे, जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २·६ मि० टन थी। विभाजन के फलस्वरूप ५ कारखाने पाकिस्तान में चले गये और 'जिप्सम' की खान वाले क्षेत्र भी पाकिस्तान की सीमा में चले गये। अब भारतीय मिलों की उत्पादन क्षमता घटकर २·२ मि० टन ही रह गई और 'जिप्सम' का काफी अभाव हो गया। १९४८ में A. C C तथा डालमियाँ ग्रुप में कीमतों के विषय में मतभेद होने के कारण दोनों ने अपनी विपणन व्यवस्थायें अलग-अलग कर लीं। यह व्यवस्थायें आज भी अलग अलग ही हैं।

सरकार ने अपनी युद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण तथा विकास योजनाओं में आगामी पाँच वर्षों (१९५२ तक) में सीमेंट का उत्पादन लक्ष्य ६२ लाख टन प्रति-वर्ष रखा था। यद्यपि यह लक्ष्य प्राप्त न हो सका, परन्तु फिर भी सन् १९३९ के बाद उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रही। युद्धोत्तर काल में (१९४७-५२) उद्योग का उत्पादन दुगुना हो गया था और A. C. C. तथा डालमिया ग्रुप अपने अपने कार-खानों के विस्तार में क्रियाशील रहे थे। मार्च १९५२ तक देश में २३ सीमेंट के कारखाने थे।

प्रथम पचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत ६ नये सीमेंट के कारखानों के स्थापित करने तथा २० लाख टन वार्षिक, योजना के अन्त तक, उत्पादन क्षमता बढ़ाने का लक्ष्य था। इस समय सीमेंट के २१ कारखाने थे, जिनकी उत्पादन क्षमता ३३ लाख टन तथा वास्तविक उत्पादन २७ लाख टन था। जो योजना के अन्त में बढ़कर ४७·४ लाख — ४४ लाख टन क्रमशः हो गया। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्यों की प्रगति न परन्तु वृद्धि तो काफी हुई। योजना का पूर्ण चित्र इस प्रकार है—

	१९५०-५१	१९५५-५६
कारखानों की संख्या	२१	२७
वार्षिक उत्पादन क्षमता	३२,८०,०००	५३,०६,०००
वास्तविक उत्पादन	२६,९२,०००	४८,००,०००
निर्यात	२६,०००	३,००,०००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना में उद्योग की उत्पादन क्षमता का लक्ष्य १६ मि० टन वार्षिक तथा वास्तविक उत्पादन १३ मि० टन वार्षिक रखा गया है। कारखानों की संख्या २७ से बढ़कर ४४ हो जायगी। संक्षेप में इस योजना के अन्तर्गत उद्योग का विकास कार्यक्रम इस प्रकार है—

	१९५५-५६	१९६०-६१
कारखानों की संख्या	२७	४४
वार्षिक उत्पादन क्षमता	४९,३१,०००	१,६०,००,०००
वार्षिक वास्तविक उत्पादन	४६,००,०००	१,३०,००,०००

तृतीय पंचवर्षीय योजना

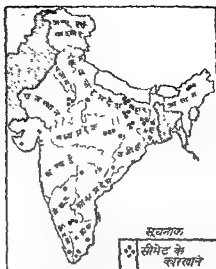
इस योजना में सीमेंट के उत्पादन का लक्ष्य २ करोड़ टन रखा गया है, अर्थात् द्वितीय योजना की अपेक्षा में १९६५-६६ तक ४० लाख टन सीमेंट अधिक उत्पन्न होगा।* इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजना काल में १ अरब रुपये व्यय किए जायेंगे।

सीमेंट उद्योग का वितरण

(Distribution of Cement Industry)

मार्च १९५८ में २९ सीमेंट के कारखाने थे जिनकी उत्पादन क्षमता ६.६ मि० टन प्रति वर्ष से भी अधिक थी। इन कारखानों में से १३ A C C ग्रुप में, ६ डालमिया जैन ग्रुप में थे, तथा १० अन्य कारखाने थे। विभिन्न क्षेत्रों में इनका वितरण तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इनका विकास कार्यक्रम इस प्रकार है—

*लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर।



चित्र २१

स्थान	१९५५-५६		१९६०-६१	
	कारखानों की संख्या	वार्षिक उत्पादन क्षमता ('००० टन में)	कारखानों की संख्या	लक्षित क्षमता वार्षिक ('००० टन में)
बिहार	६	११२२	७	२३२४
उड़ीसा	१	१६५	१	७२५
उत्तर प्रदेश	१	२००	२	६३१
मध्य प्रदेश	१	३५०	३	११६८
मध्य भारत	१	६०	१	६०
राजस्थान	२	५२५	२	१२८४
पेप्सू	२	३७०	२	६३५
सौराष्ट्र	३	४६२	५	१४७०
बम्बई	२	३००	४	५६५
मद्रास	३	६४२	४	९४६
आन्ध्र	२	१८९	५	८९८
मैसूर	१	८६	१	१०४
केरल	१	५०	१	५५
हैदराबाद	१	३८०	२	६४५
आसाम	—	—	२	२३१
विन्ध्य प्रदेश	—	—	२	५५०
योग	२०	४,९३१	४४	१२,२९४

यह उद्योग भारत के सम्पूर्ण राज्यों, असम, पश्चिमी बङ्गाल तथा कश्मीर को छोड़कर पूर्ण रूप से बिखरा हुआ है।

उद्योग के केन्द्रीयकरण के कारण

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि देश में सीमेंट के कारखाने बहुत सीमित संख्या में हैं और वे अन्य उद्योगों की भाँति किसी विशेष क्षेत्र में केन्द्रित नहीं हैं। इस उद्योग के स्थानीयकरण का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस उद्योग के स्थानीयकरण में तीन प्रमुख कारक (factor)—कच्चा माल, बाजार तथा शक्ति—सहायक होते हैं। भारतवर्ष में भी ये कारखाने इन साधनों की उपलब्धता वाले स्थान में ही अधिकतर सीमित हैं।

सीमेंट के लिए आवश्यक कच्चा माल चूना या खड़िया, चिकनी मिट्टी तथा जिप्सम हैं। चूना अथवा खड़िया की खानें देश के विभिन्न क्षेत्रों में बहुतायत से पाई जाती हैं। उपयुक्त चिकनी मिट्टी भी इन खानों के पास प्राप्त हो जाती है। जिप्सम ही एक ऐसी धातु है जिसको दूर के स्थानों से लाना पड़ता है। इस प्रकार अधिकतर ने कच्चे माल की प्राप्ति वाले क्षेत्रों में अथवा उनके पास ही केन्द्रित हो जाते। परन्तु कभी कभी भाड़े की लागत इतनी अधिक हो जाती है कि इन कारखानों को अपने कच्चे माल की प्राप्ति वाले स्थानों से विलग होकर उपभोग वाले केन्द्रों के पास केन्द्रित होना पड़ता है। इसी कारण ये कारखाने देश के विभिन्न क्षेत्रों में सुविधानुसार बिखरे हुए हैं।

उद्योग की वर्तमान स्थिति

सीमेंट उद्योग के कारखानों का आकार काफी अनार्थिक है। आजकल आर्थिक आकार के कारखाने बहुत सीमित हैं। सन् १९५५-५६ में २७ कारखानों में से केवल १९ कारखाने ही आर्थिक थे जिनकी उत्पादन क्षमता १ लाख टन वार्षिक से अधिक थी। इस अनार्थिक आकार के कारण उद्योग अधिक उत्पादन व्यय की समस्या से ग्रसित था। प्रथम व द्वितीय योजनाओं में कारखानों के आकार में सामान्य वृद्धि हुई है। उद्योग की प्रगति का संक्षेप में ब्यौरा अगले पृष्ठ की तालिका में दिखाया गया है—

सीमेंट का उत्पादन[1]

वर्ष	सीमेन्ट ('००० टन)	सीमेन्ट की चादरें ('००० टन)
१९५१	३,१९५·६	८२·८
१९५२	३,५३७·६	८७·६
१९५३	३,७८०·०	७६·६
१९५४	४,३९८·०	७९ २
१९५५	४,४८६·८	१०४ ४
१९५६	४,९२८·४	१२०·०
१९५७	५,६०१·६	१५८ ४
१९५८	६,०६८·४	१८६ ०
१९५९	४,८२६ ८	१८२ ४
१९६० मार्च तक	१९३५·३	४८·६

इस समय सीमेंट का निर्यात बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। निर्यात के लिए २·लाख टन सीमेंट के निश्चित कोटे के अतिरिक्त १,४८,००० टन और सीमेंट बाहर भेजने के करार किये जा चुके हैं। इसमें से लगभग ७६ हज़ार टन सीमेन्ट बाहर भेजा जा चुका है।

सीमेन्ट के कारखानों की मशीनें बाहर से मँगाने के लिए कुछ लाइसेंस दिये गये हैं। इन मशीनों से २३ लाख टन सीमेंट और बनाया जा सकेगा। सीमेंट उत्पादन बढ़ाने की योजनाओं के लिए अमेरिका की विकास ऋण निधि और प्राविधिक सहयोग मिशन की सहायता का विदेशी मुद्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयोग किया गया है।

सीमेन्ट के कारखानों की और अधिक मशीनें भारत में ही बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि १९६२ तक भारत में ही बनी मशीनों से सीमेन्ट कारखानों की आवश्यकताओं की काफी हद तक पूर्ति हो सकेगी। १९५८ में एसबेसटस की १ लाख ८४ हजार ३९५ टन चादरें तैयार की गई।

१९५८ में सीमेंट उद्योग बराबर उन्नति करता रहा। वर्ष के आरम्भ में ६१·३ लाख टन की स्थापित क्षमता थी जो नवम्बर १९५८ के अन्त तक बढ़कर ७०·५३ लाख टन हो गई। १९५८ के पहले ११ महीनों में वास्तविक उत्पादन ५५·२२ लाख टन हुआ जब कि १९५७ की इसी अवधि में यह ५०·१ लाख टन हुआ।

[1] उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई १९६०।

स्मरणीय तत्व

१. प्रथम कारखाना—१९०४ में मद्रास में समुद्री सीपियों से पोर्टलैण्ड सीमेंट बनाने के लिए एक कारखाना खोला गया था।
२. कुल कारखाने—१९५५-५६ में देश में २७ सीमेंट के कारखाने थे।
३. वार्षिक उत्पादन—१९५८ में ६०६८·४ हजार टन सीमेंट तथा १८६·० हजार टन सीमेंट की चादरें बनाई गईं।
४ उत्पादन लक्ष्य—प्रथम योजना—५३,०६,००१ टन
द्वितीय योजना—१,६०,००,००० टन
तृतीय योजना—२,००,००,००० टन
५. केन्द्रीयकरण—लगभग देश भर में समान रूप से वितरण। अपेक्षाकृत बिहार और मद्रास में अधिक केन्द्रीयकरण है, जहाँ क्रमशः ६ और ३ कारखाने हैं।
६ पूँजी—५० करोड़ से अधिक पूँजी लगी हुई।
७. रोजगार—इस उद्योग से ४० हजार से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है।
८ उत्पादन कर—१९५८-५९ में सरकार ने १३·८३ करोड़ रु० वसूल किये।

कोयला उद्योग
(Coal Industry)

कोयला उद्योग की आधारशिला है। कोयले और लोहे का सम्मिश्रण तो औद्योगिक विकास के लिए सोने में सुहागे के समान है। कोई भी देश अपने उद्योग बढ़ाकर समृद्धि के पथ पर तभी आगे बढ़ सकता है, जब कि उसके पास कोयले की पर्याप्त खानें हों और वह उनसे पर्याप्त कोयला निकालता हो। दूसरे शब्दों में कोयला आधुनिक उद्योग-धन्धों का जन्मदाता है, क्योंकि अधिकांश देशों की औद्योगिक एवं व्यापारिक शक्ति की पूर्ति मुख्यतया कोयले के द्वारा ही होती है। लार्ड केन्स ने भी कहा है कि "जर्मन साम्राज्य की नींव खून और लोहे पर नहीं बल्कि कोयले और लोहे पर पड़ी थी।" ऐसे समय में जब कि देश औद्योगीकरण की ओर अग्रसर हो रहा हो, कोयला निःसन्देह एक राष्ट्रीय महत्व की वस्तु बन जाती है। स्वतन्त्र भारत की नींव सुव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था पर खड़ी करने के लिए आजादी के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार ने कोयला और खान उद्योगों के विकास को काफी प्रधानता दी है। प्रथम योजना के अन्त में देश की खानों से हर साल ३ करोड़ ८० लाख टन कोयला निकाल[illegible] या। [illegible] (द्वितीय) योजना के अन्त तक ६ करोड़ टन कोयले के [illegible] गया है।

भारत में २५००० वर्ग मील में ४४ अरब टन कोयले का भण्डार है, ऐसा अनुमान लगाया गया है। यह संसार भर के कोयले के भण्डारों का भाग मात्र है। भारत का कोयला क्षेत्र ब्रिटेन के कोयला क्षेत्र से तिगुना है।

उद्योग का क्रमिक विकास

भारत में कोयला निकालने के सम्बन्ध में यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि हमारे देश में यह कार्य नया नहीं है। प्रकाशित सूचनाओं से पता चलता है कि सन् १७७४ ई० में सबसे पहले कोयला निकालने का काम शुरू हुआ, जब वारेन हेस्टिंग्स ने 'मैसर्स समनर एण्ड हीटले' को बंगाल में कोयले की खानों से कोयला निकालने की आज्ञा प्रदान की। परन्तु यह प्रयत्न सफल न हो सका क्योंकि उनकी खान कम गहरी थी। इसके ४० वर्ष बाद सन् १८१४ में रानीगंज के पास कोयला निकालने का काम नये सिरे से पुनः प्रारम्भ हुआ और १९वीं सदी के मध्य तक रानीगंज में बहुत सी कोयला खानें खोदी गईं।

इस काम में १८५८ से १८६० तक के भू-गर्भ पर्यवेक्षण से बड़ी सहायता मिली थी। १८६० तक लगभग ५० कोयला खानों में खुदाई होने लगी थी और इनसे प्रतिवर्ष लगभग २,८२,००० टन कोयला निकाला जाने लगा था। २०वीं सदी के प्रारम्भ में देश में ६० लाख टन कोयला प्रति वर्ष निकाला जाने लगा। इसमें से ४० लाख टन कोयला रानीगंज, झरिया और गिरीडीह में निकलता था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व बोकारो, पेंच और चान्दाघाटी में भी कोयले की खानें खोदी गई थीं। १९१४ तक कुल उत्पादन बढ़कर १६५ लाख टन हो गया।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१९१४-१९३९)

युद्धकाल में औद्योगिक गतिविधियों में एकदम वृद्धि हो जाने के कारण कोयले की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो गई। कोयला उद्योग पूरे युद्धकाल तक यह प्रयत्न करता रहा कि वह बढ़ती हुई माँग के साथ कोयले की पूर्ति करता रहे। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप कोयले का उत्पादन सन् १९१९ में २ करोड़ टन हो गया था। इस उत्पादन का ८५% रानीगंज और झरिया क्षेत्र से प्राप्त हुआ। कोकिंग कोल की माँग एकदम बढ़ गई थी, अतः बोकारो के कोयला क्षेत्र का अत्यधिक विकास किया गया। कुलटी और झरिया क्षेत्र की खानों में कोयला ढोने वाली बड़ी-बड़ी मशीनें लगाई गईं। इसके अतिरिक्त कोयला क्षेत्रों का विद्युतीकरण भी तेजी से किया गया और २ केन्द्रीय विद्युत स्टेशन बनाये गये।

युद्धोपरान्त उत्पादन में कमी होना शुरू हो गई, क्योंकि युद्धकाल का यह विकास सीमित था और मशीन एवं उपकरणों के मिलने की कठिनाई के कारण यह क्रम जारी भी न रह सका। युद्धोपरान्त कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिनसे स्थिति में कुछ

भारत में ३५००० वर्ग मील म ४४ अरब टन कोयले का भण्डार होने का अनुमान लगाया गया है। यह ससार भर के कोयले के भण्डारा का ५वाँ भाग है। भारत का कोयला क्षेत्र ब्रिटेन के कोयला क्षेत्र से तिगुना है।

उद्योग का क्रमिक विकास

भारत में कोयला निकालने के सम्बन्ध म यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि हमारे देश में यह कार्य नया नहीं है। प्रकाशित सूचनाओं से पता चलता है कि सन् १७७४ ई० म सबसे पहले कोयला निकालने का काम शुरू हुआ, जबकि वारेन हेस्टिंग्स ने 'समर्स हीमनर एण्ड हाटले' को बगाल म कोयले की खानों से कोयला निकालने की आज्ञा प्रदान की। परन्तु यह प्रयत्न सफल न हो सका क्योंकि रानीगज की खानें कम गहरी थीं। इसके ४० वर्ष बाद सन् १८१४ में रानीगज के पास कोयला निकालने का काम नये सिर से पुन प्रारम्भ हुआ और १६वीं सदी के मध्य तक रानीगज म बहुत सी कोयला खानें खोदी गईं।

इस काम म १८४८ से १८६० तक के भू-गर्भ पर्यवेक्षण से बड़ी सहायता मिली थी। १८६० तक लगभग ५० कोयला खानों म खुदाई होने लगी थी। और रानीगज में प्रतिवर्ष लगभग २,८२,००० टन कोयला निकाला जाने लगा था। २०वीं सदी के प्रारम्भ में देश म ६० लाख टन कोयला प्रति वर्ष निकाला जाने लगा। इसमें से ५० लाख टन कोयला रानीगज, भरिया और गिरीडीह म निकलता था। प्रथम महायुद्ध से के पूर्व नागपुर, पेंच और चादाघाटी म भी कोयले की खानें खोदी गई थीं। १६१४ तक कुल उत्पादन बढ़कर १६५ लाख टन हो गया।

प्रथम महायुद्ध एव उसके पश्चात् (१६१४ १६३६)

युद्धकाल म औद्योगिक गति विधियों म एकदम वृद्धि हो जाने के कारण कोयले की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो गई। कोयला उद्योग पूरे युद्धकाल तक यह प्रयत्न करता रहा कि वह बढ़ती हुई माँग के साथ कोयले की पूर्ति करता रहे। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप कोयले का उत्पादन सन् १६१६ में २ करोड़ टन हो गया था। इस उत्पादन का ८५% रानीगज और झरिया क्षेत्र से प्राप्त हुआ। कोकिंग कोल की माँग एकदम बढ़ गई थी, अत गोन्डवाना के कोयला क्षेत्र का अत्यधिक विकास किया गया। झुलटी और भरिया क्षेत्र की खानों म कोयला उठाने वाली बड़ी-बड़ी मशीनें लगाई गईं। इसके अतिरिक्त कोयला क्षेत्रों का विद्युतीकरण भी तेजी से किया गया और २ केन्द्रीय विद्युत स्टेशन बनाये गये।

युद्धोपरान्त उत्पादन म कमी होना शुरू हो गई, क्योंकि युद्धकाल का यह विकास सीमित था और मशीन एव उपकरणों के मिलने की कठिनाई के कारण यह क्रम जारी भी न रह सका। युद्धोपरान्त कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुईं जिससे स्थिति में कुछ

सुधार न हो सका। उदाहरणार्थ 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' द्वारा भट्टियों का बनाया जाना, सरकार की अस्थिर नीति तथा विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी इस असन्तोषजनक स्थिति के लिए उत्तरदायी थे। सन् १९३६ के बाद औद्योगिक गतियों में पुन. वृद्धि हुई जिसका प्रभाव यह हुआ कि कोयले की माँग पुनः बढ़ने लगी।

द्वितीय महायुद्ध एवं उसके पश्चात् (१९३९ १९५१)

दूसरे महायुद्ध के कारण बहुत से नये उद्योग खोले गये जिससे कोयले के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। कोयले की माँग बढ़ने के साथ साथ मूल्यों में भी सुधार हुआ। पर आवश्यकता की पूर्ति के लिए बढ़े हुए मूल्य पर भी कोयला पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं था। यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों तथा कोयले के गिरते हुए आयात ने इस समस्या को और भी गम्भीर बना दिया। इस कमी को पूरा करने के लिए ठोस कदम उठाये गये और कोयले के मूल्य का नियन्त्रण किया गया। सन् १९४४ के मध्य तक मूल्यों पर कड़ा नियन्त्रण हो चुका था। सरकार ने उत्पादन बढ़ाने के लिए कोयला क्षेत्रों से बाहर के श्रमिकों को भरती किया, बोनस, ह्रास और अतिरिक्त लाभ कर (E.P.T.) के सम्बन्ध में छूटें देकर अनेक प्रकार के आर्थिक प्रलोभन भी दिये। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई। सन् १९५० में कोयले का उत्पादन बढ़कर ३·२ करोड़ टन हो गया। १९५१ में भी ऐसी कोई प्रतिकूल घटना नहीं हुई और इस वर्ष भी उत्पादन ३.४२ करोड़ टन रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१ ५६)

इस योजना में कोकिंग कोल के सुरक्षित रखने और नान कोकिंग कोल के भण्डार की विस्तृत खोज करने की आवश्यकता पर बड़ा जोर दिया गया है। योजना काल में ३.८ करोड़ टन का लक्ष्य रखा गया था जो लगभग प्राप्त हो गया। योजना के अन्त में कोयला उत्पन्न करने वाली खानों की संख्या ३०६ थी। सन् १९५२ में भारत सरकार ने कोयला खान (संरक्षण व सुरक्षा) कानून पास किया, जिसके द्वारा सरकार को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हो गये —

(१) कोयले की खानों की सुरक्षा व संरक्षण के लिए कार्यक्रम बनाना और उनको कार्यान्वित करना,

(२) कोयला बोर्ड को कोयला उद्योग की समस्याओं को सुलझाने का अधिकार देना,

(३) कोयला तथा कोक के उत्पादन पर कर लगाना, तथा

(४) कोयला उद्योग को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए तथा उसे नियमित करने के लिए नियम बनाना।

सन् १९५३ में सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी, जिसका उद्देश्य कोयला ढोने की मशीनें लगाने के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देना था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना में कोयले के उत्पादन का लक्ष्य ६ करोड़ टन रखा गया है। इस प्रकार लक्ष्य को पूरा करने के लिए कोयले का उत्पादन २ करोड़ २० लाख टन और बढ़ाना है। इस अतिरिक्त उत्पादन का १ करोड़ टन निजी कोयला खानों में तथा शेष १ करोड़ २० लाख टन सरकारी खानों से उत्पादित किया जायगा। सरकारी क्षेत्र में कोयले के उत्पादन की देखभाल करने के लिए अक्टूबर सन् १९५६ में 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (प्राइवेट) लिमिटेड' की स्थापना की गई है। इसके अधीन सरकारी खानों से कोयला निकालने, उत्पादन बढ़ाने और उसे सुरक्षित रखने का काम होता है। निगम अपना कार्य पूरी सफलता से कर रहा है। इस समय इसके अधीन ११ कोयला खानें हैं। इसके अलावा कुछ नई खानों से भी कोयला निकालने का काम शुरू हो गया है और कुछ अन्य नई खानें खोदी जा रही हैं।

दूसरी योजना में कोयले का उत्पादन बढ़ाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने वे क्षेत्र भी ले लिए हैं, जहाँ कोयला है परन्तु अभी खानें नहीं खोदी गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत कोयले का उत्पादन बढ़ा कर दुगना कर दिया जायगा, अर्थात् १९६०-६१ में कोयले का वार्षिक उत्पादन १२ करोड़ टन होने लगेगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योजनाकाल में २५० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे।

वर्तमान स्थिति—प्रथम योजनाकाल से अब तक निजी कोयला खानों में कोयले का उत्पादन बराबर बढ़ा है। १९५८ में इन खानों से ३,९५,००,००० टन कोयला निकाला गया। सरकारी कोयला खानों से ५७ लाख टन कोयला निकाला गया। इस प्रकार सन् १९५८ में सरकारी व निजी खानों से कुल ४,५२,००,००० टन कोयला निकाला गया। इस प्रकार अब हम अपना लक्ष्य पूरा करने में सफल हो रहे हैं। देश में कोयले के कुल उत्पादन का ९५% देश में ही खप जाता है और शेष ५% कोयला विदेशों को भेजा जाता है। १९५१ से लेकर अब तक कोयले के उत्पादन की स्थिति इस प्रकार है—

खनिज कोयले का उत्पादन*

वर्ष	खनिज कोयला (हजार टन)
१९५१	३४,२०८
१९५२	३६,२२८
१९५३	३५,८८४
१९५४	३६,७६८
१९५५	३८,३०८
१९५६	३९,४३२
१९५७	४३,५३६
१९५८	४५,३२४
१९५९	४७,०२८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कोयले का उत्पादन प्रति वर्ष बढ़ता गया है। परन्तु देश में उद्योग तेजी से बढ़ रहे हैं, अतः इसके साथ साथ कोयले की माँग बढ़ती जा रही है। परन्तु इस माँग को देखते हुए हमारे यहाँ कोयले की खानें काफी नहीं हैं और अच्छे किस्म की खानें तो बहुत कम हैं। इसलिये हमें इस बात पर बराबर प्रयत्न करना पड़ता है कि हमारे पास जितनी भी खानें हैं, उनसे आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से अधिक से अधिक कोयला निकालें और बरबाद न होने दें। इसके लिए केन्द्रीय सरकार ने 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम' बनाया है जिसके अधीन सरकारी खानों से कोयला निकालने, उत्पादन बढ़ाने, और उसे सुरक्षित रखने का काम होता है। निगम अपना काम पूर्ण सफलता के साथ कर रहा है।

१५ अप्रैल १९५९ को गृह मन्त्री पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'करगली' में कोयला धोने के नये कारखाने का उद्घाटन किया। यह एशिया में अपने किस्म का सबसे पहला कारखाना है। यह कारखाना नवम्बर, १९५८ में चालू हुआ। इस कारखाने में प्रति घंटा ४०० टन कोयला धोया जायगा। फिर यहाँ से धुला हुआ कोयला रूरकेला और भिलाई के इस्पात के कारखानों को भेजा जायगा। यह कारखाना बोकारो की खानों के पास है।

सरकार कोयले के नये भंडारों को खोजने, वहाँ खानें खोदने, और इस काम को मशीनों की सहायता से बढ़ाने के साथ साथ, पुरानी खानों का विकास कर रही है। विभिन्न स्थानों पर बमों की सहायता से खुदाई करके लगभग १ अरब ६० करोड़ टन

*उद्योग व्यापार पत्रिका, जुलाई १९६०

कोयले के भण्डारों का पता लगाया जा चुका है। बहुत से स्थानों पर अभी खुदाई जारी है और बहुत से अन्य भण्डारों के मिलने की आशा है। पुरानी रियासतों की खानों से अब ६ लाख २७ हजार टन अधिक कोयला निकाला जाने लगा है।

हमारे देश में खान इन्जीनियरों की बहुत कमी है। 'कोयला विकास निगम' द्वारा शिल्पकों की माँग पूरी करने के लिए १९५६ में ४ खनन प्रशिक्षण स्कूल खोले गये। ये स्कूल भगवली (बिहार), गिरडीह (बिहार), बलहर (उड़ीसा), और कुरसिया (मध्य प्रदेश) में हैं। इन स्कूलों में प्रति वर्ष ४०० से अधिक छात्र भरती किये जाते हैं। शीघ्र ही एक और स्कूल खोला जायगा। ६८ स्नातक इन्जीनियरों को ट्रेनिंग देने की भी योजना है। कुछ अधिकारी ट्रेनिंग के लिए बाहर भी भेजे जाते हैं।

'कोयला विकास निगम' की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार निगम की नई खानों ने १९५९ में १२.७४ लाख टन कोयला खानों से निकाला। कथारा कोलरी ने जून १९५९ से कार्य प्रारम्भ कर दिया है और प्रति वर्ष लगभग २५,००० टन कोयला खानों से निकालेगी।

कोयला उद्योग का वितरण

भारतवर्ष में प्राप्य कोयले का ९९% भाग 'गोंडवाना' की खानों से प्राप्त होता



चित्र २२

है। शेष १% राजस्थान, आसाम, उड़ीसा, विन्ध्य प्रदेश, हैदराबाद, मध्य प्रदेश,

बगाल तथा बिहार से प्राप्त होता है। इन प्रदेशों में भी बङ्गाल, बिहार तथा मध्य प्रदेश प्रमुख हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में कोयले का वितरण अत्यन्त असन्तुलित है। देश के कुछ भागों, जैसे दक्षिण भारत म कोयले की इतनी कमी है कि वहाँ पर औद्योगिक विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। यातायात की बाधाओं ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया है।

बङ्गाल और बिहार में देश का सबसे अच्छी किस्म का कोयला पाया जाता है। देश के लगभग मध्य में स्थित होने के कारण यहाँ से कोयले का वितरण अन्य क्षेत्रों को आसानी से हो जाता है। रेल यातायात तथा कलकत्ते का बन्दरगाह इसके वितरण में प्रमुख रूप से सहायक होते हैं। कोयला अधिकतर रेल यातायात से भेजा जाता है, और यह मालगाड़ी द्वारा ढोये गये कुल बोझ का ३५% भाग है।

उद्योग की समस्याएँ

उद्योग की ३ प्रमुख समस्याएँ हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) प्रति व्यक्ति कम उत्पादनशीलता—भारतीय श्रमिक, जो कोयला खान म काम करते हैं, की उत्पादनशीलता अपेक्षाकृत कम है। यहाँ प्रति व्यक्ति पाली, कोयले का उत्पादन ०·४१ टन है। यह विदेशी खानियों की तुलना में बहुत कम है। अतः इसमें वृद्धि की आवश्यकता है। अत कोयला खानों का अधिकाधिक यंत्रीकरण होना आवश्यक है।

(२) प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। भारतवर्ष में कोयला उद्योग के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की अब भी बहुत कमी है। यद्यपि सरकार ने अभी कुछ प्रशिक्षण केन्द्रों को खोला है परन्तु फिर भी यह आवश्यकता को पूर्ण रूप से पूरा नहीं करता पा रहे हैं। अत इन केन्द्रों के प्रसार की आवश्यकता है।

(३) यातायात की समस्या—योजनाओं के अन्तर्गत आयोजित वृहत औद्योगिक विकास कार्यक्रम के अनुसार देश में यातायात के साधनों की कमी होती जा रही है। कोयले की उत्पादन केन्द्रों से उपभोग के केन्द्रों तक स्थानान्तरित करने के लिए यातायात के साधनों म और अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता है।